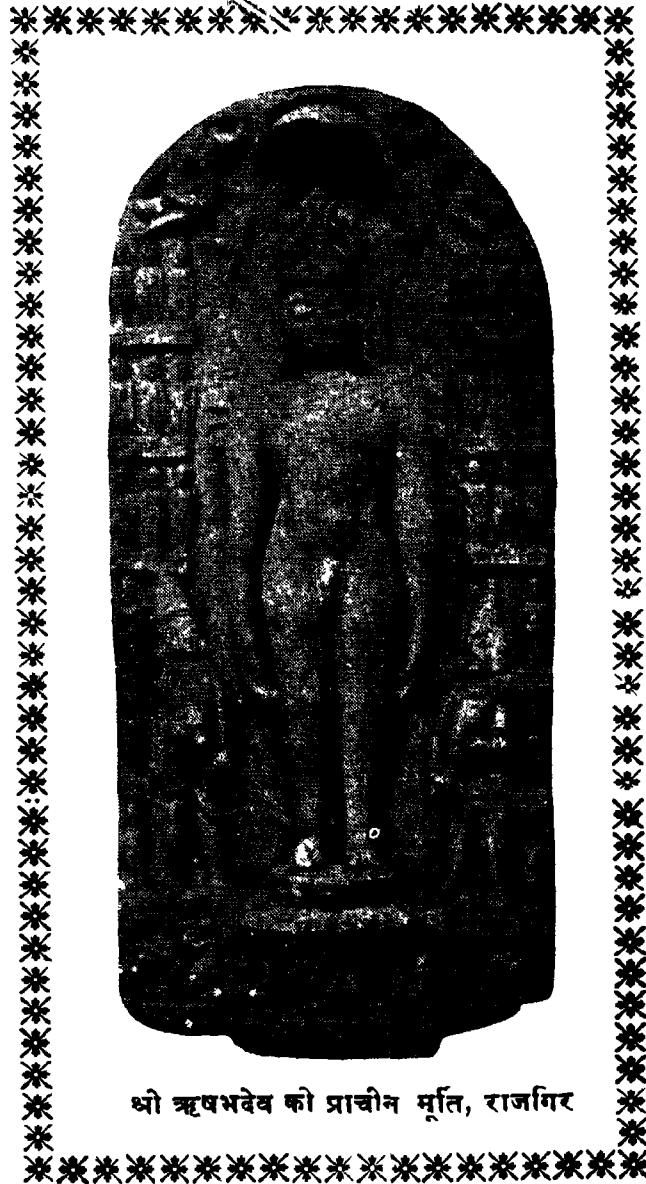


अनेकान्त



श्री ऋषभदेव की प्राचीन मूर्ति, राजगिर

समन्तभद्राश्रम (वीर-सेवा-मन्दिर) का मुख पत्र

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
१ श्रीवर्द्धमान जिन स्तुति—आचार्य समन्तभद्र	१
२ 'जबू सामिचरिउ' में वर्णित गुर्जरता प्रदेश की स्थिति—रामवल्लभ सोमानी	२
३ भारत में वर्णनात्मक कथा साहित्य— डा० ए०एन० उपाध्ये ए. एम. डी. लिट्	३
४ इतिहास के परिप्रेक्ष्य में पवा जी (पावागिरि) डा० भागचन्द्र जैन 'भागेंद्र' एम.ए.पी.एच.डी.	१२
५ भीमपुर का जैन अभिलेख— कस्तूरचन्द्र जैन 'सुमन'	१५
६ चित्तोड़का जैन कीर्तिस्तम्भ— नेमचन्द्र धनूसा जैन	२०
७ ढूँडाडी भाषा की जैन रचनाएँ— डा० गगाराम गर्ग	२२
८ ब्रह्म साधारण की पहली कृति कोइल पंचमोक्त्या —डा० भागचन्द्र जैन भास्कर	२५
९ वैदेही सीता (कहानी)—श्री सुबोधकुमार जैन	२५
१० सत्य के आदर्श की ओर (कहानी)— परमानन्द जैन शास्त्री	३१
११ कवि रूपचन्द्र का एक गीत	३५
१२ धर्म की कहानी : अपनी जवानी— डा० भागचन्द्र जैन 'भास्कर'	३६
१३ तमिल व कन्नड़ साहित्य के निर्माण में जैनाचार्यों का विशेष योगदान —डा० आर. बी. के. राव	३६
१४ साहित्य के प्रति उपेक्षा क्यों ? — परमानन्द शास्त्री	४०
१५ 'प्रमाण प्रमेय कलिका' के रचयिता नरेन्द्रसेन कौन ? —रायप्पा धरणप्पा टीकणवर	४१
१६ आत्म-विश्वास—पूज्य वर्णी जी	४५
१७ सर्वोपधि दान (कहानी)—परमानन्द शास्त्री	४६
१८ साहित्य-समीक्षा—परमानन्द शास्त्री	४८



अनेकान्त में प्रकाशित विचारों के लिए सम्पादक मण्डल उत्तरदायी नहीं है । — व्यवस्थापक अनेकान्त

अनेकान्त के ग्राहकों से

अनेकान्त के उन सदस्यों या ग्राहकों में शानुरोध निवेदन है कि जिन ग्राहकों ने अपने पिछले वर्ष का वार्षिक शुल्क ६) रुपया अब तक नहीं भेजा, कृपया उसे भिजवाएँ । ६) रुपया पिछले वर्ष का और ६) रुपया २३वें चालू वर्ष का कुल मिलाकर १२) रु० भिजवाने की कृपा करें ।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

बीर सेवामन्दिर २१, दरियागंज दिल्ली ।



अनेकान्त के प्रेमियों से

अनेकान्त की संचालक समिति पत्र में कुछ ऐसी सामग्री देने की योजना की है, जिससे पत्र रचिपूर्ण हो, और सभी तरह के पाठकों को उसमें यथेष्ट लाभ मिल सके । इसके लिए अनेकान्त में आधा मीटर तो पुरातत्त्व, साहित्य, इतिहास आदि का रहेगा, और शेष २४ पेज के मीटर में कहानियाँ, कविता, और हिन्दी भाषा में लिखे गये धार्मिक दार्शनिक लेख रहेंगे । इससे सभी पाठकों को दिलचस्प सामग्री मिलेगी । आशा है अनेकान्त के प्रेमी सज्जन उसकी ग्राहक सख्या में वृद्धि करनेका प्रयत्न करेंगे । स्वयं ग्राहक बने और अपने मिलने वाले मित्रों और रिश्तेदारों को ग्राहक बनने के लिये प्रेरित करें ।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

बीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज दिल्ली ।



सम्पादक-मण्डल

डा० आ० ने० उपाध्ये

डा० प्रेमसागर जैन

श्री यशपाल जैन

परमानन्द शास्त्री

अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपया एक किरण का मूल्य १ रुपया २५ पसा

ग्रोन् महंन्

अनेकान्त

परमाणमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।

सकलनयविलसितानां विरोधमर्थनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष २३
किरण १

}

वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६
वीर निर्वाण संवत् २४६६, वि० सं० २०२७

{ अप्रैल
१९७०

श्रीवर्धमान-जिन-स्तुति

धीमत्सुवन्द्यमान्याय कामोद्दामितवित्तृषे ।

धीमते वर्धमानाय नमो नमितविद्विषे ॥१०२

—आचार्य समन्तभद्रः

अर्थ—हे वर्धमान स्वामिन् ! आप अत्यन्त बुद्धिमानों—चार ज्ञान के घारी गणधरादिकों—के द्वारा वन्दनीय और पूज्य हैं । आप ने ज्ञान की तृष्णा को बिल्कुल नष्ट कर दिया है—आपको सर्वोत्कृष्ट केवलज्ञान प्राप्त हो गया है जिससे आपकी ज्ञान-विषयक समस्त तृष्णाएँ नष्ट हो चुकी हैं । आप अन्तरंग-बहिरङ्ग लक्ष्मी से युक्त हैं और आप के शत्रु भी आपको नमस्कार करते हैं—आपकी अलौकिक शान्ति तथा लोकोत्तर प्रभाव को देखकर आपके विरोधी वैरी भी आपको नमस्कार करने लग जाते हैं । अतः हे प्रभो ! आपको मेरा नमस्कार हो ॥१०२॥

“जंबू सामि चरिउ” में वर्णित गुज्जरत्ता प्रदेश की स्थिति

श्री रामवल्लभ सोमाणी

“जंबू सामि चरिउ” वि० सं० १०७० में वीर कवि द्वारा विरचित किया गया था। इसका हाल ही में भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशन हुआ है। इसमें गुज्जरत्ता प्रदेश के सम्बन्ध में बड़ी महत्वपूर्ण सूचना दी है कि इसकी स्थिति सपादलक्ष के पास थी। वस्तुतः ‘गुज्जरत्ता’ शब्द का उपयोग घटियाले के वि० सं० ६१८ के लेख में भी आता है जहाँ प्रतिहार राजा कवकुक का वर्णन करते समय लिखा गया है कि उक्त राजा के सचचरित्र के कारण ‘मरु माड वल्ल तमणी और गुजरात प्रदेश के लोगों का अनुराग मिला था’। अतएव प्रश्न यह था कि इस लेख में वर्णित “गुज्जरत्ता” वस्तुतः वर्तमान गुजरात प्रदेश है अथवा अन्य। कठिनाई यह थी कि कुवलयमाला आदि में जालोर भीनमाल प्रदेश को गुर्जर मंडल आदि लिखा गया है। इसके साथ ही साथ जोधपुर के उत्तर में स्थित मगलाना गाँव के एक ९वीं शताब्दी के लेख में उसको गुज्जर प्रदेश के अन्तर्गत लिखा है। इसी प्रकार प्रतिहार राजा भोज के ६०० वि० के ताम्रपात्र में “डीडवाडा” गाँव को गुर्जर प्रदेश के अन्तर्गत बतलाया गया है। अतएव नया समस्त पश्चिमी राजस्थान के भू भाग को गुज्जरत्ता की संज्ञा दी जाती थी अथवा यह एक व्यापक नाम था अथवा राजस्थान में गुज्जरत्ता नाम का एक अन्य प्रदेश और था। इस सम्बन्ध में कोई निश्चित जानकारी मिल नहीं रही थी। अब इस ग्रंथ की सूचना के अनुसार “गुज्जरत्ता” प्रदेश सपादलक्ष के पास स्थित रहा होगा। इसकी पुष्टि के लिए निम्नांकित सामग्री और है:—

(१) घर्मोपदेशमाला में नागौर प्रदेश को गुजरात

१. उत्तरेण य सायंभरी गुज्जरत्ताए रवस बब्बर टक्क....”

२. ‘मरुमाण वल्ल तमणी परि अंका अज्ज गुज्जरत्ता सु’
[जरनल रायल एशियाटिक सोसाइटी १८६५
पृ. ५१३-५२१]

प्रदेश से सम्बन्धित बतलाया है।

(२) अल बरुनी ने नरेणा को गुजरात की राजधानी लिखा है। उसने इस नरेणा के दक्षिण में मेवाड़ और चित्तौड़ आदि माने हैं।

(३) मगलाना और डीडवाणा के लेखों में स्पष्टतः गुर्जर प्रदेश नाम दिया गया है।

(४) “जंबू सामि चरिउ” में भीनमाल को गुर्जर प्रदेश से भिन्न लिखा है जिसकी पुष्टि समसामयिक शिलालेखों आदि से भी होती है जो भीनमाल क्षेत्र से प्राप्त हुए हैं। इनमें इस प्रदेश को “मरु मंडल” लिखा गया है।

(५) कुवलयमाला में मरु प्रदेश को भिन्न लिखा है। अतएव सपादलक्ष के पास वाले गुजरात और भीनमाल वाले गुजरात के मध्य में मरु प्रदेश और स्थित था।

अतएव इस सारी सामग्री के आधार पर यह कहा जा सकता है कि १०वीं और ११वीं शताब्दी तक सपादलक्ष के पास गुर्जरत्ता नाम का एक भू भाग था और इसी का संकेत कवकुक के लेख में भी किया गया है। अतएव जंबू सामि चरिउ की सूचना महत्वपूर्ण है।

३. नगरेसु सयं वुच्छो भुत्तु वा जाव गुज्जरत्ताए।

नागउराइसु जिणमंदिराणि जायाणि णेगाणि ॥१४॥

४. हिस्ट्री आफ इंडिया—(इलियट एण्ड जोनसन)
Vol. I पृ. ५८-६०)

५. “गुज्जरत्ता भूमौ डेण्डवानक विषयसम्बद्धसिवा ग्रामा-
ग्रहार.....” एपिग्राफिया इंडिका Vol. V पृ. २७७
श्रीमद् गुज्जरत्ता मण्डलान्तः पाति मंगलानक विनिर्गति....
(उपरोक्त)

६. “पच्छिमेणं थली मंडलं बालभं सोम सोरट्टं—कच्छं मह
भिल्ल मालं विसाल च सोवण्ण दोणी सम। अब्बुयं
लाडदेसं च मेवाड़-चित्तौड़ मालव य तलहारिय। पारि-
यत्तं अवन्ती तदा तावलिन्ती भडं दुग्गमं। उत्तरेण य सायं
भरी गुज्जरत्ताए खस बब्बरं टक्क-करहाड़-कसमीर
हम्मीर कीरं तुरक्कं तहा ताइयं।” जंबू. च. ६. १६, ७-१८

भारत में वर्णनात्मक कथा-साहित्य

डा० ए. एन. उपाध्ये एम. ए., डी. लिट्

[गत किरण ६ से आगे]

४. जैन साहित्य :

(अ) आगम-स्तर का—

अब हम जैन साहित्य का सर्वेक्षण करें। जैनों के अर्धमगधी आगम ग्रन्थों को यद्यपि वर्तमान रूप बहुत बाद में ही प्राप्त हुआ है फिर भी, उनमें ऐसा प्राचीन अंश निःसन्देह ही है कि जिसको जैनों के अन्तिम तीर्थंकर श्री महावीर के युग के सन्निकट का समय ही दिया जा सकता है। इन आगमों में वर्णनात्मक अंश भी पर्याप्त है जो कि औपदेशिक और उन्नायक दृष्टि का कहा जा सकता है। इस अंश में धर्मवीरों जैसे कि तीर्थंकरों और उनके त्यागी अनुयायियों की जिनमें शलाका पुरुष भी है की जीवनियां हैं। इनमें अर्थ-प्रकाशक उपमाएँ हैं, दृष्टान्त और सवाद हैं। औपदेशिक और अनुकरणीय कथाएँ हैं और उन नर एवम् नारियों की आदर्श कथाएँ हैं कि जो भिक्षु और भिक्षुणी हो गए थे और जिनने परभव में अच्छा जीवन पाया था।

दो याने आचारांग और कल्पसूत्र^{१०} में भिक्षु जीवन में सहे परिपहों के विशद वर्णन सहित महावीर की जीवनी दी हुई है। भगवती सूत्र के भिन्न-भिन्न सवादों में महावीर के व्यक्तित्व की, विशेषकर विवादों में, उनकी चतुराई और अपने शिष्यों की शंकाओं व प्रश्नों के उत्तर में की व्याख्याओं में उनके व्यक्तित्व की कुछ भांकियाँ मिलती

१०. इन ग्रन्थों के संस्करण आदि विवरण के लिए पाठक को विन्टरनिटज की (ए हिस्ट्री आफ इंडियन लिटरेचर) भाग २ (कलकत्ता संस्करण १९३३) और शुब्रिग की डी. ए. लेट्टे डे जैनास (बर्लिन और लेपजिग १९३५) देखने की साधना है। स्थानाभाव के कारण यहाँ केवल अत्यन्त आवश्यक ग्रन्थ निर्देश ही दिये गये हैं।

हैं। अन्य तीर्थंकरों की जीवनियाँ जो कल्पसूत्र में दी हैं, वास्तव में जीवनियाँ वे है ही नहीं। वे तो पाठकों को एक नामावली मात्र प्रस्तुत कर देती हैं जिनसे उसकी वाचना देने वाला वाचना देते समय विस्तृत वर्णन दे सके। दूसरे शास्त्र या ग्रन्थों से हम नेमिनाथ, पार्श्वनाथ आदि की जीवन भांकियाँ भी मिल जाती हैं।

आदि में जो सामान्य उपाया या रूपक होंगे, वे ही कालान्तर में वर्णनात्मक कथाओं का रूप पा गये हैं ताकि उपमा या रूपक की सभी दृष्टियाँ उसमें प्रस्फुटित हो जाएँ और पुण्यात्माओं के लिए उनमें से शिक्षासार भी निकाला जा सके। नायावम्मकथाओं में हमें कतिपय अच्छे उदाहरण मिलते हैं। कच्छप अपने हाथ-पैरों में पूर्ण सुरक्षित होता है ऐसा माना जाता है। तूँबा मिट्टी से बना हुआ हो तभी डूबता है और नन्दीवृक्ष के फल हानिकार होते हैं। इन भावों का कोई न कोई उपदेश देने में उपयोग किया गया है। इनके दृष्टान्त से समझाया जाता है कि असावधान भिक्षु कैसे नष्ट हो जाता है? कर्मों के बोझ से भारी हुए जीव कैसे नरक में जाते हैं? और जो जीवन के सुखोपभोगों में आसक्त रहते हैं अन्त में वे दुःख क्यों उठाते हैं? बिल्कुल इसी प्रकार रूपकाख्यानों को या तो वर्णनात्मक कथा के रूप में या सजीव सवाद-विवाद के रूप में पल्लवित किया जाता है और उसका प्रत्येक विवरण कुछ न कुछ औपदेशिक या शिक्षादायी होता है। सूयगडांग में दिया कमलसर का रूपक बड़ा जटिल है। कमलों से भरे एक सरोवर के केन्द्र में एक बहुत बड़ा कमल खड़ा हुआ है। चारों दिशाओं से चार व्यक्ति उस सरोवर पर आते हैं एवम् उस केन्द्रस्थ बड़े कमल को तोड़ लेने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु कोई भी उसे तोड़ लेने में समर्थ नहीं होता है। फिर एक भिक्षु तट पर खड़ा-खड़ा ही कुछ शब्द उच्चारण करता है और उसे तोड़ लेने में सफल हो जाता

है। यहां सरोवर यह संसार ही है। कमल जो उसमें हैं, वे मानवप्रजा हैं और केन्द्रस्थ बड़ा कमल उस प्रजा का राजा है। जो चार पुरुष उसे तोड़ने को आते हैं, वे मिथ्यात्वा है और जो कमल को तोड़ लेता है वह एक जैन साधू है जो सच्चा धर्म सुना कर राजा को मुग्ध कर लेता है और इस प्रकार उसका धर्म विजयी होता है। इस रूपक के निहिताशय के अतिरिक्त भी एक बात मुझे बिलकुल स्पष्ट यह प्रतीत होती है कि राजा की छत्रछाया में ही धर्म प्रचार पाते हैं और इसलिए राज्याश्रय प्राप्त करने में पूरी-पूरी प्रतिबद्धता या होड़ा होड़ होती थी। नाया-धम्मकहाओ में चार बहुओं का एक रूपक है। यह एक सामान्य लोक-कथा ही है जिसका उपयोग धार्मिक लक्ष्य के लिए बड़ी चतुराई से किया गया है। एक चतुर श्वसुर अपनी चार पुत्रबधुओं को शालि के पांच-पांच दाने दे कर कहता है कि ये दाने मागने पर उन्हें उसे लौटाने होंगे। सबसे बड़ी पुत्रबधू अभिमानी और चिन्तारहित है, अतः वह उन दानों को यह सोचते हुए तुरन्त फेंक देती है कि घर के भण्डारों में शालि ही शालि भरे हैं। दूसरी भी कुछ ऐसा ही सोचती है, परन्तु फेंक देने के एवज वह उन दानों को खा जाती है। तीसरी बड़ी सावधानी से उन्हें अपने आभूषणों के डब्बे में सुरक्षित रख देती है। और चौथी उन्हें बो देती है और फिर उनसे अच्छी फसल काटती है जिसके परिणामस्वरूप पांच वर्ष के अन्त में उसके पास धान की एक बड़ी राशि इकट्ठी हो जाती है। श्वसुर अन्त में दोनों बड़ी बहुओं को दण्ड देता है, तीसरी को समस्त सम्पत्ति की सुरक्षा का भार सौंप देता है और चौथी को गृहस्थी का सारा ही प्रबन्ध। चारों बधुएं चार भिक्षु हैं और शालि के पांच दाने उनके पांच महाव्रत हैं। कुछ भिक्षु इनकी उपेक्षा करते हैं तो कुछ उनका सावधानी से पालन करते हैं। परन्तु कुछ ऐसे भी महान भिक्षु हैं जो केवल स्वयं ही उन पांच महाव्रतों का पालन नहीं करते, अपितु उनका उपदेश भी दूसरों की भलाई के लिए करते हैं। माकंदी राजकुमारों का कथानक नाविकों की ही एक कहानी है जिसे रूपक का रूप देकर धर्म में दृढ़ श्रद्धा रखने की आवश्यकता के उपदेश का लाभ उठाया गया है। उत्तरा-

ध्ययन में भी इस प्रकार के कुछ रूपक हैं। भेष का रूपक (अध्याय ७) उस व्यक्ति की दशा का चित्रण करता है कि जो सांसारिक सुखों में ही रचापचा रहता है और यह शिक्षा देता है कि मनुष्य जीवन ऐसा घन है कि जिससे मोक्ष प्राप्त करना चाहिए; यदि पूंजी नष्ट कर दी जाती है तो जीव या तो नरक में जाता है या तिर्यंच होता है। वृक्ष का पत्र (अध्याय १०) मानवी भोग-सुखों की असारता बताता है। इसमें हृदयग्राही उपमाएं दी गई हैं और प्रमाद नहीं करने को मुमुक्षु को बारम्बार सावधान किया गया है। अडियल बेल का दृष्टान्त यद्यपि एकदम सीधा और सादा है, परन्तु गुरु के अविनयी और भगड़ालू शिष्य की बड़ी हृदयस्पर्शी टीका उसमें है।

सिद्ध-पुरुषों की जीवन-कथाएं भी अनेक हमारे सामने आती हैं कि जिनमें गुणों और अवगुणों के अच्छे और बुरे परिणामों के दृष्टांत प्रस्तुत हुए हैं। कथा के पात्र न केवल अच्छे लोक में ही फिर जन्म लेते हैं अपितु महावीर पार्श्व और नेमि उपदिष्ट धर्म का आचरण करते हुए वे मोक्ष तक प्राप्त कर लेते हैं। अथवा उसके विपरीत आचरण कर नीच योनि में ही नहीं अपितु नरक में भी जन्म पाते हैं। कितने ही मिथ्यात्वियों के तीर्थंकर के धर्म में आ जाने को भी कहा गया है। इन कथाओं में से कुछ तो बिलकुल मूल से ही जैन हैं और अन्य भारतीय कथा-साहित्य के साधारण पुंज में से जैनाचार का प्रचार करने के लिए चुन कर उपयोगी बना ली गई है और इनका हिन्दू एवम् बौद्ध दोनों ही साहित्य में प्रतिरूप प्राप्त है। इनमें अनेक जीवनियाँ, कृष्ण, ब्रह्मदत्त, श्रेणिक आदि विख्यात व्यक्तियों से सम्बन्धित कथाओं के चक्रमाल से जुड़ी हैं। जैन धर्म के अनुसार धर्मिष्ठ गृहस्थ और गृहस्थिणी के गुण सर्व-त्यागमय वैरागी जीवन के अवश्य ही प्रेरक हैं। और यदि कोई गृहस्थ धार्मिक जीवन के पदों का निष्ठा से निरंतर पालन करता रहे तो वह बिना प्रयास ही भिक्षु जीवन की स्थिति को अनायास स्वतः प्राप्त कर लेता है। स्वभावतः ही अधिकांश जीवनियाँ दृष्टिकोण में वैराग्य-प्रधान हैं। श्रमण धर्म और उसमें भी विशेष रूप से जैन धर्म ने वैराग्य पर बहुत बल दिया है और इसी का यह परिणाम है कि जैन साहित्य में वैरागी-वीरों की कुछ

जीवनियाँ ऐसी दी गई हैं कि जिनको देवों, मनुष्यों और नीच आत्माओं के हाथों अत्यन्त कठोर परिषह सहने पड़े और घोर तपश्चरण करते हुए जिनने मृत्यु के अन्तिम क्षणों में अपनी आध्यात्मिक-समाधि को स्थिर रखा एवं पुनर्भव में वर्तमान से उच्च स्थिति का जीवन प्राप्त किया या बिताया। बहुत ही संभव है कि अनेक कथाएँ मूलतः वास्तविक ही हों; क्योंकि वे ऐतिहासिक वीरागियों का ही उल्लेख करती हैं परन्तु समय पा कर जिनका विवरण जटिलता को प्राप्त हो गया होगा। कभी-कभी तो उनके नाम मात्र का ही कथा में निर्देश है और टीकाकारों ने उनके जीवन का आवश्यक विवरण बाद में अपनी ओर से बढ़ाया या जोड़ दिया है।

शिशुपाल, द्रुपद्यन, पाराशर आदि के आकस्मिक उल्लेख के अतिरिक्त, सुयगडाग में आर्द्रक की कथा भी है। परन्तु उसके सम्बन्ध में निर्युक्ति और टीकाओं में बहुत कुछ मनोरंजक वर्णन है। सूत्र में यह बताया गया है कि आर्द्रक ने गोशाला, एक बौद्ध, एक वेदान्ती और एक हस्ति-तापस को कैसे निरुत्तर किया था? प्रति-वादियों को निरुत्तर कर वह महावीर को बंदन करने जब जा रहा था तो एक हाथी बंधन तोड़कर उसकी ओर भपटा। परन्तु निकट पहुँचते ही उसने उसके सामने नमस्कार करने को घुटने झुका दिये। राजा श्रेणिक जिसने यह सब दृश्य देखा था। आश्चर्य विभूत हो कर सोच रहा था कि उस हाथी ने साकलों के बंधन स्वतः कैसे तोड़ लिए? आर्द्रक कुमार ने उसकी जिज्ञासा शांत करते हुए कहा, इससे तो यह अधिक आश्चर्यकारी बात है कि मनुष्य अपने सांसारिक बंधनों को कैसे तोड़ फेंकता है? हम बहुधा पार्श्व और महावीर के श्रमणों के बीच हुए विवाद और सैद्धान्तिक स्पष्टीकरण का विवरण उत्तराध्ययन जैसे शास्त्रों में पढ़ते हैं। परमार्थप्रेक्षी मनुष्य और स्त्रियाँ जैसे कि शिवराज, सुदर्शन, शंख, सोमिल, जयन्ती आदि [भगवती सूत्र में] महावीर के पास अनेक बार जाते हैं और उनसे सैद्धान्तिक प्रकाश प्राप्त करते हैं।

कितनी ही कहानियों में जो कि स्पष्टतया उपदेश है, संयमों और व्यसनों के आचरण से होने वाले अच्छे और बुरे परिणाम दृष्टान्त द्वारा व्यक्त किए गए हैं।

नायाधम्मकहाओ में राजकुमार मेघ को, जब कि वह बहुत ही अस्थिरमना हो रहा था, महावीर ने वीरागी जीवन के प्रति उसकी श्रद्धा उसके पूर्वभव की ही कथा सुना कर दृढ़ की थी। महावीर ने कहा था कि कैसे उसने हाथी के पूर्वभव में एक शशक को अपना पैर उठाए रखकर शांति के साथ रक्षा की थी। धन्य सार्थवाह को उसके पुत्र के घातक के साथ ही कारागृह में बेड़ी से बांध दिया गया था और अपनी शारीरिक आवश्यकताओं के विचार से ही उस घातकी को अपने भोजन का आधा अंश उसे देना पड़ता था। इसी प्रकार भिक्षु को भोजन आदि केवल जीवन निर्वाह के, न कि जिह्वा स्वाद के लिए और शरीर पोषण या दृढ़ करने के लिए लेना चाहिए ताकि संयम का पालन भली प्रकार किया जा सके। राजा सेलग की जिसे भगवान् अरिष्टनेमि के धर्म का बोध प्राप्त हुआ था, मद्यपी होने के कारण धर्माचार की उपेक्षा करने लगा था। परन्तु उसी के आज्ञानुवर्ती शिष्यों द्वारा फिर से उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई। इस कथा में भिक्षु को वीरागी जीवन के कर्तव्यों के पालन में सदा सजग रहने का अनुरोध किया गया है। किसी पूर्वभव में धर्माचार में कपटाचरण करने के परिणाम स्वरूप मल्ली का जन्म स्त्री रूप हुआ। विवाह करने के इच्छुक छह राजकुमारों को कि जो पूर्वभव में भी उसके ही साथी थे, अपनी सुवर्ण मूर्ति में भरे भोजन की दुर्गन्ध द्वारा अपनी प्रत्यक्ष दीखती अत्यन्त सुन्दर देहकी आभ्यन्तरिक घृण्यता को उनमें उद्बोध कराया और उन्हें भी अपने साथ ससार-त्याग करने को कटिबद्ध किया एवम् सातो ही मोक्ष गए। राजा जियसत्तु को उसके मंत्री सुबुद्धि ने सद्धर्म में श्रद्धा कराने के लिए गंदे पानी के बारम्बार निर्मलीकरण द्वारा स्वच्छ पेय पानी बना कर यह प्रमाणित कर दिया कि पदार्थ मात्र परिणमनशील है और इसके फल स्वरूप राजा जियमत्तु सद्धर्म में श्रद्धाशील हो गया। नगरजनों के लाभ के लिए निज धन खर्च से बनाई पुष्करणी एवम् उसके क्रीडा-स्थलो व सामग्रियों के प्रति अतीव आसक्ति के कारण ही नन्द ने उसके मेडक रूप से अगला जन्म पाया। जब उधर महावीर का विहार हुआ तो वह उनके दर्शनों को जाते-जाते मार्ग में श्रेणिक राजा के अश्व के खुर तले कुचला जाकर

मृत्यु को प्राप्त हुआ था। परन्तु आलोचना पूर्वक मृत्यु होने से उसने देव रूप जन्म पाया। आमात्य तेयालिपुत्र की भार्या पोट्टिला ने यह देख कर कि पति का प्रेम वह गुमा चुकी है, प्रव्रज्या ले ली और मरने पर वह देवलोक में उत्पन्न पति से की गई अपनी प्रतिज्ञानुसार उसने तेयालिपुत्र को सद्धर्म का प्रतिबोध देने के बार-बार प्रयत्न किए। परन्तु तेयालिपुत्र को ससार-त्याग के मूल्य की प्रतीति तब हुई कि जब राज का अनुग्रह खो कर वह पूर्ण दुर्भाग्य ग्रसित हो गया था और आत्महत्या का प्रयत्न तक उसने किया था। अन्त में वह भिक्षु हो गया और राजा को भी जब उसने सद्धर्म की प्राप्ति कराई तो राजा ने अपन किए उसके प्रति पूर्व-दुर्व्यवहार की उससे क्षमा याचना की और अन्त में दोनों ही को मोक्ष लाभ हुआ। धम्मरुई ने चींटियों का जीवन बचाने के लिए विषमय आहार का स्वयम् भक्षण कर लिया और उसके फल स्वरूप मर कर वह पहले देव हुआ और अन्त में मोक्ष। परन्तु नागश्री कि जिसने उसे विषभोजन बहराया था, उसी जीवन में रोग-ग्रस्त और दरिद्रिणी हो गई। मर कर वह सुकुमालिया नाम की स्त्री संदा हुई और किसी भी द्वारा विवाही नहीं जाने पर वह भिक्षुणी हो गई। भिक्षुणी जीवन में किसी वेश्या को देख कर उसकी सुप्त काम वासना जाग्रत हो गई और अगले जन्म में उसकी पूर्ति हो यह कामना वह सदा ही करती रही। मरने पर इससे वह पहले तो देव-वागगता हुई और तदनन्तर वह दोबई [द्रोपदी] नामक राजकन्या हुई कि जिसका विवाह पाँचों पाण्डवों के ही साथ हुआ। फिर अवरकका का राजा पोमनाथ उसे हर कर ले गया क्योंकि नारद ने उसके रूप की उसके सामने अति प्रशंसा की। उसको हरा कर कृष्ण-वासुदेव द्रोपदी को लौटा लाया और पाण्डवों का सौप दिया। अरिष्टनेमि को वंदन-नमस्कार कर एवम् खूब तपस्या करके पाँचों पाण्डव मुनियों एवम् द्रोपदी ने भी यथाकाल मोक्ष प्राप्त किया। चिलाय लुटेरे ने सुमुगा का अपहरण किया और उसे बहुत ही कष्ट सहता पड़ा इतना ही नहीं अपितु उसका सिर काट साथ में लेकर जंगल में भाग जाना पड़ा। विषय सुखों में आसक्ति रखने वाले भिक्षु भी इसी प्रकार दुःख सहते हैं। उद्यम धन्य सार्थवाह

अपने चारों पुत्रों सहित चिलाय का पीछा करते हुए भी वहाँ पहुँचा। उन सबने जीवन बचाने के लिए सुमुगा के मस्तक रहित मृत शरीर के रक्त-मांस का भोजन किया। उसी प्रकार भिक्षु एवम् भिक्षुणियों को मात्र जीवन निर्वाह और संयम की आराधना के लिए ही भोजन करना चाहिए। ऐसे भिक्षू भिक्षुणी धन्य और उसके पुत्रों की भाँति सुख-शांति से अपनी जीवन-यात्रा समाप्त करते हैं। राजा पुण्डरीक अपने भाई कुण्डरीक को प्रव्रज्या लेने की आज्ञा दे देता है और भिक्षु-जीवन बिताने में उस समय सहायता भी करता है जबकि वह रुग्ण होकर दुःख पा रहा है। परन्तु जब दूसरी बार वह ऐसा करने में सफल नहीं होता है तो उसे राजपाट देकर वह स्वयम् ही प्रव्रजित हो जाता है। कुण्डरीक राजसुखों को भी अन्त में दुःखदाई पाता है और मरने पर वह नरक में जाता है। पक्षान्तर में पुण्डरीक एक पूर्ण श्रद्धेय भिक्षु ही नहीं हो जाता है अपितु अन्त में मुक्ति भी प्राप्त करता है। इस कथा का यह उपनय बिलकुल स्पष्ट है कि भिक्षुओं को पुण्डरीक के आदर्श का अनुसरण करना चाहिए। इन सब कथाओं में साधक भिक्षु-भिक्षुणी के लिए कुछ न कुछ उपदेश है ही।

उवासगदसाओं में जो दस वर्णक हैं वे नमूने के ही हैं और उनमें ऐसे व्रती श्रावकों का गुण-कीर्तन किया गया है कि जो सब के लिए आदर्शरूप हैं। वे सब महावीर के समकालिक ही हैं। वे ही उनको ऐसे जटिल व्रत दिलाते हैं जिनका आचरण कर वे यथाकाल मुक्ति में पहुँचते हैं। आनन्द एक आदर्श उवासग है जिसे व्रत आराधना का पालन करते हुए ही अवधिज्ञान प्राप्त हो जाता है। काम-देव, चूलनीपिय, मुरादेव और चूलसयय बाह्य प्रलोभनों और भयों के बावजूद भी अपने व्रतों में दृढ़ रहते हैं, जब कि उनका जीवन ही जोखिम में था। उनके सम्बन्धियों पर घोर अत्याचार किए जा रहे थे और उनका स्वास्थ्य एवम् सम्पत्ति भी जोखिम में थी। कुण्डकोलिय अपनी श्रद्धा में पूर्ण दृढ़ रहता है और किसी भी प्रकार का लालच, गोशाला का धर्म उससे स्वीकार नहीं कराता है। सद्गलपुत्र आजीवक धर्म छोड़ कर महावीर का धर्म स्वीकार करता है और गोशालक उसको अपने धर्म में लौटा लाने में किसी प्रकार भी सफल नहीं होता है। महासयय

एक धर्मभीरु गृहस्थ है; उसकी विषयासक्त भार्या उसे अनुरक्त करने की भरसक चेष्टा करती है यहाँ तक कि अंत में तंग होकर महासथय उसे यह शाप दे देता है कि उसका नरक में जन्म हो। महावीर उसे इसका प्रायश्चित्त करने को कहते हैं और वह प्रायश्चित्त करता है और यथाकाल उसे मुक्ति मिलती है। नन्दनीपिया और सालिहीपिया भी धर्मभीरु गृहस्थ हैं जो यथाकाल मुक्ति प्राप्त करते हैं। ये कहानियाँ उस साँचे में ढली हुई हैं कि सिर्फ नाम, ठाम बदल कर ही उन्हें कई गुणित किया जा सकता है। इन सब कहानियों का लक्ष्य एक ही है। इनमें नाम, ठाम आदि विवरण ही भिन्न-भिन्न हैं। 'दृढपद्म' आत्मा का प्रतीतात्मक एक नाम ही प्रतीत होता है कि जिसने दृढ़ श्रद्धा का विकास कर लिया है और इस प्रकार मुक्ति प्राप्त करती है। ऐसी आत्मा की जीवनी उववाइय और रायपसेणइय दोनों में ही दी गई है।

अपरिवर्तनीय नमूने के वर्ण की ओर उनका वर्गों में विभाजन का विचार करते हुए, नायायम्मकहाओ का द्वितीय श्रुतस्कन्ध, अन्तगडदसाओ, अनुत्तरोववाइयदसाओ और निरयावलिआओ कि जिस में अन्तिम पाँच उपाग सन्निविष्ट है, को एक ही वर्ग में रखा जा सकता है। नाया के दूसरे स्कन्ध में दिए ढाँचे, नाम और कथा के उद्घोष-शब्द से ऐसी २०६ कथाएँ स्वतः ही आवृत्तिकार रच ले जैसी पूर्ण कथा काली की वहाँ दी गई है। ये सब इतना ही समझाने के लिए हैं कि किस प्रकार पूर्व जन्मों में की धर्माधना के कारण इन देवियों को ऐसी-ऐसी स्थिति प्राप्त हुई। उदाहरणार्थ, काली पार्श्वनाथ का प्रवचन सुनती है और पुष्पचूला आर्या की नेत्रा में भिक्षुणी बन जाती है। जैसा उसके विषय में सन्देह किया जाता था, भिक्षुणी होने पर भी वह शरीर की जरा भी उपेक्षा नहीं करती है, परन्तु न्हवण, विलेपन आदि में वैसी ही रत रहती है और इसलिए अन्त में उसे गण से बाहर कर दिया जाता है। परन्तु वह उपवासादि तपस्या तो करती ही रहती है और मरने पर इसीलिए वह देवी रूप जन्म लेती है। यह देवी महावीर का दर्शन-बंदन करने आती है और महावीर गौतम को तब उसका भविष्य कह देते हैं।

अन्तगडदसाओ की कथाएँ भी दो भागों में विभक्त की जा सकती हैं, एक तो वे जिनका सम्बन्ध अरिद्धनेमि और कृष्ण-वासुदेव के युग से है और दूसरी वे जिनका महावीर और सेणीय के युग से। इन ६२ प्रकारों में हमें ऐसे नर और नारियों की कथाएँ दी गई हैं कि जिनने तीर्थंकर के धर्म के अनुसार चलते हुए संसारचक्र का नाश कर दिया था और मुक्ति प्राप्त कर ली थी। हम इस विचार से कि राजवंशों के नर और नारी भी भिक्षुमण्ड में अपने आपको दीक्षित करा लेते हैं, पराभूत ही हो जाते हैं। आध्यात्मिक स्वातंत्र्य की पुकार धार्मिक रंगरूटों की मांग खूब जोरों से कर रही है और इस प्रकार वैरागी सेना की सैन्यपंक्ति बढ़ती ही जा रही है। कुछ ही कथाएँ पूर्णरूप में दी गई हैं। शेष इतना सा कह कर ही समाप्त कर दी गई है कि नाम, ठाम आदि के सिवा वे पूर्ववत् ही हैं। इनमें गजमुकुमाल की एक आदर्श वैराग्य कहानी है जिसमें क्षमा और प्रायश्चित्त-शीर्ष का अपूर्व दृष्टान्त हमारे सामने आता है। देवकी के छह पुत्र जन्मते ही हरिणग-मेसी देव की कृपा से सुलसा की गोद में पहुँचा दिए गए थे और बड़े होने पर वे भिक्षु बन गए थे। जब देवकी इस बात से शीर्ष-क्षीण हो रही थी कि उसका कोई भी पुत्र उसके पास नहीं है और कृष्ण भी उससे छह छह महीने बाद ही मिलते हैं, तो कृष्ण ने किमी देवी को प्रसन्न कर यह वर प्राप्त किया कि वह स्वयम् गजमुकुमाल के रूप में देवकी के गर्भ से जन्म ले और इस प्रकार समय आने पर देवकी के पुत्र रूप से गजमुकुमाल का जन्म हुआ था। अवस्था आने पर और बहुत कुछ समझाते बुझाते हुए भी गजमुकुमाल ने दीक्षा लेकर अपने स्वसुर सोमिल को बहुत ही अप्रसन्न और क्रुद्ध कर दिया; क्योंकि वह यह मान बैठा था कि भर जवानी में उसकी पुत्री का उसने जानबूझ कर ही तिरस्कार किया है। इसलिए एक दिन जब कि गजमुकुमाल श्मशानभूमि में तप कर रहे थे, सोमिल ने बदला लेने की धुन में, उनके सिर पर मिट्टी का एक चूला बनाया और घघगते अंगारे चिता से उठा कर उसमें उसने लबालब भर दिए। युवक भिक्षु ने यह सब घोर परिषह पूर्ण शांति और समता के साथ सहन किया और उसे सहते हुए अपने अष्ट-कर्म दलिकों को

जला कर मोक्ष ही प्राप्त कर लिया। उधर सोमिल कृष्ण को देखते ही भय से अकाल-मरण कर गया। इस शास्त्र में ही हमें द्वारका और यादव कुल के नाश का भी वृत्त मिलता है। पूजकों को सताने वाले गुण्डों के विरुद्ध गदा उठाने वाले मुद्गर प्राणी यक्ष की, और अर्जुनक माली एवम् उसकी स्त्री वंघुमति की कथा ऐसे लोगों की लोक-कथा के अत्यन्त सुन्दर नमूने हैं कि जो देव और देवियों के भक्त हैं। परन्तु यह बात कि मुद्गरप्राणी परमधर्मिष्ठ सुदर्शन के विरुद्ध कुछ भी नहीं कर पाता है, इतना ही नहीं अपितु एक दम असहाय ही हो जाता है, हमें बता रही है कि महावीर के अनुयायियों की उससे उच्चता और महत्ता स्थापित करने में इस लोक कथा का उपयोग पूरी-पूरी कुशलता से कर लिया गया है। अर्जुनक माली महावीर का भक्त अनुयायी बन जाना है और भिक्षु होने के पश्चात् वह शांति और समता के साथ लोगों द्वारा दी गई यातनाएँ, दुःख और दुस्कार-फटकार सभी कुछ सहना है। जिसका परिणाम यह होता है कि इस तरह पश्चात्ताप और प्रायश्चित्त करते हुए वह अन्त में मुक्ति प्राप्त कर लेता है। राजकुमार अतिमुक्तक की कथा यह बताती है कि आध्यात्मिक समस्याओं ने तब नवयुवकों को भी कैसा तीव्र प्रेरित किया था और वे भिक्षु जीवन स्वीकार कर तप-साधना से अन्ततोगत्वा मुक्ति प्राप्त कर सदा के लिए ही उस समस्या का हल निकाल लिया करते थे।

अनुत्तरोववाइय-दसाओं में उन लोगों की कहानियाँ हैं कि जिनने तप-साधना से अनुत्तर विमानों की प्राप्ति की। इनमें घन्न की कथा एक नमूना रूप ही है और वह यह प्रतिपादित करती है कि वैरागी जीवन की साधना में तप का कितना भारी महत्व है।

निरयावलियाओं में हम चेल्लण राणी से राजा श्रेणिक का पुत्र, कुणिय, के जन्म की कथा का जीवन्त वर्णन पाते हैं। जब वह गर्भ में था तब चेल्लण राणी को अपने पति ही का मांस खाने का अद्भुत दोहद उत्पन्न हुआ। इस दोहद को उसके सौत पुत्र अभय ने कोशलपूर्ण रीति से पूर्ण कराया था पर इस दोहद की घटना से चेह-ल्लण राणी पूरी भयभीत थी और मान रही थी कि उसकी यह सतान अवश्य ही राज्यवंश का कलंक होगी। और

इसलिए उसने शिशु को गर्भ में ही नष्ट कर देने का प्रयत्न तक किया था, परन्तु सब प्रयत्न विफल गए। जैसा कि उसे भविष्य भासा था, कुणिय निःसन्देह बड़ा दुष्ट कुमार हुआ। वह पिता के जीते ही उन्हें कैद कर राज्य-सिंहासन हड़प लेना चाहता था। और उसने ऐसा ही किया। अपने सगे भाई वेहल्ल से राजा होने पर वह रत्न-हार और गजराज छीन लेना चाहता था कि जो उसे पिता श्रेणिक से ही इनाम रूप में मिले हुए थे। वेहल्ल ने इसलिए अपने नाना चेटक के यहाँ जाकर शरण ले ली और चेटक ने नव मल्लिकों, नव लिच्छवियों के साथ वेहल्ल के सत्य-पक्ष की रक्षा करने के लिए सधियाँ कुणिय और उसके दस भाइयों के विरुद्ध की। जो घमासान युद्ध हुआ उसमें कुणिय के दसो भाई मारे गए और वे हेमाभ नरक में गए। कृपियाँ में काल आदि भाइयों के पुत्रों की कि जो महावीर के भिक्षु बन गए थे और जो धर्माचरण कर भिन्न भिन्न स्वर्गों में गए, ही कथा चलती है। पुष्किया में सावत्थी के अगाई की कथा है कि जिसको भगवान् पार्श्वनाथ ने भिक्षु-दीक्षा दी थी और जो अपने साधवा-चारी अनुशासन का कठोर पालन करने के फल स्वरूप मरने पर चंद्र-क्षेत्र में चंद्रमा के रूप में जन्म पाया। इसमें दूसरी मनोरंजक कथा वेदादि निष्णात ब्राह्मण सोमिल की है कि जिसको पार्श्वनाथ ने ही सम्यक-श्रद्धान प्रायः करा दिया था, परन्तु आगे चल कर वह श्रमण साधना में शिथिलाचारी हो गया और वृक्षादि रोपण करता हुआ फिर से ब्राह्मण धर्मानुसार ही जीवन यापन करने लगा एवम् अन्त में वह दिशापोक्खीय साधू या परिव्राजक हो गया। किसी देव ने प्रतिबोध देकर उसे अपनी स्थिति का भान कराया तो वह फिर से जैन साधवाचार का पालन करने लगा। घोर प्रायश्चित्त करने हुए मृत्यु प्राप्त कर वह शुक्र ग्रह हो गया और यथाकाले वह निर्वाण प्राप्त करेगा। सुभद्रा की कथा में कहा गया है कि वह बच्चों के लिए बहुत ही लालायित रहती थी। परन्तु उसके कोई भी संतान नहीं हुई। पहले उसने श्राविका के व्रत अंगी-कार किए और फिर वह भिक्षुणी आर्या भी हो गई। परन्तु उसकी बच्चों की तीव्र लालसा फिर भी नहीं भरी और इस लिए भिक्षुणी जीवन में भी वह दूसरों के बच्चों का

लाड-दुलार करने लगी। फलतः उसे भिक्षुणी संघ से बाहर कर दिया गया। फिर भी वह भिक्षुणी रहती हुई बच्चों को उसी प्रकार लाड-प्यार करती ही रही। इसके फलस्वरूप वह मरणोत्तर बहुपुत्रिका देवी रूप में जन्म पाई। इस भव के अनन्तर उसने सोमा रूप से जन्म पाया जहाँ उसका विवाह राष्ट्रकूट ब्राह्मण से हुआ। उससे उसे १६ युग्म संताने १६ वर्ष के वैवाहिक जीवन में ही हो गई। इसलिए इस जीवन से उसे घृणा हो गई और वह फिर जैन भिक्षुणी बन गई। यथाकाले वह मोक्ष लाभ करेगी। पुष्पचूला में उन नागियों के चरित्र है जो पुष्पचूला गुरणी की आज्ञाकारी शिष्याएं रही थी और उन्हें देवलोक प्राप्त हुआ। उदाहरणार्थ भूता पार्श्वनाथ की ही शिष्या थी और उन्होंने उसे भिक्षुणी-दीक्षा दी थी। परन्तु प्रत्येक वस्तु पानी से घोंघे का भिक्षुणी आचार के विरुद्ध इसका स्वभाव था। परिणामस्वरूप वह देवलोक तक ही पहुँच सकी और अब महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर वह सिद्ध, बुद्ध और मुक्त यथाकाल होगी। बन्दिदसाओं में १२ वृष्णि राजकुमारों की कथाएँ हैं जो कि बलदेव के पुत्र थे। राजकुमार निषध, नेमिनाथ के शिष्य, ने जो उन्नति की उसकी कथा उसके पूर्वभवों की कथाओं के उल्लेख पूर्वक उसमें कही गई है। जब वीरागद राजकुमार के भव में उसने पूरे ४५ वर्ष तक घोर तपस्या की तो उसके परिणाम स्वरूप पहले वह देवलोक में देव हुआ और उसके बाद निषध राजकुमार। उत्तरभव में वह एक भिक्षु होगा और वही से वह देवलोक में देव। तदनन्तर वह यथाकाल सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाएगा।

विवागसूयम्, जैसा कि इसके नाम से ही पता चलता है, में बुरे और भले कर्मों के बुरे एवं भले परिणामों की दृष्टांतिक कथाएँ दी गई हैं। पहले स्कन्ध में बुरे कर्मों के बुरे परिणामों की दस दृष्टांतिक कथाएँ हैं। दूसरे स्कन्ध में अच्छे कर्मों के अच्छे परिणाम बतानेवाली पूर्ण विवरण सहित कथा तो एक ही है और शेष यथावत् कही जानेवाली है। इक्काई सुवेदार बड़ा ही निर्दय स्वभाव का था और वह लोगों पर बहुत बड़े और भारी भारी कर डाल कर खूब ही सताया करता था। इस दुष्प्रवृत्ति के कारण उसके शरीर में अनेक प्रकार के रोग हो

गए और मरने पर वह मृगापुत्र रूप से महान घृण्य शरीर वाला जन्मा। पशुओं, पक्षियों आदि के अनेक भव करने के पश्चात् यह मृगापुत्र का जीव एक घनी सार्थवाह का जन्म लेगा और उस भव में वह जैन व्रतों को अंगीकार करेगा एवम् मुनि जीवन बिता कर स्वर्ग में जाएगा। कालक्रमे वह सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होगा। दूसरी कथा बधिक भीम की है जो अपनी स्त्री के गर्भावस्था में हुए मांस-मदिरा खान-पान के दोहद को पूरा करने के लिए अनेक जीवों की हत्या करता है। वह स्त्री यथा समय गोदटासय नाम के एक पुत्र को जन्म देती है और जैसे-जैसे वह बड़ा होता है मांस-मदिरा का अधिकाधिक शोकीन होता जाता है। यहाँ से मर कर वह उज्झितक नाम से एक सेठ के घर में पुत्र रूप में जन्मता है। परन्तु वह कुलागार ही निकलता है। छत्, वेश्या, मद्य, आदि सभी व्यसन उसमें हैं। व्यभिचार दोष के दण्ड स्वरूप राजा उसे सूली का दण्ड दे देता है। मर कर वह नरकादि अनेक नीच योनियाँ भुगतता हुआ सार्थवाह होता है और उस जीवन में किये सत्कर्मों और सद्धर्म के प्रभाव से वह स्वर्ग में देव होगा और यथाकाले मोक्ष प्राप्त करेगा। तीसरी कथा निन्नय नाम के एक क्रूर अण्डों के व्यापारी की है और वह तरह तरह के अण्डे लाता और बेचता है। इस पाप से वह मर कर नरक में जाता है और वहाँ से निकल कर अभगसेन रूप से जन्म पाता है। यह अभगसेन एक बड़ा क्रूर लुटेरा है। आसपास के सब क्षेत्र उसके भय से त्रस्त और दुखी होते हैं। राजा महाबल यह जान कर कि अभगसेन पर किसी प्रकार का काबू नहीं पाया जा रहा है, उसे अपने यहाँ भोजन का निमन्त्रण देता है और उस निमन्त्रण को स्वीकार कर जब वह भोजन के लिए राजमहल में आता है तो राजा सारे नगर द्वार बन्द करवा कर उसको फाँसी देने की आज्ञा निकाल देता है और वह फाँसी पर चढ़ा दिया जाता है। यह अभगसेन संसार में भ्रमण करता करता एक बार फिर मनुष्य जीवन प्राप्त करेगा और तब वह दीक्षा लेगा, एवम् यथा काले मोक्ष प्राप्त कर लेगा। चौथी कथा क्षणिय, मांस व्यापारी की है जो रोज बहुत से पशु मारा करता और उनके मांस के पकवान बना कर स्वयं खाता और दूसरों

को भी खाने के लिए बेचता था। जीव-हिंसा के इस महान् पाप के फल स्वरूप वह नरक में गया और वहाँ से निकलने पर वह भद्रा के घर में सगड़ नाम से पुत्र रूप जन्मा। इस भद्रा के जितनी भी संतानें होती थी, मर जाती थीं। परन्तु सगड़ नहीं मरा, परन्तु उसके जन्म के बाद परिवार के बुरे दिन आ गये। सगड़ बहुत बड़ और व्यभिचारी हो गया। वह मंत्री की वेश्या सुदर्शना से जा फंसा। फल स्वरूप वह राजा के समक्ष पेश किया गया और राजा ने उसे तप्त-लोह नारी-पूतले के आलिङ्गन कराने का मृत्युदण्ड दे दिया। महावीर ने भविष्यवाणी की कि सगड़ और सुदर्शना अगले जन्म में भाई-बहन के जोड़े रूप से पैदा होंगे और यथाकाल वे पति-पत्नी की भाँति ही जीवन बिताएंगे। फल स्वरूप वे मर कर दोनों ही नरक में जाएंगे और ससार में खूब ही जन्म-जन्मांतर तक भ्रमण करेंगे। सार्थवाह के जन्म में यह सगड़ भिक्षु बन जाएगा और यथाकाल मोक्ष भी प्राप्त करेगा। पाँचवीं कथा राजगुरु महेसरदत्त की है जो नरमेघ यज्ञ किया करता था। ताकि राजा के वैरियों का नाश हो जाए। इस पाप से वह मर कर नरक में गया और वहाँ से निकल कर बृहस्पतिदत्त नामक राजगुरु रूप से फिर जन्म पाया। राजगुरु होने से वह रनिवास में बंे रोकटोक जाता था। रानी के साथ व्यवभिचार करने के दोष में पकड़े जाने पर राजा ने उसे सबके देखते सूली पर चढ़ा देने का दण्ड दे दिया। महावीर ने उसका भविष्य कहा कि वह अनेक नीच योनियों में जन्म लेता हुआ एकदा मनुष्य भव पाएगा और तब वह भिक्षु वैरागी हो जाएगा। यथाकाल वह मुक्त होगा। छठी कथा दुज्जोहन नामक फौजदार की है जो क्रूर था और बन्दिधों पर सदा घोर-तम जुलुम डाय़ा करता था। फलतः वह नरक में गया और फिर किसी भव में नन्दिवर्धन नामक राजकुमार हुआ। तब उसने अपने पिता राजा सिरिदास की हत्या एक नापित द्वारा कराने की चेष्टा की, परन्तु पकड़ लिया गया और उसे तत्काल मृत्यु का दण्ड सुना दिया गया। महावीर ने इसका भविष्य कहते हुए कहा कि वह उज्जयय की तरह भवोभय करते हुए अन्त में मोक्ष लाभ करेगा। सातवीं कथा वंछ घनवन्तरी की है जो स्वयं

मांसाहारी था और रोगियों को भी मांस और मांस से बनी औषधियाँ और पथ्य दिलाया करता था। इस हिंसा पाप के कारण उसका जीव नरक में गया। वहाँ से निकल कर वह उम्बरदत्त नामक धनी सार्थवाह रूप से जन्मा। परन्तु वह अपने कुल का कलंक हुआ और रोगों से भरा शरीर लिए नगर में घूमता रहता था। उसके विषय में महावीर ने भविष्य कहा कि उसके मियापुत्र के समान ही भव-भवन्तर होंगे। आठवीं कथा पाचक (रसोइया) सिरिय की है जो व्याधों, चिड़ीमारों, मछुओं आदि को राज-रसोइ के लिए पशु-पक्षी-मत्स्य आदि लाने के लिए नियुक्त करता था। वह स्वयं मांस खाता और दूसरों को भी मांस पकवान खाने के लिए बेचता था। मृत्यु पर वह सोरियदत्त नामक मछुआ रूप से जन्मा। तब उसने लोगों को खाने के लिए न केवल खूब मत्स्य ही बेचे, परन्तु स्वयं भी खूब खाए। एकदा मत्स्य का एक काँटा गले में अटक जाने से उसने घोर यत्रणा पाई और मर गया। महावीर ने उसका भविष्य कहा कि वह भी मियापुत्र के से भव-भवान्तर करेगा। नौवीं कथा राजा सिंहसेन की है जिसने अपनी ४६६ रानियों एवं उनकी माताओं को इसलिए जीवित जला दिया कि उनसे उसकी मनीता रानी सामा की हत्या का षडयंत्र रचा था। इस घोर पाप के कारण वह मर कर नरक में गया और वहाँ से निकल कर उसने परम सुन्दरी कुमारी देवदत्ता रूप से जन्म पाया। उसका विवाह श्री पुष्पनन्दी के साथ हुआ जो कि अपनी माता का बड़ा भक्त था। उसकी देवदत्ता को यह नहीं रुचा। इसलिए उसने लोह-शलाकाए गरम कर अपनी सास की हत्या कर दी। राजा ने देवदत्ता को इस हत्या के दण्ड में सूली दिला दी। उसके भव भवान्तर भी मियापुत्र के से ही होंगे। दसवीं कथा गणिका पुड़विसिरी की है कि जो गरीब-अमीर सभी प्रकार के अनेक लोगों को अपने प्रति आसक्त किया करती थी। यह वेश्या-जीवन समाप्त कर नरक में गई जहाँ से निकल कर वह अज्जू नाम सुन्दरी रूप से जन्मी। वह राजा की राणी हो गई, परन्तु असह्य योनि-पीड़ा से वह सदा ही दुखी रही। इस रोग का कोई इलाज ही नहीं लगा। महावीर ने इसके भव-भवान्तर भी देवदत्ता के से ही बताए हैं। विवायसूयम् के

हमारे स्कन्ध में पुण्यों की कथाएँ हैं। पहली कथा धर्मात्मा समूह की है जिसने भिक्षुक सुदत्त को प्रासुक विपुल आहार दिया था और उसके फल स्वरूप उसका भव-भ्रमण बहुत ही घट गया। एक भवान्तर में वह विपुल धन-वैभववाला सुबाहु राजकुमार के रूप में जन्मा। उसने महावीर से व्रत भ्रमोकार किए। यथाकाले वह भ्रमों का अध्ययन करेगा, खूब तपस्या के अनन्तर मृत्यु प्राप्त कर स्वर्ग में जाएगा और यथाकाल मुक्ति प्राप्त करेगा। शेष पुण्य कथाएँ नाम, ठाम फेर के सिवा इस सुबाहु जैसी ही हैं।

इन कथाओं की उपदेशिक ध्वनि बिल्कुल स्पष्ट है। साधू, साध्वियों, श्रावक और श्राविकाओं, चारों को धर्माचरण की शिक्षा देना ही इनका लक्ष्य है। पूर्व और उत्तर भवों की कथाएँ एवं जन्म-जन्मांतरण के दुखों का चित्र आस्तिकों का धर्म-मार्ग पर चलने की प्रेरणा देता है। यदि कभी किसी से भूल हो भी जाए तो भी उसके लिए भविष्य उज्ज्वल है, यही विश्वास रखते हुए महावीर जैसे धर्मोपदेष्टाओं के बताए मार्ग का अनुसरण करते रहना चाहिए। इस भव और उत्तर भवों के सभी दुखों की भ्रमोघ शोषण वैराग्य ही है। जिन पापों का इन कहानियों में उल्लेख किया गया है और जिन व्यवसायों की निन्दा की गई है, वे हमारे समक्ष ऐसी संहिता का चित्र प्रस्तुत कर देते हैं कि जिसका जैनधर्म ने सदा ही आग्रह किया है।

उत्तराध्ययन के कतिपय ग्रन्थानों में भी वैराग्य भावना को जोरदार काव्यमयी भाषा में प्रेरित किया गया है। राजा नेमि [अध्या० ६], उनकी श्रद्धा की परीक्षा करने को भाए ब्राह्मण रूप में इन्द्र के सभी तर्कों का उचित उत्तर देकर, प्रव्रज्या स्वीकार करते हैं। हरिकेशी की जीवनी में यज्ञ परम्परा का खण्डन किया गया है और संयम एवम् परिषह-सहन का बड़ा ही महात्म्य बताया गया है [अध्या० ११]। चित्र और सम्भूति [अध्या०

१२] का संवाद ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती सम्बन्धी कथाओं के महान् चक्र का ही एक अंश है और यह जैन, बौद्ध एवं हिन्दू पुराणों में भी समान रूप से पाया जाता है^१। राजा ब्रह्मदत्त नरक में जाता है जब कि साधू चित्र मोक्ष प्राप्त कर लेता है। इससे भी वैराग्य की महानता ही प्रकट होती है। उसयारिज्ज [इषुकारीय] अध्याय में भिक्षु-जीवन के महत्त्व का इस दृढ़ता के साथ समर्थन किया गया है कि उसके फल स्वरूप राजा-राणी सहित अन्य अनेक जन भी घर सम्पत्ति त्याग भिक्षु-भिक्षुणी हो जाते हैं [अध्या० १४] विवाह-भोज के लिए लाए हुए पशुओं की चीत्कार सुन कर अरिष्टनेमि प्रव्रजित हो जाते हैं। उनके प्रति परम श्रद्धा राजीमति को भी भिक्षुणी बना देती है। फिर रथनेमि की सयम-शिथिल-वृत्ति को मर्म-भेदी उपदेश से दूर कर वह उसको संयम में स्थिर करती है एवम् सभी घोर तपश्चर्या के पश्चात् उसी भव में मोक्ष लाभ करते हैं। [अध्या० २२] में इस घटना का वर्णन बड़ी सुन्दरता से किया गया है और वह वर्णन वैराग्य का एक चमत्कारी काव्य ही है। सजयइज्ज [अध्या० १८] को अध्याय में प्राचीन जैन वैराग्य वीरों की जीव-नियों की पूंजी का कुछ-कुछ आभास मिल जाता है। इन प्रख्यात व्यक्तियों में से कुछ के नाम तो हमें अन्य ग्रन्थों द्वारा भी ज्ञात होते हैं। इस सूची में १२ चक्रवर्ती, चार प्रत्येक बुद्ध और उदयन, काशीराज, विजय और महाबल जैसे राजों के नाम भी हैं। मियापुत्र [अध्या० १६] की जीवनी जैसी जीवनियाँ शास्त्रकारों को उपदेशिक-शिक्षा, धार्मिक अनुरोध और सिद्धान्त-व्याख्या के अनेक अवसर प्रदान कर देती है। (क्रमशः)

११. देखो चार पेण्टियर का इन्डो. पृ० ४४ आदि और टिप्पण पृ० ३२० आदि उनके उत्तराध्ययन ग्रन्थ का उपासला, १६२२।

इतिहास के परिप्रेक्ष्य में पवा जी (पावागिरि)

डा० भागचन्द्र जैन 'भागेन्दु', एम. ए., पी-एच. डी., शास्त्री

दिनांक १४ अप्रैल से १८ अप्रैल १९७० ई० तक बुन्देलखण्ड में पवा जी (जिला भाँसी) नामक तीर्थ क्षेत्र पर विशेष आयोजनों और समारोहों के साथ श्री बाहुबलि जितेन्द्र पंच कल्याणक एवं गजरथ महोत्सव का आयोजन किया गया है।

पवा जी उ० प्र० मे भाँसी जिले की ललितपुर तहसील में एक छोटा सा ग्राम है। यह ललितपुर और भाँसी के मध्य में स्थित तालवेहट से उत्तर की ओर नौ मील है। यह स्थान ललितपुर से तीस मील तथा भाँसी से छब्बीस मील दूर है। मध्य रेलवे के भाँसी, तालवेहट, बसई या ललितपुर में से किसी भी स्टेशन से यहाँ मोटर बस या अन्य वाहनो द्वारा पहुँचा जा सकता है। बाँसी और कड़ेसरा से भी पवा पहुँचने के लिए साधन मिलते हैं।

जैन जगत् में 'पावा' नाम से प्रचलित चार स्थान प्राप्त हैं। उनमें से पहला है—

१. पावापुर—बिहार प्रदेश में गुणावा से तेरह मील दूर स्थित यह स्थान चौबीसवें तीर्थंकर भ० महावीर स्वामी के निर्वाण स्थान के रूप में समादृत है। यहाँ तालाब के मध्य में एक विशाल जिनालय, जिसे 'जल-मन्दिर' कहते हैं, में भ० महावीर, गौतम स्वामी एवं सुधर्मा स्वामी के चरण चिन्ह प्रतिष्ठित हैं। दिगम्बर और श्वेताम्बर सभी जैन सम्प्रदाय इसे अत्यन्त श्रद्धा-भावना से पूजते हैं। दूसरा है—

२. पावागढ़—पश्चिम रेलवे के बम्बई-दिल्ली मार्ग पर बड़ोदा से २३ मील आगे चापानेर स्टेशन है। वहाँ से एक लाइन पानी माइन्स तक जाती है, इस लाइन पर चापानेर रोड से बारह मील पर पावागढ़ स्टेशन है।

पावागढ़ क्षेत्र एक विशाल गिरि-दुर्ग के मध्य अवस्थित है। यह पर्वत-शिखर लम्बग २५०० फीट ऊँचा है तथा दुर्ग के सात द्वार पार करने के पश्चात् तीर्थ-स्थल पर पहुँचते हैं।

प्राचीन अभिलेखों में इस स्थान का उल्लेख 'पावक-गढ़' नाम से मिलता है। प्रारम्भ में यह तोमर वंशीय शासकों के आधीन रहा और १५वीं शताब्दी के अन्त में इस पर मुसलमानों का अधिकार हो गया।

यह स्थान सिद्ध क्षेत्र माना जाता है तथा सभी जैन सम्प्रदायो द्वारा इसकी उपासना की जाती है। इसकी प्राचीनता के सम्बन्ध में कोई पुरातात्विक या अभिलेखीय प्राचीन साक्ष्य उपलब्ध नहीं है। तीसरा स्थान है—

३. पावागिरि—निर्वाणकाण्ड की तेरहवीं गाथा में उल्लेख मिलता है कि पावागिरि नामक स्थान से सुवर्ण भद्र आदि चार मुनियो ने मुक्ति प्राप्त की। यह स्थान चलना नदी के तट पर था।

इसी सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि—'संस्कृत-निर्वाण-भक्ति' में न तो चलना नदी का नाम आया है और न पावागिरि का ही। उसमें केवल उल्लेख है 'नद्या-स्तटे जितरिपुश्च सुवर्णभद्रः।'।

निर्वाण काण्ड की उक्त गाथा के प्रकाश में, अब भी यह निर्णीत नहीं हो सका है कि—वस्तुतः चलना नदी कौन है? और उसके तट पर अवस्थित पावागिरि कौन सा है? इस सन्दर्भ में जो कुछ प्रयत्न हुए हैं, उनके अनुसार :—

(अ)—वर्तमान मध्य प्रदेश में इन्दौर और बडवानी के निकट मौजूद 'ऊन' नामक स्थान को भी 'पावागिरि' नाम से प्रसिद्ध किया गया। यद्यपि वहाँ बारही शताब्दी का जैन पुरातत्त्व उपलब्ध है, किन्तु किसी भी साक्ष्य से यह स्पष्ट नहीं है कि—इस स्थान का नाम कभी 'पावा' या 'पावागिरि' रहा है। जैन परम्परा में प्रचलित यह (ऊन) तीसरा 'पावागिरि' है।

१. पावागिरि वर सिहरे सुवर्णभद्रादौ मुनिवरा चउरो ।
चलणा णई तडग्गे निव्वाणगया णमो तेसि ॥

(ब)—इस सम्बन्ध में विचार करते समय कुछ विद्वानों ने टीकमगढ़ जिले में मौजूद पपौराक्षेत्र से भी 'पावागिरि' नाम का समीकरण करने की चेष्टा की है। पपौरा में तेरहवीं शती से लेकर वर्तमान समय तक की मूर्तियाँ प्राप्त हैं, किन्तु किसी भी साक्ष्य से इसे पावागिरि नहीं माना जा सकता।

(स)—ऊन और पपौरा की अपेक्षा स्थान-नागसाम्य तथा अन्य बातें उक्त पवा जी को पावागिरि के अधिक निकट ला बैठती हैं। अब, जैन परम्परा में यह चौथा पावागिरि है।

मेरा मत—ग्राम का नाम तो पवा है ही, निकटवर्ती पहाड़ी को भी 'पवा की पहाड़ी' नाम से जाना जाता है। अतः यदि पहाड़ी के वाचक संस्कृत के गिरि शब्द को अपना लें तो पवा को पवा गिरि कहा जा सकता है।

पवा ग्राम से लगभग एक किलोमीटर दूर स्थित भोंयरे, सिद्धों की पहाड़ी और उस पर निर्मित मढ़ियो, बावड़ी आदि में विद्यमान पुरातात्विक एवं अभिलेखीय साक्ष्यों से यह स्पष्ट है कि पवा बारहवी-तेरहवी शताब्दी में जैनधर्म का एक जीवन्त सांस्कृतिक केन्द्र था। इस क्षेत्र पर और इसके आस पास ऋषभनाथ, अजितनाथ, मल्लिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ आदि तीर्थकरों की उपासना होती थी। यहां की मूर्तियों की कलागत विशेषताओं के आधार पर बारहवी-१३वी शती की निर्मितियाँ कहेंगे। इसी समय के अभिलेख भी उत्कीर्ण पाये जाते हैं।

उपर्युक्त सभी सांस्कृतिक केन्द्रों पर वर्तमान में उपलब्ध पुरातात्विक, अभिलेखीय एवं कलागत साक्ष्यों के आधार पर विचार करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि—वे सभी प्रायः समकालीन हैं। पुराणों में वर्णित उनके स्वरूप के विषय में यहाँ विचार नहीं किया गया है। अतः निर्वाण काण्ड की उक्त तेरहवीं गाथा के प्रकाश में, निश्चय पूर्वक यह कह सकना बहुत कठिन है कि वास्तविक पावागिरि कौन सा है।

इसी सन्दर्भ में श्री सागर मल जी वैद्य (विदिशा) के इन प्रयासों का उल्लेख भी प्रासंगिक होगा जो उन्होंने "सत्य की कसौटी पर—पावागिरि सिद्ध क्षेत्र कौन?" नामक पुस्तिका लिखकर किये हैं। इसमें उन्होंने निर्वाण

काण्ड की पूर्वोक्त गाथा में आगत पावागिरि के प्रसंग में ऊन को कल्पित पावागिरि बतलाकर अपने अनेक तर्कों द्वारा पावा (भांसी) को सिद्ध क्षेत्र सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। यद्यपि पुस्तिका के प्रारम्भ और अन्त में प्रकाशित किये गये विभिन्न विद्वानों एवं अन्य सज्जनों के पत्रों सम्मतियों आदि में से एकाध को छोड़ कर, प्रायः किसी से भी लेखक के अभीष्ट की पूर्ति नहीं होती, तथापि लेखक ने उन्हें अविकल दिया है, यह प्रशंसनीय है।

श्री सागरमल जी द्वारा लिखित उक्त पुस्तिका से निश्चित ही पवा जी का प्रचार-प्रसार तो बढ़ा ही है, विचार करने के लिए नयी दिशाएँ भी सामने आयी हैं तथा पावागिरि के उपर्युक्त सन्दर्भों में नवीन आयाम उद्घाटित हुए हैं।

ऊन पर पावागिरित्व का आरोपण तो निश्चित ही सन्देहास्पद है, किन्तु पवा जी पर पावागिरित्व और सिद्धक्षेत्रत्व प्रतिष्ठित करने के लिए वहाँ के सभी प्राचीन स्थलों—सिद्धों की दोनों मढ़ियो, पहाड़ियों, नायक की गढ़ी बनाम विशाल मन्दिर के ध्वशावशेष, भोंयरे, मूर्तियों तथा उन पर उत्कीर्ण अभिलेख, बावड़ी और उसमें मौजूद सामग्री एवं निकटवर्ती नाला (जिसे कहीं वेला नाला, कहीं वेला ताल, कहीं बैकोना और कहीं वेलना कहा जाता है) आदि का विधिवत् सर्वेक्षण, यथा आवश्यक उत्खनन, अनुशीलन एवं अध्ययन अनिवार्य है। सम्भवतः इससे उक्त दिशा में आवश्यक प्रकाश पड़ेगा।

पुस्तिका में लेखक ने कुछ अटपटी बातें भी प्रस्तुत की हैं। जैसे—(१) पवा जी चौथे कालका तीर्थ है। (पृ. १०)

(२) बावड़ी से निकली हुई एक मूर्ति पर वि० स० २६६ अंकित है। (पृ० १०)

(३) देवगढ़ में भोंयरे का अस्तित्व और उसे—वि० स० १२० का बताना। (पृ० ६-१०)

इन तथा ऐसी ही अन्य अपुष्ट बातों पर से सिद्धक्षेत्रत्व या क्षेत्र की प्राचीनता स्वीकरणीय नहीं हो सकती।

इतिहास तथा उपलब्ध साक्ष्य—दोनों ही पवा जी को १२वी-१३वी शती से पूर्व का सांस्कृतिक तीर्थ नहीं सिद्ध करते। देवगढ़ में कोई भोंयरा नहीं है।

दिगम्बर जैन आम्नाय के तीर्थ क्षेत्रों का परिचय

श्री गणपतिदेव हुए थे ।^{११} इसके बाद यह राजवंश सदा के लिए लुप्त हो गया और बाद में इस क्षेत्र पर मुसलमानों का अधिकार हो गया ज्ञात होता है ।

प्रशस्ति-विवरण : धर्मज्ञ जैत्रसिंह ने उक्त मंदिर में एक नागरी लिपि द्वारा संस्कृत भाषा में उत्कीर्णित अभिलेख लगवाया था । इस अभिलेख में ४० पंक्तियाँ और ७० श्लोक हैं । यह अभिलेख अब ग्वालियर पुरातत्व संग्रहालय में सुरक्षित है ।

इस अभिलेख के सम्बन्ध में मुझे जब यह ज्ञात हुआ कि यह अब तक अप्रकाशित है तो मैंने अपने अनुज डॉ० राजेन्द्रकुमार सिंघई को लिखा । उन्हीं के सत् प्रयत्नों से प्रस्तुत अभिलेख की शिलाखण्ड से प्रतिलिपि तैयार की गई, जो मुझे प्राप्त हुई । इसके लिए वे बहुत बहुत धन्यवाद के पात्र हैं ।

मैंने सम्पूर्ण प्रशस्ति को (अध्ययन कर उसे) लिपिबद्ध कर बार बार आवश्यक सशोधन किये और उसके उपरान्त उसे अन्तिम रूप दिया है । इस कार्य में नुटिया शेष रह जाना संभावित है । अतः विद्वान् पाठकों से निवेदन है कि आवश्यक सुधार लेखक को प्रेषित कर कृतार्थ करेंगे । प्रस्तुत अभिलेख का हिन्दी अनुवाद भी मुझे आवश्यक प्रतीत होता है । अतः आशा है इस और भी विद्वान् ध्यानाकर्षित करने की कृपा करेंगे । मूल प्रति मेरे पास है, जिसे विद्वान् चाहें तो देख सकेंगे । प्रस्तुत अभिलेख का भाषा शास्त्रीय अध्ययन अगले अंक में पढ़ियेगा । अभिलेख निम्न प्रकार है :—

भीमपुर अभिलेख

श्री स्वस्ति ॥

भामंडलोय मिषतः सवितारमेषा

मासं वितुं दिवसं वासवं नन्दिनीव (१) ।

यस्यांशयेत्सति कुन्तज कान्तलेखा

संश्लेषसे भवतुवः प्रभुरादिदेवः ॥१॥

उद्भासयति यदुप पुरगेन्द्रचला

१२. ग्वालियर राज्य के अभिलेख : लेखांक—१५६,

१६३, १७४, १७५, १७७ ।

नोट—श्लोक १ वसन्ततिलका छन्द

रत्नप्रवीण कलिकाः किल सप्त संख्याः ।

तत्त्वानि सप्त नृदनेकुमताम्बकारं (२)

पाशवं प्रभुर्भवतु संव वित्तवायः ॥२॥

विसं (स्थं) समान लवणोदधिमेखलेयः (३)

माकप मान कुलशैल नितम्ब बिम्बा ।

यस्मिन्नभूदवनियोषिदि बभूवैवः

श्रीवीरभ (व) दूरमरावल बालमंस्नात् ॥३॥

यस्याः प्रसाद मधिगम्यजडाशयस्या

प्याभाति सारसविशिष्ट निनाद संख्या ।

श्रीशारदीन शिशिरघाति कौरुदीव (४)

साहन्निश मनास दाम्पत्यशारदामे ॥४॥

स्याद्वाक्विद्यार्णव पार्श्वणेन्दवः

कारुण्यरत्नाङ्कुर रोहणाद्रयः ।

कीर्तिप्रभाकेन दिगम्बरश्रियः

श्रीमूलसघे मुनयः पुनन्तु वः ॥५॥

इतश्च ॥

यज्वपाल इति सार्थक नामा

संवभूव वसुधा धववंशः ।

सम्बतः कलित कीर्तिवृज्ज्वल-

च्छद्मेकमसृजद्भुव नेयः ॥६॥

कुलेकिलस्मिन्न जनिष्टवीर (५)

चूडामणि श्री परमाडिराजः ।

वारद्विधाभात्सत तारकश्रीः

स्कंदोपि नास्कदति येन साम्य (६) ॥७॥

तत्र नाक युवतिमृतस्वली-

पत्रवत्लिघनहवरस्पृशिः (७) ।

चाहडः प्रतिनरेन्द्रकानन-

प्लोषद्वि शिखिर्मूर्ति उद्ययी ॥८॥

तत्रस्वगपुरी पौर, गौरवंशमपेयुषि ।

नृवर्म्मविंरिमर्म्मविन्महीजान्निरजायत् ॥९॥

यस्मिन्विलास कुशलेह दयाधिनाथ-

स्थानेक रक्षिपति सागरमेखलेयम् ।

उत्कण्ठकानशृणु कपवतीव जज्ञे

प्रौढांगनेव नद क्षीरविवर्णभावं ॥१०॥

नोट : श्लोक २-४ वसन्ततिलका छन्द । श्लोक ५ इन्द्र

वज्रा । श्लोक ६, ८ रघोद्धता । श्लोक ७ उपजाति ।

श्लोक ९ अनुष्टुभ । श्लोक १० वसन्ततिलका ।

अस्मिन्नासेऽपिसूर्य, श्रीसंसर्गमहीभुजे
 नन्द्यासलराजेन्द्र, भीलितारिमुखाबुजः ॥११॥
 संग्रामेषु समग्रसाहस्रिषु क्षामेभक्तुभस्यल
 मुक्तावतुरिताकृपाण लतिका वाभाति हस्तेभय ।
 श्रीमन्नासलभूपकितु भवतो जेत्रश्रिया प्रेरितः
 कंदर्पोत्यवलक्ष एष कदली पूति पविज्ञाक्षरः ? ॥१२॥
 त्वयावधूत भूपाल, गोरक्षेणारियोषिताम्
 लोचनेव नृपासल्ल, वक्त्रे लक्ष्मीनिरंजना ॥१३॥
 अस्य प्रतापकनकं रमलंयशोभि-
 मुक्ताफलैरखिलभूषणविभ्रमाया ।
 पादोन लक्ष विषयक्षिति पक्ष्म लाक्ष्या-
 मास्तेपुरं नलपुरं तिलकायमानम् ॥१४॥
 अथ ॥ च
 अमरहित विकासः प्रीतसच्चक्रवर्गः
 परिव्रितघनपकं नालसत्त्वदधानः ।
 जयति भवन लक्ष्मी विम्बमागारभूमिः
 कमलवनसनाभिजैसवालान्ववाय ॥१५॥
 एतद्वंसमुधाम्नीधि, सुधादीधिति उद्ययी
 साददेवः सुधीपूर्वमपूर्वमिति बंधवः ॥१६॥
 अर्वाक भावं भुविभीरुवर्ग
 यन्नामकुर्वन्पियञ्चकारम् ।
 सश्रीकुमारः सुकुमारबंधो
 पीयूषदायेतदपत्यमासीत् ॥१७॥
 मोमणस्वहन तस्यनन्दन-
 इचन्दनं विषयशोभिरुज्ज्वलः ।
 पूर्वपुरुष वियोगमेदिनी-
 मेदिनी शशिमुखी मृपाचरत् ।
 जेतः श्रिता केतकगर्भगीरं
 गिरः शरच्चन्द्र सुषांसुधर्मः ।
 शीलधियामंगलसौधमंग-
 राजल्लवेवो गृहिणीव स्या ॥१८॥
 वाकुक्षिरोहणकोणि, माणिक्यं द्यौतवेभुवि

नोट ; श्लोक १४ वसन्ततिलका । श्लोक ११, १३, १६
 अनुष्टुभ । श्लोक १२ शार्दूलविक्रीडित । श्लोक १५
 मालिनी । श्लोक १७, १८ इन्द्रवज्रा । श्लो. १८
 रथोद्धता ।

जैत्रसिंह क्षमापाल, सताद्युवति भूषणं ॥२०॥
 नानादानविसरविसरत्कल्पनावारिनिस्त्रे
 भूयः यंकायदियमवनिवद्यशः श्री नमित्वा ।(?)
 भोजेदेव प्रवरनयनं भद्र पीयूष काणु-
 धीताद्भुस्वन्मगमिषमहापकितुं जैत्रसिंहः ॥२१॥
 नाकेशवत्केशवदेवनामा
 नित्यंसधर्मं श्रियवर्हित श्रीः ।
 यस्याः पितासाकुलधर्महर्म
 वंराजतिश्री दयिता तदीया ॥२२॥
 सासप्त गोत्रेभुविसप्तविम्बो
 साक्षाकृतीन्सप्त संतानभूतः ।
 मेहारत्रेभोजिनधर्मभानो
 राविभ्रतः सप्त तुरंग धं(भं)गी ॥२३॥
 तेषामुदयसिहाख्यो-
 मुख्यसिंह इवंधते ।
 निर्भिद्य कलिका तेयं
 कान्ति (कीर्ति) मुक्तावली किरन् ॥२४॥
 अद्यापि किं वहति दूर दरिद्रमद्य-
 विद्वं वितातिमपिदोस्त्रयवनेकदोवि ।
 किं दक्षिणस्वनयाणिरितीव कोपं
 दुर्द्धर जलीत्युदयसिंह सच्चोण शोभिः ॥२५॥
 त्यश्चर सोमर मन्दिराल गरलं-
 नित्यं जलात्कोस्तुभ
 स्वाहावल्लभमाविहाय भुजयो-
 मशिमुरावेरपि ।
 सेलत्या विशिली मुलालि विषमा
 दाम्नोरुहाधिप्यती
 धावत्योदयसिंह मन्तदुरितं
 धामाप्रति श्री ध्रुवम् ॥२६॥
 भृंगारसिंहस्वदमद्वि हीते
 भृंगाररत्नं सु विवेकभाजाम्
 तत्तोऽनु भू राजति राजसिंहः
 केलीवयं नंसकितेकतानः ॥२७॥

नोट : श्लोक २०, २४ अनुष्टुभ । श्लोक २१ मंदाक्रांता ।
 श्लोक २२, २३, २७ इन्द्रवज्रा । श्लोक २५ वसन्त-
 तिलका । श्लोक २६ शार्दूलविक्रीडित ।

तस्यानुजन्मासुकृतार्थजन्मा
जन्मानसः खेत्तति वीरसिंहः ।
यशः पराभूत सुधांशु धामा
तस्यानुजोलक्षणसिंहनामा ॥२८॥
अस्ति विपश्चितारत्न
रत्नसिंह तदन्तिमः ।
लघुनयन सिंहाख्य
तस्मात् वत्पलघुगुणैः ॥२९॥
(भ्रातरि) राजसिंहस्य,
सारिष्ठाऽजगुणिर्ध्वं
चतुरश्चतुराश्वोधि ।
बिभ्रुतान्मुधुवेसुतान् ॥३०॥
कर्णसिंहः पुराभूषा, देवसिंहभ्रातानुजः
तृतीय पद्मसिंहाख्यो, धर्मसिंहश्चतुर्थकः ॥३१॥
भार्यभूभारसिंहस्य आभालेदुष्टाभिधि ।
प्रेमधी राजसिंहस्य, पद्मोपि पद्म आकृतिः ॥३२॥
नाम्नाविजयदेवीति वीरसिंहस्य मेदिनी ।
पवित्रविरितस्तस्याः, धर्मसिंहश्चतुर्थकः ॥३३॥
अन्यदाधन्यधी स्वाक्षे (स्वान्ते),
जन्तसिद्धान्तपाविति ।
जंत्रसिंहः प्रबुद्धात्मा
[चिन्तयामासिवानिति] ॥३४॥
नित्येक जनेन्द्रकृत प्रतिष्ठा
चिह्नस्वतोभूवणनेन्द्रः ।
साकेतकनाथ कृतप्रसिद्धं
संकटाख्यः पुरुषोत्तमः प्राक् ॥३५॥
अस्मत्कुलालंकृतयेवभूव
रह्योपि धन्याः मन्त्रि जंत्रसिंहः ।
विमृश्य तन्नामनवीचकार
.....कृत जन्तसोधः ॥३६॥
धूमोरागात्किमयमर-
द्या(द्वी)पिनीवारिपूरः ।
पृथ्वीपीठे पतति यदि वा
तुंगमीशाद्रिशृंगं ॥

वेलः संलः किमुतघवल
क्षीरसिन्धूमधोत-
न्नानेयामजिनवरगृहं
राजते जंत्रसिंहः ॥३७॥
श्रीपीरपाठान्वय जैनवर्गः
धुरंधरः श्रीधरबन्धु सूनुः
अखंडधीः क्षडित चंडरादे
खंडधिये हंसति नागदेवः ॥३८॥
तस्यानुजो चाहङ्गागदेवी
स्वकीति वाचालित नागदेवः
सुतानु भावाग्रिम आचदेवः
कर्णकृति सन्नघुसोमदेवः ॥३९॥
धियं माहेन्द्रमहे ण, नागदेवमनोविणा
प्रतिष्ठा आकृताधोत्य, निधीन्धुनीन्धुवत्सरे ॥४०॥
गुर्वादि गुर्वगुरुपर्वतवन्धवः
श्रीखंड कीर्तिमहिमामरकीर्तिदेवः ।
सौधासृताणवविषुश्चवसन्नदेवः
प्रातिष्ठकृत्यविषयेऽगुरुर्बभूव ॥४१॥
श्री जंसवालान्वय पारिजातं
बाल प्रवालचरितार्थनामा
प्रफुल्लयन्त्वण कीर्तिमलजीः
श्रेष्ठीधनीराजतिमाधराङ्गः ॥४२॥
तत्सूनुदेवसिंहाख्य
श्रीणां लीलानिकेतनं ।
गुणाकरवपर्विन्दुः । ?
श्रद्धावर्लिनवाम्बुदः ॥४३॥
वीराख्या गुहणी तस्य.....
प्राक्सलक्षणसिंहाङ्गः कृत्यसिंहसुतः परः ॥४४॥
जसे साधू तनूजन्मा, साधुविजयदेवकः ।
शृंगारदेवी तज्जाया, निर्मायाधर्मकर्मह(सु) ॥४५॥
तद्गर्भसंभवोशोभा, वैभवध्वस्तमन्मथो... (या) ।
संतनयो तनयो जयोभ्रात ? , देवायदेवकी (?) ॥४६॥

नोट : श्लोक २८, ३५, ३६ इन्द्रवज्रा श्लोक २९-३४ अनुष्टुभ ।

नोट : श्लोक ३७ मन्दाक्रान्ता । श्लोक ३८, ३९ उपेन्द्र-
वज्रा । श्लोक ४०, ४३ से ४६ अनुष्टुभ । श्लोक ४१
वसन्ततिलका । श्लोक ४२ इन्द्रवज्रा ।

जैनश्रेष्ठीसंतांश्रेष्ठः परवाडकुलाग्रणीः ।
 कलिसन्तापितक्षोणि, चन्दनाकृत कीर्तिकः ॥४७॥
 सहदेवसुमाधुर्यं, वाचावर्षः कलापितां
 अनर्थयि कुकृत्यानां मसत्यानामतापदा ॥४८॥
 सव्येतरं प्रवरपाणिसरोजरंध्रं
 निःसांदिमागगनदानजलेन जाने ।
 जंवालभूमनियशः श्रितपंकजाली
 धेनाकसाधुरनुवर्द्धयतेघरित्र्याम् ॥४९॥
 श्लोक ५०.....अपठनीय है ।
 सुवर्णं चरितं येन, कलिकालकार्षोपले
 शुद्धिं दधाति साधूनां, चाहङ्कः शेष शोखरः ॥५१॥
 श्लोक ५२.....अपठनीय ।
 गम्भीरनादः कृतनीरजाश्चः
 स्वर्थेण सन्तुज्जित(चा)रुचूलः ।
 दानावदातैर्वलिराजकल्पं
 स्वल्पश्रियांतश्चनुसाधु वाचे ॥५३॥
 साधराजः पराभूत
 कुतीर्ययक्षसंकुक्षः ।
 हृदिसंज्ञरारुवापि
 धात्रो वेमलानहतम् ॥५४॥
 माण्डवाहनामानौ
 गाढरागोजिनाधने ।
 गुणकेलकविस्मर
 तानवर्षागमोषमो ॥५५॥
 शक्रः सावकदस्य ग्रामणी गुणशालनां
 पण्डितः पंडिताशेष, भिषवीथी कुलाभिधः ॥५६॥
 तमश्छेद विधिच्छेक गाविदार्णमुदर्शनम्
 सत्यो नारायणः श्रीमान् भाति साधुरबंशजः ॥५७॥
 ...कुलंवरः गंधं वन्धश्च भृगुनन्दनः ।
 सोजन्य बल्लि पर्जन्यं सव्यसाखिल दूषणो ॥५८॥
 जैनापालः कृपालुनाम् सद्धर्मासुधाम्बुधिः
 प्रङ्गस्ति क्षुधापालनाङ्कुः श्रीजैनाराधने धनी ॥५९॥

नोट : श्लोक ४७, ४८ अनुष्टुभ । श्लोक ४९ वसन्ततिलका ।
 श्लोक ५१ एवं ५४ से ५६ तक अनुष्टुभ छन्द ।
 श्लोक ५३ इन्द्रवज्रा ।

ससव्यसनसप्तावि संतापशमनांबुदौ
 गंगाकर्मणि धोरयो साधूमाध.....॥६०॥
 कृतायतति जीमूतः पूतधी (चोरवि) विधः
 तद्वननामासुधीः पाद यशसांशिशितेजसा ॥६१॥
 साधुभालसुतो सत्य शीलोछीहलुवीहलो
 प्रणति विबुधानादो गंधिण भेषजाविध ॥६२॥
 पौरपाटकुलविद्यभूधरे
 भद्रजातिमहिमन्युदोपतो
 उद्यशः कुसुम सौरभेदिसा
 मर्पयन्नवित थोय.....॥६३॥
 एतस्मिन्नाहतेवाचं जिनार्च्यालयकारिणः
 वर्द्धन्तां गोमिनिकाः ? पुष्य, वनकंदलनांबुदः ॥६४॥
 चन्द्रांशुमत्कामुलिमंडितेयं
 तारालि मुक्ताफल हारयष्टिः
 चकाछियावद् गगनस्य लक्ष्मी
 जैनालयं नन्दतु ताववित् नु ॥६५॥
 अस्त्यौकेशगणारविन्द तरणिः श्रीदेवगुप्तः प्रभुः
 यास्थानवक्षण तोषितक्षितिपतिः श्वेतात्ररास्त्रावुलः ।
 आसीदग्रसमग्र वाटिकरटि क्षादेक पक्षानतं-
 सृत्पादागुजरान्देशमहिमा श्रीवीरचन्द्रः कविः ॥६६॥
 तस्माज्जगमभारतीति जगति, ख्याताभिधानाद्गुरो-
 र्वीररेन्दोग्धि(म)गत्य सत्यमहिमं, वाजिष्ठ सारस्वतम् ।
 संसिद्धावरसिधुचंदवगिरा शुद्धिः सुधानीरजो
 श्रीषः प्रोतपदाप्रशशितमकृत श्रीदेवचन्द्रकृति ॥६७॥
 वास्तव्यान्नय कायस्थ, शोखरः शरदात्मजः ।
 प्रशस्तिमाल्लिखद्वेषे, विभातोजा समुद्भवः ॥६८॥
 ततः कस्यपगोत्रं सो पापेकः सूत्रधारक-
 श्चामदेवो सुतस्तस्य प्रशस्तिवोचकारसः ॥६९॥
 श्रीमान् श्रीजयमलोर्भुववश्रीजलेश-
 लोकोपकारकरणे अनुरक्त नन्दिः ।
 शमाव्यकामण गलोसिखिला कलानां
 साहसधर्मलख.....॥७०॥
 संवत् १३(१६) ।

नोट : श्लोक ६० से ६२ तक अनुष्टुभ । श्लोक ६३ रथो-
 द्भृता । श्लोक ६४, ६५, ६६ अनुष्टुभ । श्लोक ६५
 इन्द्रवज्रा । श्लोक ६६, ६७, शार्दूलविक्रीडित ।
 श्लोक ७० वसन्ततिलका छन्द ।

चित्तौड़ का दिगंबर जैन कीर्तिस्तंभ

श्री नेमचन्द धन्नुसा जैन

अप्रैल १९६६ के अनेकान्त के अंक में पृष्ठ ३६ पर रामवल्लभ सोमानी (जयपुर) ने चित्तौड़ के दि. जैन कीर्तिस्तंभ के बारे में पूरा और निश्चित प्रकाश डालने वाले तीन शिलालेख प्रकाशित किये हैं। तीनों लेख अपूर्ण होते हुए भी अपना-अपना वैशिष्ट्य स्वतंत्रतया प्रतिष्ठापित करते हैं।

(१) एक लेख के अन्तिम श्लोक में बताया है—
'तेन सुवा (स्तुता) नत जिने (ना) ना, मुनिगणानां च ।
स्थानानि निवृत्त्येः पान्तु, संध जोजान्वितं सदा ॥'

यह श्लोक सस्कृत निर्वाण कांड के बाद लिखा है और इसका अर्थ भी स्पष्ट है कि—इस तरह स्तुत अनंत जिन और मुनिगण तथा उनकी निर्वाणभूमि साहु जीजा संघ के साथ निर्वाण क्षेत्रों की वंदना करते-करते यहाँ आये थे। या वह यात्रा उन्होंने यहाँ खतम की होगी। उस समय जो वंदना-भक्ति हुई उसका प्रकाशन यहाँ हुआ है। निर्वाण क्षेत्रों का स्तवन जैसा यात्रा का दर्शक है वैसा ही संघ की कामना साहु जीजा के अन्य जगह से यहाँ संघ पधारने का दर्शक हो सकता है। इस लेख की खुदाई साहु जीजा के सामने की गयी होगी, निदान इस लेख का समय जीजा के जीवनकाल है ही।

(२) दूसरे लेख के अन्तिम श्लोक के उत्तरार्ध में लिखा है—

..... स्थितिकृते स्वर्गपिवर्गतिभ्यो ॥

यः प्राज्ञैरनुमीयते स्वीकृतिना 'जीजेन निर्मापितः'

स्तंभः सं(व) ॥ शुभा लोकेन कैः ख्याते
'वधेरवाल जातीय सा 'नायकसुत जीजाकेन' स्तंभः कारा-
पितः । शुभं भवतु ॥

इस लेख से ऐसा लगता है कि, यह लेख साहु जीजा के निदान एक शताब्दी बाद ही लिखा गया है। जब कि प्राज्ञ लोग भी केवल अनुमान ही करके ही रह जाते थे कि

साहु नायक के सुपुत्र साहु जीजा ने यह मानस्तंभ निर्माण किया। साहु जीजा के जीते जी ही या इस कार्य को आखिरी देखनेवाले के जीते जी ही 'अनुमीयते' याने अनुमान करना उचित नहीं लगता। अतः साहु जीजा के सैकड़ों वर्ष बाद यह लेख लिखा गया है, यह कहना उचित ही होगा।

(३) तीसरा लेख बहुत बड़ा और महत्वपूर्ण है। इस लेख के प्रारम्भ के २० श्लोक चले गये हैं। तथा बीच-बीच में कुछ श्लोक अघूरे ही उपलब्ध हो या असावधानी के कारण मुद्रण से छूट गये हों। ऐसे श्लोक २८, २९, ३० तथा ४० व ४१ हैं। इस कारण अगर यह लेख गौरव से देखकर वापिस छपाया जाय तो, कम से कम श्रुतियाँ रह जायगी और लुप्त प्राय इतिहास को फिर से उजाला आ जायगा। देखिये—“...उसका पुत्र दिनाक हुआ, इनके धर्मपत्नी का नाम वाच्छी था ॥२१॥ इनके नाम या नायक नाम का पुत्र हुआ। वह हमेशा धर्मकार्य में नायक (अग्रणी) ही रहता था ॥२२॥ यह विशाल कच्छ (देश) का रहने वाला था। वहाँ उसने अपने प्रासाद के साथ-साथ ऐसे श्री जिन मंदिर निर्माण किये, मानो वे छत्रध्वजादि से तथा उत्तुग शिखरो से नृत्य ही करते हों। ये जिनमंदिर सम्यक्त्वो जीवों को आकर्षक-रमणीय और कमनीय भी थे ॥२३-२४॥ मुमुक्षु जीवों को मानो भगवान ही स्वर्गसोपान का उपदेश दृष्टव्य करा रहे हैं। ऐसे मंदिर की सीढ़ियाँ तथा भव्य सभामंडप ऐसा लगता था मानो मुक्ति स्त्री को वरने के लिए यह विवाह मंडप ही है। इसके उत्तुग शिखर तथा ध्वजादि से ऐसा लगता था, मानो सिद्ध देवता प्रभुपद का जय जयकार करती हुयी नृत्य ही कर रही हो ॥२४॥ इसकी धर्मपत्नी का नाम (शायद) नागश्री था, जो इनके हमेशा साथ रहती। कैसा था यह नाम—अशुभप्रवृत्तिरूप ईधन को अग्नि जैसा, तथा विष या संसार संतति को

छेदने वाला इस कलियुग में मानो साक्षात् धर्ममूर्ति ही था ॥२६॥ इनके—हात्ल, जीजु, न्योट्टह, असममिध, श्रीकुमार, स्थिराख्य ऐसे छह पुत्र थे। ये ससी—विजयी तथा चक्रवर्ती थे। इनमें जीजु नाम के पुत्र का ख्याल जीव दया तथा जीर्णोद्धार की तरफ ज्यादा था। ये त्रिवर्ग के प्रभु और जैनधर्म के अनुरागी थे ॥२७॥..... चित्रकूट में श्रीचन्द्रप्रभ का उत्तुंग शिखरबद्ध प्रासाद बनाना, निर्जन प्रदेशों को नष्टकर—सूरिजी के आश्रम में, तलहट्टि भाग में, खोहर, सांचोर, बूढा डोंगर (गढ़), सुमिर, जाने (फल) आदि स्थानों में श्री चैत्य विराजमान करके, महादिमगल ऐसे इस मानस्तम्भ को प्रारम्भ कर निवृत्त हुए, पुत्र पूर्णसिंह के ऊपर उसकी जिम्मेदारी डालकर यह धर्मानुरागी महात्मा सुमंगल के लिए इद्रिय जयी होकर समाधिमरण को प्राप्त हुआ ॥३०॥ यह पुण्यसिंह भी धर्मधुरा को अच्छी तरह से बहनेवाला, जयवन्त हो ॥३१॥ जिम्मेदारी आने पर दिनोदिन अभ्यास बढ़ता गया, और विषम परिस्थिति में भी वे कीर्तिसपन्न बने ॥३२॥ परंपरा से मिले सद्धर्म को बढ़ाते समय अनेक आपत्तियों का सामना करना पड़ा और उस धर्मधुरा को अद्भुत रीति से चलानेका विक्रम किया ॥३३॥ जिसका पुण्य शिरोभागी शोभता है, चक्रमंडल में जिसकी वाणी, त्रिजगत्प्रासाद में जिसकी कीर्ति तथा निर्मल कमल में जिसकी धर्मलक्ष्मी शोभती है ऐसा—॥३४॥ यह धनिक साहुकार अपूर्व है, क्योंकि याचको को इच्छित दान देने पर भी अहर्निश यह अपनी सम्पत्ति को बढ़ाता गया। सत्पुण्य संचय ही श्रेष्ठ है ॥ ३५ ॥ सपद और शान्तिरूप ही यह अगीकृत कार्य बहता हुआ विग्रह को भेद कर अमरपद को प्राप्त हुआ ॥ ३६ ॥ दानी लोगों में सिंह ऐसा यह पुण्यसिंह जयवन्त रहे, जिसकी कीर्ति कामिनी नेत्र में अंजनि जैसी स्पष्ट झलकती है ॥ ३७ ॥ ...क्या मेरु क्या सुवर्ण, क्या हरि, क्या चन्द, जिसके पुण्य प्रताप के आगे फीके हैं, ऐसा धर्मधुराधर पुण्यसिंह इस कलियुग में जयवन्त हो ॥ ३८ ॥ एक-सुमेरु, सुरगुरु, हरिमुरारी, रुद्र-समुद्र, चन्द चन्द्रिका, इन सबसे पुण्य में उन्नत तथा बुद्धि से निर्मल है, तथा स-पूर्ण रत्नों के सहित होने से पृथ्वी पर यह पूर्णसिंह नाम से प्रसिद्ध है ॥३९॥

पुण्यसिंह हमेशा विशालकीर्ति यति (संवत् १२६६-७१) को भजते थे। ये कुंदकुंदाम्नाय और सरस्वती गच्छ के थे। स्याद्वाद विद्यापति (अजमेरगादि के पट्टाधीश) और इस घरनी पर उत्कृष्ट तपोनिधि थे ॥ ४० ॥ वे कवि, उपन्यास के कर्ता परवादामद को नष्ट करनेवाले, प्रचुर प्रेमरस को बहाने वाले थे। इनका श्रुतभंडार विपुल तथा समृद्ध था ॥४१॥ ये योगशास्त्र के अभ्यस्त, मीमांसक-साख्य आदि कुवादि संपर्कों का दर्प हरण करने वाले गुरु थे, और विद्युत जैसी चंचल तथा दिव्यवाणी के धारक थे ॥४२॥ इनके शिष्य शुभकीर्ति थे, जो तपो-नुष्ठान में निष्ठा रखने वाले, संसार-विकार से भयभीत स्वभावतः ही गुणारागी थे। प्रारब्ध के अनुसार मृत्यु महोत्सव के समय अदेह दशा प्राप्ति के हेतु यह निसारदेह छोड़ते समय इन्होंने पचाक्षरी मन्त्र का मध्यस्थ भाव से ध्यान किया था ॥ ४३ ॥ इनके शिष्य धर्मचंद मुनि (संवत् १२७१ से १२९६) थे, जो सिद्धान्त सागर के पादगामी, विख्यात तथा शुद्ध चरित्र थे। इनकी यशः-कीर्ति नारसिंह से भी बढ़कर थी, और हमीर भूपाल ने इनका सत्कार किया था ॥४४॥ इनके चरण सानिध्य में प्रतिष्ठा योग्य मानस्तम्भ को धनिक श्रीपूर्णसिंह प्रगट करते भये ॥ ४५ ॥

इस तरह तीनों लेख स्पष्ट करते हैं कि (१) साहु जीजा के पूर्वज मूल चित्तौड़ के निवावासी न थे। वे कच्छ देश की किसी नगरी के रहने वाले थे और यात्रा निमित्त साहु जीजा का आगमन यहाँ हुआ था। (२) साहु जीजा ने सिर्फ चित्रकूट में ही कार्य नहीं किया था तो यह उनका अन्तिम कार्य था। इसके पूर्व में मूर्तिलेख में उद्धृत—अष्टोत्तरशतमहोत्तुंग शिखरप्रासाद समुघरणधीर-त्रिलक्षश्रीजिनमहाविबोधधारक — अष्टोत्तरशत श्रीजिन-महा प्रतिष्ठाकारक—अष्टादशस्थाने अष्टादशकोटि-श्रुतभंडार संस्थापक—सवालक्षबदीमोक्षदायक—आदि अनेक विशेष गुणों पर इन शिक्षालेखों से प्रकाश पड़ा है। अकोला के सेनगण दि० जैन मंदिर में मूर्तिलेख को प्राप्त होने पर मैं सोचता था कि, चित्तौड़ के यौरव का उल्लेख करने वाली सामग्री वहाँ से सैकड़ों-हजारों मील दूरी पर पर प्राप्त हो सकती है, तो क्या उसके इर्द-गिर्द प्राप्त न

होगी ? जरूर होगी । और उसी भावना से मैंने उस मूर्तिलेख (स० १५४१) को प्रकाशित किया था । उक्त शिलालेखों से नष्ट हुयी सामग्री को अन्य जगह का संशोधन करके तथा भाटो के पास की बंशावली से प्राप्त हो सकती है । वहां के विद्वानों से इसकी उपेक्षा करना अनुचित होगा ।

तथा लिखते समय समाधान होता है कि, जिन मूर्तिलेख से मुनि कातिसागर ने इस कीर्तिस्तम्भ को १५-१६ शदी का ठहराने की कुचेष्टा की उस मूर्तिलेखकों को मुझे देखने का सुअवसर मिला । और उसमें 'श्रीमत् बुद्धसेनगण घरान्वये' न होकर 'श्रीमन् वृषभसेनगणायरा-न्वये'...श्रीमदपाटदेशे चित्रकूटनगरे श्रीचंदप्रभजितेन्द्र

चैत्यालयस्याग्रे निजभुजोपाजितवित्तबलेन श्रीकीर्तिस्तम्भ आरोपक साहु जीजा सुत साहु पुनसिंहस्य 'आम्नाये'... आदि स्पष्ट लेख है । 'आम्नाये' इस शब्द को टालकर संवत् १५४१ के मूर्तिलेख में उद्धृत सभी घटना को उसी कालीन बताया त्यागी तथा सत्यशोधक ऐसे मुनि जी को कितना उचित है, इसका वे ही विचार करे । 'खण्डहरो का वैभव' किताब में भी ऐसी अनेक बातें उल्लिखित हैं । उन सबका वे स्वयं परीक्षण करेंगे और सही घटनाओं पर प्रकाश डालेंगे ऐसी मैं उनसे प्रार्थना करूंगा । साथ ही साथ साहु जीजा तथा पूर्णसिंह के मूल स्थान, कार्य गुरु परपरा इसके ऊपर विद्वान अधिक प्रकाश डालेंगे । ऐसी शुभ कामना के साथ मैं इसको समाप्त करता हूँ ।



ढूँढाड़ी भाषा की जैन रचनाएँ

डा० गंगाराम गर्ग

राजस्थान की मारवाड़ी, ढूँढाड़ी, मेवाती, हाड़ीती आदि विविध बोलियों में प्रथम दो बोलियाँ ही साहित्यिक पद पर प्रतिष्ठित हो सकी हैं । मारवाड़ी (मरु भाषा) और ढूँढाड़ी को साहित्यिक गौरव प्रदान करने में क्रमशः श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदाय के विद्वानों का बड़ा योग है । मारवाड़ी के समान ढूँढाड़ी में भी पिछले चार-पाँच सौ वर्ष तक की पर्याप्त रचनाएँ गद्य और पद्य दोनों ही विधाओं में उपलब्ध हैं किन्तु प्रसिद्ध विद्वान अग्रचंद नाहटा द्वारा संवत् २०१० में ही इस ओर संकेत दिये जाने पर भी ढूँढाड़ी के साहित्य की तरफ अधिक ध्यान

न जा सका । प्रस्तुत निबन्ध में पाँच मन्दिर टोंक में उपलब्ध दो गुटकों में विद्यमान कुछ ढूँढाड़ी रचनाओं का विवरण दिया जा रहा है :—

१. नेमनाथ कल्याणक वर्णन :—इसकी रचना पौष शुक्ला ११ सन् १७५४ को ईसरदा ग्राम में हुई । प्रथ के रचयिता अनूपचन्द वरवतराम सधी के पुत्र थे । इसमें ६३ दोहे और सोरठे हैं । ग्रन्थ के प्रारम्भ में तीर्थंकर नेमिनाथ जी का गुण गान किया गया है—

तेरे गुन सुमरन करै, नति प्रति मन वच काय ।
सो नर सुर सुख भुगति कै निसचै सिव सुष पाय ।

पचकल्याणको के वर्णन में जन्म कल्याणका के उत्सव की भाँकी अधिक आकर्षक है—

अठ जोजन ऊँचो करचो, एक कलस को भेव ।
धीर समुद जल ल्यावहीं, इन्द्रादिक सब देव । २३
प्रभु के सिर पर ठारिक, करे कल्याणक सार ।
अपनी बुधि सम बीनवै, मधवा बारंबार । २४

१-२. राजस्थानी जैन साहित्य मरुभाषा में वर्णित है ।

इसमें श्वेताम्बर सम्प्रदाय के खरतर गच्छीय विद्वानों द्वारा रचित साहित्य अधिक है । दिगम्बर विद्वानों ढूँढाड़ी भाषा में भी साहित्य निर्माण किया है ।

राजस्थानी गद्य साहित्य : उद्भव और विकास,

५, पृ० १८६ ।

पीछै इन्द्राणी सब, प्रभु को रूप निहारि ।

भणिमय आभूषण सबै, पहराये अतिसार ॥

‘नेमनाथ कल्याणक वर्णन’ तेरहपंथी मन्दिर टोंक में प्राप्त गुटका नं० १०० ब के पृष्ठ ३१-३८ पर सग्रहीत है ।

२. नेमीसुर जी की वीनती—इसके रचयिता मोहन-सागर के शिष्य मनरूप है । कवि ने अपने गुरु को सकल कलाओं में प्रवीण कहा है । नेमिनाथ जी के वैराग्य की कथा में राजमती विरह का प्रसंग बड़ा मर्मस्पर्शी है—
राणी तो राजत वीनबै थान्हा आदि सनेह ।
नवभव केरी प्रीतड़ी हो नेम जो, थंजिन छांड़ो नेह ।
लाग शाहिमी जेम कहै, ओर वरो भरतार ।
नवभव ग्रैहो आगडो, हा नेमजो, सावलियो सरदार ।
समझाई समुझै नहीं, राजल राज कुवारि ।
वोछै जल ज्या माछली, हा नमजी, करती दुष अपार ।

यह रचना तेरहपंथी मन्दिर टोंक में विद्यमान ग्रंथांक १०० ब के पृ० १४५-१४६ पर सग्रहीत है ।

३. वीनती मलूकदास—मलूकदास की यह वीनती उक्त ग्रन्थ के पृ० १४६-१४८ पर अंकित है । कवि ने प्रारम्भ में शारदा और गुरु की स्तुति करते हुए जिनेन्द्र की महिमा का वर्णन किया है—

जिण जी गढ़ गिरनारि मुहावणं, जिण जी जीठै है
सध्या नेमकुवार ।
जिण जी तप कीयो केवललीयो, जिण जी पहुच्यो है
मुकति मुभारि ।

जिण जी इन्द्रादिक सेवा करै,

जिण जा इन्द्राणो गावै छै गोत,

जिण जी मलूकदास की वीनती,

जिणजी रासो चरना पाति ।

४. रिषभ जी कौ मंगल—उक्त ग्रन्थांक के ही पृ० १०३-१०५ पर रूपचंद कृत ‘रिषभ जी कौ मंगल’ संग्रहीत है । डा० प्रेमसागर जैन ने ‘हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि’ में पृ० १६८-१७४ पर पाण्डे रूपचंद के कई ग्रन्थों की चर्चा करते हुए उन्हें हिन्दी का समर्थ कवि माना है । ‘रिषभ जी कौ मंगल’ उन रचनाओं के अतिरिक्त ढूढाड़ी में ११ छंद ली छोटी सी रचना है । इसमें आदि तीर्थंकर ऋषभदेव के जन्म से लेकर समवशरण तक

का सक्षिप्त वर्णन किया गया है । समवशरण की छवि दृष्टव्य है—

समोसरण अति है वडो, दीठड़ो, चउमुख देव ।
अमर सचर नर सेवक बाजो, नर अति बय्या जो ॥८
हाटकवणो सरीर हौ, उतर्या जण भवतीर,
गरिवा हौ गणधर धारक, चौरासी बण्या जी ॥९

५. सवा सौ सोष :—तेरहपंथी मन्दिर, टोंक के ग्रन्थांक ५० ब के पृष्ठ ११६-१२२ पर यह रचना सग्रहीत है । इसके लेखक विजयहर्ष हैं । श्री विजयहर्ष ने इसमें ३५ छंदों में सवा सौ शिक्षाये लिखी हैं—

भोजन उपमा न कहै भूडो,
अपणी जाति बिचारै ऊडी ।
जिण सांभलता उपजै लाज,
एहौ मैं कहै बयण अकाज ।

६. कलियुग महिमा—उक्त ग्रन्थांक के पृ० १२९-१३० पर १० छंद का ‘कलियुग महिमा’ उपलब्ध है । इसके लेखक कर्मचंद हैं । कवि के अनुसार कलियुग के दोषों ने ही उसे रचना लिखने के लिए प्रेरित किया है । कलियुग की विडम्बनाओं के सम्बन्ध में कवि तुलसीदास जैसे विचार ही प्रकट किये गये हैं ।

नीच तणाइ घरि लिषमी लोला,
उत्तम घर उडायो ।
निरधन नै घरि बेटा बेटो ।

धनवत एको न पायो रे ।६
न मिलै बाप संघातै बेटो,
घणो मनोरथ जायो ।
हाथ उपाड़ै, मानै ताड़ै,
रमणी नै उम्हायो रे ।७

७. हितोपदेश वैराग्यरूप—उपर्युक्त ग्रन्थांक के पृ० १३८-१३९ पर यह रचना सग्रहीत है । इस रचना के लेखक महमंद हैं—‘महमद कहै वस्तु बौरीये, जे वयो आवे रे साथ । ससार की नश्वरता का बोध कराना ही रचना का उद्देश्य है—

भूलौ मन भमरा काई भमौ भमौ दिवस नै राति ।
माया नौ बांध्यो प्राणियो, भमै परमल जाति ॥२

कौ ना छोरू कौ नां वाछरू कौ न माय नै वाप ।
प्राणा जायै छै एकला, साथें पुन्य नै पाप ॥३॥

८. बीनती मनोहर—मनोहर कवि द्वारा लिखित ८ छंद की 'बीनती' तेरहपंथी मन्दिर के ग्रन्थांक ५० ब के पृ० ६७-६८ पर अंकित है। मनोहर ने इसे चाकसू (चम्पावर्ती) में लिखा। 'बीनती' में कवि ने भगवान् शान्तिनाथ के दर्शन की उपलब्धि का वर्णन किया है—
रोग सोग दुष डंद गया, जिण के देषता रे हां ।
रोम रोम आनंद भयो, प्रभू पेषतां,
चरण सफल करि जात, घात करि पाप की ।
पुनि भरे भंडार सार करि आपकी
मंगला कोड़ि कल्याण हुवा जिण गावतां,
मंदिर देषि जिणंदा सुभावन भावता ।

९. 'वधावो'—उक्त ग्रन्थांक में उपलब्ध हर्षकीर्ति की इस रचना में भगवान् श्रृपभदेव के जन्मोत्सव का वर्णन किया गया है। इस रचना में ११ छंद है—
श्री बाजा बजिया घरां जहां जनम्या है श्री
रीषभकुमार ।

बाजा बाजिया घरां राजा नाभि वधावरणां घरां,
मरुदेवी कुषि लीयो अबतार ॥२॥

१०. बीनती चन्द्रप्रभ की—हर्षकीर्ति की 'वधावो' रचना के के बाद उपलब्ध ८ छंदों में यह रचना भीनराज की है। रचना का प्रारम्भ सरस्वती और सद्गुरु की वंदना से करते हुए कवि ने चन्द्रप्रभु के गुणों का गान किया है—
ता कौ तो ग्यांन अनंत हो भव्य प्राणी,
जो हों पार न को पावै नहीं जी,
सुरनर करही विचार हो भव्य प्राणी,
जी हो जिनका गुण गावै सही जी ॥

११. श्री नोकार :—ग्रन्थांक ५० ब के गुटके में ही पृ० ४६-४७ पर अज्ञात कवि की रचना 'श्री नोकार' संगृहीत है। इसमें ११ छंदों में श्री नमस्कार मंत्र से तारे गये प्राणियों का नामोल्लेख करते हुए उसका चमत्कारी प्रभाव कहा है—

हो आगै जी मुक्त्या वै गया,
अरु और भी वै ही जाइ ॥६॥

श्री नोकार का परभाव सें
अर कटै करम की पासो ॥१०॥

१२. जिनवाणी :—तेरहपंथी मन्दिर टोंक के गुटका नं० ५० ब के पृ० ४४, ४६ पर किसी अज्ञात कवि की यह रचना उपलब्ध है। इसमें ससार की नश्वरता बतलाते हुए जिन वाणी को धारण करने का उपदेश दिया गया है—

लष चौरासी रै जीवड़ा तु ज़ोनिनों में जी,
तु तौ फीरीयो छै बार अनंतौ ।
दुष दुरगति का रै जीवड़ा तै भोगिया जी,
तै तो जाण्यो नै जीण को महंतौ ।

१३. जीणवाणी—उक्त गुटके के पृ० ४७-४९ पर ६ छंद की एक दूसरी 'जोणवाणी' भी है। 'इसमें 'कुमति' को प्रतारणा दी गई है—

तेरी संगति कौन भलै री, मीथ्या ममता सषी तेरी ।
जा कै घट न बैठ न पावै, वाकौ दुरगति लै पहीचावै ॥८॥

१४. जिन भक्ति—उसी गुटके के पृष्ठ ४२-४४ पर एक रचना 'जिनभक्ति' है। इसमें जिनभक्ति के द्वारा तरे हुए प्राणियों की चर्चा करते हुए जिन भक्ति की महिमा गाई गई है—

सिंह स्याल सम ह्वै चलै, मदगल मद तजि जाय ।
जिनवर नाम प्रभाव स्यों, सरप माल सम काय ।

१५. सहेल्यो गीत :—उक्त गुटके के पृ० ८२-८४ पर अंकित 'सहेल्यो गीत' सुन्दर कवि की रचना की है। डा० प्रेमसागर जैन से सुन्दरदास कवि की रचनाओं की चर्चा हिन्दी जैन भक्तिकाव्य और कवि में पृ० १६१-१६४ पर की है। उन्हें ७ पद्य की रचना 'धर्मसहेली' वधीचंद मन्दिर जयपुर में प्राप्त हुई थी। किन्तु 'सहेल्यो गीत' में १० छंद है। फिर भी दोनों रचनाएँ एक भी हो सकती हैं। कवि ने सख्य स्थापित करके मन को प्रबोधन दिया है—

सहेल्यो हे नरक निगोद्या मांहि,
रुलि आयै चीरु काल कौ जी,
सहेल्यो है जहां कोई अपणौ नाहि,
दुष सहै तहां एकलौ जी ॥३॥

ब्रह्म साधारण की पहली कृति कोइलपंचमी कहा

डा० भागचन्द्र जैन 'भास्कर'

कवि ब्रह्मसाधारण अपभ्रंश भाषा के कवि हैं। उनके द्वारा लिखित कोइलपंचमीकहा, मउड सत्तमीकहा, रवि-वयकहा, तियालचउवीसो कहा, कुसुमंजलिकहा, निदूदूसि-सत्तमीवयकहा, णिज्झरपंचमीकहा और अणुपेहा उपलब्ध हैं। संभव है, उन्होंने और भी ग्रन्थ निमित्त किए हों। जैन मन्दिर व शास्त्र भण्डारों को देखने से अन्य ग्रन्थों की प्राप्ति संभावना बढ़ सकती है। उपलब्ध रचनाओं को रच कर विराम नहीं ले सकता। निश्चित ही उन्होंने अनेक ग्रन्थ लिख कर साहित्यिक क्षेत्र में विशेष योगदान दिया होगा।

कवि की उक्त रचनाएँ एक ही जगह संग्रहीत हैं। अभी तक एक ही प्रति उसकी उपलब्ध हुई है, जो कि श्रद्धेय पं० परमानन्द जी के पास है। उनकी कृपा से यह प्रति मुझे सम्पादन के लिए प्राप्त हो सकी। तदर्थ मैं शास्त्री जी का अत्यन्त आभारी हूँ। वे संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी व भारतीय इतिहास के मूर्धन्य विद्वान हैं। पाठादि निष्पारण में उन्होंने यथावश्यक सहयोग दिया है।

प्रस्तुत कथासंग्रह की प्रति अच्छी है, अक्षर सुवाच्य हैं। कुल पत्र बीस हैं। प्रत्येक पत्र १०॥ इच लम्बा और ४॥ इच चौड़ा है। पत्र में प्रायः १२ पक्तियाँ हैं। हर पक्ति में प्रायः ३५ अक्षर हैं। प्रत्येक पत्र के बीच में वृत्ताकार ताडपत्रीय प्रतियों के सदृश कुछ जगह छोड़ दी गई है जो प्रति की सिलाई के निमित्त रही होगी। कहीं-कहीं छेवा लगाकर प्रति को सुधारा भी गया है।

ब्रह्म साधारण ने इन कथाओं के आदि-अन्त में अपना परिचय नहीं दिया और न रचनाकाल का समय ही दिया है। मात्र उन्होंने अपनी गुरु परम्परा का निर्देशन अवश्य किया है। तदनुसार वे आचार्य कुन्दकुन्दान्वयी परम्परा में हुए थे। उनकी गुरु परम्परा इस प्रकार है—रत्नकीर्ति,

प्रभाचन्द्र, पद्मनन्दी, हरिभूषण, नरेन्द्रकीर्ति, विद्यानन्दि और ब्रह्म साधारण।

प्रस्तुत कथासंग्रह की यह प्रति वि० सं० १५०८ की (सन् १४३०) की लिपि की हुई है। अतः कवि १५वीं शताब्दी के अन्तिम चरण और १६वीं शताब्दी के पूर्वार्ध का विद्वान हो सकता है।

यहाँ कोइलपंचमीकहा को मूलरूप देने के साथ ही उसका संक्षिप्त हिन्दी भाषान्तर दिया जाता है—

जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्रान्तरगत कुरु जंगल देश स्थित रायपुर नामक नगर में वीरसेन राजा राज्य करते थे। उसी राज्य में धनपाल सेठ अपनी धनमति के साथ सुखपूर्वक रहते थे। उनका पुत्र धनभद्र और पुत्रवधू जिनमति थी। जिनमति कुशलगृहिणी और दान पूजा में अभिरुचि रखने वाली थी, परन्तु उसकी सास धनमति को जैनधर्म से अधिक प्रेम नहीं था। दोनों के बीच यही एक खाई का कारण था।

कालान्तर में धनपाल काल कवलित हो गया। कुछ समय बाद विषण्णवदना धनमति का भी देहावसान हो गया और पापकर्म के कारण उसने अपने ही घर में कोयल का जन्म धारण किया। दुर्भाग्यवशात् वह जिनमति के शिर में हमेशा टक्कर मारकर उसे दुःखित करती रही।

एक दिन श्री श्रुतसागर नामक मुनिराज वहाँ आये। वे अवधिज्ञानी थे। धनभद्र व जिनमति ने उन्हें आहार दान देकर कोयल की गतिविधियों के सन्दर्भ में प्रश्न किये। मुनिराज ने बताया वह तुम्हारी जननी है। मुनि के आहार दान में अन्तराय डालने के कारण वह कोयल हुई। धन व लब्धि प्राप्त करेगी। इसके बाद संसार की आसारता का वर्णन किया और पाँच वर्ष तक आसाढ़

१. शास्त्री पं० परमानन्द जी, प्रशस्ति संग्रह भाग २, प्रस्तावना, पृ० १२८।

कृष्ण पक्ष में उपवास करने पर उद्यापन करने को कहा ।

यह सब सुनकर कोयल मूर्छित हो गई । जल सिंचन कर उसे सचेत किया गया । पश्चात् वह धर्मोपदेश श्रवण कर सन्यास पूर्वक दिवगत हुई ।

दम्पति ने भी कोकिल पंचमी व्रत विधिपूर्वक पूरा किया और समाप्त होने पर उसका उद्यापन किया । कालान्तर में वे भी सलेखना पूर्वक स्वर्गवासी हो गये ।

जीव दया पालन करने का यह फल है । कोकिल पंचमी व्रत इसकी प्राप्ति का साधन है ।

कोइलपंचमीकहा

रिसहपगुह जिण पणविधि सरसइ चित्त धरि ।
कुंदकुंदगणि पह-ससि 'पंकयणंदि' भरि ॥
गुरु भायर हरि भूषण निज्जिय पंचसरे ।
गुरु 'वरिद कित्ती' सर विज्जानदियरे ॥
बंदभि वयंविहि भासमि निसिणउ भाउकरि ।
जंबुदीउ भरहंतारि 'कुरु जंगल' वरिसे ॥
सुरसरि जल कल्लोलहि धवलिय रायपुरे ।
'धीरसेण' निव पालिय वज्जिय चोरणरे ॥
पट्टधरिणि सुहमइ भिग-णयणि ।
वणि धणवालु पुरांधणि धणमइ ससि-वयणि ॥
तणरुहुगुणसंपण्णउं धणभदो पवरु ।
वणिज्जिण भत्तहो णंधणि जिणमइ गहियकरु ॥
पुज्जमहिम मुणिभोयण साविय दिठ कुसलि ॥
सुण्हा चरणु ण भावइ सामुहि विहिय कलि ।
दाणुपुज्ज बिरयंतहं कलहु जि होइ घरे ॥
जिणमइ दाण विहणी अछइ दुक्खभरे ।
ता धणवालु वणीसर कालेच्चत तणु ॥
परिवेवणु दंपइ किउ जाय विसण्णमणु ।
धणमइ भज्ज अलक्खणि पोसइ अप्प तणु ॥
भत्तारहो ण विरोवइ सो सुणकरइ खणु ।
सुण्हा सामुहि भासिउ पियरह मेलि धमो ॥
कत्तियकिण्ह चउदसि भोयणु वहुलु कम्मो ।
देव पियरजण छडिदि अप्पुणि भुत्तिकया ॥
णिसि अज्जीण करालिय दुक्खीह पाण गया ।
सावयकुलु छंडेप्पिणु अत्तितिरिक्खि हुआ ॥
गिह अगेंदु मडालीह कोइल पाव कया ।

जिण पुज्जा धणभदो जिणमइ दाणरया ॥
त्रिविह पहावण विरयहि पालहि जीवदया ।
पडहु देखि ण सक्कइ दुग्भासहि रज्जइ ॥
कोहाणल संजुत्तो सुण्हहि सिरे पडइ ।
पवरि वि सतह लोयहं टंकर देइ खणे ॥
जिणमइ वहु संताविय जाणिय अप्प मणे ।
तहि अवसरि सुयसायर पत्तउ तासु घरे ॥
अवहीसर पडिगाहिउ जिणमइ भत्तिकरि ।
उच्चासणि पय-खालिय भोयणु भत्तिकउ ॥
अल्लयदानु भणि मुणिवर पवरासणि ठियउ ।
वदिवि जिणमइ पूंछिउ पक्खिणि बावरिउ ॥
गेह कवाडे लीणो पेक्खइ मुणिवरिउ ॥
अवहीसर मुणि भासइ दंपइ सुणहि यिरु ।
एह जणणि तुवणाह हो धणमइ मुइयचिरु ।
अन्तराय मुणि दाणहो पाविय दुक्खभरु ॥
मुणिवरवयणं देहि मपच्छत्तावसर ।
हाहा माणुसु निग्घिणु सावय मग्गचुउ ॥
हिडइ भव सरिणाहे दुक्खअ णेयजुओ ।
सामिय तह उवएसहु जह मणुयत्तभवे ॥
पक्खिणि तुव गिर पाले वि गच्छइ लद्धजवे ।
मुणिवर भासइ कोइल पंचमि विहि करहु ॥
तिमिरपक्खि आसार्दहि उववासे चरहु ।
पञ्च वरिस कत्तिय तम उज्जवणउ निमुणि ॥
साम वण्ण जिणणाहो पुज्जाण्हवणु मुणि ।
अल्लरि कलसभिगारा चामर पत्तहि ॥
घंटाधय कंसाला जिणचेयालयहि ।
किज्जइ विविह पहावण णच्चणतूरविहि ॥
गीय सहभेरी खदंसिय परमदिहि ।
जल चंदण कप्पूरहि अक्खयमल्लयहि ॥
चरुदीवावलि धूवहि बहुफल युत्तयहि ।
भुत्ति पुराण मुणीसहो वच्छलेण सह ॥
विमल गुणेहि पसाहिय सजय वित्तिजहु ।
पच भेय पक्खणइ पंच सुखाल भरि ।
कुंभपत्तिलमाणादिज्जहि भविय घरे ।
इय मुणि वयण सुणंती कोइल मुच्छ गया ॥
अप्प भवतरि जाणेवि कंदती धुलिय ।

जल पवणहि आसासिव खेयणपत्तपिय ॥
 अवहीसर संबोहिय वय विहिसंगहिय ।
 सण्णासे तणु छंडिवि पक्खिणि सगग गया ॥
 सुयसायह उवएसेविगिरि कंदरह ठिया ।
 वयविहिकरि उज्जवणउ वंपइ परम सिया ॥
 काराविउ जणमणहह मंगल विविह किया ।
 वाणु पुज्ज विरयंतहं गिर आवासठिया ॥
 सत्थपुराण सुणंतह सीलालंकरिया ।
 परियणु पुत्तहि मडिय सुहसायरे रमहि ॥
 जिणवर जत्तकरावहि भोयण विहि समहि ।
 तामकाल अवसाणे सत्तेहण मुणिवि ॥
 जिणवरिउ अच्चेपिणु आराहण सुणिवि ॥
 परम मंतु मायंतहं वंपइ अमरपुरे ।

संपत्ते सुह पावहि सेविय विविह सुरे ।
 पवर विलासकर तहं सायर काल गया ॥
 मेह जिणालय वंदहि दसण मूलरया ।
 अण्णजि वयविहि पालहि ते अमरिव तणु ॥
 पुणु णरिवकित्ति तणु पालिय जीवगणु ।
 मुणिवरिव वय पालि वि पावहि, मुत्तिसिया ।
 पुण्व मुणिवहि भासिय, जह तह एह किया ॥
 सरसइ खमउ भडारी सुरणरथुवचरणा,
 महु परमत्थपयासउ भवसायरतरणा ।
 विज्जाणंदिय वंसण साहारणभजिया ।
 पंडिय सोहि पयासहु कोइल पच्चमिया ॥

इति श्री नरेंद्रकीर्ति शिष्य ब्रह्मसाधारण कृत कोकिला
 पंचमी समाप्तः ।



वैदेही सीता

श्री सुबोधकुमार जैन

राम ने सीता को स्वयंवर में पा ही लिया । दोनों का विवाह हो गया और वापस अयोध्या पहुँचते-पहुँचते सचमुच में राम बदल गये । आत्मा-परमात्मा, अध्यात्म, कर्मवाद, स्याद्वाद और अनेकान्तवाद की महत्वपूर्ण गोष्ठियाँ उनके प्रासाद में होने लगीं ।

गुरु वशिष्ठ की भृकुटी चढ़ी । और जब राम को यह सूचना मिली कि राजा दशरथ, माँ कैकयी के कोपभवन में बेहोश पड़े हैं तो वे दौड़ पड़े ।

दरवाजे पर ही चिन्तित सीता मिलीं ।

राम ने पूछा—‘क्या हुआ ?’

सीता ने बस इतना ही कहा—‘आत्मशक्ति और त्याग की परीक्षा का समय आ गया है, चुकना मत । शीघ्रता करो पिता जी की हालत खराब है ।’

राम को पूरा उत्तर नहीं मिला, वे असमंजस में दौड़े ।

दशरथ का माथा राम के कन्धे पर । दशरथ बेहोश । राम बैद्यों द्वारा बतलाई प्राथमिक परिचर्या में संलग्न ।

जब बैद्यों ने बताया कि होश आ रहा है तो कुछ चैन से राम ने माँ कौशल्या से पूछा—‘माँ यह सब कैसे हुआ ?’

क्रोधित होते हुए जब कौशल्या ने चुपचाप बैठी कैकयी की ओर देखते हुए कहा—‘इससे पूछ ।’ तो राम और भी चिन्तित हो गये ।

उन्हें इशारा मिल गया कि कोई गोपनीय और शुद्ध बात हुई है ।

गुरु वशिष्ठ और परिवार के व्यक्तियों के अतिरिक्त सभी कमरे के बाहर हो गए ।

दरवाजा बन्द होते होते फुंकार मारती हुई कैकयी बोली—‘मुझे बात बनानी नहीं आती । मैं सीधी बात करना जानती हूँ ।’

फिर दशरथ की ओर अंगुली से दिखाते हुए वह

बोलती रही—‘मैंने इनसे कौन सी ऐसी भीख मांगी हैं कि सुनते ही ये बेहोश हो गये। मैंने इनसे इन्हीं के दिये हुए वर की मांग की है। अगर हिम्मत नहीं थी तो वर क्यों दिया था? क्या राम ही उनका बेटा है? भरत उनका बेटा नहीं है? तुम्हारी मां कहती हैं कि वर वापस ले लो, इनकी दशा देखो, फिर कभी मांग लेना! परन्तु फिर मांग कर ही क्या होगा, जब कल तुम्हारा राज्याभिषेक हो जाएगा?’

कुछ सांस लेकर वह बोलती गई—‘मैं सीधी बात जानती हूँ, तुम्हें १२ वर्षों का वनवास और भरत का राज्याभिषेक। इस शर्त को मैं वापस करने को किसी दशा में तैयार नहीं हूँ।’

इतना कह उसने गुरु वशिष्ठ की ओर विजयिनी की भाँति देखा और फिर गविणी की भाँति मुह फेर कर बैठ रही।

इतनी सारी बातें और इस प्रकार सुनने को, राम तैयार नहीं थे। एक क्षण उन्होंने सीता की ओर देखा। सीता के मुखमण्डल पर चिंता की एक भी रेखा नहीं थी। उसके गौरवपूर्ण मुख पर एक हल्की सी मुस्कराहट थी। बिना बोले ही सीता ने जो कहना था कह दिया और राम हँस पड़े।

जब तक कि हँसते हुए राम की ओर कैकयी मुड़कर देखे, राम की संयतपूर्ण वाणी ने सब को आश्चर्य में डाल दिया। स्वयं कैकयी हतप्रभ हो गई। कैकयी से राम संपूर्ण विनय पूर्वक बोले—‘मां! बस इतनी सी बात थी?’ और वे फिर हँस पड़े।—‘पिता जी को इतनी सी बात के लिए आपने क्यों कष्ट दिया? आपकी दो हुई आज्ञा, क्या कभी राम अस्वीकार कर सकता है? मा, आप तो मुझ पर कभी क्रोधित नहीं हुई। अपना क्रोध छोड़ दें। मुझे आपकी आज्ञा सहर्ष स्वीकार है।’

और इतना कह कर राम इस प्रकार फिर पिता की परिचर्या में लग गये, जैसे कि कुछ हुआ ही नहीं हो।

गुरु वशिष्ठ ने आवाज दी कि वंद्यों को शीघ्र फिर अन्दर आने दिया जाए। कौशल्या ने गुरु वशिष्ठ की ओर देखा। जब उधर से किसी सहारे की आशा नहीं रही तो उन्हें काठ मार गया। वे दशरथ के चरणों में

गिर कर चेतना शून्य हो गई।

सारा राज प्रसाद चेतना शून्य हो गया था। नगर-वासी विक्षिप्त की भाँति इस असम्भव समाचार को सुन कर बड़ी संख्या में राजप्रसाद के चारों ओर एकत्रित हो कोलाहल कर रहे थे।

राम जब सीता के कक्ष में पहुँचे तो सीता को देख कर वे स्तब्ध हो गए। सीता एक वनवासिनी के वस्त्र में वनवास के लिए तैयार खड़ी थी। उनकी दासियाँ सभी सुषक सुषक कर रो रही थीं।

संयमी राम ने मुस्करा कर पूछा—‘यह क्या हो रहा है?’

सीता ने राम की बात सुनी अनसुनी करते हुए मुस्कराते हुए कहा—‘आप भी शीघ्र राज वस्त्र उतार फेंकिए।’

राम ने उसी प्रकार हँसते हुए कहा—‘पोशाक बदलने से क्या होने को है? इसी प्रकार भी तो मैं जा सकता हूँ। अच्छा, इस बात पर फिर गौर करेंगे। परन्तु तुम्हें किसने वनवास दिया है? क्या मां कैकयी ने तुम्हें भी जाने को कहा है?’

सीता ने गम्भीरता से कहा—‘मुझे किसी ने वनवास नहीं दिया है, मैंने स्वयं यह निश्चय किया है।’

राम सोच में पड़ गए।

तभी तेज चलते हुए और क्रोध से भरे हुए लक्ष्मण आ पहुँचे। सीता को देखते ही वे ठिठक कर खड़े हो गए। राम ने लक्ष्मण को देखा और फिर कुछ विचारते हुए आसन पर बैठ गए।

लक्ष्मण, भाई से लड़ने आए थे। उनसे कैकयी की अवहेलना करने को कहने आए थे। भरत को ननिहाल से बुला कर उसे युद्ध के लिए चुनौती दे चाहते थे। वे राम से कहने आए थे कि युद्ध से ही फैसला होना चाहिए कि कौन अयोध्या का नृप होगा। पर यहाँ आते ही उन्होंने ने जो देखा उससे उन्होंने समझा कि यहाँ तो राम के स्थान पर सीता से लड़ाई करनी पड़ेगी। वे कई बार वंदेही सीता से त्याग और बलिदान के महत्व को सुन चुके थे। सीता के इस विश्वास पर वे शंका प्रकट कर चुके थे कि—‘कर्मकाण्ड, आत्मशक्ति से ऊपर नहीं है।’

पर सीता की निष्ठा को वे किसी भी प्रकार ढिगा नहीं सके थे। वे जानते थे कि बंदेही सीता अपने पिता जनक के विचारों से कितनी प्रोत-प्रोत है। हा, कभी-कभी स्वयं लक्ष्मण को ऐसा आभास मिलने लगा था कि सीता के विचारों से वे भी प्रभावित होने लगते हैं। वे दौड़ कर गुरु वशिष्ठ के पास जाने और सीता के विचारों के प्रभाव को दूर कराने की कोशिश करते, पर गुरु वशिष्ठ केवल जनक को जली कटी सुनाते एवं कहते कि सीता का इस घराने में आना शुभलक्षण नहीं है। महाराज दशरथ न जाने कैसे विश्वाभिन्न की चाल में फँस गए।

तो लक्ष्मण की हिम्मत सीता से कुछ कहने को नहीं हुई। सीता से बहस में वे जीत सकेंगे इसमें उसे शका थी। उन्हें याद आ गया, सीता का अनेकान्तवाद, स्याद्वाद और इन सिद्धान्तों पर सीता का गहरा अध्ययन और उनकी सम्यक्दृष्टि। वे जानते थे कि राम सीता के विचारों का कितना आदर करते हैं। लक्ष्मण का क्रोध काफूर हो गया। वे नतमस्तक हो राम के चरणों में बैठ गए।

राम सम्यक्दृष्टि थे। आठ प्रकार के भय उनमें नहीं थे। सम्यक्दृष्टि के आठो अंग उनमें पूर्ण थे। और जो ऐसा सम्यक्दृष्टि हो उसे सत्य को जानने में विलम्ब नहीं होता। सत्य पालन करने में किसी प्रकार का डर नहीं लगता।

राम ने उस स्थान की नीरवता भंग की। बोले—‘सीते ! क्या तुम वनवास के अपने सारे कष्टों को दिखा कर मुझे भी दुःखी देखना पसन्द करोगी ?’

निश्चल मन से सीता ने कहा—‘आप जैसे व्यक्ति की छाया में क्या कभी मैं दुःखी रह सकती हूँ। और जब मुझे ही किसी बात का कष्ट अनुभव नहीं होगा तो आप के दुःखी होने का प्रश्न ही नहीं उठता।’

राम ने अन्तिम प्रश्न पूछा—‘तो क्या तुम्हारा यह अन्तिम निश्चय है ?’

सीता ने हल्की मुस्कान लाकर कहा—‘बिना आपकी आज्ञा के मैं इस विषय पर अन्तिम निश्चय कैसे कर सकती हूँ ? हाँ, अगर आपने आज्ञा नहीं दी तो बाद में मैं क्या करूँगी, उसका निश्चय कर चुकी हूँ।’

राम ने भूकुटि सिकोड़ते हुए पूछा—‘वह क्या ?’

बंदेही सीता ने उसी सरलता से उत्तर दिया जैसे कि कोई बिल्कुल महत्वहीन बात हो—‘बोली, मैं देह त्याग दूंगी।’

राम और लक्ष्मण आश्चर्य से उठ खड़े हुए। राम ने पूछा—‘मतलब ?’

सीता ने उसी सरलता से उत्तर दिया—‘मतलब साफ है, मैं शरीर का त्याग कर दूंगी।’

राम ने महान् आश्चर्य से पूछा—‘क्या आत्मघात करोगी ?’

सीता ने उत्तर दिया—‘छिः छिः—क्या किसी अच्छे व्यक्ति को आत्मघात करना चाहिए। मैं तो धर्म पूर्वक सल्लेखना ले लूंगी।’

राम ने पूछा—‘सल्लेखना ?’

सीता ने कहा—‘जी, इस विषय पर आपसे अपने पूज्य पिता जी के विचारों को कहने का कभी अवसर ही नहीं मिला। सल्लेखना धर्म पूर्वक, बिना कषाय भाव के देह त्याग कर विदेह होने की एक विशेष विधि है।’

अब लक्ष्मण से नहीं रहा गया। उन्होंने अपना भीन तोड़ते हुए व्यंगपूर्वक कहा—‘वाह ! आत्मघात के स्थान पर सल्लेखना शब्द का प्रयोग कर उसे धर्म की ओढ़नी से आप ही ढक सकती हैं। दूसरे में ऐसी शक्ति है यह तो मैं नहीं जानता।’

सीता के उत्तर में हल्की फटकार की पुट थी, बोली—‘लक्ष्मण अभी तुम्हें बहुत कुछ जानना बाकी है। अभी तुम बालक हो।’

लक्ष्मण को निरुत्तर कर वे श्री राम की ओर मुड़ीं, बोलीं—‘अगर सल्लेखना की विधि में आप को शंका हो तो हम पिता जी के पास मिथिला चल कर निवारण करा लें।’

राम ने कहा—‘इसके लिए हमारे पास समय कहाँ है ? पर क्या तुमने इस पर उनका संपूर्ण विवेचन सुना है।’

सीता—‘जी, सुना है और समझा है।’

राम—‘जब तुमने सुना है और समझा भी है तो शंका करने का कोई कारण भी नहीं है। चलो अच्छा हुआ, यह अमोघ अस्त्र भी अपने काम में आयेगा। वन-वास के रास्ते में ही तुमसे जान लूंगा।’

सीता प्रसन्न हो उठी। राम की आज्ञा उसे मिल गई।

वे तुरन्त राम के चरणों की धूलि लगा कर उनके वस्त्रों को उतारने लगी।

अब तक तो लक्ष्मण किर्त्तव्य विमूढ़ थे, पर, सीता द्वारा राम के वस्त्रालंकार का उतारना उनसे नहीं सहा गया।

वे चीत्कार कर उठे। राम और सीता के बीच में आकर सीता को रोकते हुए बोले—‘बस अब बहुत हो गया इन वस्त्रालंकारों को छुआ तो.....’

सीता आश्चर्य चकित सी बोली—‘तो क्या करोगे?’

राम ने हँसते हुए लक्ष्मण को अपने बाहुओं में भर लिया और सीता से बोले—‘तो क्या पूछती हो? तो लक्ष्मण फूट-फूट कर रो उठेगा।’

और, सचमुच लक्ष्मण जोर से फूटफूट कर रोने लग गए। उन्हें हिचकी बँध गई। सीता और राम उन्हें बच्चे की तरह पुचकारने और समझाने लग गए। जब किसी प्रकार राम, लक्ष्मण को चुप कराने में समर्थ नहीं हुए तो उनके नयनों से भी अश्रु धारा वह निकली।

सीता ने स्थिति सम्हाली। उन्होंने लक्ष्मण को सम्बोधित करते हुए कहा—‘तो, अब सँभालो अपने प्यारे भैया को, ये भी तुम्हारे साथ रो रहे हैं। लक्ष्मण ने चौंक कर भैया राम का मुखड़ा देखा तो लगे अपने आंचल से उनके नयनों को पोछने और राम लगे लक्ष्मण के नयनों को पोछने।’

सीता खिलखिला कर हँस पड़ीं।

लक्ष्मण ने खीजकर कहा—‘मुझे जितना चाहो चिढ़ा लो, पर देखता हूँ मुझे भी भैया के साथ वनवास में जाने से कौन रोकता है।’

इतना कहते हुए लक्ष्मण राम से अपने को अलग करते हुए वहाँ से चल पड़े। चलते हुए उन्होंने अपने सारे अलंकारों को जहाँ तहाँ फेंकना शुरू कर दिया और दर-वाजे तक पहुँचते-पहुँचते उनके शरीर पर सिवा झोती और चादर के और कुछ नहीं रहा।

राम और सीता दोनों अवाक् हो देखते रहे।

इतने ही में उन्होंने देखा कि माता कौशल्या दासियों का सहारा लिए भुकी हुई चली आ रही है। कुछ ही घंटों में वृद्धा सी दीखने लगी थी।

राम और सीता के वस्त्रों को देख कर वे अश्रुमय जहाँ थी वहीं खड़ी हो गई। राम और सीता तब तक उनके पास पहुँच चुके थे।

कौशल्या का शरीर कांप रहा था, उनके पांव लड़-खड़ाने लगे थे। राम ने भट उठे सम्हाल लिया सीता आंचल से हवा करने लगी।

तभी कौशल्या आवेश पूर्वक सभी सहारों को छोड़ती हुई खड़ी हो गई। उनके पलकों में स्पन्दन हुआ और पल भर में वे संयत पर गम्भीर दीखने लगी।

राम ने पूछा—‘पिता जी अब कैसे है?’ कौशल्या ने रुखी हंसी से राम को देखा पर बोली सीता से। आंखों से भर भर आँसू बह रहे थे।—‘बैठी मैं सब समझ गई। तू जनक की पुत्री है। तू देह को, राज्य को परिवार को कुछ महत्व नहीं देती। मैं क्या समझू इन बड़ी बातों को। सोचा था, कुछ दिन तुम्हारे साथ रहना होगा तो शायद मेरे अन्दर का मोह ममत्व भी कम हो जाय।—तू राम के साथ है तो मैं निश्चित हूँ’ और, कौशल्या अचेत हो गई।

अनेकान्त के ग्राहक बनें

‘अनेकान्त’ पुराना ख्यातिप्राप्त शोध-पत्र है। अनेक विद्वानों और समाज के प्रतिष्ठित व्यक्तियों का अभिमत है कि वह निरन्तर प्रकाशित होता रहे। ऐसा तभी हो सकता है जब उसमें घाटा न हो और इस लिए ग्राहक संख्या का बढ़ाना अनिवार्य है। हम विद्वानों, प्रोफेसरों, विद्यार्थियों, सेठियों, शिक्षा-संस्थाओं, संस्कृत विद्यालयों, कॉलेजों, विश्वविद्यालयों और जैन भुक्त की प्रभावना में श्रद्धा रखने वालों से निवेदन करते हैं कि वे ‘अनेकान्त’ के ग्राहक स्थयं बनें और दूसरों को बनावें। और इस तरह जैन संस्कृति के प्रचार एवं प्रसार में सहयोग प्रदान करें।

व्यवस्थापक ‘अनेकान्त’

सत्य के आदर्श की ओर

परमानन्द जैन शास्त्री

धाखिर चोरी हो ही गई। अर्ध रात्रि का सन्नाटा छाया हुआ था। कहीं से कोई आवाज नहीं आ रही थी। नगर शान्त और स्तब्ध था। जनता निद्रा देवी की गोद में विलुप्त हो रही होगी। कोई चोर राजमहल में गया और वहाँ से बहुमूल्य हीरे जवाहरात लेकर चम्पत हो गया। प्रातःकाल राजमहल में चोरी होने की घटना नगर में बिजली की तरह फैल गई। राजमहल से रत्नों की चोरी की घटना असाधारण है इससे चारों ओर नगर में घातक छा गया। सदस्यगणों और राज्य में निवास करनेवाले श्रेष्ठिजन इस आकस्मिक घटना से तलमला उठे। किसी को भी विश्वास न होता था कि परिचारिकों और सैनिकों से संरक्षित राजमहल से बहुमूल्य हीरे चले जायेंगे। जो सुनता वही आश्चर्य करता। महाराज वामरथ भी स्वयं इस घटना से चकित हो रहे थे। उनके राज्यकाल में आज तक किसी चोर को चोरी करने का दुसाहस नहीं हुआ था। इतने संरक्षकों और परिचारिकों के रहते हुए भी चोर का रहस्य अज्ञात ही रहा, वह किसी के दृष्टि-गोचर नहीं हुआ। पकड़े जाने की तो बात ही दूर थी।

रक्षकों की व्यवस्था और उपेक्षा वृत्ति पर महाराज का क्रोध बढ़ता जा रहा था। इस तरह की उपेक्षा वृत्ति और झालसी वृत्ति से तो लोग राज्य भी लुटा सकते हैं। शत्रु को आक्रमण का अवसर भी प्रदान कर सकते हैं। यह नगर रक्षकों का ही सम्पूर्ण दोष है। यह विचार कर महाराज ने यमदण्ड नामक नगर रक्षक को उपस्थित होने की आज्ञा दी।

नगर रक्षक उपस्थित हुआ, उसे देख कर महाराज का क्रोध उबल पड़ा। चोर का पता लगा? उसके आते ही महाराज ने प्रश्न किया। “अभी तक नहीं लगा महाराज!” नगर रक्षक ने कम्पित स्वर में उत्तर दिया। “तुमने प्रयत्न किया?” राजा ने दूसरा प्रश्न किया। चारों दिशाओं में चरों को नियुक्त कर दिया है श्रीमान्! ऐसा

विचित्र चोर आज तक भी नहीं देखा।’ यमदण्ड ने अपनी असफलता का कारण चोर का विचित्र होना बतलाया।

चोर विचित्र नहीं है यमदण्ड! तुम्हारा प्रबन्ध विचित्र है। जागृत व्यक्ति ही चोर को पकड़ सकता है। महाराज ने व्यग्र किया।

मेरे प्रबन्ध में कोई त्रुटि नहीं है श्रीमान्! यमदण्ड ने दृढ़ता से उत्तर दिया।

महाराज का क्रोध बढ़ता ही जा रहा था। उन्हें यह विश्वास हो गया था कि नगर रक्षकों की उपेक्षा के कारण ही यह दुर्घटना घटी। अन्यथा इतने रक्षकों के रहते हुए किसका साहस था कि वह राजमहल में प्रविष्ट हो सके। राजमहल एक संरक्षित एवं सुरक्षित स्थान है, वहाँ साधारण जन तक का बिना किसी कारण के प्रवेश पा सकता अत्यन्त दुष्कर है। वहाँ बिना किसी आज्ञा के प्रविष्ट हो जाना अति साहस का कार्य है। वह रक्षकों की असावधानता का स्पष्ट द्योतक है यदि रक्षक जागते और सावधान रहते तो चोरी का सवाल ही नहीं उठता। राजमहल में प्रविष्ट होना तो दूर की बात है। राजमहल में रात-दिन का कड़ा पहरा होते हुए भी किसकी मजाल थी जो अन्दर प्रवेश पा सके। रक्षकों को उपेक्षा ही चोर के प्रविष्ट होने का प्रबल कारण है।

जिस नगर का राजा प्रेमपूर्वक प्रजा का पालन करता हो, नगर धन-धान्य से समृद्ध हो, राज्यकर्मचारियों और नगरवासियों का व्यवहार सरस हो, गरीबी, दरिद्रता और अमीरी का अभिशाप सन्तापजनक न हो। प्रबन्ध में त्रुटि होना इसका प्रबल प्रमाण है, रक्षा की कमी का सबूत और क्या हो सकता है?

‘मैं तुम्हारा ही अपराध मानता हूँ। तुम्हारी उपेक्षा के कारण ही राज्य को हानि उठानी पड़ी।’ राजा ने निर्णय दिया।

चोर अवश्य ही मेरे जंगल में फसेगा महाराज !
यमदण्ड ने आशा व्यक्त की ।

बस, चुप रहो, निरर्थक दम्भ अच्छा नहीं होता,
राजा ने उत्तर दिया ।

‘मैं सच कहता हूँ महाराज, चोर मेरी दृष्टि से छिप
नहीं सकता, मेरी शिक्षा असमर्थ नहीं हो सकती ।’ यम-
दण्ड ने महाराज के निर्णय पर अविश्वास प्रकट किया ।

“सुनो, मैं तुम्हें सात दिन का अवसर देता हूँ । सात
दिन में ही चोर उपस्थित किया जाना चाहिए । अन्यथा
चोर के स्थान पर तुम्हें दण्ड का भागी होना पड़ेगा ।”
महाराज ने क्रोध भरे स्वर में आज्ञा दी ।

यमदण्ड चुप रहा ।

सुन लिया न । जाग्रो, महाराज ने दुबारा तीक्ष्ण
स्वर में उत्तर दिया । यमदण्ड मस्तक झुकाकर चल
दिया ।

यमदण्ड की चिन्ता अधिक बढ़ गई । चोर का पता
नहीं लगा तो निश्चय ही मुझे दण्ड भोगना पड़ेगा । इसी
चिन्ता में मग्न यमदण्ड नगर के एक छोर से दूसरे छोर
तक अनेक चक्कर काटता रहा । बहुत ही जोर से उसने
चारों तरफ दृष्टि डाली, परन्तु चोर का कहीं कोई सुराग
तक न मिला । चोर मिलना तो दूर की बात है । छह
दिन बीत चुके थे, और आज उसका अन्तिम दिन था ।
चोर का पकड़ा जाना असम्भव-सा प्रतीत होता था । यम-
दण्ड युवक था, धीर था, उसने कभी प्रमाद नहीं किया ।
बड़ा ही फुर्तीला था, उसकी दृष्टि में चोर को पहचानने
की कला थी । चोर उससे छिप कर कहीं जा नहीं सकता
था । परन्तु निरपराध दण्ड उसे असह्य था । यह कहता तो
अनुचित ही होगा कि वह चोर को ढूँढने में सलग्न न रहा
हो, इतना प्रयत्न करने पर भी यदि चोर न पकड़ा जाय
तो उसका क्या दोष ? संभव है वह राज्य छोड़ कर
अन्यत्र भाग गया हो, और यह भी संभव है कि वह कहीं
भय के मारे आत्महत्या न कर बैठे हो । यमदण्ड यही
सोचता-विचारता व्यर्थ ही यहाँ से वहाँ टहल रहा था ।
चोर के आत्मघात करने या भाग निकलने पर उसे
विश्वास नहीं हो रहा था । वह सोचता था कि राजमहल
में चोरी करने का दुःसाहस करनेवाला इतना कायर नहीं

हो सकता, वह अवश्य ही यही कहीं छिपा होगा । यह भी
हो सकता है वह मेरा कोई शत्रु हो और मेरे विरुद्ध ही
उसने यह षड्यन्त्र रचा हो । अथवा वह अपना भेष बदल
कर किसी दूसरे ही भेष में छिपा हुआ हो । जिसपर मेरी
दृष्टि न पड़ सकी हो, मैंने नगर के सभी शून्य स्थान भी
देख डाले, जिनमें चोरों के ठहरने की संभावनाएँ हो
सकती थी, पर उनमें भी कहीं किसी चोर का पता नहीं
चला । आज का दिन मुझे दुर्भाग्यसूचक जान पड़ता है ।

शत्रु का विचार आते ही यमदण्ड का उत्साह दुगुना
हो गया, उसका क्रोध उमड़ आया और उसने उसी क्षण
निश्चय किया कि मैं चोर को अवश्य पकड़ूँगा । उत्साहित
यमदण्ड पुनः अपने कार्य में सलग्न हो गया ।

× × ×

एक स्थान पर उसने देखा, एक भिक्षुक फटे-पुराने
चिथड़ों में लिपटा, क्षुब्ध, असहाय पड़ा हुआ है । नाग-
रिकों ने उसे चारों ओर से घेर रखा है । नागरिकों को
देखते ही वह दीन स्वर में भिक्षा के लिए प्रार्थना करता
है, गिड़-गिड़ाता है, किन्तु भिक्षा मिलने पर उनकी आँख
बचा कर उपेक्षा से एक ओर डाल देता है ।

यमदण्ड भिक्षुक की यह क्रिया बड़ी देर से गौरपूर्वक
देख रहा था, पर भिक्षुक यमदण्ड को अब तक देख नहीं
पाया था । उसकी दीन और दुखित अवस्था में किसी को
संशय नहीं हो सकता था, पर यमदण्ड ऐसे असमर्थ प्राणी
पर भी सन्देह कर बैठा ।

‘चोर यही है’ न जाने क्यों उसके मन में विश्वास
होने लगा । भिक्षुक की प्रत्येक क्रिया, प्रत्येक स्वर और
उसके प्रत्येक आचरण में यमदण्ड को सन्देह होने लगा ।
उसकी आर्त वाणी और दीन आचरण सब ढोंग और छल
प्रतीत होने लगे । उसे भिक्षुक के कातर चेहरे पर घृष्टता
और घूर्तता के स्पष्ट दर्शन हुए । मन ही मन उसने
निश्चय किया और दूसरे ही क्षण भिक्षुक के सम्मुख जा
खड़ा हुआ । भिक्षुक ने यमदण्ड को एक बार देखा और
फिर सदा की भाँति दीन स्वर में याचना करने लगा ।
इस बार उसके स्वर में कम्पन था । यमदण्ड से वह छिप
न सका । उसे निश्चय हो गया कि चोर यही है । उसका
क्रोध उमड़ पड़ा । कठोर पाद प्रहार से वह चित्लाया ।

‘धूर्त तूने यहाँ भी मेरा पीछा नहीं छोड़ा’ अनवरत प्रहारों से भिक्षुक के शरीर को जर्जरित कर दिया।

निरीह और असहाय भिक्षुक को पिटना हुआ देख कर नागरिकों की ओर भी अधिक भीड़ जमा हो गई। भिक्षुक पर नगर रक्षक की निष्ठुरता का आभास हो रहा था। नागरिक परस्पर में कानाफूसी करने लगे। कोई कुछ कहता और कोई कुछ।

उनमें से एक बोला—यह नगर रक्षक इस दिन एवं असहाय व्यक्ति को क्यों पीट रहा है, ऐसे व्यक्ति पर इमे क्या सन्देह हो गया, इसका कोई कारण ज्ञात नहीं हुआ। यह तो दया का ही पात्र है। दूसरा बोला—नगर रक्षक बिना किसी सन्देह के कुछ नहीं कहता, कोई न कोई बात अवश्य होगी। इसका रहस्य बाद में ज्ञात होगा। तीसरा बोला—ऐसा भी हो सकता है कि नगर रक्षक इसकी किसी हरकत से नाराज होकर कर रहा है। चौथा बोला—ऐसे असमर्थ व्यक्ति पर नगर रक्षक बिना कारण ही सदेह कर बैठा, इस तरह परस्पर बातें हो ही रही थी, किन्तु किसी ने भी नगर रक्षक के विरुद्ध कुछ भी कहने का साहस नहीं किया। एक वृद्ध मज्जन बोले—नगर रक्षक की परख अनोखी होती है, यह भिक्षुक बना-वटी भेष में नजर आता है। हो सकता है कि इसका सम्बन्ध राजमहल की चोरी से हो। पर बिना किसी प्रमाण के कोई विचार संभव नहीं जंचता।

भिक्षुक महाराज के सम्मुख उपस्थित किया गया। यमदण्ड ने अनेक प्रकार से यह प्रयत्न किया कि यह अपना अपराध स्वीकार कर ले। पर भिक्षुक उसे बराबर अस्वीकृत करता रहा। ‘मैं दीन हूँ महाराज, मेरी सामर्थ्य ऐसी कहाँ’, उसने प्रार्थना की।

महाराज और अन्य सामन्तों को उसके चोर होने में विश्वास नहीं होता था। उसकी दीन अवस्था देखकर तो उसपर विश्वास करना किसी तरह भी संभव नहीं जंचता। सब यही सोचते थे, कि यमदण्ड ने अपने प्राणों की रक्षा के निमित्त इस बेचारे भिक्षुक को पकड़ लिया है।

यमदण्ड यह चोर नहीं है, महाराज ने कहा। अवश्य है महाराज, चोर यही है, यमदण्ड ने दृढ़ता से उत्तर दिया। महाराज ने बिचार किया कि यमदण्ड अपनी रक्षा

के लिए ही अमृत्य पर दृढ़ है। वे बोले “हम तुम्हें यथेच्छ समय दे सकते हैं यमदण्ड ! इस बेचारे को छोड़ दो।”

महाराज ! राजमहल में चोरी करके निर्वाध भागने वाला इसके अनिर्गुण अन्य कोई चोर नहीं हो सकता। ‘यमदण्ड ने दृढ़तापूर्वक निवेदन किया।’

“पर हमें विश्वास नहीं होता।” महाराज ने उत्तर दिया।

“मुझे दो दिन का अवसर दीजिए, मैं इसी के मुख से स्वीकृत कराऊँगा।” यमदण्ड ने प्रार्थना की।

“स्वीकृत है” महाराज ने यमदण्ड को अवसर देने की स्वीकृत दे दी और जाने की आज्ञा दी।

चोर की ओर ज्वाला भरी दृष्टि से देखता हुआ यमदण्ड उसे निर्दयतापूर्वक घसीटता हुआ अपने गृह ले गया।

इन दो दिनों में यमदण्ड ने सैकड़ों उपाय किये, कि भिक्षुक अब भी अपना अपराध स्वीकार कर ले, कशाघात से भिक्षुक के शरीर से रक्त बहने लगा। मारने-पीटने से उसकी हड्डियाँ टूट गईं, पर उसने स्वीकृति-मूचक सिर भी नहीं हिलाया, चुप रहा। जैसे वह मौनधारी हो।

यमदण्ड का क्रोध क्षण-क्षण बढ़ता गया। उसने भिक्षुक को अनेक प्रकार से पीड़ा पहुँचाई पर उसका कोई सफल परिणाम न निकला, भिक्षुक के मुख से स्वीकृति का वह एक शब्द भी नहीं कहला सका।

“विद्युच्चर ! अब तুম मेरे हाथ में हो, बच नहीं सकने” अन्त में हार कर यमदण्ड ने कहा।

पर जिसे विद्युच्चर कहा गया, उसने इन शब्दों पर कोई ध्यान ही नहीं दिया। जैसे ये वाक्य उससे नहीं कहे गये हो, या वह विद्युच्चर से अपरचित है।

निश्चित अवधि के बाद यमदण्ड ने उसे राजसभा में उपस्थित किया अवश्य, पर स्थिति में कोई मुधार नहीं हुआ, वह पूर्ववत् अपने वक्तव्य पर दृढ़ था।

राजा ने यमदण्ड की ओर उसकी असफलता-सूचक दृष्टि फेंकी।

महाराज ! यह स्वीकृति करे या न करे चोर यही है। मैंने भरसक चेष्टा की, पर इससे स्वीकृति न करा सका। इसकी हड्डियाँ टूट गईं, शरीर से रक्त बहने लगा।

पर इसने स्वीकृत नहीं किया" यमदण्ड ने हाथ जोड़कर निवेदन किया।

"तुम भ्रम में हो यमदण्ड" महाराज ने मुस्कराकर उत्तर दिया, वे भिक्षुक की रक्षा के लिए उसे भी क्षमा देने को तैयार थे।

'मुझे चोर परीक्षा में भ्रम नहीं हो सकता महाराज ! चोर यही है, यमदण्ड अपने विचार पर दृढ़ रहा।

महाराज विस्मित थे। नगर रक्षक जिसे विश्वास और दृढ़तापूर्वक चोर कहना है : वह व्यक्ति सैकड़ों प्रयत्न करने पर भी अपना अपराध स्वीकृत नहीं करता। यमदण्ड इस कला में विशेष दक्ष था अवश्य। पर उससे भी तो भूल हो सकती है ? यह सम्भव है कि वह असफल होने पर भी निरपराध को ही दंड दिला कर अपनी रक्षा करना चाहता हो।

महाराज ! अन्त तक किसी भी निर्णय पर नहीं पहुँच सके। हार कर उन्होंने चोर की ओर देखा।

"मैं तुम्हें मुक्त करता हूँ" उन्होंने कहा।

चोर की ओटो पर हास्य की एक हल्की-सी रेखा प्रस्फुटित हुई और अपनी व्यंगभरी दृष्टि से यमदण्ड की ओर देखा।

"महाराज, यही ख्यात चोर विद्युच्चर है" यमदण्ड ने घबड़ा कर निवेदन किया।

"विद्युच्चर !" महाराज ने आश्चर्य से उसकी ओर देखा।

'वही' विकट चोर जिससे पराजित होकर मुझे आप के राज्य में आश्रय लेना पड़ा था। यमदण्ड ने उत्तर दिया।

"विद्युच्चर !" महाराज ने भिक्षुक की ओर मुख फेरा, 'मैं तुम्हें क्षमा करता हूँ, पर तुम सत्य स्वीकार कर लो। राजमहल से रत्न तुम्हीं ने चुराये हैं न।

"विद्युच्चर फिर भी चुप रहा।"

निर्भय होकर कहो विद्युच्चर ! मैं तुम्हें अभय वचन दे चुका हूँ। महाराज उसे चुप देख कर बोले।

"यमदण्ड सत्य कहता है श्रीमान्," विद्युच्चर ने स्वीकृत किया।

महाराज के आश्चर्य का ठिकाना न रहा, सभी

सामान्तगण भी दग रह गये, और यमदण्ड प्रसन्नता से फूल गया।

"तुम विद्युच्चर हो ! ख्यात चोर विद्युच्चर !" राजा ने अविश्वास प्रकट किया।

"हाँ श्रीमान्, कुख्यात चोर विद्युच्चर मैं ही हूँ।" विद्युच्चर ने विश्वास प्रकट करना चाहा।

"तुमने इसके पूर्व अपराध क्यो स्वीकृत नहीं किया" महाराज ने प्रश्न किया।

"इसका उत्तर यमदण्ड दे सकता है श्रीमान्" उसने उत्तर दिया।

महाराज ने यमदण्ड की ओर देखा और यमदण्ड ने सारी कथा सुना दी। यमदण्ड और विद्युच्चर में कैसे होड़ लगी। और किस प्रकार से उसने यमदण्ड को पराजित करने का प्रयत्न किया। यमदण्ड ने सभी वृत्तान्त सुना दिया।

"फिर इतना त्राम क्यो सहा ? महाराज ने दूसरा प्रश्न किया।

'नरक और निगोद में मैंने इससे भी अधिक त्रास सहा है महाराज, उसकी तुलना में इसकी क्या गणना हो सकती है ? विद्युच्चर ने सरलवाणी में उत्तर दिया।

महाराज विद्युच्चर के इस उत्तर से गदगद हो गए, विद्युच्चर से उन्हें स्नेह हो गया। महाराजने निश्चय किया, कि उसके साथ अपनी पुत्री का विवाह-संस्कार कराने और अपना राज्य समर्पित कर देने का। विद्युच्चर से उन्होंने इसके लिए स्वीकृति मांगी।

"मुझे राज्य की अभिलाषा नहीं है महाराज, ! मुझे इससे घृणा है" विद्युच्चर ने उपेक्षापूर्वक उत्तर दिया।

"क्या कहने हो विद्युच्चर !" महाराज को विश्वास न हुआ।

"मैं सत्य कहता हूँ महाराज, मैं भी राजकुमार हूँ, मेरे पिता ने मुझे राज्य देना चाहा था, पर मैं उसे अस्वीकृत कर आया हूँ" विद्युच्चर ने आगे कहा।

'तुम राजकुमार हो' राजकुमार होकर भी घृणित चोर कर्म करते हो। महाराज ने आश्चर्य प्रकट किया।

'यमदण्ड को दिए गए वचन की पूर्ति के लिए मैंने चोरी की है महाराज ! मुझे धन की आवश्यकता नहीं,

विभव भी नहीं चाहता। सुख और विलास से मैं तृप्त हो चुका हूँ। भोग-विलास देखने में सुन्दर प्रतीत होते हैं, पर इनमें कोई सार नहीं है। मैंने भोग विलास में जीवन यों ही बिता दिया। ये नीरस हैं, इन्हें जितना भोगो, उतनी ही अधिक लालसा बढ़ती है। भोगों को भुजग के समान डसने वाले बतलाया है। भुजग तो एक बार ही डसता है, पर इनसे जीव अनन्तबार डसा जाता है। जैसे ईधन से आग की तृप्ति नहीं होती, और नदी जल से समुद्र की भी, वैसे ही भोगों से भी जीव की तृप्ति कभी नहीं हो सकती। मुझे तो अब इससे घृणा हो गई है। मैं इन सबको त्याग कर आत्म-साधना करना चाहता हूँ। मैंने निश्चय कर लिया है कि बिना तपश्चरण और ज्ञान के कर्म की निर्जरा नहीं हो सकती। सयम ही जीवन का सर्वग्व है। उससे ही आस्रव-भोग से रक्षा हो सकती है। जो तपस्वी और सयमी है वह महान है, उन्हीं के पद चिह्नों पर चलकर मैं जीवन को सफल बना सकूँगा। मुझे जाने की आज्ञा दीजिए।” विद्युच्चर नम्र होकर प्रार्थना की।

“यमदण्ड मुझे क्षमा करो” वह यमदण्ड के गले लिपट गया, दोनों की आँखों से अश्रुधारा बहने लगी।

आज दीर्घकाल के अनन्तर दो मित्रों का मिलन हुआ था।

“राजकुमार स्थिर हो, अभी तुम्हारी अवस्था अल्प है, तपस्वी जीवन तुम्हारे योग्य नहीं” महाराज ने करुणा भरे स्वर में कहा।

‘नहीं महाराज, मैं ससार की बिडम्बना देख चुका। अब मैं सत्य की खोज करूँगा’। संसार कितना दुःख रूप है, यह जानियो और विवेकीजनों से छिपा नहीं है। उसकी विषमता और बिडम्बना का आभास पद-पद पर होता है, उसने हाथ जोड़कर प्रार्थना की और चल दिया।

दूसरे दिन निर्जन पर्वत की एक गुफा में वह दिग्गम्बर मुद्रा में स्थित आत्मध्यान में मग्न था। वह अन्य कोई नहीं, राजकुमार विद्युच्चर ही था। उसकी ध्यान मुद्रा देखने से पता चलता है कि वह आत्म-साधना में कितना निष्ठ है।

कवि रूपचन्द का एक गीत

कवि रूपचन्द का यह आध्यात्मिक पद जहाँ सम्बोधक और उपदेशक है, वहाँ घट के अन्तर्गत खोलने की प्रेरणा देता है। और मानव जीवन के मापदण्ड को सुधारने या व्यवस्थित करने की ओर भी संकेत करता है। कवि का विचार है कि विषय विकार तज कर सद्गुरुओं द्वारा निर्दिष्ट पथ अपनाने से सफलता प्राप्त हो सकती है।

मन मानहि कि न समझायो रे।

जब तब आजु काल्हि जु मरण दिन, देखत सिर पर आया रे ॥१॥

बुधि बल घटत जात दिन दिन, सिथिल होत यह कायो रे।

करि कछु लै जु करउ चाहत है, पुनि रहि है पछिनायो रे ॥२॥

नर भव रतन जतन बहुतनिर्त, करम करम करि पायो रे।

विषय विकार काच मणि बदले, सु अहले जनम गवायो रे ॥३॥

इत उत भ्रम भून्वौ कित भटकत, करत आपनौ आयो रे।

रूपचन्द चलहि न तिहि पथ, सद्गुरु प्रकट दिखायो रे ॥४॥

धर्म की कहानी : अपनी जवानी

डा० भागचन्द्र जैन 'भास्कर'

वह बाला अपनी छुटकी-सी पत्ते की भोपड़ी से बाहर निकल गई और सारा दारिद्र्य साथ ढोती हुई आगे बढ़ती गई।

इधर गाव के बाहर रहनेवाली मा अपनी पाप की गठरी बांधे निस्तेज पड़ी थी। उभरी हुई जवानी और फिर सौन्दर्य का तकाजा। सूर्य का क्रोध भी उबलता जा रहा था और मा की आखों से गर्म आँसू अविरल रूप से भरते जा रहे थे। प्रशान्त वातावरण में उसका मन घघक रहा था। यह घघकन क्यों और कैसे ?

प्रश्न जटिल नहीं था, फिर भी मन में बार-बार आता था, चला जाता था। उत्तर मिल जाता था, पर रास्ता नहीं। नदी का पूर आता था। मां नन्दा किनारे खड़ी हुई अदृश्य चिन्तन करती रहती थी। कभी आत्म-हत्या करने का विचार आ जाता अवश्य पर वह क्षणिक रहता।

आत्महत्या जैसी घिनीनी और कोई चीज नहीं। यह अपने उत्तरदायित्वों से पलायनवाद की मनोवृत्ति का प्रतीक मात्र है। जीवन सघर्षों की कहानी ही तो है। इन संघर्षों से ऊब कर, विना उनसे लड़े, आहूति दे देना भूर्खता नहीं तो और क्या हो सकता है। पापों का प्रायश्चित्त तो भोगना ही पड़ेगा, चाहे मर के भोगो या ज़िन्दा रह के।

समझदारी से भरे ये विचार नन्दा को पल-पल पर सहारा देते। कठोर और घिनीने वातावरण में भी उसे ऐसी चिन्तनधारा से बल मिल जाता। लिहाजा वह अभी तक अपनी बेटी सुनन्दा को लिए जीवित थी।

सभी के दिन सदैव एक से नहीं रहते। कभी उनमें वसन्त आता है तो कभी पतझड़। नन्दा की कहानी हर प्राणी की कहानी थी। जवानी अवश्य उसकी अपनी थी।

कहाँ उसका वह राजसी ठाठ और अब कहा यह दारिद्र्य का फटा-टूटा टोकना ! राजमहल के ऐयाशी

जीवन में पली-पुसी नन्दा आज फूस की भोपड़ी में गुजर-बसर करनेवाली भिखारिन नन्दा थी।

× × ×

सुनन्दा जब से पेट में आई, अजित का जीवन दुखी रहने लगा। एक-एक करके सारी सम्पदा मुंह फेरने लगी। सम्पदा की यह चंचलता प्रत्यक्ष देखी जा सकती थी। सोना भी भारी हो रहा था। सब कुछ चला गया। मात्र रहा परिवार। अजित था कि वह यह जीवन बहन न कर सका—अपने सुकुमार कदम इन बीहड़ परिस्थितियों के कठोर कदमों से न निकाल सका। और एक दिन काली कोठरी के अन्दर चल बसा।

सुनन्दा छोटी थी पर समझदार थी। वह चार-पाँच ठिठुराते ठँठ और उबलते ग्रीष्म को अपने शिर से निकाल चुकी थी। इसलिए उसे गाँव के वे कटकाकीर्ण मार्ग और विषम तथा चुभते हुए नदी-नाले नये नहीं थे।

मुंह को देखती दिखाती सुनन्दा गाव पहुँच चुकी। वह तब तक भूख-प्यास से बेहद व्याकुल हो चुकी थी। गाव से कुछ कहना चाहती पर सुननेवाला कोई नहीं था। सभी अनुमोनी करते हुए बगल भाँकते निकल जाते।

दुनिया इतनी आत्म-केन्द्रित हो चुकी कि उसे पड़ोसी का भी ध्यान नहीं।

कन्या मुंह पर आत्मनिवेदन लिए बढ़ती गई। एक जगह देखा लोगों की भीड़ लगी थी। महल में अच्छी-खासी दावत हो रही थी और दावत की पत्तले और कुल्हड़ नीचे फेंके जा रहे थे। शहनाई की आवाज में यह फेंके जाने की आवाज भँरव सगीत को उत्पन्न कर देती थी।

सुनन्दा ने अपनी आवश्यकता की पूर्ति का साधन पा लिया। ऊपर से गिरती पत्तले और कुल्हड़ों की मार को वह अपने छोटे-से बदन पर झेलती जाती और जूठन-जाठन से पेट भरती जाती।

बड़े लोगों की दावत जो थी। कुछ ही पत्तलों में उसे पर्याप्त मिल गया। मां का भी ख्याल था उसे। वह अपने चिथड़े कन्धे पर लटकती फटी भोली में थोड़ा-सा ही रख पाई थी कि अन्य भिखारी पहुँच गये। वे कहाँ इसे देख सकते थे।

वह उनकी मार खाती गई और मां के लिए भोजन इकट्ठा करती रही।

× × ×

उसी रास्ते से जैन श्रमण आहार लेकर आ रहे थे। उनके ललाट पर तेज और मुँह पर शान्ति टपक रही थी। आत्मध्यान का जो फल था।

आचार्य की दृष्टि लड़की पर गई और वे एकायक ठिठक कर रह गये। शिष्य ने उनका अन्तर भाप लिया। पूछा—

फटे-चिथड़ों में सौन्दर्य और उज्ज्वलता को छिपाये यह लड़की कौन है !

अन्तर्जानी मौन रहे। वे कर्म और संसार के स्वरूप में घूम रहे थे और सुनन्दा के जीवन को उनकी पगडंडियों में खोजने का प्रयत्न कर रहे थे।

शिष्य ने पुनः अपना प्रश्न दुहराया।

आचार्य का अन्तर्ध्यान हो चुका था। अपने आप में कुछ खोये से बोले—यह लड़की भाग्यशालिनी है। निकट भविष्य में महाराज्ञी होगी।

बात थी, कह दी गई। वे जैन श्रमण थे। इससे अधिक उन्हें मतलब भी क्या !

पीछे से आते हुए बौद्ध श्रमण ने यह सब सुन लिया। तपे-तपाये जैन श्रमण की बातें असत्य नहीं हो सकती थी। यह उसने अनेक बार अनुभव करके देख लिया था।

स्थिति से लाभ उठाने वाले बौद्ध श्रमण ने दूरदर्शिता दिखायी। उसने बच्ची से प्रसन्नतापूर्वक बात की, सह-लाते हुए उसकी कहानी समझी और साथ ले आया।

बौद्ध धर्म के विस्तार की कहानी बौद्ध श्रमण के पास थी। उसमें क्रिश्चियन मिशनरी स्प्रिट थी।

सुनन्दा को नहलाया-धुलाया। अपना भोजन कराया। फलतः पितावत् स्नेह पाकर थोड़े ही समय में वह भिक्षु में अपनापन देखने लगी।

अब भिक्षु का दूसरा चरण भी आरम्भ हो गया। सुनन्दा के साथ वह उसकी मां के पास गया। उसे सम-भाया-बुभाया। विश्वस्त किया। और भाई बहन का सम्बन्ध स्थापित कर मां-बेटी को अपने बिहार में ले आया। यथाशक्ति उनकी सेवा-सुश्रूषा की।

अब वे सब एक परिवार के सदस्य जैसे हो गये थे। सारी जनता भी उन्हें ऐसा ही मानकर चलती थी।

इस बीच सुनन्दा काफी बड़ी हो गई। उसका जीवन निखरने लगा। ललाट पर घुघुराली लटकती लटें, सिर पर सुन्दर सुपुष्प कबरी बंध, कजरारे मृगनयन, उभरे हुए वक्षस्थल पर पतली-सी गर्दन लिए शशिमुख, कृश कटि पर बलखाती चाल, इन सब ने मिलकर उसे षोडश वर्षीया कोमलांगी नवोढा बना दिया। रूप की रानी सुनन्दा शकुन्तला से भी दो कदम आगे हो गई। सखियों सहित वसत की बहारे लेती शृंगार भरे उद्यानों में मस्त भूलो के साथ क्रीड़ा करती हुई जीवन के उतार-चढ़ाव का आनन्द लेने लगी।

सुनन्दा का संगीत अपने ताव पर था। लगता था जैसे कोई किन्नरी नृत्यगान कर रही हो। नगर का यह बाह्य उद्यान संगीत से सजीव हो चुका था।

इसी संगीत से आकृष्ट राजकुमार शिकार से वापिस उद्यान की ओर आया। जीवन उसका प्यास था। कुछ समय तो बाहर से ही सुनता रहा। असहनीय होने पर प्यास बुझाने उद्यान के अन्दर कदम रखे। देखते ही रूप की लक्ष्मी पर मोहित हो गया। इधर पानी पीने का निवेदन उधर पानी पिलाने का आराधन।

सुनन्दा कोई वर्तन लाने दौड़ती है पर राजकुमार के इस आग्रह पर, कि वह हाथ से ही पी लेगा, सुनन्दा वापिस आ जाती है और घड़े से राजकुमार के बँधे हाथों में पानी उड़ेलने लगती है। राजकुमार के बँधे हाथ नीचे से खुल जाते हैं मात्र ऊपर रूप की ओर निहारता हुआ वह अपने हाथ मुँह में लगाये हैं। घड़ा खाली हो गया। प्यास बुझी अवश्य पर वह और अधिक वेदनादायी हो गई।

उद्यान की उस मनोहर भूमिका पर प्रेम का बीजा-

रोपण हो चुका। एक दूसरे एक दूसरे के स्नेह के प्यासे हो गये।

राजकुमार के हृदय की पीड़ा किसी को अज्ञात नहीं रही। एक-एक क्षण उसे भारी-भरकम-सा हो गया।

“उद्यान वाला वह कौन थी?”

“भिक्षु की पुत्री।”

भिक्षु को सम्मानपूर्वक विविध सम्पदा दान से सन्तुष्ट किया गया।

विवाह की रश्मे पूरी हुई। राजकुमार तेज ने तुरन्त ही पट्टराज्ञी का पद देकर सुनन्दा का सम्मान किया।

दम्पति अठखेलियाँ करते हुए जीवन का रसपान करने लगे। रमणीक स्थानों की सैर, उद्यानक्रीड़ा, जल-क्रीड़ा आदि से मनोरंजन उनके दैनिक कार्य थे।

सुनन्दा से पूर्ववर्ती पट्टराज्ञी सुपमा यह सब देखकर ईर्ष्या से जल उठती है।

सौत के साथ डाह होना स्वाभाविक है। उपेक्षित और निरादर की स्थिति में नारी का जीवन दूभर हो जाता है। दुर्भरता के इस पास से बचने के लिए उसके पास मात्र एक अध्यात्मिक शरण रह जाती है।

सुषमा का जीवन धार्मिक परिवेश में व्यतीत होने लगा। लक्ष्य बदल गया। मन की गांठ भी कुछ ढीली पड़ने लगी। उसने जैन रथोत्सव कराने का आयोजन किया।

इस घोषणा को सुनकर सुनन्दा चौकी। उसका सौत डाह उसके चक्कर लगाने लगा। ईर्ष्या और क्रोध के बीच सुनन्दा जल उठी।

मेरा भी बौद्ध रथोत्सव होगा और वह जैन रथोत्सव से पूर्व होगा। सुनन्दा की कठोर घोषणा हो चुकी।

ईर्ष्या व क्रोध की सीमा अभी तक व्यक्तिगत ही थी पर अब वह साम्प्रदायिक देहली तक पहुँच चुकी। जैन और बौद्ध दोनों सम्प्रदाय अपने-अपने प्रयत्न करने लगे।

सीधे-साधे धर्म को आज भी कोई जल्दी स्वीकार नहीं करता। जब तक उसके अनुयायी जनता के समक्ष विशेष चमत्कारात्मक शक्ति का प्रदर्शन न कर दे, जनता सन्तुष्ट नहीं होती। चमत्कृति प्रधान इस युग में आचार्य अपने-अपने दांव लगाने लगे।

जैन आचार्यों में कौन आचार्य चमत्कार प्रदर्शन में सर्वाधिक बलिष्ठ सिद्ध हो सकता है?

वैर कुमार आवाज आई।

वैरकुमार आचार्य सोमदत्त का पुत्र था। सोमदत्त का मामा सुभूति भी विद्वान् था। परन्तु ईर्ष्यावश सुभूति ने सोमदत्त को राजा से नहीं मिलाया। एक दिन सोमदत्त स्वयं राजा के पास अपना बुद्ध चातुर्य दिखाने पहुँच गया। उसकी विदग्धता से राजा प्रसन्न हो गया और मंत्री पद दे दिया। सुभूति ने सोमदत्त का राजसी वैभव देखकर अपनी कन्या का विवाह उससे कर दिया।

यज्ञसेना को वर्षाकाल में ग्राम खाने का दोहद हुआ। किसी जैन मुनिराज के प्रताप से उसे असमय में भी सुन्दर व पके ग्राम प्राप्त हो गए। ग्राम तो भेज दिए यज्ञसेना के पास और स्वयं ससार की नश्वरता का आराधन कर जैन दीक्षा ले ली।

यज्ञसेना रुष्ट हो गई। पुत्रोत्पत्ति होने के कुछ दिनों बाद वह तपस्वी सोमदत्त के चरणों में अपने उस शिशु को रख आई।

इस उपसर्ग को एक विद्याधर ने दूर किया। उसने उस लड़के को स्वयं स्वीकार कर लिया और नाम रखा वैरकुमार।

वैरकुमार बड़ा हो गया। विद्याधर ने उसे अपने वहनोई के पास अध्ययनार्थ छोड़ दिया। समस्त विद्याओं में वह अत्यन्त शीघ्र ही पारगामी हो गया।

जंगल में एक दिन एक विद्याधरी विद्या सिद्धि कर रही थी। काटों से वह छिद चुकी थी। वैरकुमार ने उसे काटों से मुक्त किया। फलतः विद्याधरी को विद्यासिद्धि हो गई।

विद्याधरी से सात दिन के लिए राज्य पाकर वैरकुमार ने अपने छोटे भाई से राज्य छीन कर पिता को राज्यासीन कर दिया।

वैरकुमार के साथ इसी बीच विद्याधरी का परिणय हो गया।

पिता को राज्यासीन कराने में माता को असन्तोष हुआ। इसका सकेत वैरकुमार को मिल भी गया।

इस पर बैरकुमार को सशय हुआ। मेरे माता-पिता कौन है ? इस प्रश्न का उत्तर उसका मन खोजने लगा। वास्तविकता का पता चलने पर बैरकुमार का मन ससार से उदास हो गया और उसने जैन दीक्षा धारण कर ली।

घोर तपस्या की उसने। और अनेक विद्याओं की सिद्धि कर ली।

जैनधर्म का प्रभाव अक्षुण्ण बनाये रखने के उद्देश्य से बैरकुमार मुनि की विद्याओं का स्मरण जनता को हो

आया।

विद्या के प्रताप से अमरावती में विद्याधरों ने अपने रूप भयकर बना लिये। आकाश पर वे सब छा गये। बौद्ध रथ उन्होंने नष्ट-भ्रष्ट कर दिये और माणिक्यादि से सज्जित जैन रथ को सारे नगर में बड़ी धूम-धाम से निकाला।

सारी जनता प्रसन्न हुई और जैन धर्म की प्रभावना में चार चाँद लग गये।

तमिल व कन्नड़ साहित्य के निर्माण में

जैनाचार्यों का विशेष योगदान

डा० आर. बी. के. राव

नयी दिल्ली-१७ अप्रैल, महावीर जयन्ती के पावन पर्व पर श्रमण जैन प्रचारक संघ द्वारा मावलकर हाल में आयोजित सांस्कृतिक मन्ध्या का उद्घाटन करते हुए केन्द्रीय शिक्षामंत्री डा० बी० के० आर० बी० राव ने कहा कि हमारे देश में प्राचीन काल में भजन को विशेष महत्व दिया जाता रहा है। भजन करने एवं सुनने से मन को अपार शान्ति व आनन्द की प्राप्ति होती है। भजन मन की एकाग्रता के लिए अनुपम साधन है। डा० राव ने कहा कि भजन किसी भी धर्म का हो सभी का उद्देश्य एक ही है और वह है ईश्वर भक्ति। उन्होंने कहा कि जैन धर्म एक अति प्राचीन धर्म है। उन्होंने आगे कहा कि कन्नड़ भाषा में प्रथम साहित्य जैन धर्म से आया। इसी प्रकार तमिल साहित्य के निर्माण में जैन मुनियों का भारी योग रहा है। डा० राव ने संघ द्वारा किये जा रहे प्रयासों की प्रशंसा करते हुए कहा कि आज आवश्यकता है कि तमिल भाषा और कन्नड़ भाषा में पाये जाने वाले साहित्य का और दूसरी भाषाओं में अनुवाद करके उसे जन-जन तक पहुँचाया जाये।

पुरस्कार

इस अवसर पर डा० राव ने "शृंगार युग में संगीत

काव्य" की लेखिका सुश्री हेम भटनागर को उनके शोध-पूर्ण कार्य के लिए एक स्वर्ण पदक और २५०० रुपये तथा एक प्रशस्ति भेंट की।

आरम्भ में भाषण करते हुए स्वागताध्यक्ष सेठ मुन्नान मिह जैन ने कहा कि धर्म प्रचार में संगीत का विशेष योगदान है। उन्होंने संघ द्वारा किये जा रहे कार्यों की प्रशंसा करते हुए आशा प्रकट की कि साहू जी की मंरक्षना में और उनके मार्गदर्शन में यह संघ अपने उद्देश्य की शीघ्रान्विष्ट प्राप्ति करेगा।

साहू शान्तिप्रसाद जैन ने अध्यक्ष पद से भाषण करते हुए कहा कि उपदेश का अधिक प्रभाव भजन और संगीत के माध्यम से होता है। यही कारण है कि जैन धर्म में भजन काव्य प्रचुर मात्रा में मिलता है। हमारे मुनियों ने तत्व की बातें संगीत और भजन के माध्यम से ही कही हैं। उन्होंने इस बात पर हर्ष प्रगट किया कि श्रमण जैन भजन प्रचारक संघ इस ओर प्रयत्नशील है। उन्होंने आशा प्रगट की कि सारे समाज का सहयोग इस पुण्य कार्य में मिलेगा।

सुश्री हेम भटनागर ने इस अवसर पर कहा कि श्रमण जैन भजन प्रचारक संघ द्वारा दिये गये आज के इस पुर-

स्कार में, मैं आने वाली पीढ़ी के लिए एक आश्वासन देख रही हूँ कि वह जो भी कार्य निस्वार्थ भाव से करेगा उसके कार्य की सराहना चाहे देरी से हो पर होगी अवश्य। उन्होंने कहा कि मुझे इतनी अधिक जैन राग-मालाएं देखने को मिली कि मैं उनका वर्णन अपनी पुस्तक में किए बिना नहीं रह सकी। उन्होंने इस बात पर खेद व्यक्त किया कि हम लोग जैन मन्दिर की भव्यता को देखने तो जाते हैं पर जैन मन्दिरों के ग्रंथालयों में अपार साहित्य का भण्डार भरा पड़ा है आज उनको प्रकाश में लाने की आवश्यकता है। उन्होंने कहा कि हिन्दी राग-मालाओं में है। इस क्षेत्र में भारी शोध की आवश्यकता है। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि राजस्थान के ग्रंथालयों में जो अमूल्य भण्डार भरे पड़े हैं उनका उद्घाटन किया जाना ही चाहिए।

पुरस्कार चयन समिति के अध्यक्ष व सुप्रसिद्ध साहित्यकार श्री जैनेन्द्र कुमार जैन ने कहा कि इस गवेषणा से यह सिद्ध हो गया है कि हमारे मुनियों का कार्य केवल बौद्धिक ही नहीं बल्कि काव्यात्मक क्षेत्र में भी

उन्होंने पर्याप्त योगदान दिया है। उन्होंने कहा कि मैं यह मानता हूँ कि काव्य संगीत के स्पर्श से आध्यात्मिक तट तक जा पहुँचता है।

इस अवसर पर संघ की ओर से महावीराष्टक का नया रेकार्ड रिलीज किया गया। रेकार्ड की प्रथम प्रति व श्री दि० जैन कालिज प्रबन्ध समिति बड़ौत द्वारा प्रकाशित “भरत और भारत” की प्रथम प्रति संघ की ओर से श्री राजेन्द्रकुमार जैन ने डा० राव को भेंट की। प्रारम्भ में संघ का परिचय संघ के मन्त्री श्री सतीश चन्द जैन ने श्रोताओं के सम्मुख प्रस्तुत किया।

इस अवसर पर आकाशवाणी के कलाकारों द्वारा जैन भजनों का एक सुन्दर कार्यक्रम प्रस्तुत किया गया। सभी श्रोताओं ने कार्यक्रम की मुक्त कंठ से प्रशंसा की। टेलीविजन आदि पर कार्यक्रम की झलक भी ब्राडकास्ट की गयी। समारोह में दिल्ली के अतिरिक्त मेरठ सहारनपुर, देहरादून, रुड़की, शामली तथा मुजफ्फरनगर और जवालापुर, जगाधरी आदि अनेक नगरों से प्रतिष्ठित व्यक्तियों ने भाग लिया।

साहित्य के प्रति उपेक्षा क्यों ?

जैन साहित्य कितना विशाल, गम्भीर और उपयोगी है इसे बतलाने की आवश्यकता नहीं है। जैन जैनेतर विद्वान उसकी महत्ता से परिचित हैं। ग्रंथ भंडारों को देखने से उसकी विशालता का सहज हो अनुभव हो जाता है। ऐसी कोई प्रौढ़ भाषा और विषय नहीं जिस पर जैनाचार्यों और विद्वानों ने कलम न चलाई हो। खेद है कि इस विशाल साहित्य की आज भी सुरक्षा नहीं की जा रही है। बहुत कुछ ज्ञान भंडार ऐसे हैं जो उपेक्षित दशा में पड़े हैं, न उनकी कोई सूची है और न व्यवस्था। व्यवस्था के अभाव में ग्रंथ दीमक व कीटकादि के भक्ष्य हो रहे हैं। दिगम्बर समाज को जिनवाणों के प्रति यह महती उपेक्षा कसकती है। समाज के नवयुवकों ! जागो ! और अपनी पेतृक सम्पत्ति को विनष्ट होने से बचाओ। यदि तुमने जिनवाणी का संरक्षण कर लिया तो जैन संस्कृति का संरक्षण और प्रसार सभी सुलभ हो जायेंगे। और वीर शासन का लोक में प्रचार और प्रसार हो सकेगा। आशा है समाज और समाज के नवयुवक पुरातन साहित्य के संरक्षण का दायित्व उठाने का प्रयत्न करेंगे।

—परमानन्द शास्त्री

‘प्रमाण प्रमेय कलिका’ के रचयिता नरेन्द्रसेन कौन ?

रायप्पा धरणप्पा टीकण्णवर

अनुवादक :—जी० ए० शेट्टर

पंडित दरबारीलाल कोठिया से संपादित, श्रीमाणिक-चन्द्र दिगम्बर जैन ग्रथमाला में ४७वें ग्रंथ के रूप में प्रकटित—‘प्रमाण-प्रमेय-कलिका’ नामक संस्कृत न्यायग्रंथ आचार्य नरेन्द्रसेन की कृति है। इसकी प्रस्तावना में प० दरबारीलाल कोठिया ने सात नरेन्द्रसेनो का उल्लेख किया है।

उनमें १ला तथा दूसरा एक ही व्यक्ति; तीसरा एक अलग व्यक्ति; चौथा, पाँचवाँ तथा छठा एक ही व्यक्ति और सातवाँ एक अलग व्यक्ति—इस तरह चार नरेन्द्र-सेनो को उन्होंने पहचाना है। इन चारों में—अन्तिम- (सातवाँ) व्यक्ति ही सभवतया इस प्रमाण प्रमेय कलिका का रचनाकार हो सकता है। और रचनाकार का जीवित-काल सन् १७३०-३३ तक निर्धारित कर अन्त में यही सातवाँ व्यक्ति—‘प्रमाण-प्रमेय-कलिका’ का रचनाकार होने का निश्चय करते हैं, पर उनका यह निश्चय निम्न कारणों से ठीक नहीं जँचता है।

उनके संपादन के लिए प्राप्त दोनों प्रतियाँ—अर्वा-चीन काल में प्रति की गयी है; इन्हीं प्रतियों के आधार पर उनका निर्णय अवलंबित होने से, (उनका निर्णय) ऐसा हुआ है।

कर्नाटक से अन्य प्रान्तीय लोग, मूल के प्रतिलिपि कर ले जाने का रूढ़ि-प्राचीन काल से ही है। नरेन्द्रसेन की ‘प्रमाण प्रमेय कलिका’ भी इन्हीं प्रतिलिपियों में से एक क्यों न होगी ?

पहले नरेन्द्रसेन के बारे में संपादक ने प्रस्तावना में वादिराज सूरि का—न्याय-विनिश्चय-विवरण के अन्तिम प्रशस्ति दूसरे श्लोक का उद्धरण देते हैं—

विद्यानन्दमनन्तवीर्यं सुखद श्री पूज्यपादं दया-
पालं सन्मत्तिसागरं कनकसेनाराम्यमभ्युद्यमी।

शुद्धधर्मीति नरेन्द्रसेनमकलक वादिराज सदा-

श्रीमत्स्वामी समन्तभद्रमतुल वन्दे जिनेन्द्रमुदा ॥

—न्याय वि० वि० अन्तिम प्रशस्ति श्लोक २

इस प्रशस्ति श्लोक में उल्लिखित विद्यानन्द, अनन्त-वीर्य, पूज्यपाद, दयापाल, सन्मत्तिसागर, कनकसेन और स्वामी समन्तभद्र जैसे आचार्यों की श्रेणी में नरेन्द्रसेन को गिनकर उनके निर्दोष नीतिपालन को वादिराज सूरि ने श्रद्धापूर्वक स्मरण किया है। संपादक ने इनके सिवा दूसरे साधनों के अभाव में—वादिराज सूरि के—पार्श्वनाथ चरित की अन्तिम प्रशस्ति में उल्लिखित शकवर्ष ६४७- (सन् १०२५)—को वादिराज का समय जानकर—न्याय-विनिश्चय-विवरण के अन्तिम प्रशस्ति में उल्लिखित—नरेन्द्रसेन, वादिराज के समय से पूर्व हुआ होगा; ऐसा लिखा है।

यहाँ पर ध्यान देने की बात यह है कि वादिराज के इस प्रशस्ति में आए हुए सभी मुनिगण, वादिराज से पूर्व के ही होना आवश्यक नहीं है; हो सकता है कि कुछ वादिराज के समकालीन भी रहे हों।

वादिराज के गुरु कनकसेन के शिष्य दयापाल के बारे में शिवमोग्गे जिले के, नगर (होम्बुज) का क्रमांक ३५वे गिलाशासन में—“राजमल्ल देवरिंगे-गुरुगलेनिसिद कनकसेन भट्टारक शिष्य शब्दानुशासनवक्के-प्रक्रियेन्दु रूप-सिद्धिं माडिद दयापाल देवरू”—(कन्नड़)—हिन्दी अनु-वाद :—“कनकसेन के शिष्य, राजमल्ल के गुरु दयापाल ने शब्दानुशासन की प्रक्रिया की रूपसिद्धि को रचा है।” ऐसा वर्णन उक्त शासन में है। इस शासन का समय सन् १०५० है। शासनाल्लिखित दयापाल तथा वादिराज के न्याय विनिश्चय विवरण के अन्तिम प्रशस्ति में उल्लिखित दयापाल एक ही व्यक्ति है ऐसा निर्धार कर सकते हैं। ऐसे निश्चय से यह स्पष्ट हो जाता है कि दयापाल, वादिराज तथा नरेन्द्रसेन तीनों समकालीन थे।

अब नरेन्द्रसेन के लिए लिखित एक शिलाशासन देखेंगे। धारवाड जिला, गदग-तालुक के ग्राम मुलगुद के सन् १०५३ के शिलाशासन में—नरेन्द्रसेन के शिष्य नयसेन के सन्मुख दिये गए दान शामन मे नरेन्द्रसेन को 'व्याकरण पंडित' कह कर वर्णन किया गया। मूलः कन्नडः—
चन्द्रकांतं जनेन्द्र शब्दानुशासनं पाणिनीय ।
सैन्द्र नरेन्द्रसेन मुनीन्द्रगे-ऽऽक्षर पेरंगिषु भोगे ॥

हिन्दी अनुवादः—चन्द्र, कांतं, शब्दानुशासनं—पाणिनी, इन्द्र आदि व्याकरण ग्रन्थ नरेन्द्रसेन के लिए एक अक्षर के बराबर है।

इसी शासन मे नरेन्द्रसेन के शिष्य नयसेन के बारे में ऐसा वर्णन है। मूलः कन्नडः—
निनगेनेबेनो शाकटायन, मुनीशं ताने शब्दानु- ।
सनदोल् पाणिनी, पाणिनीयदोल् चन्द्र, चान्द्रदोलुतज्जिनें ॥
ब्रन जनेन्द्रदोला कुमारने गंडु कीमारबोलान्नवरें- ।
सेने पोन्नतंनयसेन पंडितरोलन्यव्वर्धिचित्तोर्बोयोल् ॥

वचनः—इंतु समस्त शब्द शास्त्र पारगर्न्यसेन पंडित-देवर। हिन्दी मे अनुवादः—नयसेन उपरोक्त सभी व्याकरण ग्रंथों के ज्ञाता तथा निपुण विद्वान थे।

इसी शासन मे चालुक्य चक्रवर्ति त्रैलोक्य मल्ल सोमेश्वर (सन् १०४३-१०६७) के शासनकाल मे उसके सधिविग्रहाधिकारी बेलदेव के प्रार्थनानुसार सिन्द कचरस ने मुलगुन्द के जिनमन्दिर को भूदान देने का प्रस्ताव है। उसमें मुख्यतः बेलदेव के गुरु नयसेन और नयसेन के गुरु नरेन्द्रसेन का वर्णन आया है।

इस शासनोक्त नयसेन ने कन्नड भाषा मे "धर्मा-मृत" नामक एक कथा काव्य लिखा है। इसका व्याकरण ग्रन्थ भिन्न नहीं।

संस्कृत भाषा में कन्नड व्याकरण ग्रन्थ "भाषा भूषण" के रचनाकार नागवर्मन अपने भाषा भूषण के ७४वें सूत्र में "दीर्घोनयसेनस्य" कहकर नयसेन के मतानुसार संबोधन प्रत्यय का दीर्घांत उदाहरण दिया है; इससे इस नागवर्म का समय सन् ११४५ ईस्वी है।

नयसेन मुनीन्द्र ने धर्मामृत में उसका समाप्तिकाल अक्षर संज्ञा से यो प्रकट किया है।—“गिरी शिखी वायु-

मार्गशशी सख्ययोलावगमोदिवर्तिसुत्तिरे शककाल मुन्नतिय-
नन्दनवत्सरदोल्”—यहाँ पर गिरी शब्द का संकेतार्थ सात होने से १०३७ शक वर्ष होने पर भी नन्दन सवत्सर शक वर्ष १०३४ में आने से नयसेन द्वारा गिरी का संकेतार्थ (४) चार ग्रहीत हुआ है ऐसा समझ पड़ता है। शक वर्ष १०३४ अर्थात् सन् १११२ ईस्वी नयसेन के धर्मामृत का समाप्तिकाल टहरता है।

इन नयसेन द्वारा अपने धर्मामृत मे वर्णित कुछ पद्यांशों का अवलोकन कीजिए।

कन्नडः—

गुरु विद्याब्धिनरेन्द्रसेन मुनिपं- त्रैलोक्य चक्रेश्वरं ।
परमश्रीजिन निष्टदं व नमलं श्रीजंनयोगीश्वरं ॥
परमार्थं तनगालदरुत्तम विनेयबन्धुवर्गं निजा-
दर दिवेंदोड़े भापु धन्यने दिट वात्सल्यरत्नाकरं ॥५६॥

हिन्दीः—उपरोक्त पद्य मे नयसेन मुनीन्द्र ने अपने गुरु नरेन्द्रसेन का गुणगान किया है। साथ ही धर्मामृत के २५वें पद्य में नरेन्द्रसेन के साथ 'त्रैविद्य नरेन्द्रसेन' वाक्य द्वारा उन्हें त्रैविद्य भी सूचित किया है। यह उनकी उपाधि मालूम होती है।

कन्नडः—पड़ेदोड़े तपम श्रुतम ।

पड़ेयर तच्छ्रुतमनेये पड़ेदोड़े तपमम् ॥

पड़ेयरदं तवनेरेडुम्- ।

नोड़वड़े नरेन्द्रसेन मुनिपते धन्य ॥२०॥

एनितोलवु तर्कशास्त्रम- ।

वनितुमनतिशयदिनेशये नयसेन मुनी- ॥

द्र ने बल्लनेन्दु धारिणी- ।

मनादरदिदे पोगले कीर्तियनातम् ॥२१॥

नुत सिद्धन्तोकोप्पुवेत्तु जिनसेनाचर्यारं शास्त्रदु- ।

न्नतियोल् भाविसे पूज्यपाद मुनिर्मां षट्कर्कदोल् धारिणी ॥

स्तुतनागिर्व समंतभद्र मुनिर्वि मिबिकदंनूद्यत्तप- ।

श्रुतवाराशी नरेन्द्रसेन मुनिप त्रैविद्य चक्रेश्वरं ॥२४॥

पोड़वीशर भुवनं कमललनुत पादांभोजरत्नूजितर ।

वृद्धचित्तर गुणचन्द्र पंडितरिला लोकैकपूज्यर मनं ॥

बिड़े त्रैविद्यमहाभिधानमनद कूर्तककरि कोट्टरें ।

दोड़े त्रैविद्य नरेन्द्रसेन मुनिवोल् बागमोशरार लौकदोल् ॥२५॥

हिन्दी :—उपरोक्त पद्यों में तप एवं श्रुत युक्त अपने गुरु नरेन्द्रसेन मुनि ने अपने को (नयसेन को) संपूर्ण तर्क शास्त्र पढ़ाकर प्रसिद्ध किया था। इतना ही नहीं, सिद्धांत में जिनसेनाचार्य, शास्त्र पांडित्य में पूज्यपाद, षट्त्वं में समन्तभद्र मुनि आदि से भी पारंगत तथा त्रैविद्य चक्रेश्वर था, ऐसा नयसेन अपने गुरु के बारे में कहते हैं।

चालुक्य चक्रवर्ती भुवनकमल दूसरे सोमेश्वर-(१०६८-१०७६) से पूजित-गुणचन्द्र देव ने नरेन्द्रसेन मुनि को बड़े प्रेम से त्रैविद्य महा अभिदान दिये तथा नरेन्द्रसेन अद्वितीय वागीश है ऐसा नयसेन के उपरोक्त पद्यों में लुभ्य शब्द चित्र हैं। नरेन्द्रसेन अनूठा जैन न्यायशास्त्रज्ञ था। सन् १०५३ ईस्वी के इस मुलगुन्द शासन में प्रथम बार नयसेन का नाम आया है। इन नयसेन के पूर्व एक पीढ़ी के वर्ष कम कर देखने से (एक पीढ़ी=२५ वर्ष) सन् १०२८ ईस्वी होता है। इसलिए यह शासन, नरेन्द्रसेन वादिराज का समकालीन था, इसका प्रमाण है। संस्कृत में लिखित प्रमाण-प्रमेय कलिका का कर्ता यही नरेन्द्रसेन था ऐसा कहने में कोई बाधा नहीं आती। कन्नड़ और जैन साहित्य तथा शासन साहित्य से अपरचित प्रमाण-प्रमेय-कलिका के सम्पादक का अभिप्राय ऐसा हो गया है जो असम्पन्न है।

प्रस्तावना में सम्पादक महोदय ने मल्लिषेण मूरी कृत “नागकुमारचरित” की अन्तिम प्रशस्ति से उद्धृत अश जो दूसरे नरेन्द्रसेन से सम्बन्धित है वह यो है ;—
तस्यानुजस्य चरित्र वृत्तिः प्रख्यातकीर्तिर्भुवी पुण्यमूर्तिः ।
नरेन्द्रसेनो जितवादि सेनो विज्ञानतत्त्वो जितकामसूत्रः ॥४॥
तच्छिष्यो विभुदाप्रणीर्गुणनिधिः श्रीमल्लिषेणावहयः ।
सजातः सकलागमेषु निपुणो वाग्देवतालंकृतिः ॥५॥

मल्लिषेण के द्वारा वर्णित इन पद्यों में नरेन्द्रसेन को जिनसेनके अनुज बताया है। इतना ही नहीं नरेन्द्रसेन को उज्ज्वल चरित्रवान, तत्त्वज्ञ तथा काम विजयी कहा गया है। मल्लिषेण ने ५वें श्लोक में मल्लिषेण अपने को कनकसेन का प्रशिष्य तथा जिनसेन का शिष्य बताने से जिनसेन तथा उसके सधर्मा नरेन्द्रसेन दोनों उसके गुरुजन होंगे।

निपुण मन्त्रवादी मल्लिषेण अपने महापुराण के अन्त में उसका समाप्तिकाल शकवर्ष ६६६ (सन् १०४७)

बताया है। वादिराज तथा मल्लिषेण के बताए गए समय में २२ वर्ष का अन्तर है। पहले तथा दूसरे नरेन्द्रसेन... अभिन्न है, एक ही व्यक्ति है। सम्पादक महोदय के ऐसे अभिप्राय से हम सहमत हैं। अब हम मल्लिषेण के समय निर्धारण के लिए आवश्यक सन् १०६४ का एक शिलाशासन नीचे उद्धृत करते हैं।

कलबुर्गी जिला के-इगलिगे-ग्राम के उध्वस्त जिन-मन्दिर में यह शासन प्राप्त हुआ है।

चालुक्य त्रिभुवनमल्ल छठा विक्रमादित्य.....(सन् १०७६-११२६)-की रानी जाकल देवी-अरल्-३०० के-इगुलिगे-ग्राम में राज्य भार करती थी।

एक बार एक व्यापारी, ने राजा विक्रमादित्य के दरबार में एक जिनबिम्ब दिखाया। राजाने अपनी राणी जाकल देवी की ओर देख कर कहा—आ हा कितनी सुन्दर मूर्ति है; यह तेरा कुलदेव है; इसे तेरे द्वारा शासित प्रदेश की राजधानी में प्रतिष्ठा करो। तदनुसार रानी ने अपनी कीर्ति चिरकाल तक स्थायी रहने योग्य जिनमन्दिर बनवा कर मूर्ति प्रतिष्ठापन करवायी।

“माडिसिदप्पेवि जिनगुहगल नैबीवरो प्रकारवि ।

माडिपुदित्तिलले पडिचन्दमिलावलयक्केनलके ना-॥

डाडिगलंमप्प परिशोभे ताय्मनेयागे भक्तिवि ।

माडिसिद लिबयत्तकमनोत्तरिपतु जिनैद्रगेहम ॥

वचन : अतु माडिसी श्रीमद्विमलसंघवन वसत समयं सेनगण, मगणं नायकर मालनूरान्वय शिर शेखर मेनिसिद श्रीमन मल्लिषेण भट्टारकर प्रियाग्र-शिष्यं तन्नन्वयद गुरुगलुमेनिसिद श्री मदीद्रसेन भट्टारकगै-विनयदिकरकमलगल मुगिदु—

एसे विनग समतु महमाणी जिनेदवर विबम प्रति-।

ष्ठिसिदे निदनत्यपूर्वमेने तज्जिनगेहमनति इवे मा-॥

डिसिदेनदक्के तक्क तलवृत्तियुग्गं समकट्टिद्वे-प्रसा-।

दिसी मनबोलदु कय्को कुषुवृजित मागिरे-।

=मालपुदित्तिल ॥

वचन : एन्दु तन्मुनीद्रनेगोकिसी कालं कर्चीधारापूर्वकं माडी बिट्ट ईकेयुमनी, तौटमुमनी, केरीयुमनी, जिनेद्र मंदिरमुमं कंहु;—

प्रणुत शिररागी कण-।

लताणि विनेग जोडी योगदी स्थलदोलका-॥

-गिणिगासेगेयद्व का-।

-गिणियोमि रंड कोकुलगलनलिद-॥

वचन : वागवधूनन्दन जिनपादाभोज भृ गं

नागार्जुन पडित नरेन्द्र मगल माहा श्री ॥”

उपरोक्त शासन मे-त्रिभुवनमल्ल छठा विक्रमादित्य की रानी जाकलदेवी अपने-अन्वय के-(कुलके) गुरु द्रविड़ संघ के सेनगण के मालूरान्वय के सम्मुख मे अपने द्वारा निमित्त जिनमंदिर को दान देते समय अपने गुरु के पाद-पूजा कर, यह चिरकाल तक चलें-ऐसा कहा गया ।

इस शासनावलि मल्लिषेण तथा प्रस्तुत लेख मे ही अन्यत्र आए हुए मन्त्रवादी मल्लिषेण दोनो एक ही व्यक्ति है । मल्लिषेण के शिष्य इन्द्रसेन का जीवित समय मे सन् १०६४ का शासन निर्माण हुआ है । सन् १०६४ से एक पीढ़ी पूर्व मल्लिषेण का जीवित समय होता है । दो पीढ़ी पूर्व जाने से आने वाला सन् १०५३ का-मुलगुन्द-शासन से किंचित पीछे सन् १०४४ ईस्वी होता है । इसी समय नरेन्द्रसेन अपने शिष्य नयसेन के अध्यापक बन कर, पाठ-प्रवचन देकर शास्त्रपाठित्य में उसे निपुण बना रहा था, ऐसा समझ सकते है । इसी समय गुरु नरेन्द्रसेन की सन्निधि मे, नयसेन तथा मल्लिषेण समवयस्क होकर अध्ययन करते थे ।

इस शासन का-(सन् १०३४)-मूलनूत-(-ऊर, खेट, खेड़ इन तीनों का अर्थ कन्नड़ मे ग्राम होता है)-कोई भी नगर, नदी या पर्वत प्रदेश के आसपास हो तो उसे खेट नाम से जाना (पुकारा) जाता है । इस प्रकार मालनूर-कागिणी-नदी के किनारे बसने से मालखेट या मलखेड़ नाम से यह ग्राम परिचित हुआ है । माल+ऊर=मालनूर; माल+खेड़=मालखेड़ या मलखेड़ सभी एक ही अर्थ देने से मलखेड़ान्वय, सेनगण के जन्मस्थान बनकर प्रसिद्ध हुआ है ।

ऐसा पूर्वतिहास नरेन्द्रसेन का रहने से “प्रमाण-प्रमेय-कलिका” का कर्ता यही नरेन्द्रसेन है ऐसा कह सकते है । इस बारे में पीछे हम काफी विवेचना कर आये हैं और

यही व्यक्ति प्रमाण-प्रमेय कलिका का लेखक है ऐसा सिद्ध करने का प्रयास किया गया है ।

यदि हम नरेन्द्रसेन त्रैविद्य के बारे मे स्पष्टीकरण नहीं देगे तो हमारा प्रयास अधूरा रह जायेगा । इसलिए हम पाठकों का ध्यान इस ओर आकर्षित करना चाहेंगे ।

नयसेन के समकालीन साहित्य में उपलब्ध शातिनाथ (सन् १०६०) के सुकुमार चरित के प्रथम आश्वास के २८वे पद्य को उद्धृत कर हम अपना स्पष्टीकरण यहां देते है । यह पद्य श्रवण बेलगोल के ११७ वा शासन में भी है :—

विविद व्याकरणद त-।

वर्कंद सिद्धांतदविशेषादि त्रैविद्या-

स्पदरेकी घरे बणिणपुदु-दिवाकर नदिदेव सैद्धांति गल ॥

इस पद्य मे वर्णित व्यक्ति को अलग रखकर, त्रैविद्य के बारे मे विवेचन करने से त्रैविद्य नामक अभिधान की पात्रता क्या है यह स्पष्ट रूप से समझ मे आता है । त्रैविद्य का अर्थ, व्याकरण, तर्क और सिद्धान्त है । इन तीनों मे पारगत जिनमुनी को ही इस विशेष पदवी से अलंकृत किया जाता था । इसी परंपरानुसार चालुक्य चक्रवर्ती भुवनकमल दूसरा सोमेश्वर के समय मे भुवनक-मल्लनुत पादाभोज गुणचन्द्र पंडित देव से नरेन्द्रसेन ने त्रैविद्य नामक अभिधान पाया था ऐसा नयसेन के धर्ममृत मे आये हुए पद्य मे स्पष्ट आधार है । इस तरह नरेन्द्रसेन व्याकरण तर्क सिद्धांत इन तीनों शास्त्र मे अद्वितीय पाठित्यवान होने से इन्ही के द्वारा प्रमाण-प्रमेय-कालिका नामक जैन न्यायग्रंथ का निर्माण होना सिद्ध होता है ।

प्रमाण प्रमेय कालिका का प्रारम्भिक मगलाचरण को नरेन्द्रसेन ने विद्यानन्दी आचार्यकृत-प्रमाण-परीक्षा से लिया है । प्रस्तुत ग्रंथातर्गत विषयानुसार दिये गये उद्धरण श्लोक स्वामी समतभद्र के आप्त भीमासा और युक्त्यनु-शासन से लिये गये है । इससे यह अधिक स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन कर्नाटक के पूर्वाचार्य स्वामी समतभद्र तथा विद्यानन्दी जैसे महान आचार्यों के ग्रंथो के अध्ययन के बल पर ही नरेन्द्रसेन ने प्रस्तुत ग्रंथ की रचना की है ऐसा हम निस्सकोच कह सकते है ।

—: ० :—

आत्म-विश्वास

पूज्य श्री वर्णोजी

आत्म विश्वास एक विशिष्ट गुण है। जिन मनुष्यों में आत्म विश्वास नहीं, वे मनुष्य धर्म के उच्चतम शिखर पर चढ़ने के अधिकारी नहीं।

२. जिस मनुष्य को आत्म विश्वास नहीं वह कभी भी महत्वपूर्ण कार्य नहीं कर सकता।

३. जो मनुष्य सिंहे के बच्चे होकर भी अपने को भेड़ तुल्य तुच्छ समझते हैं। जिन्हें अपने अनन्त आत्मबल पर विश्वास नहीं, वही दुःख के पात्र होते हैं।

४. मुझसे क्या हो सकता है? मैं क्या कर सकता हूँ। मैं असमर्थ हूँ, दीन-हीन हूँ। ऐसे कुत्सित विचार वाले मनुष्य आत्म विश्वास के अभाव में कदापि सफल नहीं हो सकते हैं।

५. जिस मनुष्य को आत्मविश्वास नहीं, वह मनुष्य, मनुष्य कहलाने का अधिकारी नहीं।

६. आत्मा के प्रदेश में अनन्तानन्त कर्मण वर्णनाएँ स्थित हैं, अतः कर्मबन्ध की भयङ्करता और ससार परिभ्रमण रूप दुःख परम्परा को देखकर अज्ञानी मनुष्यों का उत्साह भङ्ग हो जाता है। किसी कार्य में उनकी प्रवृत्ति नहीं होती। निरन्तर रीढ़ ध्यान और आर्तध्यान में काल व्यतीत कर दुर्गति के पात्र बनते रहते हैं। “हाय इन कार्यों का नाश कैसे कर सकेंगे।” यह विचार बड़े-बड़े बलवानों को भी निर्वल और निरुत्साही बना देता है। किन्तु जब वे धर्मशास्त्र के दूसरे विचारों को रखते हैं तब पूर्व विचार द्वारा जो कमजोरी आत्मा में स्थान पाई है वह क्षणमात्र में विलीन हो जाती है। वे विचार करते हैं कि जिस कर्म का बन्धन करने वाले हम हैं उसका विनाश करने वाले भी हमी हैं। आत्मा की शक्ति अचिन्त्य और अनन्त है। जिस तरह प्रचण्ड सूर्य के समक्ष घटाटोप मेघ भी देखते-देखते विखर जाते हैं, उसी तरह जब यह आत्मा स्वीय विज्ञान धन और निराकुलतारूप सुख का अनुभव करता है तब उसकी शक्ति इतनी प्रबल

हो जाती है कि कितने ही बलिष्ठ कर्म क्यों न हो एक अन्तर्मूर्त में भस्मशात् हो जाते हैं। मोह का अभाव होते ही यह आत्मा ज्ञानाग्नि द्वारा अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, और अनन्तवीर्य के प्रतिबन्धक ज्ञानावरणादि कर्मों को ईधन की तरह क्षण भर में भस्म कर देता है। इस प्रकार जब यह आत्मा अचिन्त्य शक्ति वाला है तब हम लोगों को उचित है कि अनेक प्रकार की विपत्तियों के समागम होने पर भी आत्मविश्वास को न छोड़ें।

७. श्री रामचन्द्र जी का वनवास में दर दर भटकना पड़ा, अनेक विपत्तियाँ सहनी पड़ी। समन्तभद्र स्वामी को भी अनेक सकटों ने घेरा, परन्तु उन्होंने अपने आत्मविश्वास को नहीं छोड़ा। अकलङ्क स्वामी ने छह मास पर्यन्त तारा देवी से विवाद कर इसी आत्मबल के भरोसे धर्म की विजय वैजयन्ती फहराई। कहने का तात्पर्य यह है कि आत्मविश्वास के होने से हम कोई भी महत्वपूर्ण काम नहीं कर सकते। जितने महापुरुष हुए हैं उन सभी में आत्मविश्वास एक ऐसा प्रभाविक गुण था जिसकी नींव पर ही वे अपनी महत्ता का ही महल खड़ा कर सके।

८. कवि-व्याख्याता, लेखक, छात्र-छात्राएँ, विद्वान विदुषियों, कर्जदार साहूकार, मालिक-मजदूर, वैद्य रोगी, अभियुक्त-न्यायाधीश, सैनिक-सेनापति, युद्धवीर, दानवीर, और धर्मवीर सभी को आत्मविश्वास गुण की आवश्यकता है। अन्य की कथा छोड़िए। परम वीतरागी साधुवर्ग भी इस आत्मगुण के द्वारा ही आत्म कल्याण करने में समर्थ होते हैं। सुकमाल मुनि प्रकृति के अत्यन्त कोमल थे, परन्तु इस गुण के प्रभाव से व्याघ्र द्वारा शरीर विदीर्ण किये जाने पर भी आत्मध्यान से रंचमात्र भी नहीं डिगे, उपसर्ग को जीत कर सर्वार्थसिद्धि के पात्र हुए और द्विपायन मुनि इस गुण के अभाव में द्वारका का विध्वंस कर स्वयं दुःखों के पात्र बने। (शेष पृ० ४८ पर)

सर्वौषधि दान

परमानन्द जैन शास्त्री

वह सर्वौषधि के दिव्य फल को प्राप्त हुई। उसने भक्तिवश औषधियों का दान जो दिया था। मुनिराज की सेवा की थी। उसी का दिव्य परिणाम था, जो उसके स्नान जल से विविध रोगों का विनाश हो जाता था, काया दिव्य बन जाती थी। कोढ़ जैसे भयंकर रोग भी क्षण भर में चले जाते थे। पुण्य फल से ससार में क्या नहीं प्राप्त होता। जिन पूजा, साधु-सेवा, सयम, भक्ति, स्वाध्याय और दान आदि सभी श्रेष्ठ कर्म पुण्य फल के ही कारण हैं।

कावेरी नगरमें राजा उग्रसेन राज्य करते थे, जो राजनीतिक अछे विद्वान् थे और प्रजा का पुत्रवत् पालन करते थे, उसी नगरमें सेठ घनपति भी रहते थे और उनकी धर्मपत्नी धनश्री थी, उनके एक पुत्र उत्पन्न हुई। वह जन्मकाल से ही लावण्यमयी थी, उसकी काया कंचनके समान दीप्यमान थी। वह पुण्यात्मा जो थी। उसका नाम था वृषभसेना। वह देखने में जितनी सुन्दर और मनोहर थी, वह उतनी ही सरल और मृदुभाषिणी भी थी। वह किसी देवकुमारी से कम न थी। रूपवती धाय ने वृषभसेना के स्नान जल को एक गड्ढे में इकट्ठा कर दिया था और प्रतिदिन का जल वह उसी गड्ढे में डाल दिया जाता था। एक दिन महारोगी एक कुत्ता तडफता हुआ आया और उस गड्ढे में बैठ गया। थोड़ी देर के बाद जब वह उसमें से निकला तब उसका सब रोग शान्त हो गया था। यह दृश्य देख कर रूपवती ने उस जल की और भी परीक्षा करनी चाही, जिससे विश्वास में दृढता आ सके; और यह निश्चय किया जा सके कि इस पानी में सचमुच ही रोग नाशक तत्त्व है। एक दिन वह उसके स्नान जल को लेकर अपने घर गई और अपनी माँ की आँखों को उस जल से धो दिया, जिससे उसे शान्ति मिली। माँ की आँखें कई वर्षों से खराब हो रही थी, इलाज करने पर कुछ भी लाभ नजर नहीं आता था, अतएव वह दुखी थी। पर इस जल

से उसे भी आराम हो गया, इससे रूपवती के मन पर गहरा प्रभाव पड़ा। उसे उस जल की महत्ता का भान हुआ, वह समझती थी कि वृषभसेना बड़ी पुण्यशालिनी है, जिसके शरीर स्पर्शित जल से भयंकर रोग दूर हो जाते हैं। इसके स्नान जल की रोगहारी विशेषता इसके विशेष पुण्य की द्योतक है। रूपवती अब उस जल से अनेक रोगियों को अच्छा करने लगी।

एक दिन एक कोढ़ी आया, कोढ़ से उसका शरीर गल रहा था वह उसकी वेदना से छटपटा रहा था। मक्खियाँ उसे बहुत तंग कर रही थी, शरीर से दुर्गन्ध भी आ रही थी। रूपवती ने उस जल को उसके शरीर पर डाल दिया, इससे उसे शान्ति मिली, उसका रोग चला गया। इससे लोक में रूपवती का नाम प्रसिद्ध हो गया। रोगी उसके पास आते और वह उन्हें उस जल से रोगमुक्त कर देती थी।

उग्रसेन और मेघपिगल में पुरानी शत्रुता थी। समय पाकर उग्रसेन ने अपने मंत्री रणपिगल को मेघपिगल पर चढ़ाई करने की आज्ञा दी। रणपिगल ने उसके नगर को चारों ओर से घेर लिया। मेघपिगल ने शत्रु को युद्ध में परास्त करना असम्भव समझ एक दूसरी युक्ति से काम लिया, उसने योजनानुसार शत्रु की सेना को जिन जिन कुएँ बावड़ियों से पेय जल मिलता था उनमें अपने चतुर जामूसों द्वारा विष डलवा दिया। परिणाम स्वरूप रणपिगल की बहुत सी सेना मर गई, जो बची उसे लेकर वह स्वयं अपने देश को लौट गया। उस सेना पर विष का असर हुआ था उसे रूपवती ने उसी जल से दूर कर दिया। इससे सेना रोग मुक्त हो गई।

× × × ×

राजा उग्रसेन को जब मेघपिगल की इस शरारत का पता चला, तब उसे उस पर बहुत क्रोध आया। वह स्वयं सेना लेकर गया, बहुत सावधानी वर्ती तो भी वह उस

विष जन के प्रभाव से बच नहीं सका और बीमार होकर उसे लौटना पड़ा। उसका बड़ा अपमान हुआ। रणवीरगल से उन्होंने इलाज की बात पूछी तब उसने रूपवती का जल बतलाया। राजा ने तत्काल ही अपने आदमियों को रूपवती का जल लाने के लिए सेठ के यहाँ भेजा। अपनी लड़की के स्नान जल को लेने के लिए राजा के आदमियों को आया देख घनश्री ने अपने पति से कहा, अपनी वृषभसेना का जल राजा के सिर पर छिड़का जाय यह उचित नहीं है। सेठ ने कहा तुम्हारा कहना ठीक है, परन्तु इसके लिए अन्य उपाय है ही क्या? उसमें अपने वश की कोई बात नहीं है। हम स्वयं तो जानबूझ कर ऐसा कर नहीं रहे हैं। और न कोई वास्तविक तथ्य ही किसी से छिपा रहे है। तब इसमें अपना कोई अपराध नहीं हो सकता। यदि राजा साहब पूछेंगे तो सब हाल सच-सच बतला देंगे। सच है अच्छे पुरुष प्राण जाने पर भी झूठ नहीं बोलते। दोनों ने विचार कर रूपवती को जल लेकर राजा के महल पर भेज दिया। रूपवती ने उस जल को राजा के शिर पर छिड़क दिया। राजा रोग मुक्त हो गया। इससे राजा को प्रडी प्रसन्नता हुई। रूपवती से उन्होंने उस जल का हाल पूछा, रूपवती ने सभी बातें सच-सच कह दी। सुन कर राजा ने घनपति सेठ को बुलाया और उसका आदर-सत्कार किया। वृषभसेना का हाल सुन कर राजा का मन उससे विवाह करने का हो गया। और इसीलिए राजा ने अवसर पाकर घनपति से अपनी इच्छा कह सुनाई। घनपति ने उसके उत्तर में कहा—राज राजेश्वर! मुझे आपकी आज्ञा मानने में कोई रुकावट नहीं है पर इसके साथ आपको स्वर्ग-मोक्षदायी आष्टान्दिक पूजा करनी होगी। जिसे भक्ति वश इन्द्र, धरणेन्द्र चक्रवर्ती, विद्याधर राजा-महाराजा आदि करते हैं। जिन भगवान का अभिषेक भी करना होगा। इसके सिवाय, आपके यहाँ जो पशु पक्षी पीजरो में बन्द हैं उन्हें और अन्य कैदियों को छोड़ना होगा। यदि आपको हमारी ये शर्तें मजूर हो तो वृषभसेना का विवाह आपके साथ हो सकता है। राजा ने अपनी स्वीकृति प्रदान की और वृषभसेना का विवाह राजा उग्रसेन के साथ हो गया।

वृषभसेना पट्टरानी के पद पर प्रतिष्ठित है, राजा,

रानी दोनों ही सासारिक सुख में मग्न हैं। राजा अब राज कार्य में कम ही भाग लेते हैं। किन्तु अधिक समय अन्तःपुर में ही व्यतीत करते हैं। किन्तु रानी वृषभसेना अपने दैनिक कर्तव्यों और जिन पूजा, दान आदि का प्रतिदिन ध्यान रखती हैं। उसे धर्म प्राणों से भी अधिक प्यारा है। उसे दृढ़ विश्वास है कि मानव जीवन की सफलता का मूल कारण धर्म ही है, धर्म ही जीवन का सहारा है। वही बन्धु है। शत्रु, अग्नि जल, विष, सर्प आदि के विघ्नो से बचाता है। जीव का रक्षक और दुःखों से बचाने वाला एक धर्म ही है। वही मुझे व अन्य जीवों के लिए शरण है।

राजा उग्रसेन के यहाँ बनारस का राजा पृथ्वीचंद कैद था। यद्यपि वह बहुत दुष्ट था। पर तो भी उग्रसेन का कर्तव्य था कि वे अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार विवाह के समय उसे भी मुक्त कर दें। पर ऐसा नहीं किया।

पृथ्वीचंद की रानी का नाम नारायणदत्ता था। उसे आशा थी कि राजा उग्रसेन वृषभसेना के विवाह के समय मेरे स्वामी को अवश्य मुक्त कर देंगे। पर उसकी सब आशा व्यर्थ हुई। उसने अपने स्वामी को छुड़ाने के लिए मंत्रियों से सलाह कर बनारस में वृषभसेना नाम से अनेक दानशालाएँ बनवाई। कोई भी देशी या विदेशी जो भी यात्री आये उसे सरस एवं स्वादिष्ट भोजन मिलता था, इससे दानशालाओं की प्रसिद्धि हो गई। जो व्यक्ति इन दानशालालाओं में एक बार भी भोजन कर लेता वह उसकी प्रशंसा करने से नहीं चुकता था। दानशालाओं की प्रशंसा कोरी ही नहीं थी। उनमें यात्रियों को सब प्रकार की सुविधा मिलती थी। स्वादिष्ट भोजन पान की ऐसी सुन्दर व्यवस्था अन्यत्र नहीं थी। अतः उनकी प्रसिद्धि होना स्वाभाविक था।

कुछ समय में इन दानशालाओं के सम्बन्ध में रूपवती को आभास मिला कि वृषभसेना ने बनारस में दानशालाएँ स्थापित की हैं। वह उसके पास आई और बोली तूने बनारस में अपने नाम से दानशालाएँ स्थापित की हैं। वृषभसेना ने कहा माता जी मैंने तो नहीं खोली और न उनके सम्बन्ध में मुझे कुछ जानकारी है। संभव है मेरे नाम से किसी अन्य ने व दानशालाएँ खोली हों।

रूपवती ने गुप्तचरों द्वारा उनका पता लगवाया, तब सही हाल विदित हो गया कि पृथ्वीचंद की पत्नी नारायणदत्ता ने अपने पति को छुड़वाने के वास्ते तेरे नाम से ये दानशालाएं स्थापित की थीं। वृषभसेना ने राजा से कह कर पृथ्वीचंद को छुड़वा दिया। पृथ्वीचंद ने विनयी वन राजा उग्रसेन का आदर किया और उनकी आज्ञा मानने के

लिए तत्पर हो गया। महाराजा ने उसका समादर किया।

इस तरह वृषभसेना ने पूर्वोपाजित पुण्य फल से लोक में यश प्राप्त किया और उसने अपने जीवन को सफल बनाने के लिए शुभ कृत्यों द्वारा लोक का कल्याण करते हुए भविष्य में शास्वत उस अक्षय पद को प्राप्त करने का श्रेय भी सम्पन्न किया। ★

(पृ० ४५ का शेष)

९. सती सीता में वही प्रशस्तगुण (आत्मविश्वास) था जिसके प्रभाव से रावण जैसे पराक्रमी का सर्वस्व स्वाहा हो गया। सती द्रौपदी में यही वह चिनगारी थी जिसने एक क्षण के लिए ज्वलन्त ज्वाला बन कर चौर खींचने वाले दुःशासन के दुरभिमान द्रुम (अभिमान रूप विह वृक्ष) को दग्ध करके ही छोड़ा। सती मेना सुन्दरी में भी वही आत्मतेज था जिससे वज्रमयी फाटक फटाक से

खुल गया। सती कमलश्री और मीरावाई के पास भी वही विपहारो अमोघ मंत्र था जिससे विष शरवत हो गया और फुंकारता हुआ भयंकर सर्प सुगन्धित सुमन हार बन गया।

१०. बड़े-बड़े महत्वपूर्ण कार्य, जिन पर ससार आश्चर्य करता है आत्मविश्वास के बिना नहीं हो सकते। अतः हमें अपने आत्मविश्वास को सुदृढ़ करके ही मोक्ष-मार्ग को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। ●

साहित्य-समोक्षा

१ जैन साहित्य का वृहद् इतिहास—भाग ५, लेखक अंबालाल शाह, सम्पादक दलमुख मालवणिया, प्रकाशक पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, जैनाश्रम हिन्दू यूनि-वर्सिटी वागणसी-५। साइज डिमाई पृ० सख्या ३२० मूल्य पन्द्रह रुपया।

प्रस्तुत ग्रन्थ जैन साहित्य के वृहद् इतिहास का ५वां भाग है। इसमें लाक्षणिक साहित्य (व्याकरण) का परिचय करने हुए कोश, अलंकार, छन्द, नाट्य छन्द ज्योतिष और शकुन साहित्य का भी परिचय कराया गया है। यह सब परिचय दश प्रकरणों में किया गया है। लेखक ने इस सम्बन्ध में अच्छा श्रम किया है। प्रत्येक विषय का परिचय जहाँ अपने में सक्षिप्त और शृङ्खलाबद्ध है वहाँ वह उस विषय की सामान्य जानकारी भी कराता है। इससे विद्वानों को यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि व्याकरण साहित्य पर अब तक कितने ग्रंथ रचे गये और उन पर

टीका टिप्पण कितने लिखे गये हैं। इन सबकी भी जानकारी सहज ही हो जाती है। इस दृष्टि से यह भाग भी अपने पूर्वभागों के समान ही उपयोगी है।

इस ग्रंथ की प्रस्तावना में 'प्राचीन भारत की विमान-विद्या नाम का डा० एस० के० भारद्वाज द्वारा लिखित एक महत्वपूर्ण लेख दिया गया है, जिससे स्पष्ट हो जाता है कि पूर्व काल में भारत में विमान-विद्या थी और उसके संस्थापक विद्याधर कहलाते थे। विमान कई तरह के होते थे। उनके संचालन का सब भार वे वहन करते थे। लेखक ने अनेक, ग्रंथों, प्रमाणों के आधार पर विमान-विद्या के सम्बन्ध में अच्छा प्रकाश डाला है। इससे ग्रंथ की उपयोगिता बढ़ गई है।

जैन साहित्य के सम्बन्ध में जो ग्रंथ अभी तक प्रकाश में आए हैं, वे बहुत सावधानी से लिखे गये हैं। विद्वानों और लायब्रेरियों को ग्रंथ मगाकर अवश्य पढ़ना चाहिए।

—परमानन्द शास्त्री

आगामी वर्ष की जनगणना में अपने को 'जैन' लिखवाइये

अखिल भारतीय जनगणना समिति की ओर से आप से बार-बार निवेदन किया गया है कि फरवरी सन् १९७१ में होने वाली जनगणना में सब भाई-बहन अपने को जैन लिखाएँ। जिससे आपकी संख्या का ठीक निर्धारण हो सके। और हम सरकार को यह दिखा सके कि हमारी जनसंख्या बहुत अधिक है। आशा है समाज के नवयुवक आगे बढ़ेंगे और अपने आस-पास के मुहल्लों में स्वयं जाकर जनगणना कार्य में सहयोग प्रदान कर सामाजिक एकता को स्थिर करने में अपना योगदान देकर अनुगृहीत करेंगे।

व्यवस्थापक

वीरसेवामन्दिर २१ दरियागंज
दिल्ली

वीर-सेवा-मन्दिर और "अनेकान्त" के सहायक

- १०००) श्री मिश्रीलाल जी धर्मचन्द जी जैन, कलकत्ता
१०००) श्री देवेन्द्रकुमार जैन, ट्रस्ट
श्री साहू शीतलप्रसाद जी, कलकत्ता
५००) श्री रामजीवन सरावगी एण्ड संस, कलकत्ता
५०) श्री गजराज जी सरावगी, कलकत्ता
५००) श्री नथमल जी सेठी, कलकत्ता
५००) श्री वंजनाथ जी धर्मचन्द जी, कलकत्ता
२५१) श्री शिखरचन्द जी भाभरी, कलकत्ता
२५१) श्री रा० बा० हरखचन्द जी जैन, रांची
२५१) श्री अमरचन्द जी जैन (पहाड़िया), कलकत्ता
२५१) श्री स० सि० धन्यकुमार जी जैन, कटनी
२५१) श्री सेठ मोहनलाल जी जैन,
मंसस मुन्नालाल द्वारकादास, कलकत्ता
२५१) श्री लाला जयप्रकाश जी जैन
स्वस्तिक मेटल वर्क्स, जगाधरी
२५०) श्री मोतीलाल होराचन्द गांधी, उस्मानाबाद
२५०) श्री बन्शीधर जी जुगलकिशोर जी, कलकत्ता
२५०) श्री जुगमन्दिरदास जी जैन, कलकत्ता
२५०) श्री सिधई कुन्दनलाल जी, कटनी
२५०) श्री महावीरप्रसाद जी अग्रवाल, कलकत्ता
२५०) श्री बी० आर० सी० जैन, कलकत्ता
२५०) श्री रामस्वरूप जी नेमिचन्द्र जी, कलकत्ता
१५०) श्री वजरंगलाल जी चन्द्रकुमार जी, कलकत्ता

- १५०) श्री चम्पालाल जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) श्री जगमोहन जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) ,, कस्तूरचन्द जी आनन्दीलाल जी कलकत्ता
१५०) ,, कन्हैयालाल जी सीताराम, कलकत्ता
१५०) ,, पं० बाबूलाल जी जैन, कलकत्ता
१५०) ,, मालीराम जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) ,, प्रतापमल जी मदनलाल पांड्या, कलकत्ता
१५०) ,, भागचन्द जी पाटनी, कलकत्ता
१५०) ,, शिखरचन्द जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) ,, सुरेन्द्रनाथ जी नरेन्द्रनाथ जी कलकत्ता
१०१) ,, मारवाड़ी दि० जैन समाज, व्यावर
१०१) ,, विगम्बर जैन समाज, केकड़ी
१०१) ,, सेठ चन्दूलाल कस्तूरचन्दजी, बम्बई नं० २
१०१) ,, लाला शान्तिलाल कागजी, दरियागंज दिल्ली
१०१) ,, सेठ भंवरीलाल जी बाकलीवाल, इम्फाल
१०१) ,, शान्तिप्रसाद जी जैन, जैन बुक एजेंसी,
नई दिल्ली
१०१) ,, सेठ जगन्नाथजी पाण्ड्या भूमरीतलैया
१०१) ,, सेठ भगवानदास शोभाराम जी सागर
१०१) ,, बाबू नृपेन्द्रकुमार जी जैन, कलकत्ता
१०१) ,, सेठ दानमल हीरालाल जी, निवाई (राज०)
१००) ,, बट्टीप्रसाद जी आत्माराम जी, पटना
१००) ,, रूपचन्दजी जैन, कलकत्ता
१००) ,, जैन रत्न सेठ गुलाबचन्द जी टोंग्या इन्दौर

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

R. N. 10591/62

- (१) पुरातन-जैनवाक्य-सूची—प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादिग्रन्थों में उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। संपादक मुस्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्व की ७० पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डा० कालीदास नाथ, एम. ए. डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये एम. ए. डी. लिट् की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-स्वोज के विद्वानों के लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द १५-००
- (२) मातृ परीक्षा—श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति, आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर, विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य पं. दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द। ८-००
- (३) स्वयम्भूतस्तोत्र—समन्तभद्रभारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुस्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद, तथा महत्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित। ... २-००
- (४) स्तुतिविद्या—स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापों के जीतने की कला, मटीक, सानुवाद और श्री जुगल किशोर मुस्तार की महत्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत सुन्दर जिल्द-सहित। १-५०
- (५) ग्रन्थात्मकमलमार्तण्ड—पञ्चाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिकरचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित १-५०
- (६) युक्त्यनुशासन—तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुस्तार श्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। ... १-२५
- (७) श्रीपुरपाश्वनाथस्तोत्र—आचार्य विद्यानन्द रचित, महत्व की स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित। ७५
- (८) शासनचतुस्त्रिशिका—(तीर्थपरिचय) मुनि मदनकीर्ति की १३वीं शताब्दी की रचना, हिन्दी-अनुवाद सहित ७५
- (९) समीचीन धर्मशास्त्र—स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुस्तार श्री जुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ३-००
- (१०) जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० १ संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ... ४-००
- (११) समाधितन्त्र और इष्टोपदेश—ग्रन्थात्मक कृति परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ४-००
- (१२) अनित्यभावना—आ० पचनन्दीकी महत्वकी रचना, मुस्तार श्री के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित २-५
- (१३) तत्त्वाधिसूत्र—(प्रभाषन्द्रीय)—मुस्तार श्री के हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या से युक्त। ... २५
- (१४) श्रवणबेलगोल और दक्षिण के ग्रन्थ जैनतीर्थ। १-२५
- (१५) महावीर का सर्वोदय तीर्थ १९ पैसे, १६ समन्तभद्र विचार-दीपिका १९ पैसे, (१७) महावीर पूजा १९
- (१८) ग्रन्थात्म रहस्य—पं० आशाधर की सुन्दर कृति मुस्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित। १-००
- (१९) जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० २ अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रन्थ-परिचय और परिशिष्टों सहित। स. पं० परमानन्द शास्त्री। सजिल्द १२-००
- (२०) न्याय-दीपिका—आ. अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा स० अनु० ७-००
- (२१) जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पृष्ठ सख्या ७४० सजिल्द (वीर-शासन-सघ प्रकाशन ५-००
- (२२) कसायपाहुड सुत्त—मूलग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं० हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। ... २०-००
- (२३) Reality आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद बड़े आकार के ३०० पृ. पक्की जिल्द ६-००

प्रकाशक—प्रेमचन्द जैन, वीरसेवा मन्दिर के लिए, रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, दरियागज, दिल्ली से मुद्रित।

अनेकान्त



वीर सेवामन्दिर के मंत्री बा० प्रेमचन्द जी वीरशासन जयन्ती के अध्यक्ष
डा० रामचन्द्र पाण्डे को माल्यार्पण कर रहे हैं।

समन्तभद्राश्रम (वीर-सेवा-मन्दिर) का मुख पत्र

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
१ नमि-जिन-स्मृति—समन्तभद्राचार्य	४६
२ भारत में वर्णनात्मक कथा साहित्य— डा० ए. एन. उपाध्ये	५०
३ देवगढ़ की जैनकला का सांस्कृतिक अध्ययन— गोपीलाल अमर	६१
४ गुणकीर्तिकृत विवेक विलास— डा० विद्याधर जोहरापुरकर	६४
५ तिजारा एक ऐतिहासिक परिचय— परमानन्द जैन शास्त्री	६५
६ माली रासो—परमानन्द जैन	६८
७ जैनों में सती प्रथा—चम्पालाल सिधई	७०
८ कथनी और करनी—मुनि कन्हैयालाल	७१
९ गोम्मटसार की पंजिका टीका—परमानन्द शास्त्री	७२
१० आत्म समर्पण (कहानी)—बालचन्द्र एम. ए.	७६
११ शृगाल से सिद्ध (कहानी)—सुबोधकुमार जैन	७६
१२ हिन्दी भाषा के कुछ अप्रकाशित ग्रन्थ— पन्नालाल अग्रवाल	८२
१३ वीर-शासन जयन्ती—परमानन्द शास्त्री	८३
१४ ऊपर गाँव का अप्रकाशित जैन लेख— श्री रामवल्लभ सोमानी	८६
१५ मध्य प्रदेश का जैन पुरातत्त्व—अगरचन्द्र नाहटा	८६
१६ वीर-शासन जयन्ती—प्रेमचन्द्र जैन	९२
१७ भगत प्यारेलाल जी का समाधिमरणपूर्वक स्वर्गवास—डा० नन्दलाल जी	९३
१८ अखिल भा० जैन जनगणना समिति का आवश्यक पत्र—शीतलप्रसाद जैन	९४
१९ जैन जनगणना समिति की अपील— भगतराम	९५
२० साहित्य-समीक्षा—परमानन्द शास्त्री	९६



अनेकान्त में प्रकाशित विचारों के लिए सम्पादक मण्डल उत्तरदायी नहीं हैं। —व्यवस्थापक अनेकान्त

अनेकान्त को सहायता

२१) रा० व० मेठ हरखचन्द जी पाण्ड्या रांची के सुपुत्र पदमकुमार और श्री रेखाकुमारी सुपुत्री प्रकाशचन्द जी मेठी के विवाहोपलक्ष में निकाले हुए दान में से अनेकान्त को इक्कीस रुपया सधन्यवाद प्राप्त हुए।

२०) वा० ज्ञानचन्द जी लखनऊ किराना कम्पनी मुभाप मार्ग लखनऊ की सुपुत्री ऊषा जैन, और भतीजी मजुल जैन तथा सीभाग्यमल जी के विवाहोपलक्ष में निकाले गये दान में बीस रुपया अनेकान्त को सधन्यवाद प्राप्त हुए।

५) प० गोपीलाल जी 'अमर' ५८ लक्ष्मीपुरा सागर से सधन्यवाद प्राप्त हुए।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज दिल्ली।



विलम्ब का कारण

अनेकान्त का यह अंक बहुत विलम्ब से प्रकाशित हो रहा है। अनेकान्त के कम्पोजिंग एजेसी के मालिक सत्यनारायण शुक्ल कार्यवश अपने ग्राम चले गये, वे डेढ़ महीने के बाद विलम्ब से आये। अतः पत्र के छपने में असाधारण विलम्ब हो गया, इसके लिए पाठकों से क्षमा चाहता हूँ। आगे इस बात की सावधानी रखी जायगी, जिसमें पत्र समय पर प्रकाशित हो सके। व्यवस्थापक अनेकान्त



सम्पादक-मण्डल

डा० आ० ने० उपाध्ये

डा० प्रेमसागर जैन

श्री यशपाल जैन

परमानन्द शास्त्री

अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपया
एक किरण का मूल्य १ रुपया २५ पैसे।

प्रोम प्रहम

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्वसिन्धुरविषानम् ।

मकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष २३
किरण २

}

वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६
वीर निर्वाण संवत् २४९६, वि० सं० २०२७

{

जून
१९७०

नमि-जिन-स्तुति

नमेमाननमामेन मानमाननमतमा —

मनामोनु नुमोनाम नमनो ममनो मत ॥६३

—समन्तभद्राचार्यः

अर्थ—हे नमिनाथ ! आप अपरिमेय हैं—हमारे जैसे अल्पज्ञानियों के द्वारा आपका वास्तविक रूप नहीं समझा जाता । आप सबके स्वामी हैं । आप का ज्ञान सब जीवों को प्रबोध करने वाला है । आप किसी से उसकी इच्छा के विरुद्ध नमस्कार नहीं करते । चूँकि आप बीतराग हैं और मोहरहित हैं, अतः आपको सदा नमस्कार करता हूँ—हमेशा आपका ध्यान करता हुआ आपकी स्तुति करता हूँ । प्रभो ! मेरा—मुक्त शरणागत का—भी सदा ध्यान रखिए—मैं आपके समान पूर्ण ज्ञानी तथा मोह-रहित होना चाहता हूँ ॥६३



भारत में वर्णनात्मक कथा-साहित्य

डा० ए. एन. उपाध्ये एम. ए., डी. लिट्

[गत किरण १ से आगे]

अब पठनयो [प्रकीर्णकों] का विचार करें कि जिनमें से कुछ में धार्मिक व्यक्तियों एवं वैराग्य-वीरों की कथाओं के खब ही उल्लेख है^{१२}। पोयणपुर में पुष्कचुला नामक एक आर्या थी। उसके धर्मशिक्षा गुरु थे अन्नियाउत्त। नौका में गंगा नदी पार करते हुए वे नदी में गिर गये। और उनकी समाधिपूर्वक मृत्यु हुई और उनमें सर्वोच्च पद प्राप्त किया। [संथा० ५६-५७]। कयदी के अभयघोष ने अपने पुत्र को राज-पाट दे दिया और श्रमण होकर संयम आराधना करते एवं सामयिकादि ग्यारह अंगों का पारगामी होकर उनमें सारी पृथ्वी पर विहार किया। जब वे विहारान्त पाटवी-नगर को लौटे तो चंडवेग ने उनके शरीर का घात किया। हाथ-पैर आदि अंग काटे जाते हुए उनकी मृत्यु हो गई। और उनमें सर्वोच्च पद प्राप्त किया। [संथा० ७६-७८]। उज्जयनी के अवन्ती सुकुमाल ने एक दिन सायंकाल नलिनी विमान का वर्णन सुना और तत्क्षण उस स्वर्ग का स्मरण उसे हो आया एवम् वह प्रव्रजित हो गया। इमशान के बांसकुज के एकान्त स्थान में जाकर उसने ध्यान लगा लिया। इस ध्यानस्थ मुनि के शरीर को तीन दिन-रात मांसभक्षी शृगाल नोचते, खाते और घसीटते रहे तो भी वह मुनि ध्यान से जरा भी विचलित नहीं हुआ। शैल जैसा निश्चल रहकर उसने सब परिषह का सहन किया और इस समाधि

१२ महत्व के नामों का विचार करते हुए, उन्हें यहाँ वर्ण-क्रम से लिया गया है। संदर्भ निर्देश आगमोदय समिति, बंबई १९२७ के संस्करण के हैं। यहाँ म से भक्तपरिन्ना, म से मरणसमाही और संथा से संधारग निर्देश किया गया है। इस संबंध में कुतैवान कैम्पट्ज का ऊबेर डीए वाम स्टर्बीभास्टन हैण्डलण्डेन आर्टन पाइन्ना डे 'जैन-कैनन'।

अवस्था में ही उनकी मृत्यु हो गई और सर्वोच्च पद उसने प्राप्त कर लिया, तो देवों ने उस पर सुगंध जल की वर्षा की। उस जल से भरा गंधवटी का तालाब आज भी उस स्थान पर है। [म० १६०, म० ४३५-३६, संथा० ६५-६६]। इलापुत्त भी संसार अनासक्ति का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। [म० ४८३]। कुणाला का राजा वेसमण-दास के रिट्ट नाम का एक मिथ्यात्वी मंत्री था। उसहसेण नाम के विद्वान गुरु का एक पढ़ा-लिखा और गुणवान मिहसेण नाम का शिष्य था। शास्त्र-विवाद में पराजित होकर बदला लेने की दुष्ट बुद्धि से इस मिथ्यात्वी मंत्री रिट्ट ने एक रात्रि में उसहसेण को अग्नि में भस्म कर दिया। जब अग्नि चारों ओर से उन्हें जला रही थी, तो उनमें पूर्ण समाधि मरण कर मोक्ष लाभ किया। [संथा० ८१-८८]। कण्डरीय और पुण्डरीय^{१३} जो क्रमशः नीच और उच्च गोत्र में जन्म लेने वाले थे, अपने एक दिन के ही दृढ निश्चय स्वरूप अणुत्तर-विमान में चले गये। [म० ६३७]। मित्रों में रहते हुए भी, मरण समय शरीर छोड़ने वाली जीव-आत्मा अकेली ही जाती है जैसे कि कान्ह की मृत्यु समय गई। कान्ह ने क्रोध को क्षमा से जीत लिया था। [म० ३७७, ४६६-६७]^{१४}। राजा अग्नि का पुत्र भिक्षु कस्तिय शरीर से गदा, परन्तु हृदय का महान् था। जब वह रोहिडय नगर में भिक्षा के लिए चर्चा कर रहा था, कुंच ने उसे बल्लम फेंक कर ग्राहत कर दिया। उसका कष्ट सहते हुए उसने समाधि पूर्वक प्राण त्याग दिया और उच्च पद प्राप्त किया। [संथा० ६७-६९, काम्ट्ज ने म० १६० अ में इसका उल्लेख देखा

१३ तुलना करो नायाधम्मकहाओ, २० और देखो ऊपर पृ० १६।

१४ तुलना करो अन्तगडदसाओ, ५वीं वर्ग, पैरा ८१।

है। मथुरा के जियसत्तु पुत्र भिक्षु कालवेसिय को उसकी अस्वस्थावस्था में मोगल पर्वत पर शृगाल खा गये थे। [म० ४२८]। गृहस्थ का पुत्र किढ़ी चोरी करना छोड़ कर सुखी हुआ था। [म० १०६]। जब ब्राह्मण नहीं मिला तो भी किसि ने पूर्ण क्षमा भाव रखा था। [म० ३६७]। सार्थवाह कुबेरदत्त भी रागाध होकर वेसियाण की तरह ही गम्यागम्य का सब विवक खो बैठ था और इसलिए अपनी पुत्री को हो उसने अपनी स्त्री बना लिया था [म० ११३]। कुम्भारकड नगर में, खड्य और उसके शिष्य मिला कर ५०० साधू थे जो बड़े तपस्वी और वैरागी थे। एक के सिवा सब घाणी में पील दिए गए, और सब ने यह सब कष्ट-परिहर्ष समाधि में रहत हुए सहन किया और कुछ भी बुरा चिन्तन नहीं करते हुए वह पूर्ण शांति से मृत्यु को प्राप्त हुए और सर्वोच्च स्थान को पहुँच गए। [म० ४४३, ४६५; सथा० ५८-६०]। युवक भिक्षु कुरुदत्त व्रतोपासन के लिए वन में ध्यान करते हुए गजपुर में भस्म कर दिया गया और उसके फल स्वरूप उसने सर्वोच्च पद प्राप्त किया [म० ४६२, सथा० ८५]। आसक्ति से मुक्त और तपस्या से कृश एक साधू स्त्रियों के सहवास में रहने पर उसी प्रकार पतित हो जाता है कि जैसे कोश के गृह में रहने वाला साधू हो गया था [म० १२८]। गंगादत्त, विस्मभूइ और चण्डपिगल क्रोध घृणा और राग का अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। [म० १३७]। सभवतया दो गजसुकुमाल हुए हों। पहले को तो उनके श्वसुर ने ही श्मशान भूमि^{१६} में ही जला कर नष्ट कर दिया था। उनमें अग्नि की ज्वाला को समाधि पूर्वक सहा और ध्यान से रंचमात्र भी बिचलित नहीं हुए। [म० ४३१-३२, ४६२]। दूसरे गजसुकुमाल को नई गीली खाल की भांति सब ओर से खींच कर जमीन पर कीलें ठोक दी गई थी, फिर भी वह बिचलित नहीं हुआ और समाधिपूर्वक मरा [सथा० ८७]। राजा चडविडिसिया भी मरण काल में दृढ़ सयम में स्थिर रहा उसने सर्वोच्च पद पाया [म० ४४०-४१]। पाटलिपुत्र में सुप्रसिद्ध चाणक्य हिसादि मूल पापों से विरत रहा और इंगिनी मरण स्वीकार किया। उचित मान-सम्मान

१५ तुलना करो बही, ३रा बर्ग।

प्राप्त कर और वैरी को पराजित कर, उसने अपना शरीर भस्म करा दिया [?]। जब वह गो ठाण में प्रायोपगमन कर रहा था, क्रूर सुबन्धु [सुबुद्धि] ने वहाँ सग्रहीत उपलों में भाग लगा दी। परन्तु चाणक्य उस भाग में जलता हुआ भी दृढ़ रहा और मोक्ष गया। [म० १६२, म० ४७८, सथा० ७३-७५]। चिलाइपुत्त एक धर्मनिष्ठ भिक्षु था और वह पूर्ण वैरागी था। रक्त-गांध पा कर चींटियों ने उसे घेर लिया और उसके सिर को खाना प्रारम्भ कर दिया। उनके खान से उसका सारा शरीर चालणी के समान छिद्र-छिद्र हो गया। ऐसा खाया होने पर भी उसने कोई दुर्भाव उन चींटियों के प्रति अपने मन में नहीं आने दिया। फल स्वरूप उसने केवलज्ञान प्राप्त हुआ और वह परम पद को पहुँच गया। [म० ८८, म० ४२७-३०, सथा० ८६]। राजा जब एक श्लोक का पाद सुन कर मृत्यु के मुँह से बच गया और इसके बाद वह सफल भिक्षु बन गया। फिर जिन-भाषित मूत्रों के वचनों को सुनने का लाभ की बात को तो कहना ही क्या [म० ८७]। परि-ब्राजको के भक्त हरिवाहन न कचनपुर^{१७} निवासी धर्म-परायण साहूकार जिनधम्म की पीठ पर पात्र रख कर किसी तापस को गरमागरम भोजन कराया। पात्र गरम हो जाने से उसके शरीर के मांस का उतना ही अंश पात्र के साथ उखड़ कर निकल गया। ससार से विरक्त हो कर साहूकार भिक्षु हो गया। उसने अनशन व्रत ले लिया और प्रत्येक दिशा में मुख किए वह एक-एक पक्ष तक ध्यानस्थ खड़ा रहा। उसके घाव को पक्षियों और कीड़ों ने निरंतर कुदेदा और वह यह परीषह शांति के साथ सहता रहा, यही मानते हुए कि नरक-यत्रणा से तो यह कष्ट बहुत ही कम है और कर्मों का फल तो भुगतने से ही छुटकारा है। दो महीने के घोर परीषह सहन और तपस्या के अन्त में वह जिनों का ध्यान धरता हुआ घरा-घायी होकर मृत्यु को प्राप्त हुआ [म० ४१२-४२३]। भोगोपभोगों की आसक्ति और आकांक्षा ही आत्मा को गिराती है जब कि उनकी उपेक्षा संसार से त्राण प्राप्त

१६ श्री उत्तराध्यायनानि, बंबई, १६३७, के पृ० २३६-४० में अध्याय १७ गाथा ३७ परकी नेमीचन्द्र की टीका में सत्कुमार का कथानक देखो।

कराती है। दो भाई जिनपालिय और जिनरक्खिय^{१०} जिनकी भेंट एक द्वीप में एक देवी और एक देव से हुई थी, इस तथ्य के उत्कृष्ट उदाहरण है [भ० १७७]। डण्ड बड़ा वैरागी और तपस्वी था। जब वह तप करते हुए खड़ा था, कहीं से आकर एक तीर ने उसे वीध दिया। जिनके शब्दों के ध्यान में ध्यानस्थ होने के कारण उसने अपने शरीर की उपेक्षा की और दर्द सहता रहा। अन्त में उसे परम पद प्राप्त हुआ। [म० ४६५, संथा० ६१-६२]। जो मिथ्यात्वी है और सन्तो के प्रति घृणा रखता है, उसे तुरुमणी के दत्त की भाँति बहुत दुःख सहने पड़ते हैं [म० ६२, म० ४६१?]। जिनकी भक्ति से सुख और उच्च कुल में जन्म उसी प्रकार प्राप्त होता है जैसे कि राजगृह के दादुर^{११} को प्राप्त हुए थे जो कि पूर्व भव में मणियार सेट्टी था [म० ७५]। संत दमदन्त, यद्यपि कौरवों द्वारा निन्दित और पाण्डवों द्वारा प्रशंसित था, दोनों के प्रति समभावी ही रहा [म० ४४२]। देवरई साकेत के राजा, ने राज्य और राज्यसुख सब ही खो दिया और अपनी ही रानी द्वारा नदी में फेंक दिया गया क्योंकि वह स्वयम् एक लगड़े व्यक्ति पर आसक्त थी [म० १२२]। दो भिक्षु, घन्न और सालिभद्, जो घोर तपस्या से महमान्वित थे। नालंदा के निकटस्थ वैभारगिरि के निकट दो पाषाण शिलाओं पर प्रायोपगमन किया; उन्हें अपने शरीर पर जरा भी मोह नहीं रह गया था और इसलिए वे शीत एवम् उष्ण सहते-सहते मुरझाने लगे और नष्ट हो गए, और उन्हें अनुत्तर विमान प्राप्त हुआ। देवानुष्ह से उनकी अस्थियों के ढेर आज भी बहा देखे जा सकते हैं [म० ४४२-४६]। चन्द्रगुप्त, के पाटलिपुत्र में एक धम्मसिंह था जो चन्दमिरि को छोड़कर कल्लऊर में भिक्षु-जीवन बिताने लगा था। उसने गृध्रपृष्ठ^{१२} प्रत्याख्यान बड़ी शांति के साथ पालन किया। हजारों कीड़ों से खाये जाने पर भी उसने शरीर की कोई परवाह नहीं की, और इसलिए अन्त में परम पद प्राप्त किया। [संथा०

७०-७२]। नंद, परशुराम, पाण्डुराय और लोभानन्द क्रोध, मन, माया और लोभ के कारण ही क्रमशः नष्ट हुए [म० १५३]। अयलग्गाम नगर के एक परिवार के पाँच व्यक्ति, सुरई, सय, देव, समण और सुभद् ने बड़ी श्रद्धा के साथ खमग नामक भिक्षु की जो कठोर तप से हीन-क्षीण हो गया था। सेवा-सुश्रुषा को और पुण्य एवम् पाप के विषय में उस भिक्षु से देशना सुन कर पाँचों ही ने श्रावक के १२ व्रत स्वीकार कर लिए। उनसे बाद में वासुपुज्य स्वामी के तीर्थकाल में, प्रव्रज्या भी ले ली और अनेक प्रकार की तपस्याये की। फल स्वरूप मरने पर वे पाँचों अपराजित विमान में गए। वहाँ से चय कर वे भरत देश के राजा पाण्डुके घर में पाँच पुत्र के रूप में उत्पन्न हुए। कृष्ण की मृत्यु के दुःखद समाचार सुन कर इन्हें भी वैराग्य हो गया और ये सुट्टिय आचार्य के मुनिधर्मी शिष्य हो गए। सबसे बड़े ने १४ और शेष तीन ने ११ पूर्व का ज्ञान प्राप्त किया। वे समस्त ससार में प्रसिद्ध हुए। वे सौराष्ट्र में आए और वहाँ भगवान नेमि जिन के निर्वाण को सुन कर, उनसे भी अनशन कर लिया। भीम ने कठोर तपस्या की और शत्रुंजय पहाड़ पर उसने प्रायोपगमन स्वीकार कर लिया, और सब प्रकार के परिषह सहते हुए अन्त में परिनिर्वाण प्राप्त हुआ। फिर शेष भाइयों ने भी उसका अनुगमन किया [म० ७४६-६४]। पाण [याने चाडाल] तक ने भी देवों की मदद प्राप्त कर ली। क्योंकि मगरमच्छ ताल में गिरने पर उसने केवल एक दिन का अहिंसा व्रत पालन किया था [म० ६६]। अपने प्राप्त जनों और सगे-सम्बन्धियों के प्रति आसक्ति या राग एक क्षण के लिए भी नहीं होना चाहिए; क्योंकि ये हो तो जीव के दुश्मन हो जाते हैं। जैसे कि ब्रह्मदत्त की माता उसके लिए हुई थी। [म० ३७६]। मंखलि द्वारा^{१३} उसके तप-तेज बल से महावीर के शिष्य भस्म कर दिए गए थे और इस प्रकार भस्म होकर उनसे परम पद की प्राप्ति की। [संथा० ८८]। राणी मियावाई ने सिर्फ वन्दना और अन्य धर्मानुष्ठान कर अपने पूर्व जन्मों के कर्म एक क्षण में नष्ट कर दिए थे। [म० ५०]। परिग्रह या राग भयावह है। सन्त मेयज्ज क्रोध पक्षी सहित

१७ तुलना करो नायाधम्मकहाओ, अध्याः ६ पृ० १८, मायदी कुमारों का कथानक।

१८ नायाधम्मकहाओ, अध्या. १३।

१९ सत्तरह प्रकार के मरण का यह एक प्रकार है।

२० तुलना करो, भगवती, शतक १५।

[?] , तब भी एक गृहपति द्वारा बहूत सताए गए जबकि धन उसका पुत्र ही ले गया था^{११}। मेयञ्ज ने असीम कठुना के कारण कौच पक्षी को कि जिसने दोष किया था, नहीं बताया। और जब उनकी आँखों में शलाकाएं घुसा दी गई तो भी वह मंदार पर्वत के समान अटल, अचल ही खड़े रहे। [म० १३२, म० ४२५-२६]। उस दुष्ट मेण्डा ने जिसे चोरी के अपराध में फाँसी का दण्ड दिया गया था, मरण समय में भगवान् को वंदन, नमन किया और फल स्वरूप वह मर कर कमलदल नामक यक्ष उत्पन्न हुआ। [म० ७८]। कौसांबी के ललियघडा के ३२ सदस्यों ने नदी की बाढ़ का वीरता से सामना किया और स्वयम् प्रायोपगमन कर परम पद प्राप्त किया। [सथा० ७६-८०, म० ४८०?]। संत वयर ऋषि के ५०० शिष्य थे। एक शिला पर तप करते हुए घूप में वर ऋषि खड़े रहे। कोमल शरीरी जैसे कि वे थे, उनका शरीर उस सूर्य के ताप में घी की तरह पिघल गया। जिस स्थान पर देवो ने उनकी पूजा उपासना की, उसे रहावट्ट गिरि कहा जाता है और जिस पर्वत पर उनकी अभ्यर्थना इन्द्र ने की वह कुजरावट्ट नाम से प्रसिद्ध हुआ। [म० ४६८-७३]। एक ही भूट अनेक सत्य शब्दों को दूषित-कलुषित कर देती है। वसु एक बार ही असत्य बोल कर नरक-भोगी हुआ था। [म० १०१]। चौथा चक्रवर्ती, सनत्कुमार सात हजार वर्ष तक १६ प्रकार के रोगों से दुखी रहा था और उसने यह कष्ट शांति और समाधि पूर्वक सहा था। [म० ४१०-१२]। चार महीने के उपवास के पारणे के दिन जब कि वह अपने व्रत में सुदृढ़ था और पर्वत से नीचे उतर रहा था, श्रमण सुकोशल का उसकी माता ने ही गला घोट दिया जो कि तब चित्तकूड के मुगिलगिरि में सिंहनीरूप जन्म पाई हुई थी। मुनि ने यह सब परिषद् समाधि पूर्वक सहा और परम पद को प्राप्त किया। [म० १६१, म० ४६६-६७, सथा० ६३-६४]। मूर्ख गोपालक लड़के ने भक्ति व श्रद्धा के साथ नमस्कार मंत्र का स्मरण किया और उसके फल स्वरूप चंपा में धनी गृहपति सुदंशण रूप में जन्मा। [म० ८१]।

१२ बहुत सम्भव है कि एक ही कथानक के ये दो संस्करण हैं।

कोसाम्बी के नीच गोती भिक्षु, सोमदत्त आदि जब प्रायोपगमन किये हुए थे, समुद्र में फेंक दिए गए थे। [म० ४६४]। शुद्ध सम्यक्त्व याने सम्यक्दर्शन के कारण यद्यपि वह सम्यक्चारित्र के साथ नहीं था, तो भी हरिकुलप्रभ, श्रेणिक और अन्य जनों ने तीर्थंकर गोत्र का बंधन कर ही लिया। [म० ६७]। सोदास को स्वाद याने जिह्वा का दास होने के कारण और राजा सोमालिया को स्पर्शद्रव्य के कारण द्रव्य भोगना पड़े [म० १४५-४६]।

उपयुक्त सर्वेक्षण आंशिक ही है और इसमें पद्मियों की सभी कहानियाँ समाविष्ट नहीं हुई हैं। कुछ कथानक तो नानामे ही हैं। [म० ४२४, ५१० आदि]। और कुछ नाम वाले तो हैं परन्तु व्योरे रहित हैं। [म० ४३२]। मैं ने गाथाओं का उल्लेख करने में बड़ी सावधानी बरती है, क्योंकि कथानकों से भली प्रकार परिचित हुए बिना इन गाथाओं की व्याख्या करना कठिन होता है। कहीं-कहीं तो नाम का पता लगाना भी कठिन ही रहा है। दिट्ठीवाय में एक कथानक संक्षिप्त किया गया है। [म० ५१२ २०], परन्तु आवश्यक नामों का वहाँ ठीक-ठीक निर्देश नहीं किया गया है। भिन्न-भिन्न परिषदों को कि जिनका विवरण उत्तराध्ययन, अध्याय २ [म० ४८४] में किया गया है, सहने वाले प्राचीन त्यागी वीरों के उदाहरणों में कितने ही नाम गिनाए गए हैं, परन्तु शास्त्र में उनका जीवन व्योग बहुत कम दिया गया है। [म० ४८५-५०३ आदि]।

अर्धमागधी भागमों के वर्णनात्मक विभाग का यह विहंगावलोकन अवश्य ही कुछ निश्चित मोटी बातों का हमें निर्देश कर देता है। एक तो यह कि जीवनियाँ तीन ही तीर्थंकरों याने नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर से ही मुख्यतया सम्बन्धित हैं। उनमें भी महावीर से सम्बन्धित सर्वाधिक और पार्श्वनाथ से सम्बन्धित न्यूनतम हैं। नेमिनाथ सम्बन्धित सभी जीवनियों में कृष्णवासुदेव ही मुख्य पात्र हैं। ये जीवनियाँ हरिवंश से सम्बन्धित हैं। महावीर युग के कथानकों में ऐतत्कालिक राजवंशों और राजाओं के विषय की जानकारी बहुत कुछ दी गई है। यद्यपि ये कथानक भाव में औपदेशिक ही हैं, पर यह भी बिल्कुल स्पष्ट है कि उनसे सम्बन्धित कुछ

व्यक्ति ऐतिहासिक भी हैं। जैसा कि ऊपर निर्दिष्ट किया जा चुका है, कुछ जीवनियाँ विशेष रूप से जैन हैं तो अन्य जैनधर्म सापेक्षता रंगित भारतीय सामान्य कथा-जीवनियों का संस्करण विशेष है।

भागमों में ही कुछ साक्षियाँ ऐसी मिल जाती हैं कि ये नमूने के कथानक किस प्रकार परम्परागत स्मरण रखे गये थे। अब तो ये सभी कथानक प्रायः गद्य में ही प्राप्त हैं, परन्तु उनके बीच-बीच में नामों की शृंखला पद्य गाथाओं में दे दी गई हैं। फिर उवासगदसाओं में भी कुछ गाथाएँ ऐसी मिलती हैं कि जिनसे उन गुरुओं का कि जिनहूँ व कहानियाँ समय पर व्योरेवार सुनानी पड़ती थी, उन्हें स्मरण रखना सहल ही रहे। नायाधम्मकहाओं जस भागमों की टीकाओं में ऐसी सारगर्भित गाथाएँ दी गई हैं कि जिनमें कथानकों का संक्षेप भी किया हुआ है और उनका उद्देश्य या उपनय भी कह दिया गया है। यह कहना कठिन है कि ये गाथाएँ शास्त्रों के वर्तमान पाठों के बाद के संक्षेप हैं या कि मूल पाठों में ही ऐसी गाथाएँ पहले से थीं। पहला विकल्प यद्यपि अविचार्यता नहीं है, फिर भी दूसरे विकल्प का सामान्य नियम रूप से स्वीकार करने की ओर ही मेरा झुकाव है। समराइच्च-कहा का सम्पूर्ण कथानक हारभद्र द्वारा उन कुछ गाथाओं के आधार पर ही रचा गया था कि जो हम आज भी भागमों में प्राप्त हैं। ऐसी गाथाएँ कहानियाँ का मौखिक परम्परा की यद्यपि पूर्वं साक्षी देती हैं, परन्तु वे स्वयम् ही उन लिखित रचनाओं की आधारभूत हैं कि जो हमें आज प्राप्य हैं।

(भा) भागमोत्तर और भागमानुकूल स्तर का साहित्य

जैन साहित्य का अन्य स्तर जिसका हमें आदि कालीन वर्णनात्मक साहित्य के सर्वेक्षण में विचार करना चाहिए, निज्जुत्तियों^{२२} का है जो कि कुछ-कुछ उन टीकाओं जैसी

२२ निर्युक्तियों के सम्बन्ध में निम्नलिखित ग्रन्थों का अध्ययन किया जाए। लायमैन: दशवैकालिकसूत्र एण्ड निर्युक्ति, जैडडी एमजी, ४६, पृ० ५८१-६६३। और उबरशिकठ ऊबर डी आवश्यक लिटरेचर, हैम्बर्ग १९३४; घाटगे: दी दशवैकालिक, एण्ड सूत्रकृतांग-निर्युक्ति, इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली

ही है कि जो मूल में आए विषय-विशेष की ही व्याख्या नहीं करती है कि जो मूल के साथ अनुयोग-द्वारा आदि से नियुज्य हैं, अपितु आवश्यक विवरण देकर मूल पाठ के विवरण को सम्पूरित भी करती है। दस भागमों पर निज्जुत्तियाँ हैं। कुछ स्वतंत्र निज्जुत्तियाँ जैसे कि पिण्ड, ओष और आराधना भी हैं। पहली दो तो दशवैकालिक और आवश्यक निज्जुत्तियों की सम्पूरक प्रतीत होती हैं, परन्तु अन्तिम का परिचय तो एक उल्लेख^{२३} मात्र से ही मिलता है। और ऐसा संभव लगता है कि उसको भगवती आराधना, मरणसमाही^{२४} आदि शास्त्रों में अभिनिर्विष्ट कर लिया गया होगा। व्याख्यान-विशेष की परम्परागत परिस्थितियों का एक से अधिक बार उल्लेख निज्जुक्तियों में दिया गया है। जैसे कि उस आद्रक [जिसका सुयगडाग में अध्याय है] का कि जिसका गासाल आदि से वाद-विवाद हुआ था जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, व्योरा निर्युक्ति ही से प्राप्त होता है। इन निर्युक्तियों में कई महत्व के सदर्थ और उल्लेख हैं कि जिसके कारण बाद की चूणियों, भाष्यों और टीकाओं में स्पष्ट और पूर्ण व्याख्या करने के लिए लम्बे-लम्बे कथानक देना आवश्यक हो गया था। उनके कुछ उदाहरण यहाँ देना उचित होगा। उत्तराध्ययन निर्युक्ति में धनमित्र, हस्तिमित्र, स्वप्नभद्र आदि का उल्लेख भिन्न-भिन्न परिषद, जो कि २२ है, वीरता से

भाग ११, सं. ४ और भाग १२ सं० २; चारपेण्टियर

उत्तराध्ययन, उप्पासल, १९२२, इट्टो. पृ. ४८-५२;

चतुरविजयजी: अनेकान्त भाग ३, पृ. ६७३-६८४।

२३ मूलाचार [माणिकचन्द्र दि० जै० ग्रन्थमाला सं० १८, बंबई सं० १९७७ संस्क.] अध्या. ५, श्लो. ८२ पृ. २३३।

२४ मरणसमाही की अन्त की गाथाएँ अत्यन्त महत्वपूर्ण और मनोरंजक हैं। इस ग्रन्थ में न केवल भाव ही अपितु गाथा तक प्राचीन आठ ग्रन्थों से ले लिए गए हैं—१. मरण-भित्ति, २. मरण-विसोही, ३. मरण-समाही, ४. संलेहणासूय, ५. भक्तपरिण्णा, ६. आउर-पच्चक्खणां, ७. महापच्चक्खणां और ८. आराहणा-पद्दण्णा।

सहने वालों के दृष्टांत रूप से किया गया है। ऐसी कथाएँ या दृष्टान्त अन्य सन्दर्भों में भी दिए गए हैं। दशवैकालिक नियुक्ति में उदाहरण की [?] व्याख्या करते हुए महत्व के उल्लेख [गाथा ६१ आदि में] किए गए हैं जो लिखित नहीं तो कम से कम मौखिक कथानकों की परम्परा की पूर्वेता का निर्देश करते हैं। दूसरे सन्दर्भों [गाथा ७७, ८१, ८७, १६२, २३६ आदि] में या तो उचित नाम ही दे दिए गए हैं या प्रमुख शब्द घोष [कैवर्द्धस] कि जिनका अर्थ तभी समझा जा सकता है जब कि उनके सम्बन्ध की कथाओं का पूरा-पूरा परिचय हो। नन्दी सूत्र में भी कुछ गाथाएँ हैं, कदाचित् रूढ परम्परागत, जिनमें सेल-घण जैसे दृष्टान्तिक वाक्य, शिष्यों के गुण-दोष व्यक्त करने के लिए, की सूची दी गई है। और इनके कारण जटिल कथानक भी देना आवश्यक हो गया है। इन कथानकों के प्राचीन आचार्यों का अभी तक हमें स्पष्ट रूप से कोई पता नहीं है। परन्तु कुछ उल्लेखों से ऐसा मालूम पड़ता है कि कुछ कथानक तो दृष्टिवाद में जो कि आज अप्राप्य है, थे। फिर हाथी के जैसे कथानक का विवरण मरणसमाप्ति पद्मनय [गाथा ५१२-२०] में भी दिया हुआ है। आवश्यक नियुक्ति भी एक विशेष महत्व का शास्त्र है या सुप्रसिद्ध आचार्यों की लिखी विस्तृत टीकाओं से उसे विशेष महत्व प्राप्त हो गया है। इसके मूल पाठ में कथाएँ प्रवेश करने के लिए अनेक अवसर प्राप्त होते हैं जैसे कि अनुयोगों के नियोजन में, बुद्धियों के दृष्टान्तों में, ताकि मूल पाठ का यथार्थ वाचन सम्भव हो^{२५}। इसीलिए चूर्णि, भाष्य और टीका प्राकृत और संस्कृत दोनों ही के कथानकों से भरी हुई हैं, और इनकी सख्या चौका देने जितनी अधिक है^{२६}। लायमेन ने दशवैकालिक-नियुक्ति के कथानकों को संक्षेप में पहले ही प्रकाशित कर दिया है। और आवश्यक चूर्णि और उसकी

२५ श्री विशेषावश्यक, गुजराती अनुवाद सहित, भाग १-२, आगमोदय समिति, बंबई १९२४-२७, पृष्ठ भाग १, ५०६, भाग १, ५१३ आदि।

२६ बृहत्कल्पसूत्र जिसके कि पाँच भाग अब तक प्रकाशित हो चुके हैं [भावनगर, १९३३-३८], दृष्टान्तिक कथाओं में बहुत सम्पन्न हैं।

हरिभरीय टीका से कुछ कथानक संग्रह कर पृथक् से पुस्तक रूप में सम्पादित कर दिया है^{२७}। आगमों में जो कथानक निर्देश किए गए हैं उनका व्योरा संगतभावे देने के अनिर्विकन, हरिभद्र, शीलांक, शांत्याचार्य, देवेन्द्र, मलयगिरि और प्रमयदेव जैसे टीकाकारों ने न केवल प्राचीन टीकाओं से ही सहायता ली है अपितु बाह्य साहित्य में भी। और इसका परिणाम यह हुआ है कि उनकी टीकाएँ भिन्न-भिन्न परिणाम की ओर अनेक विषयों की जैन कथाओं का संग्रह या भण्डार ही बन गई हैं। हम दृष्टि से प्राकृत की ५४० गाथा का ग्रन्थ उपदेशमाला का नाम उल्लेख किया जा सकता है कि जो धर्मदास गणि रचित है और जिसे महावीर का समकालिक होने की भी कहा जाता है। सूक्ष्मदर्शी विद्वानगण इस ग्रन्थ को उतना प्राचीन समय देने की अभी तक नैयाग नहीं हैं। सार-गर्भित और संक्षेप में औपदेशिक बातें कहने के सिवा भी यह ग्रन्थ ऐसे जीवन-घटना उल्लेखों की एक प्रसन्न खान ही है कि जिनमें से कितनी ही पङ्क्तियों में पहले से ही मिलती हैं। बहुतों ने इससे अपने ग्रन्थों में उद्धरण दिए हैं और जहाँ तक मैं जानता हूँ, ६वीं सदी ईसवी से अब तक इस पर अनेक टीकाएँ रची जा चुकी हैं। यह ग्रन्थ संग्रह-ग्रन्थ सा लगता है और आचारभूत गाथाएँ निजुक्ति और पद्मनयों के अनुसारी प्राचीन जैन साहित्य के स्तर की भी हो सकती हैं।

दिगम्बरों ने अर्ध-मागधी आगमों को अधिकारित रूप से अपने लिए स्वीकार नहीं किया है। यद्यपि प्राचीन आगम नष्ट हो चुके, फिर भी दिगम्बर परम्परा ने आगमों के विभागों सहित उनकी सूची और विषय अवश्य ही सुरक्षित रखी है। इसका नन्दीसूत्र में दिए विवरण और उपलब्ध अर्ध-मागधी शास्त्र एवम् उनके वर्गीकरण के साथ तुलना करना मनोरंजक है। नन्दीसूत्र की शिन्ती और दिगम्बर ग्रन्थों में प्राप्त वर्गीकरण, दोनों में ही, उपांग विभाग का नहीं पाया जाना और उनमें कुछ समान बातों का होना दिगम्बर परम्परा की यथार्थता को बलभी

२७ दशवैकालिकसूत्र—एण्ड—नियुक्ति जैडडी एमजी, ४६, लैपजिग १८६२; डीए आवश्यक बर जहलुंगन, लैपजिग १८६७।

वाचना से पहले की ही प्रमाणित करता है। दिगम्बर परम्परा के अनुसार ज्ञाता धर्मकथा या नायाधम्मकहाओ में अनेक आख्यान और उपाख्यान थे, अन्तर्गड में नीम, रामपुत्र आदि का वर्णन था, अनुत्तरोपपातिकदसा या अनुत्तरदसा में ऋषिदास, धन्य, मुनक्षत्र, कातिक, नन्द, नन्दन, शालिभद्र, अभय वारिषेण, चिलातपुत्र^{१८} आदि-आदि के वर्णन थे। इनमें से कुछ कथानक वर्तमान अर्ध-भागवी आगमों में से कुछ में प्राप्य है। परन्तु प्राचीन ग्रन्थों के अभाव में यह कहना असम्भव है कि उनकी दिगम्बर कथाएँ कैसी थीं? आगमों के उपलब्ध दिगम्बर ग्रंथ ही कदाचित् उन तीन महान् टीकाओं की पृष्ठ-भूमि है कि जो उनके अन्तिम स्वरूप में धवला, जयधवला और महाधवला के नाम से प्रख्यात हैं^{१९}। अब तक के प्रकाशित इनके अंश अपेक्षाकृत बहुत ही कम हैं और उनका विषय बिल्कुल विशिष्ट है। इसलिए कथानको का, यदि उनमें कुछ कथानक प्राप्त हों तो भी, कोई अनुमान नहीं लगाया जा सकता है। उनमें कुछ ऐसी दृष्टान्त कथाएँ भी हैं कि जिनमें शिष्यों का वर्गीकरण और विशिष्टिकरण किया गया हो। प्राचीन दिगम्बर साहित्य का दूसरा स्तर कुन्द-कुन्द, यतिवृषभ, वट्टकेर और शिवार्य के ग्रन्थ हैं। कुन्द-कुन्द के माने जाने वाले ग्रन्थों में निर्वाणकाण्ड नित्य-पाठ का स्तोत्र है और इसमें जैन परम्परा के अनेक प्रमुख व्यक्तियों की उनके निर्वाण-स्थलों के नाम के साथ नामा-वली दी गई है एवम् उन सब को नमस्कार किया गया है। इससे हमें जैन पुराण और जिनमें जैन बड़ी पूज्य दृष्टि रखते हैं ऐसे व्यक्तियों की आदि पूजा का कुछ कुछ आभास मिल जाता है। भावपाहुड उन कुछ व्यक्तियों

का उल्लेख करता है जिन्हें अपने भाव या आध्यात्मिक स्वभाव में कुछ कलुषता आ जाने के कारण दुःख भोगना पड़ा था^{२०}। जैसे कि बाहुबलि की आध्यात्मिक उन्नति उसके अभिमान के कारण अटक गई थी हालांकि शरीर का मोह उसे सर्वथा हो तब नहीं था। निदान के कारण, सन्त मधुपिंग मुनिधर्म स्वीकार नहीं कर सका और सन्त वशिष्ठ ने दुःख उठाया था। [४४-४६]। बाहु यद्यपि जैन मुनि था फिर भी अपने आन्तरिक घृणा के कारण दण्डक नगर को भस्म कर दिया और रौरव नरक को प्राप्त किया। इसी तरह द्वैपायन भी यद्यपि बाहर से मुनि ही दीखता था परन्तु मुनि के यथार्थ गुण उसमें नहीं थे और इसीलिए वह अनन्त संसार भ्रमण करता रहा [४६-५०]। शिवकुमार, नवकुमारियों से वेष्टित होने पर भी, अपने वीर और विशुद्ध मन के कारण संसार-चक्र का नाश कर सका था। भव्यसेन भावश्रमण नहीं हो सका, हालांकि उसने १२ अंग और १४ पूर्व ही नहीं, अपितु संसार का सारा शास्त्र ज्ञान प्राप्त कर लिया था। पक्षान्तर में शिवभूति ने जिसके कि भाव विशुद्ध थे, तुस-मास की माला जपते-जपते ही केवलज्ञान प्राप्त कर लिया [५१-५३]। मत्स्य शालिसिक्थ तक भी भावों की अपवित्रता के कारण नरक में गया [८६]। यह बताने के लिए कि शील रहित ज्ञान से ही स्वर्गादि ऊर्ध्व लोकों में जाने का मार्ग प्रशस्त नहीं हो जाता है, शीलपाहुड में सुरत्तपुत्त^{२१} का दृष्टान्त उद्धृत किया गया है कि जो दस पूर्व का जानी होते हुए भी नरक में गया [३०]। यति वृषभ की तिलोयपणत्ति^{२२} में ६३ शलाका पुरुषों की

२८ देखो प्राकृत श्रुतभक्ति; तत्त्वार्थसूत्र पर पूज्यपाद की सर्वावसिद्धि, १. २०, और उसी पर अकलंक का राजवार्तिक; धवला सहित षट्खण्डागम [अमरावती १९३६] भाग १, पृ. ६६ आदि; गोम्मटसार, जीवकाण्ड [बंबई १९१६], पृ. १३४ आदि।

२९ प्रो० हीरालाल ने धवला, भाग २ [अमरावती १९४०] के इण्डोडक्शन, पृ. ४१-६८ में दिगम्बर और श्वेताम्बर शास्त्रों में उपलब्ध दृष्टिवाद के विवरण का तुलनात्मक विचार विशद रीति से किया है।

३० उपाध्ये : प्रवचनसार [बंबई १९३५] इन्द्रो. पृ. ३३।

३१ संभवतया सम्पादक द्वारा की संस्कृत छाया में सात्य-कीपुत्र से इस नाम का तुल्यकरण किया गया है।

३२ इसका वक अंश परख के लिए मैने जैन सिद्धान्त भवन, आरा के लिए १९४१ में सम्पादन किया था जो पहले जैन सिद्धान्त भास्कर में और पीछे पृथक पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ था। अब मैं फिर से इसका सम्पादन कर रहा हूँ और वह छपने दे भी दिया गया है। मूल पाठ के साथ हिन्दी अनुवाद भी है।

जीवनी की वे आधारभूत बातें सभी दी गई हैं कि जिन पर उत्तर ग्रन्थों की रचना हुई है। ऐसी ही बातें आवश्यक-भाष्य आदि में भी हैं। वट्टकेर के मूलाचार में [२, ८६-७] वर्णन है कि महेन्द्रदत्त ने कनकलता, नागलता, विद्युलता और कुन्दलता जैसी स्त्रियों को एवं सागरक, वल्लभक, कुलदत्त और वर्धमानक जैसे पुरुषों का एक ही दिन में मिथिला में वध कर दिया था। इस गाथा पर वसुनन्दि टीकाकार ने व्योरेवार कथानक नहीं दिया है, अपितु इतना ही कह दिया है, 'कथानिका चात्र व्याख्यया आगमोपदेशात्'। फिर श्लोक, मान, माया और लोभ द्वारा कुछ मुनियों द्वारा आहार प्राप्त किया गया था, उनके दृष्टान्त के लिए हृत्थिकप्प^{१३} वेणयड, वाणारसी और रासियाण नगरों से सम्बन्धित कुछ कथाओं का उल्लेख है। टीकाकार वसुनन्दि ने यहाँ भी कथाएँ नहीं देकर, इतना ही कह दिया है, 'अत्र कथा उत्प्रेक्ष्य वाच्या इति। आगे की गाथा [६, ३६] में यशोधर को आदर्श दानपति कहा गया है। शिवार्य की "भगवती आराधना" में यद्यपि मुनि के मरणान्त समय के वैराग्यानुशासन को ही मुख्यता दी गई है फिर भी, कितनी ही जीवनियों का उल्लेख उसमें किया गया है जिन पर जैसा कि हम आगे देखेंगे, हरिषेण प्रभाचन्द्र आदि के कथाकोशों में संग्रहीत अनेक कथानक विकास पा गए हैं। मूल ग्रन्थ में कितने ही प्रमुख व्यक्तियों का उल्लेख है कि जो अपने धर्माचरण, पापाचरण, वैराग्य-वीरता, या इह भव और परभव के परिणामों के प्रति बताई सहनशीलता के लिए स्मरणीय है^{१४}। कितने ही नाम तो पङ्क्तियों में मिलने वाले ही हैं और इनमें से कुछ का उल्लेख प्रायः वैसी की वैसी ही गाथाओं में यहाँ भी है।

श्रामण्य जीवन सम्बन्धी प्रायः तादृश बातों के कारण ही, थोड़े शाब्दिक एवम् भाषाई हेरफेर वाली समान गाथा और उसी प्रकार की व्याख्या एवम् वाचना के कारण यह परिणाम अनिवार्यतः निकलता है कि "भगवती आराधना,

१३ [जट कल्पभाष्य [अहमदाबाद संस्क. सं. १९९४] में एक दृष्टान्त हाथीकप्प के स्वमग का दिया गया है परन्तु अधिक विवरण नहीं दिया गया है [गाथा १३९५ आदि]।

१४ ये बातें अधिक व्योरा सहित आगे लिखी गई हैं।

मृताचार, निज्जुत्ति जैसे कि आवश्यक, पिण्ड आदि, कम से कम कुछ अंशों में, किसी एक समान श्रोत्र के ही आभारी है कि जो कभी दिगम्बर व श्वेताम्बर दोनों में ही अधि-कृत माने जाते रहे होंगे।" भाषाई और क्रियामूलक विभेद, पाठों के लिपिबद्ध हो जाने के पश्चात् की पारस्परिक आदान-प्रदान की सम्भावना को एक दम अमान्य कर देता है। वास्तव में ये विभेद स्पष्ट बताते हैं कि वही गाथा कैसे, विषय को प्रभावित किए बिना ही, मौखिक सक्रमण के समय क्षुद्र परिवर्तन को तो प्राप्त हो ही गई। विषय की तादृश स्थूल रूपरेखा का संरक्षण प्राचीन जैन परम्परा की प्रामाणिकता और उसके इस काल तक ज्यों की त्यों हस्तान्तरित किए जाने की निष्ठा को ही प्रमाणित करती है। विभेदों के पीछे, जो कि बाद में जटिल हो गए, पक्षपात-शून्य अध्ययन-मनन जैन परम्परा की ठोस और समान पृष्ठ-भूमि ही प्रकट करता है। वैराग्य के लक्ष्य मूलतः दोनों में समान भावार्थ है और दोनों एक से ही वैराग्य-वीरों की जयन्तियाँ या उत्सव मनाते हैं।

प्राचीन दिगम्बर श्रावकाचारों में समन्तभद्र का रत्नकरण्डश्रावकाचार है और उसमें अंजन चोर^{१५}, अनन्त-मनि, उद्यायन, रेवती, जिनेन्द्रभक्त, वारिषेण, विष्णु और वज्र का उल्लेख सम्यक्त्व के आठ अंगों का पालन करने वालों के दृष्टान्त रूप से किया गया है [१, १९-२०]। फिर मातग, घनदेव, वारिषेण, नीली और जय अणुव्रतों के यथार्थ पालने वाले सुप्रसिद्ध कहे गये हैं, और घनश्री, सत्यघोष, तापम, आरक्षक और श्मश्रुनवनीत पाँच महा-पापों के दृष्टान्त रूप से उल्लेख किए गए हैं [३, १८-१९]। अन्त में श्रीषेण, वृषभसेन और कोण्डेश का नाम आदर्शदाताओं के लिए दिया गया है (४, २८)। वसुनन्दि ने अपने उवासयज्जयण^{१६} में सम्यक्त्व के आठ अंगों के

१५ यशस्तिलक चम्पू [शक स० ८८१] के दृष्टे आश्वास में भी ये कथानक दिये हुए हैं। नयसेन का धर्माभूत [कन्नड ई० १११२] भी सम्यक्त्व, व्रत आदि संबंधी कथाएँ देता है।

१६ मैंने उम संस्करण का उपयोग किया है जिसमें प्राकृत मूल और हिन्दी अनुवाद है। उसका मुखपृष्ठ गायब है; संभवतः वह सूरजमान वकील, देवबन्द, द्वारा प्रकाशित किया गया था।

दृष्टान्त में समन्तभद्र के दिए नाम ही दिए हैं, पर जिनेन्द्रभक्त के स्थान में उसने जितभक्त नाम दिया है। इसके सिवा उसने इन व्यक्तियों के नगरों के नाम भी दे दिए हैं (गाथा ५२-५)। वसुनन्दि ने सात व्यसनों के बुरे परिणामों के छाप पटकने के लिए नीचे लिखी अनेक कथाओं की ओर ध्यान आकृष्ट किया है : द्यूत के कारण राजा युधिष्ठिर ने न केवल राज्य ही खोया अपितु १२ वर्ष तक वनवास भी भोगा था; उद्यान में क्रीड़ा करते हुए प्यास लगने पर गन्दी मदिरा पीकर यादव नष्ट ही हो गये थे; एकचक्र का राक्षस बक, मास लोलुपी होने के कारण ही राज्यभ्रष्ट हुआ और मरने पर नरक में गया था; चतुर चारुदत्त वेश्याशक्ति के कारण ही दरिद्र हुआ और विदेशों में दुःख पाया था; चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त आखेट के व्यसन के कारण ही नरक में गया था; श्रीभूति निक्षेप का अस्वीकार कर हड़प जाने के कारण ही संसार के अनेक चक्र करता रहा था; लंकापति रावण, प्रतिवासुदेव और विद्याधरों का अधिपति होने पर भी, परदारा-हरण के पाप के कारण नरक में गया और अनेक भवभ्रमण किये थे (गाथा १२५-३३)।

मूल पाठ इन व्यक्तियों के विषय में स्वतः कुछ भी नहीं कहते हैं, परन्तु टीकाकार ही इनके कथानकों की पूर्ति करते हैं। प्रभाचन्द्र ने रत्नकरण्ड के उल्लेखों को स्पष्ट करने के लिए ही कथानक दिये हैं। कितने ही कथानक तो, यह स्पष्ट है कि, धर्मोपदेशिक ही हैं। कुछ कथानक उत्तरकालीन कथाकोषों में ही पाये जाते हैं और कथाओं के नायक-नायिका का भाग्य पाठक के मानस पर एक स्पष्ट छाप छोड़ देता है। यदि वे अपने दुष्कृत्यों या पापों से दुःख पाते हैं तो पाठक को उन दुष्कृत्यों या पापों से बचते ही रहना चाहिए, और यदि वे अपने सुकृत्यों, धर्मकृत्यों से सुख पाते हैं तो पाठक इनकी सार्थकता का पूर्ण विश्वास हो जाता है।

विशाल जैन कथानक या वर्णनात्मक साहित्य का पूर्ण अध्ययन ही हमें कहानियों के पहचानने और प्राचीन जैन साहित्य के विशाल क्षेत्र में प्रसंगवश उल्लिखित के विषय में अधिक जानकारी प्राप्त करने में बहुत सहायता कर सकता है। यह बिल्कुल निश्चित बात है कि

कोई भी लेखक या ग्रन्थकार इस प्रकार नामों का उल्लेख कभी नहीं कर सकता है जब तक कि उसे मौखिक परम्परा से या लिखित उल्लेखों से उनकी कथाओं का पूरा-पूरा परिचय प्राप्त न हो। कुछ कथाएं उनके विवरण सहित जो खोज ली गई हैं, यही बात समर्थन करती है कि इन नामों का सम्बन्ध सुप्रख्यात कथाओं के साथ बैठाने के लिए और भी गहन अध्ययन आवश्यक है।

इ. उत्तरकालीन प्रवृत्तियों और नमूने

प्राचीन जैन साहित्य के वर्णनात्मक तत्त्वों का सरसरा सर्वेक्षण कर लेने के पश्चात्, इन प्राचीन बीजों से ही अंकुरित और पल्लवित पीछे के जैन कथा-साहित्यों के खास-खास नमूनों का विचार करना अब आवश्यक है। प्रत्येक के विवरण के खोज की अपेक्षा, उनकी स्थूल धारा एवं नमूनों का विचार करना ही हमारे लिए अधिक उपयोगी होगा।

त्रेसठ शलाका पुरुषों की जीवनी की सामग्री [२४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ६ वासुदेव, ६ प्रतिवासुदेव, और ६ बलदेव] अंशतः कल्पसूत्र में पाई जाती है और आधार-भूत तत्त्वों में तिलोपपण्णत्ति एवं विशेषावश्यक-भाष्य में, जैसा कि पहले ही देखा जा चुका है, भी मिलती है। इन जीवनीयों को एक विशिष्ट रूप ही प्राप्त हो गया है हालांकि व्योरे और विवरण प्रत्येक लेखक के एक दूसरे से कुछ-कुछ भिन्न हैं। ऐसा मालूम पड़ता है कि कुछ प्राचीन ग्रन्थ, जैसे कि कवि परमेश्वर का, हम तक नहीं पहुँच पाए। परन्तु जिनसेन, गुणभद्र और हेमचन्द्र के संस्कृत ग्रंथ, शीलाचार्य और भद्रेश्वर के प्राकृतिक ग्रन्थ, पुष्पदन्त का अपभ्रंश ग्रंथ, चामुण्डराय का कन्नड ग्रंथ और तमिल के किसी अज्ञात लेखक का श्री पुराण हमें, आशाधर, हस्तिमल्ल आदि के छोटे-छोटे ग्रन्थों के साथ-साथ ही, प्राप्त है। इनके विश्वभौगोलिक एवं सैद्धान्तिक विवरणों के बीच-बीच में दी गयी कथाओं और धर्म देशनाओं के कारण इन्हें प्रधान पुराणों में पूजनीय स्थान प्राप्त हो गया है और ये बड़े प्रामाणिक माने जाते हैं।

दूसरे नमूनों में वैयक्तिक तीर्थंकरों की और उनके समय के अन्य प्रसिद्ध व्यक्तियों की जीवनियाँ हैं। ऊपर हृष्ट देख आए हैं कि निर्वाणकाण्ड में अनेक सुप्रतिष्ठित

व्यक्तियों को नमस्कार किया गया है जिनकी कि स्मृति-रक्षा उत्तर साहित्य में की गयी है। तीर्थंकरों की उपलब्ध जीवनियों में से अधिकांश, चाहे वे प्राकृत, संस्कृत, कन्नड और तमिल आदि किसी भी भाषा में क्यों न लिखी गई हो, मे परम्परानुसार विवरण तो दिया ही गया है, परन्तु उनकी शैली संस्कृत-आर्य काव्यों के अनुसरण पर अलंकारिक है। लक्ष्मणगणि^{१०} और गुणभद्र रचित सुपाश्व एवं महावीर के प्राकृत चरित्र, हरिचन्द्र और वीरनन्द रचित धर्मनाथ एवं चन्द्रप्रभ के संस्कृत चरित्र, पप, रत्न एवं होन्न रचित आदिनाथ, अजितनाथ और शातिनाथ के कन्नड चरित्र, इनके अच्छे उदाहरण हैं। जैन परम्परा राम और कृष्ण को मुनिसुव्रत और नेमिनाथ के सम-कालीन मानती है और राम एवं कृष्ण की कथा के कितनी ही प्रकार के जैन संस्करण प्राप्त हैं। विमल का पञ्च-चरिय और रविषेण का पञ्च चरित्र, जैन दृष्टिकोण और पृष्ठभूमि के अनुसार ली गई छूटों का विचार करते हुए भी, रामकथा को मौलिक एवं महत्वपूर्ण वैशिष्ट्य प्रदान करते हैं हालांकि ऐसा करते हुए भी, वे यह प्रच्छन्न नहीं रख सके हैं कि उन्हें वाल्मीकि रामायण का परिचय नहीं है। विद्याधरों और उनकी कारस्तानियों के प्रवेश के कारण इन ग्रंथों को कितने ही स्थानों में परी-कथाओं का सा मनोहर रूप प्राप्त हो गया है। कृष्ण-वासुदेव जैन साहित्य में भी पूर्ण प्रमुखता प्राप्त करते हैं। अर्धमागधी शास्त्रों में उनके और उनके गण याने वृष्णिवंश के बाबत अनेक सूचनाएँ प्राप्त हैं। वे अपने गुण के सर्वप्रमुख वीर या नायक हैं। परन्तु उनके अवतारी पुरुष होने के चिन्ह, जो कि महाभारत में असाधारण और प्रचुर परिमाण में व्यक्त हैं, जैन उल्लेखों में एक दम ही नहीं हैं। प्राचीन जैन ग्रंथों में पाण्डवों को इतना महत्व प्राप्त नहीं हुआ था जितना कि महाभारत में उन्हें प्राप्त है; और कृष्ण ने अवतारी पुरुष का नहीं, परन्तु एक साहसी एवं उदात्त क्षत्रीय का ही रूप उनमें पाया है। कदाचित्त यह चित्रण

३७ लेखक सम्यक्त्व के फल और बारह व्रतों के अतिचारों की दार्ष्टान्तिक अनेक उपकथाएँ देता है और उनसे कथा की प्रमुख धारा या प्रवाह को प्रायः आच्छादित कर दिया है।

पाण्डव-कथा के विकास की प्रारम्भिक स्थिति का है कि जिसका परिवर्धित और साम्प्रदायिक रूप आधुनिक महाभारत में हमें प्राप्त है। भद्रबाहु का तथाकथित वासुदेव चरित्र हमें उपलब्ध नहीं हुआ है। परन्तु वासुदेव के देश-विदेश पर्यटन का वर्णन करने वाली और गुणाढ्य की बृहत्कथा के जैन प्रतिरूप का सुन्दरतम चित्र प्रस्तुत करने वाली सघदासगणि की वासुदेव हिण्डी वीर कथा, लोक-कथा, जन्म-जन्मान्तर के उन्मायक आख्यानों एवं साम्प्रदायिक व औपदेशिक आख्यानिकाओं का एक स्मरणीय संग्रह ग्रंथ हमें प्राप्त है। कई आख्यान जैसे कि चारुदत्त, अगडदत्त पीपलाद, सगरकुमार, नारद, पर्वत वसु, सनत्कुमार आदि आदि जिनकी उत्तरकालीन साहित्य में लोकप्रियता मान कर बारबार पुनरावृत्ति की गई है, उस वासुदेवहिण्डी में प्रायः उसी रूप में पहले ही से स्थान पाए हुए हैं। कडारपिग की जैसी कहानियाँ जो कि लपटी पात्रों में सुप्रसिद्ध हैं, भी इसी श्रोत में हमें प्राप्त हैं। चाहे कहानी के पात्रों के नाम बदल गये हों, परन्तु लक्ष्य तो वहाँ का वही है। जिनसेन का संस्कृत हरिवंश पुराण और अपभ्रंश का धवल कवि का वासुदेवहिण्डी से बहुतांशमे मिलता है। यह द्रष्टव्य है कि जिनसेन के ग्रन्थ में कितने ही व्योरे ऐसे दिए गए हैं कि जो ६३ शलाका-पुरुषों के चरित्र ग्रन्थ में शोभा पा सकते हैं। इस नमूने के सैकड़ों ही, गद्य एवं पद्य ग्रन्थ अनेक भारतीय भाषाओं के उपलब्ध हैं। कुछ में तो जीवन्धर, यशोधर करकण्डु, नागकुमार और श्रीपाल जैसे धर्म-कर्म-वीरव्यक्तियों के ही जीवन वर्णन है तो दूसरों में उन धर्मवीर श्रावक एवं श्राविकाओं की उपदेशप्रद कथाएँ हैं कि जिनसे कुछ व्रतों और धर्म-क्रियाओं के पालन में ही अपना सारा जीवन उत्सर्ग कर दिया। प्राचीन साहित्य के सुप्रख्यात वैरागी वीरों की सक्षिप्त जीवनियाँ भी हैं। इहभव और परभव में अच्छे और बुरे कर्मों के फलों को दृष्टान्त द्वारा हृदय-गम कराने वाली परिशोध कथाएँ भी हैं। इन कथाओं में भावना और सिद्धान्तोपदेश ये दो ही प्रतिपाद्य विषय हैं। कुछ कथानक तो प्राचीन साहित्य से लिए गए हैं तो दूसरे लोकजीवनियों से। कुछ काल्पनिक भी हो सकते हैं। परन्तु इन सबको जिस ढाँचे में सजाया गया है वह अन-

ऐतिहासिक है। इस वर्ग में संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश की अनेक कथा, चरित्र और आख्यान सन्निविष्ट है। इनके लेखक का ध्येय घटना-वर्णन मात्र है और उनकी शैली महाकाव्य की है। गद्यचिन्तामणि, निलकमजरी, यशस्तिलकचम्पू आदि ऐसे द्रष्टव्य उदाहरण हैं जो उच्च काव्य योग्यता और अलंकारी भाषा के उत्तम नमूने हैं। जैन साधू का यह अनिवार्य गुण कहा और माना जाता है कि वह अनेक कथाएँ कह सके। स्वभावतः ही काव्य भुक्तावले अनेक जैन मुनियों ने साहित्य की इस शाखा को प्रचुर साहित्य प्रदान किया।

भारतीय साहित्य में एक तीसरे नमूने ने भी मनो-रंजन पथ अंकित किया है। और वह रोमानी शैली की धार्मिक कथा है। पादलिप्त का प्राकृत 'तरंगलोला' आज अप्राप्य है, परन्तु 'तरंगवती' नाम से उसका संस्कृत सार यह प्रकट करता है कि मूल ग्रन्थ में अवश्य ही महान् साहित्य गुण रहे होंगे। फिर समराश्च कहा है जो एक सुन्दर गद्य रमन्यास है और जो श्री हरिभद्रमूर्ति के साहित्य और काव्य गुणों द्वारा रचा गया है। इसमें ऐसे परम्परागत नामों की हारमाला दी गई है कि जिनने निदान द्वारा अपना ससार-भ्रमण अत्यन्त बढ़ा दिया था। बहुत चतुराई और सावधानी से गूथा हुआ, सिद्धिपि का जटिल रूपक, उपमितिभवप्रपञ्चकथा, को भी इसी श्रेणी में रखा जा सकता है। अन्यधर्मों के सिद्धान्तों और पुराण कथाओं का दोष वताने के लिए भी कभी-कभी काल्पनिक कथाएँ रची गयी हैं। यह प्रवृत्ति वासुदेवहिण्डी के प्राचीन काल तक में भी स्पष्ट दिखलायी पड़ती है। सीधीसादी रीति ही तब आदिरी गई थी। हरिभद्र का घूर्ताख्यान और हरिषेण, अमृतगति और वृत्तविलास की धर्मपरीक्षा ने यह बता दिया है कि हिन्दू पुराण की अविश्वस्त जीवन-कथाओं का किस चतुराई से काल्पनिक कथा द्वारा व्यंग चित्र खींचा जा सकता है।

अर्ध-ऐतिहासिक प्रबन्धों की एक चौथी श्रेणी या वर्ग है। भगवान् महावीर के बाद युग प्रधान आचार्य, अद्भुत सत्, महान् ग्रन्थकार, आश्रयदाता राजा और व्यापारवीर कि जिनने जैन सध की भिन्न-भिन्न परिस्थितियों और सदियों में अपूर्व सेवा की, हुए हैं। बाद में आने वाली

पीढ़ियों ने इन्हें किसी भी तरह भुलाया नहीं है। हम देखने हैं कि नन्दीमूत्र में भी प्रभावक युगप्रधानों का स्मरण किस श्रद्धा के साथ किया गया है। हरिवंश और कथावलि में भी महावीर के बाद के अनेक आचार्यों का उल्लेख है। ऋषिमंडल जैसे स्रोत में भी महान् सत्तों के नाम गिनाए गये हैं। बाद की सदियों में इन सब तत्वों ने मिल कर खूब ही साहित्य रचवाया है। परिशिष्टपूर्व, प्रभावक चरित्र और प्रबन्धचिन्तामणि ऐसे ही साहित्य के उत्तम नमूने हैं। यह सत्य है कि इतिहासज्ञ को इनकी अनेक ऐतिहासिक परिस्थितियों में से तथ्य खोज निकालना पड़ता है। महान् आचार्यों की ही भाँति जैन पवित्र तीर्थों का भी तीर्थकल्प जैसे ग्रन्थों में गौरवगान किया गया है।

सबसे अन्तिम श्रेणी या वर्ग में कथाकोश या कथा-संग्रह है। हमने ऊपर देख ही लिया है कि कुछ आगम, नियुक्ति, पद्मनय, आराधना शास्त्र आदि, औपदेशिक दार्ष्टान्तिक कहानियों का, आदर्श जीवनियों और वैरागों कथाओं का, किस प्रकार उल्लेख करते हैं। उपदेशमाला, उपदेशपद आदि जैसे अन्य ग्रन्थों ने भी यही परम्परा चालू रखी है। इससे टीकाकारों को उनकी कथाओं का पूर्ण विवरण देने की आवश्यकता हुई। कहीं-कहीं संस्कृत टीकाओं में पुरातन प्राकृत कथाएँ भी सुरक्षित कर दी गई हैं। टीकाकारों ने ही कहीं-कहीं प्राचीन सामग्री के आधार से, गद्य, पद्य या मिश्रित शैली में संस्कृत में ये कथाएँ लिखी हैं। इसने कतिपय टीका-ग्रन्थों को कथाओं का महान् संग्रहालय ही बना दिया है। हमें ज्ञात है कि आवश्यक, उत्तराध्ययन आदि की अनेक टीकाएँ इन कथाओं से पूरी सम्पन्न हैं। इन कथाओं का एक निश्चित धार्मिक वृत्ति का प्रचार करना ही लक्ष्य है और इसी लिए उपदेशक और प्रचारक अपने भाषणों, व्याख्यानो, धर्म-प्रवचनों में स्वतंत्र रूप से बिना किसी विशेष प्रसंग के भी इनका उपयोग कर सकते और करते हैं। पंचाख्यान जैसे कहानियों के जन्म संस्करण भी हुए हैं कि जो पंचतत्र जैसे ग्रन्थ के अग्रदूत थे। इसी प्रवृत्ति ने कथाओं के छोटे और बड़े संग्रहों को भी जन्म दिया कि जिनका सदर्थ ग्रन्थ की भाँति निरन्तर उपयोग किया जा सके। कई आचार्य तो इन कथाओं का अपने ही ढंग से, मूल कथा

का ढाँचा अस्खलित रखते हुए, कह देते थे। परिणामतः जैन भंडारों में अनेक हस्तलिखित कथाकोश आज उपलब्ध हैं। इनमें से अनेक के लेखकों का तो नाम तक अज्ञात है। बहुत ही थोड़े इस वर्ग के ग्रंथों का तुलनात्मक सूक्ष्म परीक्षण किया गया है। कुमारपालप्रतिबोध जैसे ग्रंथ विशिष्ट लक्ष्य से तैयार किए गए कथा संग्रह ही तो हैं। इन संग्रहों से कथा-विशेष स्वतंत्र संकरण में भी प्राप्त हैं। इन उपदेशी कथाओं के सिवा भी कुछ ऐसी कथाएँ हैं जिनका सबन्ध व्रतो याने धार्मिक और अनुष्ठानिक आचारों से है। व्रतो के फल का और उन व्यक्तियों का कि जिनने उनमें सफलता प्राप्त की, गौरवगान करने को एक अच्छी कथा रची जा सकती है। उत्तरकाल में इनमें साहित्यिक-रंग बिलकुल ही फीका पड़ गया था और वे मात्र यात्रिक एव निरस ही रह गईं और उसी रूप में वे संग्रहों में भी सुरक्षित हो गई हैं।

उपर्युक्त सभी वर्गों के ग्रंथों में सिवा कुछ अर्ध-ऐतिहासिकप्रबन्धों की कतिपय वाराएँ हमारा ध्यान विशेष रूप से आकर्षित करती हैं क्योंकि वे न तो सामान्य ही हैं

और न भारतीय साहित्य की अन्य शाखाओं में ही इतनी बहुलता से पाई जाती हैं। इनमें पृष्ठ पर पृष्ठ पूर्वभवों के वर्णन से, चित्रण से रंग दिये गए हैं। सर्व शक्ति सम्पन्न और सजग कर्म सिद्धान्त बड़ी सूक्ष्मता से सुकृतों और दुष्कृतों का लेखा रखता है कि जिनके परिणाम से कोई भी त्राण नहीं पा सकता है। जहाँ भी अवसर मिलता है सैद्धान्तिक बारीकियों और औपदेशिक आख्यानों के साथ धार्मिक उपदेश प्रस्तुत कर दिए जाते हैं। कथाओं में ही कथाएँ प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति इतनी अधिक दीख पड़ती है कि सावधान पाठक ही कथा के भिन्न-भिन्न तारों का ध्यान बराबर रख सकता है। दृष्टान्तिक कथाएँ यहाँ वहाँ दे दी जाती हैं और वे सामान्यतया लोक-कथाओं और पशु-पक्षियों की कथाओं से ही ली जाती हैं। सभी प्रसंगों में कथाकार मानव-मस्तिष्क की प्रचालना में सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि रखता हुआ प्रतीत होता है। वैराग्य की भावना सारे के सारे ग्रंथ में ओत-प्रोत रहती है और प्रत्येक ही कथा-नायक अगले जन्म में अच्छी स्थिति पाने के लिए नियमतः संसार त्याग प्रायः करता ही है। (क्रमशः) ★

देवगढ़ की जैन कला का सांस्कृतिक अध्ययन

श्री गोपीलाल अमर

परिचय

दि० ६-२-७० को सागर विश्वविद्यालय ने प्रो० भागचन्द्र को 'पीएच० डी०' की उपाधि से अलंकृत किया। प्रो० जैन शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, सीहोर (भोपाल म० प्र०) में संस्कृत विभाग के अध्यक्ष हैं। संस्कृत और संस्कृति में विद्वत्ता के अतिरिक्त समाज-सुधारके लिए भी उनकी प्रसिद्धि है। देवगढ़ पर शोधप्रबन्ध लिखकर डॉ० जैन ने विद्वानों को प्रबल प्रेरणा दी है कि वे समेत शिखर, गिरनार, शत्रुजय आदि जैसे तीर्थों का भी ऐसा अध्ययन करके उन्हें दुनिया भर के आकर्षण और उपयोग की वस्तु बनाएँ। इसीलिए, यद्यपि 'देवगढ़ की

जैनकला का सांस्कृतिक अध्ययन' शीघ्र प्रकाशित हो रहा है तथापि, उसका संक्षिप्त परिचय विद्वज्जगत् को देना आवश्यक है। तीनों परीक्षकों ने इस शोधप्रबन्ध की अत्यन्त प्रशंसा की है, अतः यहाँ उन्हीं के शब्द उद्धृत करता हूँ (हिन्दी अनुवाद के रूप में)।

परीक्षकों की सम्मतियाँ

(१) प्रो० कृष्णदत्त वाजपेजी, टैगोर प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग तथा निर्देशक, उत्खनन एवं अन्वेषण, सागर विश्व-विद्यालय :

"मैंने शोधप्रबन्ध का परीक्षण किया। प्रत्याशी

ने देवगढ़ के सभी जैन स्मारको और मूर्ति-अवशेषो का उसी स्थान पर जाकर अध्ययन किया है। उसने देवगढ़ के समीपवर्ती क्षेत्र का सर्वेक्षण किया है और देश के विभिन्न संग्रहालयों में प्राचीन भारतीय कलाग्रहों का अध्ययन किया है। “शोधप्रबन्ध नौ अध्याओं और पाच परिशिष्टों में विभाजित है। प्राचीन मन्दिरों की रेखा-कृति दर्शाने वाला एक नक्शा, और विभिन्न इसारतों तथा मूर्तियों को चित्रित करने के लिए १२० फोटो आदि दी गयी है। शोधप्रबन्ध के अन्त में सदर्थ ग्रन्थों की एक विस्तृत सूची भी है।

“यह देवगढ़ की जैन कला का प्रथम, व्यापक और समीक्षात्मक अध्ययन है। मन्दिरों तथा अन्य अवशेषों का विवरण सविस्तार है। इन स्मारकों पर आधारित सभी कला सम्बन्धी मुद्दे भलीभांति रखे गये हैं। जैन पूजा से सम्बद्ध विभिन्न समस्याओं, धार्मिक प्रतीकवाद, भट्टारक सस्था का उद्भव और विकास तथा कुछ मूर्तियों के समीकरण आदि पर वैज्ञानिक ढंग से विचार किया गया है। साहित्यिक प्रस्तुतीकरण यथोचित है।

“यह रचना प्राचीन भारतीय इतिहास और संस्कृति के लिए एक मौलिक योगदान है। श्री भागचन्द्र जैन के लिए सागर विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० की उपाधि समर्पित किये जाने की संस्तुति करते हुए मुझे प्रसन्नता का अनुभव होता है।”

(२) प्रो० सुधाकर चट्टोपाध्याय, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन :

“मैंने श्री भागचन्द्र जैन द्वारा सागर विश्वविद्यालय की पीएच० डी० उपाधि के लिए प्रस्तुत ‘देवगढ़ की जैनकला का सांस्कृतिक अध्ययन’ शीर्षक शोधप्रबन्ध का परीक्षण किया है। यह शोधप्रबन्ध नौ अध्यायों और पाँच परिशिष्टों में विभाजित है जो उसी स्थान पर जाकर किए गए अध्ययन पर आधारित हैं जो (अध्ययन) संकेतो और व्याख्याओं से समृद्ध अगणित विवरणों से परिपूर्ण है। जिन्होंने विभिन्न दृष्टिकोणों से (देवगढ़ का) अध्ययन किया है उन पूर्ववर्ती लेखकों का और अब तक लिखी गयी उसी (देवगढ़) सम्बन्धी उन संक्षिप्त पुस्तकों का जिन्हें अन्य विद्वान् लेखकों ने लिखा, लेखक (भागचन्द्र जैन) ने

बराबर ध्यान रखा है। इस क्षेत्र का प्रागितिहास काल से आधुनिक काल तक का इतिहास संक्षेप में लिखा गया है। इस सम्बन्ध में मन्दिर स्थापत्य के विकास का इतिहास अपने आप आ गया है और उसी पृष्ठभूमि पर जैन मन्दिर लिये गये हैं। इस विद्वान् ने बहुत से उलझे हुए विषयों को स्पष्टता से सुलझाया है। प्रभावपूर्ण जैन केन्द्र में हिन्दू मूर्तियों का पाया जाना स्वभावतः जिज्ञासा बढ़ाता है और इस सम्बन्ध में यह ध्यान देना होगा कि हिन्दू धर्म और जैन धर्म के बीच हमेशा सौहार्दपूर्ण संबंध रहे हैं, बौद्ध धर्म और खासकर उसकी महायान शाखा की तरह नहीं कि जिसमें ऐसी अनेक मूर्तियाँ बनायी गयी जिनमें हिन्दू देवों और देवियों को इरादतन हीन स्थिति में दिखाया गया है। जैसा कि एक श्रेष्ठ विद्वान् ने उल्लेख किया है, यही वह सच्चाई है जिसने जैन धर्म को अनेक असंगतियों के बावजूद उसकी जन्म-भूमि में बने रहने में मदद की, जबकि विरोधी दिशा पकड़ने से बौद्धधर्म को अपने जन्म-स्थान से निर्वासित होना पड़ा। इस स्थान (देवगढ़) के धार्मिक जीवन पर लिखा गया अध्याय निस्सन्देह प्रेरणादायक और सूचनापूर्ण बन पड़ा है; संघों के गिर्द केन्द्रित सामाजिक जीवन भी इतना ही महत्वपूर्ण है। यह स्थान इतिहास के स्त्रोतों से समृद्ध है जिसका महत्त्व मुश्किल से कम किया जा सकता है।

“लेखक ने विपुल सामग्री एकत्र की है और उसे वैज्ञानिक ढंग से सजोया है। शोधप्रबन्ध पर परिश्रम और मौलिक चिन्तन की छाप है और उस अध्ययन का प्रमाण है जिसे लेखक ने किया है।

“यह संस्तुति करने में मुझे प्रसन्नता है कि श्री भागचन्द्र जैन को सागर विश्वविद्यालय की पीएच० डी० उपाधि स्वीकृत की जाय।”

(३) श्री सतीशचन्द्र काला, निर्देशक, इलाहाबाद संग्रहालय, इलाहाबाद, उ० प्र० :

“मैंने श्री भागचन्द्र जैन के शोधप्रबन्ध ‘देवगढ़ की जैन कला का सांस्कृतिक अध्ययन’ की परीक्षा की और उसे उच्चकोटि का शोध कार्य पाया।

“श्री भागचन्द्र जैन डॉक्टर ऑफ फिलॉसफी की उपाधि पाने के योग्य व्यक्ति हैं।”

देवगढ़ की वर्तमान स्थिति

देवगढ़ उत्तर प्रदेश में, भाँसी जिले की ललितपुर तहसील की वेतवा नदी के किनारे स्थित है। मध्य रेलवे के दिल्ली-बम्बई मार्ग के ललितपुर स्टेशन से यह दक्षिण-पश्चिम में ३३ किलोमीटर की पक्की सड़क से जुड़ा है। प्राचीन देवगढ़ विन्ध्याचल के पश्चिमी छोर की एक शाखा पर गिरिदुर्ग के मध्य स्थित था, जबकि आज वह उसकी पश्चिमी उपत्यका में बसा हुआ है। जनसंख्या लगभग ३०० है। एक आधुनिक दिगम्बर जैन मन्दिर, जैन धर्मशाला, शासकीय विश्रामशृङ्ग और संग्रहालय है। जैन संग्रहालय भी बन रहा है। ग्राम के उत्तर में प्रसिद्ध दशावतार मन्दिर और शासकीय संग्रहालय तथा पूर्व में पहाड़ी के दक्षिण-पश्चिमी कोने पर प्राचीन जैन मन्दिर, मानस्तम्भ आदि हैं। इस पहाड़ी की अधित्यका को घेरे हुए एक विशाल प्राचीर है जिसके पश्चिम में कुजद्वार तथा पूर्व में हाथी दरवाजा के खडहर हैं। इनके मध्य एक प्राचीर और है जिसे 'दूसरा कोट' कहते हैं। इसी में जैन मन्दिर है। इस कोट में भी एक कोट था जो अब ध्वस्त हो गया है। इसके बीच एक प्राचीरनुमा दीवार बनायी गयी है जिसके दोनों ओर हजारों खंडित मूर्तियाँ जड़ी हैं। पहले प्राचीर के दक्षिण-पश्चिम में वराह मन्दिर और दक्षिण में वेतवा के किनारे नाहरघाटी और राज-घाटी हैं।

शोधप्रबन्ध का सारांश

आरम्भ में सात पृष्ठ की भूमिका है :

प्रथम अध्याय में देवगढ़ की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि स्पष्ट करने के पश्चात् उन सभी प्रयत्नों का उल्लेख किया गया है जो शासकीय और सामाजिक स्तर पर विभिन्न विद्वानों एवं संस्थानों द्वारा देवगढ़ की कला के अध्ययन के लिए किये गये हैं। देवगढ़ की प्राचीन स्थिति और नामों लुअच्छगिरि, कीर्तिनगर आदि पर प्रकाश डाला गया है और इतिहास लिखा गया है।

द्वितीय अध्याय में देवगढ़ के प्रत्येक जैन स्मारक का विशद और सूक्ष्म सर्वेक्षण तथा वर्णन है। जैनैतर स्मारकों

का संक्षिप्त वर्णन है।

तृतीय अध्याय में मन्दिर वास्तु के उद्भव और विकास तथा देवगढ़ के मन्दिरों की विशेषताओं को सविस्तार समीक्षात्मक विवेचन है।

चौथे अध्याय में तीर्थंकरों, यक्ष-यक्षियों, विद्यादेवियों, प्रतीकात्मक देव-देवियों आदि की मूर्तियों का सूक्ष्म वर्णन है।

पाचवे अध्याय में विद्याधरों, आचार्य-उपाध्यायों, साधु-साध्वियों, श्रावक-श्राविकाओं आदि की मूर्तियों, पाठशाला-दृश्यों, युग्मों, मण्डलियों, पशु-पक्षियों तथा अन्य जीव-जन्तुओं, प्रतीकों, आसनों, मुद्राओं आदि का अध्ययन है।

छठे अध्याय में देवगढ़ के प्राचीन समाज के धार्मिक जीवन का विस्तृत विवेचन है।

सातवें अध्याय में देवगढ़ के समाज और संस्कृति का सूक्ष्म अध्ययन है।

आठवे अध्याय में वहाँ के जैन स्मारकों पर प्राप्त अभिलेखों का वर्णन है।

नवें अध्याय में इस शोधप्रबन्ध का उपसंहार किया गया है।

अन्त में पाच परिशिष्ट, अभिलेखसूची और उनका संक्षिप्त विवरण, अभिलेखपाठ, सहायक ग्रन्थसूची, चित्रावलि का परिचय तथा चित्रावलि है।

प्रेरणा

यह शोधप्रबन्ध कितना महत्वपूर्ण है, इसका प्रमाण परीक्षक महोदयों की सम्मतियाँ हैं। देवगढ़ क्षेत्र के जैन प्रबन्धकर्ताओं ने इस ग्रंथ के लिखने में बहुत उत्साहवर्धन किया जो अन्य तीर्थ क्षेत्रों के प्रबन्धकों को अनुकरणीय है। नवोदित विद्वानों को भी ऐसे उपयोगी विषय शोध-कार्य को चुनने की प्रेरणा लेनी चाहिए। इस शोधप्रबन्ध के निर्देशक प्रो० कृष्णदत्त जी वाजपेयी से तो स्वयं जैन विद्वानों को भी बहुत कुछ सीखना चाहिए, जिनके निर्देशन में अनेक विद्वान् जैन विषयों पर भी शोध कर रहे हैं।

गुणकीर्ति कृत विवेकविलास

डा० विद्याधर जोहरापुरकर

ईडर के भट्टारक सकलकीर्ति के शिष्य भुवनकीर्ति हुए। इनके गुरुबधु ब्रह्म जिनदास की बहुत सी गुजराती रचनाएं उपलब्ध है। जिनदास के शिष्य गुणकीर्ति से मराठी में जैन साहित्य निर्माण की परम्परा प्रारम्भ हुई। सन् १४५० से १५०० के बीच गुणकीर्ति ने मराठी में पद्मपुराण, धर्माभूत, द्वादशानुप्रेक्षा, रुक्मिणीहरण, रामचंद्र फाग, नेमिनाथ पालना, नेमिनाथ जिनदीक्षा और घदागीत ये नौ रचनाएं लिखीं। पद्मपुराण के अध्यायों की पुष्पिकाओं से गुणकीर्ति की गुरुपरम्परा गुजरात के ईडर पोठ की है यह मालूम हुआ था तथा रुक्मिणीहरण के अन्तिम भाग में कवि ने अपना जन्म जैसवाल कुल में हुआ बताया है यह ज्ञात था। हाल ही में धर्माभूत की शक १५७१ में लिखित हस्तलिखित प्रति का बारीकी से अवलोकन करते समय हमें गुणकीर्ति की एक गुजराती कृति प्राप्त हुई। इसका नाम विवेक विलास है तथा इसमें २१४ पद्य हैं। ससार में मनुष्य जन्म की दुर्लभता बताकर कवि ने धर्म की उपादेयता पर बल दिया है तथा व्रतो और सदाचार के नियमों का पालन करने का उपदेश दिया है। रचना अत्यन्त सरल भाषा में है। इसकी अन्तिम प्रशस्ति से कवि के धार्मिक परिवार का परिचय मिलता है—ज्ञानदाम, नेमिदास, सिवराज धनश्री और राजमती इस ग्रन्थ का पठन, और प्रसार करेंगे ऐसी आशा कवि प्रकट करता है। अपना जन्म पूर्व देश के जैसवाल जाति के पुर्गिया

गोत्र में हुआ था यह भी कवि ने बताया है। आगे हम विवेकविलास का प्रारम्भ और अन्तिम भाग दे रहे हैं जिससे ये सब बातें स्पष्ट होती हैं। गुणकीर्ति की मराठी रचनाओं का विस्तृत परिचय डा० सुभाषचन्द्र अक्कोले के शोधप्रबन्ध 'प्राचीन मराठी जैन साहित्य' (सुविचार प्रकाशन मंडल नागपुर-पूना द्वारा सन् १९६८ में प्रकाशित) में उपलब्ध है।

प्रारम्भ—

पहिलु अरिहंतदेव धर्माधर्म देखाड्यो भेउ ।

दूजे प्रणमउ सिद्धसभाउ अष्ट करम हणि त्रिभुवनि राउ ॥

अन्त—

सरसति गछी गण बलात्कार श्रीभुवनकीरति गुरु अवतार ।
तसु गुरुबंधव ब्रह्म जिनदास तेहतणे परसावे गुणह निवास ॥
पुरिया गोत्र विख्यात विशाल पुरव देश वसे जैसवाल ।
तिणे कुले गुणकीरति हुवा सूरि परमानदे हियेडेलु पूरि ॥
कही चोपई येह विवेकविलास पढो गुणो भविषण गुणवास ।
बाई धनश्रीय करो प्रकास दिण दिण भणिजो ब्रह्म ज्ञानदास ॥
भविषण जण भावे तम्हे भणो नेमिदास विस्तारो घणो ।
सजन वरग मणो येक चित्त विवेकविलासे करो जीवहित ॥
हित करो हवे जीवणो सुणो पंडित सिवराज ।
पढो बहिनि राजमति जिम सरे तम्ह काज ॥

इति श्रीविवेकविलासरास समाप्त ॥



विवेक

सज्जन और दुर्जन अपने ही सुगुण और दुर्गुणों के कारण होता है। सर्प के दांतों में विष होता है, बिच्छू के डंक में और मक्खी के मुँह में विष होता है। किन्तु दुर्जन के सब शरीर में विष रहता है। विषले जन्तु अग्न्यों द्वारा पीड़ित होने पर अपने अस्त्र का उपयोग करते हैं। किन्तु दुर्जन बिना किसी कारण के उसका प्रहार करते हैं। अतः हमें दुर्जनों से बचने का प्रयत्न करते रहना चाहिए। और आपद आने पर विवेक को नहीं भूलना चाहिए।

तिजारा : एक ऐतिहासिक परिचय

परमानन्द जैन शास्त्री

वर्तमान तिजारा अलवर जिले के उत्तर-पूर्व में दिल्ली और अलवर के मध्य अवस्थित है। यह एक प्राचीन नगर रहा है। इसे कब और किसने बसाया, इसका क्या प्रामाणिक इतिवृत्त है? यह अभी तक निश्चित नहीं हो सका। आरक्योलाजिकल सर्वे माग २० में लिखा है कि महाभारत काल में यादववंश के तेजपाल ने इस नगर को बसाया। यहाँ यादवों का बहुत काल तक शासन भी रहा है।

मध्ययुगीन भारतीय इतिहास का अध्ययन करने से यह स्पष्ट बोध होता है कि हिन्दू राजाओं का सभी धर्मों को आश्रय मिलता था। उन राजाओं ने कभी बलपूर्वक धर्मपरिवर्तन करने का उपक्रम नहीं किया। किन्तु दक्षिण भारत में शैवों और वैष्णवों के समय जैनों और बौद्धों को अनन्त कष्ट सहने पड़े और अपने धर्म की जो महान् क्षति उठानी पड़ी, तथा धर्मपरिवर्तन करना पड़ा, धर्मपरिवर्तन न करने पर अपने जीवन और सम्पत्ति दोनों से हाथ धोने पड़े, इन दुखान्त घटनाओं का विचार आते ही रोमटे खड़े हो जाते हैं। बौद्धधर्म को तो भारत से निर्वासित होना ही पड़ा, किन्तु जैनधर्म अपनी महान् क्षति उठाकर भी भारत में बना रहा। कुछ राज्यवंशों के राज्यकाल में सभी धर्मवाले सानन्द रहे हैं।

उस समय अनेक सम्प्रदायों की तरह तिजारा में भी जैन धर्मावलम्बी अपने धर्म का अवलम्बन करते हुए जीवन व्यतीत करते थे। उस समय जिन मंदिर को 'देहरा' नाम से सम्बोधित किया जाता था। मुस्लिम शासनकाल में भी तिजारा का विशेष महत्व रहा है। यह उनका प्रादेशिक शासनकेन्द्र रहा है। मुगलों के शासनकाल में तिजारा शाही खानदान के रहने योग्य समझा गया, अतः एव उसे 'हवेली तिजारा' के नाम से उल्लेखित किया गया। उस समय तिजारा एक सूबे का केन्द्र था और उसके आधीन १८ परगने थे।

सन् १४१५ (वि० सं० १४७२) में बहलोल लोदी जब दिल्ली का शासक बना, तब उसने मेवात के इलाके में से सात परगने तातारखां को प्रदान किये थे। उसने तिजारा को अपना केन्द्र बनाया था। तातारखां का मकबरा नगर से लगभग १ मील दूर पूर्व दिशा में मौजा कालिया में अवस्थित है।

बहलोल लोदी की मृत्यु के बाद सिकन्दर लोदी सन् १४८५ (वि० सं० १५३२) में दिल्ली के तख्त पर बैठा। उसने तिजारे का इलाका अपने छोटे भाई अलाउद्दीन (अलमखां) को दिया। सन् १४९८ में अलाउद्दीन ने अपने नाम पर 'अलावलपुर' नाम का गांव बसाया जिसके, भग्नावशेष आज भी तिजारा के उत्तर-पूर्व में उपलब्ध होते हैं।

तिजारा के शासक हसनखां मेवाती ने सन् १५२७ में मुगल सम्राट् बाबर के विरुद्ध कनवा के मैदान में राणा सांगा की सहायता की थी।

सन् १५३१ में हुमायूँ ने अपने छोटे भाई हिन्दाल को मेवात का शासक नियुक्त किया। उसने तिजारा में रहना प्रारंभ किया। हिन्दाल कलाप्रिय था। उसने काजी का बन्ध, लाल मस्जिद, अंधेरी उजाली नाम का एक बंगला बनवाया था और उसके पास ही एक बाग लगाया, जिसकी पक्की दीवारें आज भी वहाँ पाई जाती हैं।

सन् १५४० में शेरशाह सूरी ने मुगलों को भारत से भगा दिया था। उस समय हिन्दाल को भी तिजारा छोड़ कर बाहर भागना पड़ा था, जिससे उक्त लाल मस्जिद का निर्माण अधूरा ही रह गया था। इनने सन् १५३९ से १५४५ तक राज्य किया है।

सं० १५८७ से १५९६ तक शेरशाह ने राज्य किया है। और सं० १५९७ से १६०२ तक इस्लाम शाह ने शासन चलाया। इसके शासनकाल में सं० १६०० फाल्गुन बदी दोइज शुक्रवार के दिन तिजारा निवासी काष्ठासंघ

माथुरान्वय पुष्कर गण के भट्टारक मलयकीर्ति गुणभद्र की आम्नाय में अग्रवालवंशी गर्गगोत्रीय साहुतोला भार्या रानी पुत्र जिनदास वली शोभा, उसके पांच पुत्र थे। महादास, गेल्हा, नुगेराज, जुगराज और साधुसिंह। इनमें अन्तिम पुत्र साधुसिंह के परिवारवालों ने (साधु लोचन और इन्दु श्री ने अपने पढ़ने के लिए एवं ज्ञानावरणी कर्मक्षयार्थ जय-मित्र हल का वर्धमानकाव्य लिखवाया था, जिसकी प्रति जैन सिद्धान्त भवन आरा में विद्यमान है।^१

अकबर के शासनकाल में रिवाड़ी निवासी हेमू (शिर-शाह सूरी का भतीजा) का अकबर द्वारा बध करा देने पर तिजारा में मलानमीर मुहम्मद को भेजा गया। उसने हेमू की सारी सम्पत्ति पर अधिकार कर लिया, और तिजारा तथा अलावलपुर के सभी पठानों को मरवा दिया। अकबरने हसनखी मेवाती की भतीजी से शादी की, और मिर्जा हिन्दाल को पुन. तिजारा का शासक बनाया।

१ अथ सवत्सरेस्मिन श्रीनृपविक्रमादित्यराज्ये संवत्सर १६०० तव वर्षेफाल्गुनमासे कृष्णपक्षे द्वितीयायां तिथौ शुक्रवासरे श्री तिजारास्थान वास्तव्यो साहि आलमुराज्य प्रवर्तमाने श्रीकाष्ठासंघे माथुरान्वये पुष्करगणे भट्टारक श्रीमलयकीर्तिदेवाः तत्पट्टे भट्टारक श्रीगुणभद्रदेवाः तदा-म्नाये अग्रोतकान्वये गर्गगोत्रे साहुतोल्हा भार्या रानी तस्य पुत्रः जिनदासः तस्य भार्या शोभा, तत्पुत्राः पञ्च। प्रथम-पुत्र साधुः महादास, द्वितीयपुत्रः साधुगेल्हा, तृतीयपुत्रः साधु नुगेराजः, चतुर्थ पुत्रः तेजगुः, तस्य भार्या लाडो, जिनदास द्वितीयपुत्रः गेल्हा तस्य भार्या खीमाही। तस्य पुत्रः दोमानु, तस्य भार्या भागो, तस्य पुत्रः नगेराजः। तस्य भार्या घणपालही, पुत्राः चत्वारः प्रथमपुत्रो जीबन्दुः तस्य भार्या भीख्यो द्वितीय पुत्रः अभियपालः। तृतीयपुत्रः गजः चतुर्थो दरगहमलुः। जिनदासपुत्रः चतुर्थः जगेराजः, तस्य भार्या घीनाही, तस्य तृतीय वृच्छः तस्य भार्या घीनाही तस्य पुत्रः वृच्छा तस्य भार्या बादिनी, द्वितीयपुत्रः मेसक तृतीय तोतू। जिनदास पंचमपुत्रः साधुसिंह तस्य [३] भार्या.....। दूतस्य भार्या लक्ष्मणही तस्य....।

चतुर्थ भार्या कपूरी। एतेषां मध्ये साधुसोतून इन्द्रश्री तासु जिनदास की कर्मक्षयार्थ आत्मपठनार्थ च वर्धमानकाव्य लिख्यते।
— प्रशस्तिसग्रह, आरा, पृ० १८७

पृष्ठान्त ००११

अकबर के शासनकाल में हजरत गदनशाह भी तिजारा आये। इनका भी मजार तिजारा के उत्तर में 'टपूकला' सड़क के दाहिनी ओर बना हुआ दृष्टिगोचर होता है। बाजी मदन की दरगाह के लिए बादशाह ने १५० बीघा जमीन प्रदान की थी।

अकबर राजनीति का अच्छा विद्वान था, उसने अपनी सल्तनत को बढ़ाने और उसकी स्थिरता के लिए हिन्दू राजाओं से अच्छा सम्पर्क स्थापित किया बाँों राजपूतों से भी स्नेह बढ़ाया, उन्हें अपने शासन में अच्छे अच्छे ओहदों पर नियुक्त किया। इन सबके सहयोग से अकबर का साम्राज्य एवं विभव जहाँ वृद्धिगत हुआ, वहाँ उसने उदारता का भी आश्रय लिया। जैनधर्म पर उसकी गहरी श्रद्धा पड़ी, उसका कारण जैन साधु हीर विजयजी का सम्बन्ध था, वह उन्हें बहुत मानता था। उनके उप-देश से उसने अहिंसा पर यकीन किया, और अपने राज्य-काल में उसने कभी मांस व शराब को प्रेरणा हित नहीं दिया, जीवहिंसा को रोकने का प्रयत्न किया। और खास कर जैन पर्वों पर हिंसा न करने के फर्मान जारी किये। यह सब कार्य उसने मानवता की रक्षा के लिए किया। इसी से लोक में उसकी महती प्रशंसा हुई। उसके बाद शाहजहाँ दिल्ली का बादशाह बना। इसने भी अपने पिता की नीति पर चलने का प्रयास किया। यह भी एक कलाप्रिय शासक था। इसके शासनकाल में खलीलउल्ला खां को तिजारा का हाकिम बनाया गया। इसने गदनशाह की खानगाह का निर्माण कराया। शाहजहाँ ने सं० १६८५ से १७१५ तक राज्य किया था।

शाहजहाँ के बाद राज्य का शासनभार जहाँगीर को प्राप्त हुआ। इसने भी अपने पिता की धार्मिक नीति का अनुसरण किया, जो उसकी सहिष्णुता और उदारता पर आधारित था। यह भी एक कलाप्रिय शासक था। इसके राज्यकाल में जैन संस्कृति पर अनेक कार्य सम्पन्न हुए। नये ग्रंथ भी बनाए गए। धार्मिक स्वतंत्रता भी रही।

किन्तु औरंगजेब के शासन समय में सन् १७०७ में चौधरी इकरामखां नामक खानजादा ने तिजारा के मुगल हाकिम के नक्कारा व निशान छीन लिए और उसे वहाँ से निकाल दिया। और सेना ने उसे पकड़ कर उसका बध

कर दिया। इसके राज्यकाल में हिन्दुओं और जैनियों पर अनेक अत्याचार किए गए। अनेक हिन्दुओं को मुसलमान बनाया गया। नहीं बनने पर उनकी हत्या की गई, मंदिरों का बिनाश और मूर्तियों की तोड़-फोड़ कर जघन्य कार्य किया गया।

तिजारा का जैन मन्दिर भी घोरंगजेब की धर्मान्धता के कारण उसके हाकिम की आज्ञानुसार विध्वंस कर दिया गया। देहरे की भव्य इमारत खंडित कर दी गई। जो मूर्तियाँ उस समय खंडित-अखंडित बच गई, उन्हें उसी में दबा दिया गया। देहरे के भग्नावशेष खण्डहर के रूप में परिणत हो गये। घोरंगजेब की मृत्यु के बाद मुगल साम्राज्य का पतन हो गया। उसके उत्तराधिकारी अयोग्य सिद्ध हुए। उस समय भरतपुर का राजा चूड़ामन जाट था। उसने तिजारा व भलावलपुर पर आक्रमण किया, उसमें जन-धन की बहुत क्षति हुई। शान्ति होने पर भलावलपुर निवासी भी तिजारा में आकर बस गए। उस समय से भलावलपुर बीरान पड़ा है।

सन् १७६१ में तिजारा में मराठों का शासन कुछ समय के लिए हो गया किन्तु सन् १७६७ में जाटों का पुनः अधिकार हो गया।

सन् १८०३ में आसावाडी की लड़ाई में अंग्रेजों की सहायता करने के परिणामस्वरूप सन् १८०५ में तिजारा और किशनगढ़ द्वितीय अलवरनरेश राव राजा वखतावर सिंहजी को मिले। और तिजारा राजपूत राजा वखतावर सिंह की राजधानी बना। इससे तिजारा के लोगों को राहत मिली, समय सुख और शान्ति से व्यतीत होने लगा। उस समय वहाँ के निवासी जैनियों में भी अपने धर्म की कुछ जागृति हुई और नगर में जैन मन्दिर के निर्माण करने का विचार स्थिर तो हुआ किन्तु नगर के के मध्य में मन्दिर के लिए भूमि मात्र खरीद कर ही रह गए किन्तु मन्दिर निर्माण करने का साहस नहीं हुआ। लार्ड विलियस वेंटिंग के शासन काल में भारत में सब जगह शान्ति रही, जनता को कुछ राहत मिली तिजारा के शासक बलवंतसिंह जी ने वहाँ पहाड़ी पर एक किले का निर्माण किया, और अपने रहने के लिए चार मंजिल का एक महल भी बनवाया। अतएव सन् १८३८ में जैन मन्दिर के निर्माण का शिलान्यास

किया गया। और मन्दिर की प्रथम मंजिल बन जाने पर, उसमें वैष्णवीय स्थानों में रखी हुई मूर्तियों को बिराजनाय कर दिया गया। उनमें एक मूर्ति सं० १५४८ की भ० जिनचन्द्र और जीवराज पापड़ीवाल द्वारा प्रतिष्ठित भगवान् पार्वनाथ की भी है।

जैनमन्दिर प्रतिष्ठा और रचोत्सव

सन् १८५३-५५ (सं० १६१०-१२) के मध्य मन्दिर की दूसरी मंजिल बन कर तैयार हो गई। और उस पर विशाल शिखर का निर्माण किया गया। कहा जाता है कि इस मन्दिर की प्रतिष्ठा का कार्य सं० १६१६ में जयपुर के प्रसिद्ध विद्वान् पं० सदासुखदासजी से सम्पन्न करायी गयी थी। विशाल रथ का भी आयोजन किया गया था। पं० सदासुखदास जी के संतोषजनक मूर्ति के विद्वान् थे। यदि उनके द्वारा यह प्रतिष्ठा कार्य सम्पन्न हुआ, तो एक बड़ी बात है। यद्यपि सदासुखदास जी का स्वर्गवास सं० १६२४ में हुआ है। इसलिए प्रतिष्ठा का कार्य उनके द्वारा होना संभव है।

प्राचीन देहरे का समुद्धरण

सन् १६४४ में सूरदास धनपाल जी खेसड़ा निवासी तिजारा पधारे, वे निमित्त शास्त्र के ज्ञाता थे। देहरे के सम्बन्ध में पूछने पर उन्होंने बतलाया कि—खण्डहर में जैन मूर्तियाँ दबी हुई हैं, परन्तु उनका इस समय निष्कासन कार्य व्यर्थ होगा। हाँ वर्तमान राज्य परिवर्तन के पश्चात् स्वयं ऐसे कारण बनेंगे, जिससे खुदाई करने से आपको मूर्तियाँ उपलब्ध हो जावेंगी। तदनुसार सं० २०१३ (सन् १६२६) में तीन प्राचीन खंडित मूर्तियाँ खुदाई में मिलीं। और कुछ समय पश्चात् खुदाई करने पर चन्द्रप्रभ भगवान की एक सातशय अखंडित मूर्ति भी प्राप्त हुई। जो सं० १५५४ वंशाख शुक्ला तृतिया की प्रतिष्ठित है। उसका लेख अभी तक भी ठीक रूप में नहीं पढ़ा जा सका, इसलिए उसे यहाँ नहीं दिया गया। आजकल तिजारा एक तीर्थ जैसा स्थल बना हुआ है।

तिजारा के पास ही इन्दौर (इन्दौर) नाम का गांव था, यह ग्राम भी सं० १५०० में अच्छा समृद्ध था। वहाँ बैठकर भ० यशःकीर्ति ने हरिवंशपुराण की रचना की थी।

माली रासो

[प्रस्तुत रचना एक रूपक खण्ड काव्य है, जिसमें आत्मा रूपी माली भव रूपी वृक्ष को सींचता है : उस वृक्ष की चार डालियाँ हैं जो चारों गतियों की परिन्नायक हैं। उन चारों ही डालियों पर फल लगे हुए हैं। काल माली से कहता है कि रे माली ! तू इस वृक्ष को मत सींच, इसके फल ऊपरसे सुन्दर प्रतीत होते हैं, उनमें अन्दर कुछ भी सार नहीं है। यह मिथ्या बीज उगा है, मोह के कारण बंधक है, इसके फलों का स्वाद भी अच्छा नहीं है। चतुर्गति का बंध करानेवाला है। अतः हे माली, तू इसको छोड़, किन्तु माली को फल चखने की भूख थी, अतः वह अपनी कमर को अच्छी तरह बाँध कर उस भवतरु पर चढ़ गया। उसने मुर डाली पर चढ़ कर हंस हंस के फल खाये अन्त समय में जब माला कुम्हलाई तो वह उस समय भुर भुर कर मरा। पश्चात् वह नर डाली पर चढ़ा, और उसके सुख दुख फलों का उपभोग किया। अन्त में परिग्रह के वियोग में मैं मैं करता हुआ मृत्यु को प्राप्त हुआ। फिर वह तिर्यच डाली पर चढ़ा, वहा पर उसने सिर धुन धुन कर फल खाये, क्षणमात्र सुख के कारण सागरोपर्यंत दुःसह दुख सहे। अन्त में कुमरण किया, और भयावनी नरक डाली पर चढ़ा, अनन्त दुख सहे तो भी विश्राम नहीं मिला। इस तरह इस मालीरूपी जीव ने लोभवश चारों गतियों में भ्रमण किया, अनन्त दुख सहे, किन्तु उनसे छूट-कारा नहीं मिला। माली रूपी लोभी मधुकर चारो गतियों के फलों में रागी रहा। उसी तरह यह जीव भी शुभा-शुभ कर्मोंके पुण्य-पाप फल का अर्जन करता है, उनके सुख-दुख फलों का चारों गतियों में उपभोग करता हुआ, ससार में परिभ्रमण करता है। श्री गुरु उसे बार बार समझाते हैं किन्तु उसके अन्तःकरण में जब तक नहीं लगता तबतक वह दुख का ही पात्र बना रहता है। अतएव सुगुरु उसे समझा कर कहते हैं कि हे आत्मन् ! अब तू इन दुःखों से यदि छूटना चाहता है तो सुदर्शन रूपी बीज को बो, और

सींचने से वह धर्मअंकुर उत्पन्न होगा। वैराग कुदाली लेकर चारित भूमिमें कुआ खोद, और उसमें भाँवरूपी रहट लगा, व्रत रूपी बैलों के कन्धों पर श्रुत रूपी जुआ रखकर समता रूपों कल में अभय रूपी ओगण देकर उसे चला, उपशम रूपी नेज लगा कर क्षमामय घटमाल लगा कर उसे सींच, दया रूपी जल काढ़ कर सींच, बीज की यत्न से रक्षा कर, संयम रूपी वाडी लगा शील की सदा रक्षा कर तथा क्रोध रूपी अग्नि से दूर रह। माया वेल पर मत चढ़। उत्तम क्षमादि दश धर्मों का पालन कर। तब तुझे अक्षय सुख की प्राप्ति होगी।

इस रूपक काव्य के रचयिता कवि जिनदास हैं, इनकी कई रचनाएँ हैं। जोगिरासो भी इन्हीं की रचना है। यद्यपि कविता अच्छी है, परन्तु उसमें राजस्थानी और गुजराती का प्रभाव स्पष्ट भलकता है। इनका समय १७वीं शताब्दी है। जिनदास नाम के कई विद्वान हुए हैं, जिनका परिचय फिर कभी कराया जायगा। —संपादक]

जिनदासकृत माली रासो

भव-तरु सींचइ मालिया तहि तरु चारिजु डाल ।
चढ़ डाल्या फल जुअ जुआ ते फल राखइ काल ॥१
काल कहइ सुण मालिया, सींचि न याहि गवार ।
देखन हो को बहडहो, भितरि नाहि सुसार ॥२
मिथ्या बीजह ऊगियो मोह-महा जड बंधि ।
फलमइ स्वाद जु जुअजुआ, चहुंगति केरउ बंध ॥३
माली बरज्यो ना रहइ, फल चाखण की भूख ।
बांधि सुगाढी गड़गदी कूँदि चढ़घो भव-रूख ॥४
मुर-डाली चढ़ि मालिया, हंसि हंसि जे फल खाइ ।
अति सुमूरइ कंठिरइ जब माला कुम्हलाई ॥५
पुन नर डाली सो चढ़घो, दुख-सुख फल ले भोग ।
अन्त समय मैं मैं करे, परिग्रह तणउ वियोग ॥६

तिरियच्च-डाली फल घणा सिर घुणि माली खाइ ।
 सुख लव-दुख-सागर-मरघो अंति कुमरण मराइ ॥७
 नारय-डाल भयावणी फल केवल दुख देइ ।
 उपरा उपरी खंडि गइ खिणि विश्राम न होइ ॥८
 इय चहुंगति फल भोगवइ, खात न भाजइ भूख ।
 सुख सुपनइ परतरवरइ बहुडि चढ्यो भव-रुख ॥९
 जिम सु जुवारी जुवा बिना एक घडो न रहाइ ।
 जिम जिम हारइ पापि यों तिम तिम तहि फडि जाइ ॥१०
 चहुंगति-कन्या कर ग्रहो लावो लगन लिखाइ ।
 माली दुखको दोरइ जाणि कि भांवरि लेइ ? ॥११
 माली मधुकर लोभियो चहुंगति कुसुमहं लीण ।
 विषय तणइ वसि रुण-रुणइ फिरि फिरि दुःखहं खीण ॥१२
 कर्म मृदगी मांदत्यो जहि छडि देसी धधाउ ।
 नाचण हारो बापुडो नहि छडि देसी पांड ॥१३
 जो जिह कइ वसि बधियो सो तिहं करघो करेइ ।
 कर्महं वसिडा जीवडो किमहि न दुःख सहेइ ॥१४
 जइ दुखी वोहइ मालिया ! सुख को साध करेइ ।
 तो सुणि एक कहाणरी जिम पुण पुण न मरेइ ॥१५
 काया कयारो किन करइ बीज सुदर्शन बोइ ।
 सौचण कारण मालिया धर्म अकुरो होइ ॥१६

गहि बंराग कुवालडी खोदिसु चारित रूप ।
 भावं रहंट व्रत बेलकर दयाकंधइ श्रुत जूप ॥१७
 समता कल बिड़ ठोकियो अभय सु ऊगण वेइ ।
 अनुभव ह्यपि जु टूपड़ी, सुरति करे कर लेइ ॥१८
 उपशम (लेज-नेज) लगाइयो बांधि क्षमा घटमाल ।
 काढ़ि दया-जल निर्मली सोचिय काय कयार ॥२०
 बीज रतन को जतन करि, करि दिड़ संजम वाड़ि ।
 शील सदा रख बालडो वरत मयण मृग ताड़ि ॥२१
 क्रोध दवागिनि वरजियो वरजियो मान तुषार ।
 माया वेली मति चढो जिनि देशो लोभ टपार ॥२२
 जिम सु अंकुरो वरधतो अंतर करइ न कोइ ।
 समय समय जीवमालिया धर्म महातर होइ ॥२३
 सत्यरु शीच तिहां जडो महुउ जाणि कि पान ।
 अज्जउ साख सुहावणी तप तरुवर परिमाण ॥२४
 त्यागमु चहु दिसि मोरियो आकिचन तनु मान ।
 बंभ सुशीतल छांहडी ज्ञान कुसुम महकत ॥२५
 धरम महातर होय थे बहु धिस्तार लहेय ।
 अविनाशी सुखकारणे मोख महाफल देय ॥२६
 भर्ण जिणदास सुराधि ज्यों दरसन बीज संभाल ।
 वछितफल जिह लागसी किसही भउ तब काल ॥२७



“सन् १९७१ की जनगणना के समय धर्म के
 रखाना नं० १० में “जैन” लिखाकर सही आँकड़े
 इकट्ठा करने में सरकार की मदद करें ॥

जैनों में सती प्रथा

बम्पालाल सिघई, 'पुरन्दर'

जैनधर्म की दृष्टि से पति के शव के साथ पत्नि का अग्निदाह अज्ञानजन्य आत्म-घात है। परन्तु राजपूतों तथा अन्य जातियों के निकट संपर्क में इस प्रथा ने जैन समाज में भी प्रवेश प्राप्त कर लिया था। मध्यकाल में अनेक जैन महिलाएं सती हुईं।

आधुनिक काल में भारत के तत्कालीन गवर्नर जनरल सार्जेंट विलियम बेंटिंग ने सन् १८२६ ई० में ७ दिसम्बर के दिन सतीप्रथा को नियम विरुद्ध घोषित किया। किन्तु रुढ़िवाज कहीं-कहीं सती होने के समाचार मिलते रहते हैं। परन्तु जैन समाज में तब से इस प्रथा का लोप हो गया और एक भी सती होने का समाचार नहीं मिला।

इन पंक्तियों के लेखक की जन्मभूमि चंदेरी (वर्तमान मध्यप्रदेश, भू० पू० ग्वालियर राज्य के गुना जिले में) है जहां खोबीसी मन्दिर है, जो भारत भर में विख्यात है प्रतिवर्ष उत्तर भारत तथा दक्षिण के सैकड़ों तीर्थयात्री दर्शन लाभ लेते हैं।

इस मन्दिर में बचपन से एक स्तम्भ देखते रहे जिस पर एक अभिलेख भी है परन्तु उसे पढ़ने की कभी चेष्टा नहीं की। स्तम्भ का कुछ भाग भूमिगत है। सबसे ऊपर छोटीसी जिनमूर्ति उत्कीर्ण है। जिसके नीचे एक पलंग पर कोई लेटा है। बगल में एक नारी की मूर्ति है, जिसके हाथ पलंग पर बैठे हुए नर के चरणों पर हैं। लेखक ने पलंग पर बैठे हुए नर को कभी ध्यान से नहीं देखा और उसे जिनमाता तथा नारि को देवी अनुमित करता रहा। इस वर्ष वाराणसी निवासी पं० फूलचन्द्रजी सिद्धातशास्त्री (जो परवार जाति का इतिहास लिख रहे हैं) को लेकर चंदेरी गया। मन्दिर के मूर्तियों के लेख लिये। उक्त स्तम्भ का लेख लिया जो इस प्रकार है—

“सिद्धि; सवत् १३५० अस्विन सुदि ४ शनी अमा[ग्रो]- तक सा० नागदेव सुत धमो...मणि सहगमनं बभूव...”

संवत् से तात्पर्य संवत्, अस्विन से आश्विन, अग्रोतक से अग्रवाल, भा...से भार्या, सहगमन से सती होना है।

उक्त शिला लेख को पं० फूलचन्द्रजी के साथ पढ़ कर लेखक का भ्रम दूर हो गया और अनुमान किया कि स्तम्भ सती के किसी चबूतरे से जिनेन्द्रमूर्ति देखकर कभी किसी ने जैन मन्दिर में गाड़ दिया होगा।

जैनों में सती होने का यह प्रबल प्रमाण प्राप्त हुआ किन्तु एक शिलालेख के बल पर तो सती प्रथा के अस्तित्व की घोषणा नहीं की जा सकती थी। आजकल मध्यप्रदेश और राजस्थान में भट्टारकों पर शोधकार्य हाथ में है। इसी क्रम में लेखक को प्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ और इतिहासविद् श्री अग्रचन्द्र नाहटा द्वारा सम्पादित बीकानेर जैन लेख संग्रह (प्रथमावृत्ति, वीराब्द २४८२) पढ़ने का अवसर मिला। इस संग्रह में २६१७ अभिलेख बीकानेर राज्य के और १७१ अभिलेख जैसलमेर राज्य के संग्रहीत हैं। आरम्भ में नाहटा जी की भूमिका तथा डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल का प्राक्कथन है।

नाहटा बंधुओं (अग्रचन्द्र-भवरलाल) ने लिखा है (पृ० ९४)—“असवाल जाति वस्तुतः क्षत्रिय कौम है। उनकी वीर महिलायें देहमूर्च्छा को त्याग कर शील रक्षा के निमित्त पतिदेह के साथ हँसते-हँसते प्राण न्योछावर कर दें तो आश्चर्य ही क्या है।”.....“सती स्मारकों में हमने सबसे बड़ा स्मारक भुंभणू में देखा है जो बहुत विशाल स्थान पर है। हजारों मील से यात्री लोग आया करते हैं। यह राणी सती अग्रवाल जाति की है।”

“बीकानेर में जितने सती स्मारक प्राप्त हैं, सबमें घुड़सवार पति और उसके समक्ष हाथ जोड़े स्त्री खड़ी है।”

“युगप्रधान जिनदत्तसूरि जी के समय में भी सती प्रथा प्रचलित थी। पट्टावलियों में उल्लेख मिलता है कि जब वे भुजणू पधारे श्रीमाल जाति की एक बालविधवा

सती होने की तैयारी में थी जिसे गुरुदेव ने उपदेश द्वारा बचाकर जैन साध्वी बनाई थी ।”

इसके आगे संवतानुक्रम से ३० लेखों का वर्गीकरण दिया है, जिसे विस्तारमय से हम यहाँ नहीं दे रहे हैं । जिन्हें दे रहे हैं । रुचिबन्तजन उक्त ग्रंथ में देखें ।

एक बात बड़ी विचित्र जान पड़ी जिसका उल्लेख आवश्यक है; क्योंकि इसके पूर्व किसी इतिहास में पड़ने में नहीं आयी थी ।

“सं० १५५७ में जेठ सुदी ७ को वैद गोत्रीय माणकदे ने अपने पुत्र के साथ सहमरण किया । सं० १८६६ में जेठ सुदी १५ को सुराणागोत्रीय सवलादेवी ने अपने पुत्र चैनरूप के साथ सहमरण किया । जिस प्रकार पतिदेह के साथ सहमरण में प्रणय की प्रधानता है, उसी प्रकार मातृ-सती होने में पुत्र वात्सल्य की प्रधानता है ।”

ऐसा नाहटाजी ने लिखा है किन्तु लेखक का अनुमान है कि पति के मृत्यु के समय उक्त महिलाओं ने सहगमन

का हठ किया होगा, तो हितैषियों ने उनको पुत्र पालन का कर्तव्य बताकर सती होने से वर्जित किया होगा । दुर्भाग्य से पुत्र भी मृत्यु को प्राप्त हुआ तो माताओं को जीवन भाररूप प्रतीत होने लगा होगा । उस निराश अवस्था में मातृसती की तत्काल परम्परा चली होगी ।

श्री नाहटाजी को माता-सती का एक लेख माहेश्वरी (राजस्थान की एक वैष्णव वैश्य) जाति का भी मिला है । महामहोपाध्याय पं० गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा ने बीकानेर के इतिहास में सं० १४२९ माघसुदि ५ का एक लेख दिया है (सा० रुद्रा के पुत्र सा० कणा की मृत्यु) जो उन्हें कोड़मदे सर पर मिला है । रावजोधा ने अपनी माता कोड़मदे की स्मृति में यह ताल सं० १५१६ में बनवाया था । यह बीकानेर से १५ मील पश्चिम में है ।

इस प्रकार ओसवाल, श्रीमाल और अग्रवाल जैनों में सती प्रथा प्रमाणित होती है । खोज करने से अन्य जातियों के भी प्रमाण उपलब्ध हो सकते हैं । ●

कथनी और करनी

मुनि कन्हैयालाल

साधक ! अपने अन्तस्तल में दुर्भक्तियाँ लगाकर स्वयं को टटोल । अपनी वाणी से जैसे तू दूसरों को सुन्दर-सुन्दर उपदेश देता है, वैसे वे उपदेश अपने जीवन में व्यवहृत होते हैं या नहीं ? कहना जितना सुगम है, उसे जीवन-व्यवहार में लाना उतना ही दुर्गम है । जैसा मन में हो, वैसा बचन में और जैसा बचन में हो, वैसा क्रिया में; महापुरुष की यही अत्युत्तम कसौटी मानी जाती है ।

सत्य, अहिंसा आदि धर्म को अच्छा बताने से, उनका नाम लेने से और केवल कंठाग्र करने से अभीष्ट की सिद्धि नहीं हो सकती । अभीष्ट की उपलब्धि तभी हो सकती है, जब वह आचरण में आ चुकेगा । वह पाष्य मनो-व्याहित फल भी दे सकता है, जब उसको व्यवहार के क्षेत्र में पल्लवित किया जाये । कोई कितनी भी अच्छी और रोग-नाशक व स्वास्थ्य-पोषक औषधि का नाम लेता रहे और उसके गुणों का बखान कर केवल लेने की कामना करता रहे, उसे उसका लाभ नहीं हो सकता । रोग का उपशम या नाश तभी हो सकता है, जब वह उस औषधि का आसेवन करेगा ।

ऊँचे-ऊँचे आदर्शों की बातें बनाते हैं, भाषणों में श्रुतियों की वाणी पर बल देते हैं और मोटे रंग-रंगीले सुन्दर वर्णों में लिख कर दिवालों पर लटका भी देते हैं, जोर-जोर से उसका घोषकर घरा और आकाश को एक कर देते हैं, परन्तु वे सब परमार्थ से शून्य होते हैं । ऐसे मनुष्य दुष्प्राप्य नहीं हैं । दुष्प्राप्य वे हैं, जो आदर्शों को अपने जीवन व्यवहार में परिणत कर दूसरों को उपदेश देते हैं । उसी समय उनका कथन साधक बनता है । अन्तर का विवेक ही कथनी और करनी का भेद बतलाता है । विवेक की सफलता साकार बनकर अवश्य ही तेरा आलिंगन करेगी । कथनी और करनी की समानता ही व्यावहारिक क्षेत्र में आदर्शवाद की सच्ची कसौटी है ।

गोम्मटसार को पंजिका टीका

परमानन्द शास्त्री

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती द्वारा संकलित गोम्मटसार नाम का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। जिसे उन्होंने गंगवंशीय राजा राचमल्ल द्वितीय के सेनापति एवं महा-मात्य रणरंगमल्ल आदि अनेक विरुद्ध सम्पन्न राजा चामुण्डराय के लिए बनाया था। यह ग्रन्थ षड्खण्डागम और षड्वलादि सिद्धान्त ग्रन्थों का सार लेकर बनाया गया है। इस ग्रन्थ के दो विभाग हैं, जीवकाण्ड और कर्मकाण्ड। इस समूचे ग्रन्थ का नाम गोम्मटसार है। दोनों ग्रन्थों की गाथा संख्या दो हजार के लगभग है। इस ग्रन्थ की पुरानी ताडपत्रीय प्रतियां मूडबिंदी के सिद्धान्त वसिदि के शास्त्र भण्डार में अवस्थित हैं। वर्तमान में प्रकाशित गोम्मटसार की गाथाओं का उक्त प्राचीन प्रतियों से मिलान नहीं किया गया है, इसलिए ग्रन्थ के कुछ पाठ स्थल शकास्पद बने हुए हैं। अतः एक बार मूडबिंदी की प्रतियों से गोम्मटसार की गाथाओं का मिलान कराना आवश्यक है। उससे जहाँ ग्रन्थ का मूल पाठ संशोधित होगा वहाँ उसका संशोधित पाठ भी प्रामाणिक होगा। और गोम्मट-

सार कर्मकाण्ड का जो अंश नुटित-सा है। मूल और उत्तर प्रकृतियों के नामादि सम्बन्धित जो गद्यसूत्र छूटे हुए हैं। वे यथा स्थान दिए जा सकते हैं।

गोम्मटसार एक सैद्धान्तिक ग्रन्थ है, उसमें जीवस्थान गुणस्थान आदि का, और कर्म बन्ध आदि का सुन्दर विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थ पर अनेक टीका-टिप्पण लिखे गए हैं। प्राकृत टीका भी अपूर्ण रूप से अजमेर के शास्त्र भंडार में उपलब्ध है। अभयचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती की मन्द प्रबोधिका टीका है, एक टीका कनडी में केशव वर्णी की है। उसका नाम जीवतत्त्व प्रदीपिका है, जिसका अनुवाद नेमिचन्द्र नाम के विद्वान ने संस्कृत में किया है। अभयचन्द्र की मन्द प्रबोधिका में गोम्मटसार की 'पंजिका' टीका का उल्लेख है। उसकी एक प्रति मेरे पास है। जो सवत् १५६० की लिखी हुई है। इस पंजिका टीका के कर्ता गिरिकीर्ति हैं। पंजिका की प्रति २८ पत्रात्मक है। आदि अन्त पत्र एक ओर लिखा हुआ है। एक पेज में १६ पक्तियाँ हैं। और अक्षरों की संख्या ५५-५६ है ग्रंथा संख्या ५००० श्लोक प्रमाण बतलाई है। इस पंजिका में गाथाओं का आदि वाक्य सूचित किया है, पूरी गाथा कही भी नहीं दी। कितनी ही गाथाओं को 'सुगम' लिखकर छोड़ दिया है। उनकी कोई पंजिका नहीं दी। ऐसी गाथाएँ बहुत कम हैं जिनका पंजिका में अच्छा विवेचन किया गया है। हाँ, पंजिका में लिपि सम्बन्धि अशुद्धियाँ हैं, फिर भी ग्रन्थ महत्वपूर्ण है। यदि इस ग्रन्थ की कोई दूसरी प्रति उपलब्ध हो जाय तो इसके संशोधन करने में सहायता मिल सकती है। संभवतः

१. श्रीमदप्रतिहतप्रभावस्याद्वादशासन गुहाम्यन्तर निवासि प्रवादिमदांघसिधुरसिहायमान सिंहनदि मुनीन्द्राभिर्नदित गंगवश ललाम राजसर्व्वज्ञनेक गुण-नाम्धेय श्रीमद्राचमल्लदेव महीवल्लभ महामात्य पद विराजमान रणरंगमल्लासहायपराक्रम गुणरत्नभूषण सम्यक्त्वरत्ननिलयादि विविध गुणनाम समासादित कीतिकान्त श्रीमच्चामुण्डराय भव्य पुण्डरीक द्रव्या-नुयोग प्रश्नानुरूपं महाकर्म प्रकृति प्राभूत प्रथम सिद्धान्त जीवस्थानाख्य प्रथम खडार्थसंग्रह गोम्मट-सार नाम धेय पञ्च संग्रह शास्त्र प्रारंभमाण; समस्त सैद्धान्तिक चूड़ामणिः श्रीमन्नेमिचन्द्र सैद्धान्त चक्रवर्ती तद्गोम्मटसार प्रथमावयवभूत। (मन्द प्रबोधिका टीका उत्थानिका से)

२. देखो, अनेकान्त वर्ष ८ कि०

३. अथवा सम्मूर्छन गर्भोपपादानाश्रित्यजन्म-भवतीति-गोम्मट पंचिकाकारादीनामभिप्रायः, गो० जी० मन्द-प्रबोधिका टीका गा० ८३

इसकी प्रति ईडर के भण्डार में उपलब्ध हो जाय। पंजिका का प्रकाशन होना अत्यन्त आवश्यक है। आशा है विद्वान लोग इसका सम्पादन कर प्रकाशित करने का प्रयत्न करेंगे।

पंजिका की विशेषता

प्रस्तुत पंजिका में गोम्मटसार जीवकाण्ड-कर्मकाण्ड की गाथाओं के विशिष्ट शब्दों या विषमपदों का ग्रंथ दिया गया है। भाषा संस्कृत प्राकृत है। कहीं-कहीं व्याख्या संक्षिप्त रूप में दी गयी है। सभी गाथाओं पर पंजिका नहीं है। पंजिका का पूरा अध्ययन करने पर उसकी विशिष्टता का अनुभव तो होगा ही। साथ में संद्धान्तिक बातों का जहाँ कहीं भी स्पष्टीकरण किया गया है। उसकी भी जानकारी मिलेगी।

जीवकाण्ड पंजिका में वस्तुतत्त्व का विचार करते हुए उसे पुष्ट करने के लिए ग्रंथकारों के उल्लेख भी दिये हैं, जिससे ग्रंथ की प्रामाणिकता रहे।

चारों गुणस्थानों के भाव किस अपेक्षा से निरूपित है इसका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि मिथ्यात्वादि गुणस्थानों में भाव दर्शनमोह की अपेक्षा से कहे गये हैं, क्योंकि अविरत गुणस्थान तक चारित्र्य नहीं होता। इसे स्पष्ट करते हुए उक्त च रूप से तत्त्वार्थसूत्र के निम्न सूत्र का उल्लेख किया है—वृत्त च 'तच्चतुयारेण' मोहक्षयात् ज्ञान दर्शनावरण मोहान्तरायक्षयाच्च केवलमिदि।'

मिथ्यात्व के भेदों का कथन करते हुए उनके नाम और लक्षण निम्न प्रकार दिए हैं—एकान्त मिथ्यात्व, त्रिपरीत मिथ्यात्व, वैतनिक मिथ्यात्व, सशयित मिथ्यात्व और अज्ञान मिथ्यात्व।

एयंत मिच्छादि—अत्थिचेव, णत्थिचेव, अणिच्चमेव, एयमेव अण्येयमेव तच्चमिच्छादि सव्वहावहारणरूपः अहिप्पायो एयत मिच्छत्तणाम।

अहिंसादिलक्षण सद्धम्मफलस्स सग्गापवग्गस्स हिंसादि पावफलत्तेण परिच्छेदणाहिप्पायो विवरीयमिच्छत्तणाम।

सम्मदंसणादि निरवेक्खेण गुरु-पाय-पूजादि लक्खणेण-विणएणेव मोक्खोत्ति अहिप्पायो वेणइयमिच्छत्तं णाम।

पच्चक्खादिणा पमाणेण पडिगेज्जमाणस्स अत्थस्स देसंतरे कालंतरे च एय सक्खा वहारणाणुववत्तीदो, तस्स रूप पक्खयाण भवचयन्त णिच्छयाभावादो इदमेव तच्छं मिद ण होदि त्ति परिच्छेत्तं ण सव्वकमिदि उहय सावलंबी अहिप्पायो संसइदमिच्छत्तं णाम।

विचारिज्जमाणमट्टाणमवट्टित्ता भावादो कथमिद मेवेरिसजेवेत्ति णिच्छिदत्ति अहिप्पायो अण्णाण मिच्छत्त-णाम।'

इस तरह पंजिका में कितने ही शब्दों के लक्षण दिए हुए हैं। उदाहरण के लिए कर्मकाण्ड के सभावोहिणाम—कारणातर निरपेक्ष वस्तुस्वरूप—कारणान्तरकी अपेक्षा से रहित वस्तुस्वरूप को स्वभाव कहते हैं।

गाथा न० ४८१ में दर्शन का लक्षण करते हुए पंजिकाकार ने आचार्य वीरसेन द्वारा चर्चित दर्शन विषय का उल्लेख निम्न शब्दों में किया है—ऐसो वीरसेण-भयवत्ताणस्सयलागमगहियसाराण च वक्खाणकमो परू-वदो। पुव्वाइरिय वक्खाणकम पुण एसा गाहा परूवेदि। पत्र (३४)

१. धवला टीका में मिथ्यात्वों के नाम और लक्षण इस प्रकार दिए हैं—जिससे दोनों में बहुत कुछ साम्यता दृष्टिगोचर होती है।

मिच्छत्त पच्चविहं-एयतण्णाण-विवरीय-वेणइय-ससइय-मिच्छत्तमिदि। तत्थ अत्थिचेव णत्थिचेव एयमेव अण्येयमेव सावयवचेव निरवयवचेव णिच्चमेव अणि-च्चमेव इच्चाइयो एयताहिणिवेसो एयत मिच्छत्त।

विचारिज्जमाणे जीवाजीवादिपयत्था ण सत्ति णिच्चाणिच्च वियप्पेहि, तदो सव्वमण्णाणमेव, णाणं णत्थित्ति अहिणिवेसो अण्णाणमिच्छत्त।

हिमानियवयणचोज्ज-मेहण-परिग्गह-राग-दोस-मोह-ण्णाणेहि चेव णिब्बुइ होइत्ति आहिणिवेसो विवरीय मिच्छत्त।

अइहिय-पारत्तियसुहाइं सव्वाइं पि विणयादोचेव, ण णाण-दंसण-तवोववासकिलेसेहि तो त्ति अहिणिवे-सो वेणइयं मिच्छत्तं। सव्वत्थ सदेहो चेवणिच्छयो-णत्थित्ति अहिणिवेसो संसय मिच्छत्त।

—(धवला ३, ६, पृ० २०, भा० ८)

पत्र ३३ पर सामायिक और छेदोपस्थापना संयम का वर्णन करते हुए पंजिकाकार ने दोनों की एकता का निरूपण करने के लिए भूतवली भट्टारक का उल्लेख किया है—‘अदोजेय दोण्हयेगत्तस्स वि परूवणट्टं भूदवलि-भट्टारयेहि दोण्ह एग जे गण सुद्धि गहण कद ।

पंजिका का पूरा अध्ययन करने पर अनेक विशेष बातों का ज्ञान हो सकता है ।

संयमी जीवों का प्रमाण छोटे गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुण स्थान तक के जीवों का तीन कम नौ करोड़ बतलाया है, उन्हें मैं हाथ जोड़ कर नमस्कार करता हूँ । वे सब गाथाएं नम्बर क्रम के भेद के साथ जीवकाण्ड में पायी जाती है ।

यह ग्रंथ चूँकि अप्रकाशित है, और इसकी एक ही प्रति उपलब्ध है । अतः विद्वानों को ग्रन्थ भंडारों में दूसरी प्रति का अनुसंधान करना चाहिए । संभव है अन्य किसी भंडार में वह उपलब्ध हो जाय । उससे ग्रंथ के सम्पादनादि में सुविधा हो सकती है ।

प्रस्तुत—पंजिका में गाथाओं के कुछ कठिन स्थलगत शब्दों का अर्थ उद्घाटन करने का प्रयत्न किया गया है ।

कर्मकाण्ड की मंगलाचरण के बाद की दूसरी गाथा का अच्छा विवरण दिया है ।

पयडी सीलसहावो जीवगाणं अणाइसबधो ।

कणयोबले मलंवाताणत्थितं सयं सिद्धं ॥ २

पंजिका—पयडी सीलसहावो—प्रकृति, शील स्वभाव-इत्येकार्यः स्वभावश्च स्वभाववन्तमपेक्षते । तदविनाभावित्वात्तत्तस्य । अतः कस्याय स्वभावः कथ्यतइत्याह जीवगाण-जीवकर्मणोः कहमेत्यग्रं सद्देण कम्मगहण । कम्मणसरि रसस्सेव अंगसद्देण विवक्खित्तादो । कटुकम्मकलावस्सेव कम्मणसरिरत्तादो य । अहवा अंगसद्देण कम्माकम्म शरीराणं गहणं । कम्मणोकम्मेहि पयोजणत्तादो । जीवगाणमिदि किमट्टं वुच्चदे । भावकम्मदव्वकम्मणोकम्माण पयडिपरूवट्टं । सभावोहि नाम, कारणांतर निरपेक्ष वस्तु स्वरूपं, यथाग्नेरुर्ध्वज्वलन वायोस्तियंक् पवनमम्भसो निम्न-गमनमित्यादि । न चात्रैवं विधमुवलभामहे । जीव परिणति विशेषापेक्षया पुद्गलस्य तत्परिणत्यपेक्षया च जीव-स्थोपजायमामाभिनवपरिणति विशेषस्य द्रव्य भावकर्म-

त्वख्यापनादिति न चोद्य । सहकारिकारण निरपेक्षस्य-स्वरूप निमित्तकारणाम्यामेवोपजायमानस्येव, परिणति विशेषस्य सर्वत्रस्वभावत्वोपपत्तेः । एतद्वि सहकारिकारण निरपेक्षस्य जीवपोगलपरिणदि विसेसस्स परस्पर निमित्तस्स सहावसहाहिधियते । ण कोत्थि दोसो । तत्तारिस्स जीवपोगलपयडिभिहपरूवे मिति वुत्तं होदि । जदि जीव पोगलाण परस्पर निमित्तेण विवक्खिद परिणदि विसेसा समुपपज्जितितो सब्ब पोगलाणं सब्ब जीवाण च तहा पसग इदि ण सकणीय सकसायंत कम्मइय वग्गणत्तादिपच्चासत्ति विसेसविसिट्ठणमेवतहाभवदभुपगमादो । कथमप्पणे ! सकसायत्त परिणति परिणामो, पिडम्मि जहां मलमणादि ससलिट्ट मुवलभंते तहा जीवम्मि कम्मस्स-वित्तिपुव्वपरिणामविसेस निमित्तेण कम्मभावमुबगदप्प-संबंधि पोगलादो । कुदो तस्स वि तहाभावपरिणामो । सकसायत्तपरिणदि विसेसादो । जदि एवं नो इदरेदरा सयत्त । दो, ण एकस्स वि सिद्धिति । आह-अणाइ संबंधो अनादि सम्बन्धः कयोस्तयोरेव जीव कर्मणः, कथमेतदवसीयते वर्तमानसंबंधान्यथानुपपत्तेः । एतद्विदुत्तमाह—कणयो बले मलं वा कणयपरिणामजोग पोगलपिडम्मि जहामलमणादि ससलिट्टमुवलभंते, तहा जीवम्मि कम्म-कम्मस्स वित्ति । जीवकम्माणमेवासंभवादो, ण तेसि संबंध-चित्थे ति ण वत्तव्वं । तदत्थित्तस्स सयंसिद्धत्तादोत्ति आह—ताणत्थित्तं सयं सिद्धमिदि । घमात्सुखं पापादु-स-मिति सुखदुःख कारणतया शुभाशुभकर्मणोः सुख दुःखानु-भावकत्वेन सुखं दुःखं मित्यनुपहताहं प्रत्ययेनात्मनश्च सद्भावस्य सकलजन सुप्रसिद्धत्वादिति यावत् । एवं सम-त्थिय जीव परिणादिमस्सिद्धूण पोगलाण कम्मणोकम्म भावपरिणदि परूवे दुमाह

रचनाकाल

प्रस्तुत टिप्पण कब रचा गया, इस प्रश्न का उठना स्वाभाविक ही है । ग्रंथ की प्रशस्ति में कवि ने अपनी गुरु-परम्परा का उल्लेख करते हुए पंजिका का रचनाकाल शक सं० १०१६ (वि० सं० ११५१) कार्तिक शुक्ला बतलाया है जैसा कि उसकी निम्नगाथा से स्पष्ट है :—
सोलह सहस्रे सहस्से गयसकाले पवड्डमाणस्स ।
भाव समस्स समत्ता कत्थियणंदीसरे एसा ॥

ग्रन्थ के रचयिता का नाम गिरिकीर्ति है। कर्ता ने अपनी गुरु परम्परा निम्न प्रकार की दी है। श्रुतकीर्ति, मेघचन्द्र, चन्दकीर्ति और गिरिकीर्ति। श्रुतकीर्ति नाम के अनेक विद्वान हो गये हैं, उनमें प्रस्तुत श्रुतकीर्ति कौन है? यह विचारणीय है।

एक श्रुतकीर्ति—मूलसंघ, बलात्कारगण सरस्वती गच्छ के कुन्दकुन्दास्नाय में हुए है। इनकी आम्नाय में भट्टारक प्रभाचन्द्र ने सं० १०११ वैशाखसुदी ५ को एक जिनमूर्ति की प्रतिष्ठा कराई थी, जो भूगर्भ से प्राप्त हुई थी, और भोभाव के जैन मन्दिर में खण्डित अवस्था में विराजमान है।

दूसरे श्रुतकीर्ति 'पंचवस्तु' नामक व्याकरण ग्रन्थ के कर्ता है जिनका उल्लेख कन्नड कवि अगलदेव ने अपने चन्द्रप्रभचरित में, अपने गुरुरूप से किया है। और उन्हें त्रैविद्यचक्रवर्ती की उपाधि से अलंकृत किया है। कवि ने अपना उक्त ग्रन्थ शक सम्वत् १०११ (वि० सं० ११४६) में समाप्त किया है। नन्दिसंघ की गुर्वावली में भी— 'त्रैविद्य श्रुतकीर्त्याख्यो वैयाकरणभास्करः' रूप से उल्लेख किया है। इससे ये श्रुतकीर्ति बड़े भारी विद्वान जान पड़ते हैं। बहुत संभव है यही श्रुतकीर्ति गिरिकीर्ति के गुरु रहे हों। यदि यह विचार ठीक हो तो उनके समय के साथ सगति ठीक बैठ जाती है।

तीसरे श्रुतकीर्ति—मूलसंघ देशीयगण पुस्तक गच्छ कोण्डकुन्दान्वय के अमयचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती के शिष्य प्रभाचन्द्र के शिष्य थे। शिलालेख का समय^१ शक सं० १३०४ (वि० सं० १४४१) है। अतएव यह विक्रम की १५वीं शताब्दी के विद्वान् हैं।

चौथे श्रुतकीर्ति नन्दिसंघ बलात्कारगण के विद्वान् म० देबेन्द्रकीर्ति के प्रशिष्य और भूवनकीर्ति के शिष्य थे। इनका समय विक्रम की १६वीं शताब्दी है। इन्होंने अपभ्रंश भाषा में अनेक ग्रन्थों की रचना की है। हरिवंश पुराण सं० १५५२, धर्मपरीक्षा परमेष्ठी प्रकाशसार (सं० १५५३) और योगसार की रचना संवत् १५५३ में गयासुद्दीन के राज्यकाल में मालवा के जेरहठ नगर में की थी। मेघचंद का समय स्पष्ट है।

१. देखो, जैन लेख सं० भाष २, पृ० ४१६

आदि भाग :—

पणमिय जिणिद चंद गोम्मट संगह समगमुत्तानं ।
केसिपि भाणिस्सामो विवरणमण्णेस मासिज्ज ॥

तत्थ ताव तेसि सुत्ताणमादि ए मंगलट्ठं भणिस्स मणट्ठ विसय पइणा करणट्ठ च कयस्स सिद्ध मिच्छाई गाहा मुत्तस्सत्थो उच्चयेणट्ठ विवरणं कहिस्सामो तज्जहा वोच्छ—

अन्त भाग :—

जे पुव्वमणत्थ वति विसुहा साहिच्च मगच्छुवा,
दिड्ठ जेहि णयप्पमाणग्रहण जेण्ह ण सम्म मव ।
ते णिवतु युवतु कि मम तदो अण्णारिसा जेइथो,
ते रज्जति जदीह साह सहलो सव्वो पयासो मम ॥
कर्मकाण्ड (पंजिका)

आदि भाग :—

णमह जिणचलणकमल सुरमउलि मणिप्पहा जलु-
ल्लमिय । णह किरण केसरत तव्वमत देवी कयव्वमर ।

अह कम्मभेद परव्वमाणो विज्जाए अब्बुच्छित्ति-
णिमित्त मिदि कादूण मगल जिणिद णयोत्तकार करेदि—
अन्त भाग :—

सो जयउ वासपुज्जो सिवासु पुज्जासु पुज्ज-पय-पउमो ।
पविमल वसु पुज्जसुदो सुदकित्ति पिपे पिणं वादि ॥ १
समुदिय वि मेघचंदप्पसाद खुव कित्तिपरो ।

जो सो कित्ति भणिज्जइ परिपुज्जियचंदकित्ति ॥ २

जेणासेसवसंतिया सरमई ठाणंत रागो हणी ।

जं-गाढ परिरुंभिऊण मुहया सोजत मुद्दासई ।

जस्सापुव्वगणप्पभूदरयणा तंकारसोहगिरि [गिणा]

जाता सिरि गिरि कित्ति देव जविणा तेणासि गंयोकओ ॥ ३

उत्पण्ण पण्णाण मिसी णमंसि पयोजणं णत्थि तहा विहंजे.

कज्ज भवे चेविमिणा बहूणं, बालाण मिच्छत्थ कयं ममेयं ॥ ४

अण्णाणेण पमाददोबगरिमा गंथस्स होदित्ति वा ।

आलस्सेण व एत्थ जं ण संबन्धिज्ज पि मे ।

तं पुव्वावरसाहुसोहण सुही सोहंतु सम्मं सुही,

जं हा सव्वपरोवयारकरणे संतोमिही दव्वदा ॥ ५

एसो बंधि बंधणिज्जमिदि मे वेदस्स बंधो इमो ।

एवं बंध निमित्त मस्स समए भेदा इमेसि इमे ,

इच्छेड कहि दक्कमेण इमिणा णच्चा जदी संगह
 पंचण्ह परिभावओ भवभय णिच्चासी सं वच्चये ॥ ६
 अइ विमला गुण गुरुई बहुप्पिया झंति किय चमकारा ।
 पंजी रंजिय भुवणा चिट्ठउ सुदकित्ति कित्तिव्व ॥
 जाद जत्थ मुलद्ध मूलमहिम साहाहि सस्सोहिय ।
 सच्छायं सगुणइड्ढ बुद्धि विसयभूदेवमाण सया ।
 धम्मारामुव राहवस्स कदिणो तत्थेस गथो कओ ।
 गामे पुव्वलि.....णांम सहिए कालामए ॥ ८
 सोलस सहिय सहस्ते गयसगकाले पवढमाणस्स ।
 भाव समस्स समत्ता कत्तिय णदीसरे एसा ॥ ९
 इमिस्ते गय संखाण सिलोएहिं फडी कय ।
 पण्णासेहिं सम वृच्छं दसम दसंहिगुणं ॥ १०
 ग्रंथ संख्या ५०००, श्रोपच गुरुभ्यो नमः ।
 शुभमस्तु भव्य लोकाय । गोम्मट पंजिका नाम
 गोम्मटसार टिप्पण समाप्त ॥

स० १५६० स्वस्ति श्रीमत्स्वसमय परसमय सकल
 विद्याकोविद वादि वृन्दारक वृन्द वदित पद द्वद्व श्री मत्कुड
 कुदाचार्योन्वयं श्री सरस्वती गच्छे बलात्कार गणे भट्टारक
 श्री ज्ञानभूषण देवाः तच्छिष्याचार्यं वय्यं श्री निर्ग्रन्थ
 श्रीविशालकोति देवाः तच्छिष्या लघुविशालकोति यतयः ।
 श्रीमज्जिनघर्मध्यान घन धान्यादिभिरति मुन्दरे गधार
 मदिरे हुवडे वशे श्रावक सर भाइया कीका तस्य भार्या
 वाऊ तयोः पुत्री माणिक वाई तस्याः पुत्री चगाई । तत्र
 प्रशस्त सम्यक्त्वधरी दयाकरी समस्त जीवे संकुलाति
 मुन्दरी दानादिषु स्वर्द्धमतानु कारिणी माणिक्य वर वृत्ति
 धारिणी तथा सद्भावनापूर्व लोखयित्वेद मुत्तयं । श्रीमद
 गोम्मट सारस्य पंजिका पुस्तकं मुदा । दत्त लघु विशालादि
 कीर्तिभ्यः कर्मछित्तये । प्राप्तये संपत्तेः सुखस्याने पुनः
 स्फुटमिति ।

× × ×

आत्म-समर्पण

(श्री बालचन्द जी एम. ए.)

राजा उग्रसेन की लडली राजुल अपने भावी पति
 नेमिकुमार के चिन्तन में रत थी । अपने पति का कल्पित
 सुन्दर और सहृदय चित्र देखकर नारी के मुख पर जो
 प्रसन्नता होती है, राजुल उसी का अनुभव कर रही थी ।
 नारी सुलभ लज्जा यद्यपि उसके आन्तरिक भावों के
 प्रदर्शन में बाधक थी फिर भी उसका अनुराग छलक रहा
 था । अनेक चेष्टाएं करने पर भी वह उसे छिपा न
 सकी । श्रोतुम्व्य, उमंग नवीन अभिलाषाओं की त्रिवेणी
 में स्नान कर उसका शरीर पुलकित हो रहा था ।

दूसरी ओर सहेलियों के बीच ठोलियां चल रही
 थी । बेचारी राजुल एक ओर और शेष मंडली दूसरी
 ओर, कोई राजुल के अनुराग की कथा कह कर उसे
 रफ्ताने की चेष्टा करती तो कोई नेमिकुमार के शौर्य और
 पिराक्रम की गाथाएं गाकर राजुल का हृदय नापने का

प्रयत्न करती । भावी पति की गौरव-गाथा सुन-सुन
 राजुल का मन खिल उठता था ।

यह क्रम चल ही रहा था कि अचानक हाफते-हांफते
 एक दासी आकर चिल्लाई 'राजकुमारी'...। शब्द उसके
 ओठों से निकलते ही न थे, वह विकट रूप से कांप रही
 थी, और आसुओं की धार उसकी दोनों आंखों से बह
 रही थी ।

'चन्दन !' राजकुमारी ने आश्चर्य से उसकी ओर
 देखा, क्यों ? क्या बात हुई ? उत्सुकता से उसने प्रश्न
 किया ।

सहेलियों की मंडली चन्दन को घेर कर खड़ी हो गई
 सभी स्तब्ध थी, आश्चर्यचकित थी । चन्दन जो दुस्समाचार
 लाई थी, कहने का उसे साहस ही न होता था । वह
 अपने को असहाय अनुभव कर रही थी । सहेलियां समा-

चार सुनने को आतुर थी। नाना प्रकार के प्रश्न चन्दन में पूछे जाने लगे पर वह कुछ न बोली। बस फूट-फूट कर रो पड़ी। अरे कुछ कह भी तो राजकुमारी ने उसे ढाढस बघाते हुए कहा।

नेमिकुमार विरक्त हो गये राजकुमारी, विवाहोत्सव रुक गया, चन्दन बड़े कष्ट से इतना कह सकी।

‘बंधन में पड़े पशुओं को देखकर उन्हें कर्म बंधन की स्मृति जाग उठी। उन्होंने लोक कल्याण का व्रत ले लिया’ चन्दन ने उत्तर दिया।

राजकुमारी पर वज्रपात हुआ। इस दुस्समाचार से त्रस्त वह भूछित हो भूमि पर गिरने को ही थी कि सहेलियों ने सम्हाल लिया।

मुझे आज्ञा दीजिये पिता जी, राजकुमारी राजुल ने महाराज उग्रसेन के चरणों में गिर कर प्रार्थना की।

‘तुम उन्हें कहा खोजोगी बेटी, पिता ने दुख-भरी मास छोड़ते हुए कहा।

‘वनो में, पर्वतों, कन्दराओं में, जहाँ कहीं भी वे होंगे’ राजुल ने दृढ़ता से उत्तर दिया।

‘भागं दुर्गम है राजुल’ पिता ने पुत्री की असमर्थता की ओर संकेत किया।

‘पर मेरा निश्चय दृढ़ है, राजुल ने उत्तर दिया।’

‘इससे लाभ क्या? उन्हें जाने दो बेटी, अनेक पराक्रमी राजकुमार आज भी तुम्हारी अभिलाषा करते हैं, पिता ने फुसलाना चाहा।

आर्य नारी पतिव्रता होती है पिता जी! हृदय जिसकी उपासना करता है वही आर्य नारी का पति है। मैंने नेमिकुमार के चरणों में अपना हृदय अर्पित कर दिया है, अब शरीर किसी अन्य को कैसे समर्पित किया जा सकता है। वह तो व्यभिचार होगा न?’ राजुल ने उत्तर दिया।

‘पर नेमिकुमार तो विरक्त हो गए हैं, वे तुम्हें स्वीकार करेंगे?’ पिता ने आगे कहा।

‘मैं तो विरक्त नहीं हुई। दो जीवनों के पारस्परिक सहयोग का नाम ही तो विवाह है पिताजी। मेरी सम्मति के बिना इस सहयोग की डोर को काट देने वाले से पूछूँगी कि तुम्हें क्या अधिकार है मेरे जीवन को धूल

में मिला देने का, मेरी आज्ञाओं पर पानी फेर देने का’ राजुल आवेश में बोल रही थी।

‘बेटी तुम भूलती हो तीर्थंकर नेमि का जन्म ही लोक कल्याण के लिये हुआ है’ पिता ने उसे समझाया।

‘पर मैं इसमें बाधक न होती’ राजुल का तर्क था।

‘विवाह बन्धन में फँसकर नेमिकुमार लोक-कल्याण में असमर्थ हो जाते बेटी, पिता ने आगे कहा।

यह उनकी दुर्बलता होती। नारी नर की सद्भावनाओं को जाम करती है उन्हें उत्कृष्टि करती है। यदि इतने पर भी कोई अपनी हानि कर बैठे तो इसमें दोष किसका’ राजुल का भाववेश अभी शान्त न हुआ था।

‘ठीक कहती हो बेटी, पर अब संभव नहीं’ पिता ने पराजय होने पर भी जीतने की चेष्टा की।

‘क्यों नहीं! मैं उन्हें अवश्य खोज लूँगी, उन्हें मुझे अपना ही पड़ेगा। पशुओं की पुकार सुनने वाला क्या आर्त विरहिणी की आन्तरिक वाणी न सुनेगा? मैं उन्हें खोजूँगी पिताजी, मुझे आज्ञा दीजिये’ राजुल पिता के गले से लिपट गई।

‘तुम स्वतंत्र हो बेटी, मेरा आशीर्वाद ले जाओ’ पिता ने पुत्री को आशीर्वाद देकर विदा किया।

सघन वन और अगम पर्वत दृढ़ निश्चय के आगे झुक गए थे, काटे फूल वन गए थे और मार्ग उसे उत्साहित कर रहा था। ‘मैं तो अपने पिता को खोजूँगी’ की ध्वनि वनों और पर्वत गुफाओं में गूँज रही थी। पवन भी उसी लय में ‘मैं तो अपने पिता को खोजूँगी’ का स्वर दुहराता सा था। विरहिणी का विरह चारों ओर छा गया।

आज वह उसे खोज रही थी जिस पर उसने अपने को अर्पित कर दिया था, प्रतिदान की आज्ञा न करते हुए जिसे सर्वस्व भेंट कर दिया था, ममता, करुणा, वात्सल्य आदि सभी मानवी गुणों को जिस पर सत्पित कर दिया था पर उस निर्मोही ने सब कुछ ठुकरा दिया, नारी के आत्म-समर्पण का उसने कोई मूल्य न आका, अलभ्य सम्पत्ति पाकर भी वह उसे त्याग कर चला गया।

‘स्वामिन् मैं आ पहुँची’ विरक्त नेमिकुमार के चरणों में गिर कर राजुल ने प्रार्थना की।

‘शुभे ! तुम कौन हो ?’ शान्त स्वर में नेमिकुमार ने प्रश्न किया।

‘वही जिसकी रक्षा का भार आपने लिया था, मैं राजुल हूँ मेरे देवता’ राजुल ने उत्तर दिया।

‘राजुल तुम यहां !’ आश्चर्य से देखा नेमिकुमार ने।

‘तुम्हें खोजते-खोजते आ पहुँची मेरे रक्षक, आर्य नारी की शरण उसका पति ही होता है, राजुल ने निवेदन किया।

तुम भूल रही हो राजुल, मैं तुम्हारा पति नहीं, मैं किसी का कुछ नहीं। सासारिक सम्बन्ध असत्य है देवी, मुझे क्षमा करो’ नेमिकुमार बोले।

मैंने तुम्हें हृदय सौंपा था, अब तुम्हें कैसे भूल मेरे स्वामी, राजुल ने प्रार्थना की।

‘भूलना होगा भद्रे ! सत्य की खोज करो’ नेमिकुमार ने उत्तर दिया।

असंभव है नाथ ! आप पुरुष हैं, स्वतंत्र हैं, पर मैं स्त्री हूँ, अघूरी हूँ। मेरे तो आप ही सब कुछ हैं, मुझे शरण दीजिये’ राजुल नेमिकुमार के चरणों में गिर पड़ी।

‘तुम्हारा मोह तीव्र है राजुल, लौट जाओ।’ नेमिकुमार ने कहा।

‘यह तुम कहते हो, हां तुम कह सकते हो। मेरा हृदय तोड़ने वाले पुरुष तुम्हारे ही मुख से ये वचन संभव हैं। पर मैं तुम्हें नहीं छोड़ सकती’ राजुल ने अपना निश्चय जता दिया।

मैं विवश हूँ देवि, मैंने लोक-कल्याण का व्रत लिया है नेमिकुमार ने अपनी विवशता बतलाई।

‘वही व्रत मुझे भी दीजिये’ आचल पसार कर राजुल ने व्रत-दीक्षा की याचना की।

नेमिकुमार ने आश्चर्य से उसकी ओर देखा, क्या तुम सच कह रही हो ? उन्हें विश्वास न हुआ।

‘नारी की क्रियाये दम्भ नहीं होतीं स्वामिन् ! वह सच्चे हृदय से कार्य करती है। विलास में पली नारी संयम और साधना की महत्ता अच्छी तरह समझती है’ राजुल रो रही थी, तुमने मुझे धोखा दिया, तुम लोक कल्याण का व्रत लेकर स्वार्थी हो रहे। मेरी रक्षा का भार स्वीकार करके भी तुमने मेरी रक्षा से मुख मोड़ लिया, स्वयं तो ससार समुद्र तरने चल दिये पर मुझे इसी बीच खड़ा रहने दिया, राजुल फूट-फूट कर रोने लगी।

‘भद्रे ! तुम सच्ची हो’ नेमिकुमार ने प्रशान्त स्वर में कहा।

पर तुमने नारी को न समझा नाथ ! उसे विलास कोनन की रानी ही माना, अपनी साधना की बाधा माना। यह तुम्हारा भ्रम था। नारी का आत्म समर्पण सुख और दुःख, महल और वन, विलास और विराग में सर्वत्र एक सा है देव ! तुम मुझसे पूछते तो कि तुम इन सधन वनों में मेरा साथ दे सकोगी ? मैं उत्तर देती अवश्य ! राजुल शान्त श्वर में कह रही थी।

‘तुम धन्य हो देवी’ नेमिकुमार बोले।

‘अब तो मैं स्वयं आ पहुँची नाथ, आपकी शरण ही ससार में मुझे अन्यतम वरदान है। आप मुझे स्वीकृत कीजिये, मैं आपकी शिष्या बनूंगी, हाथ जोड़ कर राजुल ने प्रार्थना की।

तुम दीक्षा के योग्य हो नेमिकुमार ने हर्ष पूर्वक राजुल को दीक्षित किया।

‘अन्त में आपको अपना नाम ही पडा नाथ’ मेरा आत्म समर्पण सफल ही हुआ, राजुल ने मुस्कराते हुए कहा।

‘हा देवी’ नेमिकुमार ने उत्तर दिया।

उपबुद्ध अवसर यही था देव’ राजुल ने उनके चरणों में मस्तक झुका दिया।

गिरनार के शिखर पर दो तपस्वी साधना कर रहे हैं, एक ओर दिगम्बर नेमिकुमार और दूसरी ओर एक स्वेत वस्त्र धारिणी आर्यिका राजुल।



शृगाल से सिद्ध

श्री सुबोध कुमार जैन

हजारों हजार वर्ष पहले की कहानी है। दो सियार थे। किसान अपने खेतों की चौकीदारी ऐसा करते थे, जिससे सियारों का पेट नहीं भरता था। एक रात भूख की पीड़ा से वे जहाँ तहाँ फिर रहे थे। जब कुछ भी खाने को नहीं मिला तो खेत के किनारे पड़ी एक रस्सी को ही दोनों चबाने लगे। रस्सी गन्दी और सड़ी होने से जहरीली हो गई थी।

अखिर दोनों ही तड़प-तड़प कर मर गए।

सबेरा होने पर उस खेत के किसान ने उनकी चमड़ी उधाड़ कर उसे काम में लाने के लिए सूखने को डाल दिया।

दोनों ही सियार मरने के बाद मगध देश में एक के घर जन्मे और पढ़ लिख कर बड़े हुए। ये दोनों अत्यन्त धमड़ी और पाखंडी थे। अपने मिथ्या ज्ञान के घमंड में एक बार वे एक जैन मुनि से शास्त्रार्थ करने चल पड़े। रास्ते में उन जैन मुनि के एक शिष्य ने ही उन्हें शास्त्रार्थ में परास्त कर दिया। क्रोधित होकर वे उस शिष्य की हत्या करने रात में उनके स्थान पर पहुँचे पर देवताओं से यह न देखा गया। दोनों भाइयों के तलवार उनके हाथों में ही रह गए और वे वही पत्थर की तरह कीलित हो गए।

कीलित होने के उपरान्त दोनों भाइयों को वास्तविकता का ज्ञान हुआ और अपने व्यवहार पर उन्हें बड़ा पश्चाताप हुआ। उन्होंने श्रावक का व्रत ले लिया और समय पाकर सद्ध्यानपूर्वक शरीर त्याग कर मोक्ष में स्वर्ग में इन्द्र और उपेन्द्र हुए।

देव लोक की आयु पूरी कर दोनों ही अयोध्या के समुद्रदत्त श्रेष्ठ के यहाँ पुत्र उत्पन्न हुए। उनका नामकरण मणिभद्र और पूर्णभद्र हुआ। दोनों धर्मकृत्य आदि में लगे रहते थे। उनकी शिक्षा-दीक्षा अनुपम हुई थी।

जहाँ अपना जीवन काल विताने पर वे मृत्यु उपरान्त फिर सौधर्म स्वर्ग में देव हुए।

देवायु व्यतीत करके वे कौशल देश में राजा पद्मनाभ के पुत्र उत्पन्न हुए। पहले का नाम मधु और दूसरे का कैटभ था। बाद में मधु कौशल का राजा हुआ और कैटभ युवराज। एक बार एक दूसरे देश पर आक्रमण हेतु जाते हुए राजा मधु एक मित्र देश के राजा की रानी चन्द्रप्रभा को देख कर आसक्त हो गया। उसने छल-बल से चन्द्रप्रभा का हरण किया और चन्द्रप्रभा भी उसके मोह पाश में फँस गई। उधर रानी चन्द्रप्रभा का पति, पति के वियोग में पागल हो गया। यह देखकर चन्द्रप्रभा को अत्यन्त दुःख हुआ। उसने अपने को धिक्कारा। कारण पाकर राजा मधु को भी अपने किए पर इतना पश्चाताप हुआ कि वह वैरागी होकर मुनि हो गया। युवराज कैटभ भी मुनि हो गये। अन्ततोगत्वा रानी चन्द्रप्रभा भी आश्रयिका हो गई।

राजा मधु का जीवन तपस्या के प्रभाव से सोलहवें स्वर्ग में देव हुआ और तदुपरान्त देव जाति के दिव्य सुख को भोग कर आयु के अन्त में वहाँ से चयकर पूर्व पुण्य के प्रभाव से द्वारिका नगरी में यादवों के श्रेष्ठ कुल में कृष्ण-नारायण की रानी रुक्मिणी के गर्भ में आया।

उधर रानी चन्द्रप्रभा का अभाग पागल पति मरकर नीच योनियों में परिभ्रमण करना हुआ कर्म योग से मिथ्यादृष्टि मनुष्य हुआ। फिर वहाँ से आयु पूरी कर धूमकेतु नामक अमुरों का नायक देव हुआ। जिस रात को रुक्मिणी के गर्भ से राजा मधु का जीव जन्मा उसी रात वह आकाश मार्ग में जा रहा था। अपने पूर्व भव के वैरी मधु के जन्म का उसे ज्ञान हुआ। वह उसी समय रुक्मिणी के बगल से उस नन्हें बच्चे को उठा कर एक पर्वत शिखा

पर ले पहुँचा और उसकी हत्या करने के उद्देश्य से उसे एक भारी पत्थर के नीचे दबा कर चला गया।

उधर चन्द्रप्रभा का जीव समय पाकर मेघकूट नगर के विद्याधर राजा काल संवर की पत्नि कनकमाला बनी। ये दोनों उसी ओर से जा रहे थे और उस नन्हे बच्चे को पत्थर के नीचे दबा देख कर उन्होंने उसे निकाला और बच्चे को विल्कुल स्वस्थ पाकर वे अचम्भित हुए। उन्हें ऐसे बीर बालक को पुत्र मानकर बड़ी प्रसन्नता हुई, यही नन्हा बच्चा लोक में प्रद्युम्न कुमार के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उसकी शिक्षा-दीक्षा उत्तम हुई। वह बालकपन में ही अपने पराक्रम दिखलाने लगा। उसके पराक्रम की कहानियाँ मेघकूट नगर के घर-घर में कही जाने लगी। प्रद्युम्न कुमार ने अपने नए पिता राजा कालसवर के लिए बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ लड़ी। अपने अन्य ज्येष्ठ पुत्रों के रहते हुए भी कालसवर ने उसे युवराज घोषित कर दिया। जिससे उसके सभी भाई उसके दुश्मन हो गए।

उन्होंने उसकी हत्या करने के कई आयोजन किए, पर सफल न हो सके। उसके सौन्दर्य की कीर्ति तो अद्भुत रूप से फैलती गई। जब उसके विवाह की बात हुई तो उसकी नई माँ को यह बात पसन्द नहीं हुई। उसके मन में विचित्र अन्तर्द्वंद्व चल रहा था। अपनी अधेड़ावस्था में उसकी वासना उग्र हो उठी थी और उसकी परेशानी की सीमा न थी। उसे यह भी अनुभव हुआ कि उसकी वासना पुत्र प्रद्युम्न कुमार की ओर ही है। जब वह अपने को सभाल न सकी तो आखिर को उसने प्रद्युम्न कुमार को कपटपूर्ण वार्ता करते हुए बनलाया कि वह उनका वास्तविक पुत्र नहीं है, और वह किस प्रकार उनका पुत्र बना। सारी बातें जान कर प्रद्युम्न कुमार के दुख का ठिकाना न रहा। तभी उसके पूर्व भव की प्रेयसी उसके वर्तमान जीवन की नई माँ कनकमाला ने उससे काम वासना की पूर्ति का प्रस्ताव किया तो वह अचम्भित रह गया। अत्यन्त लज्जा और क्रोधपूर्वक आखिर वह उसे धिक्कारता हुआ वहाँ उसे उठ कर चला गया।

अपना अपमान हुआ देख कर कनकमाला बहुत कोषित हुई और उसने अपने तन बदन को तोच डाला। कपटपूर्वक उसने चीखना-बिल्लाना शुरू किया एवं अपने

पति राजा कालसवर से उसने प्रद्युम्न कुमार के दुष्चरित्र होने का महादोष लगाया।

आखिर पिता-पुत्र में युद्ध हुआ और पुत्र विजयी हुआ। परन्तु वह दुःखी था अत्यन्त दुःखी था; क्योंकि उसका कोई माता-पिता नहीं था। और न संसार में उसका कोई भी अब अपना था।

तभी नारद मुनि से भेंट हुई और वह यह जानकर प्रसन्नता से विभोर हो उठा कि कृष्ण नारायण उसके वास्तविक पिता और रुक्मणि उसकी माता है।

वह उसी समय आकाश मार्ग से शीघ्र ही नारदमुनि के साथ द्वारिका पुरी जा पहुँचा। अपने को प्रगट करने के पूर्व उसने कृष्ण नारायण की गर्विता दूसरी पत्नी सत्यभामा एवं उसके पुत्र के गर्भ को चूर किया एवं अपने पराक्रम दिखलाकर कृष्ण, बलदेव, आदि को भी परास्त किया। तदुपरान्त बड़े नाटकीय ढंग से नारदमुनि ने पिता-पुत्र का मिलाप कराया और प्रद्युम्न कुमार अपने सारे कुटुम्ब वालों से गले लग कर मिला।

माता रुक्मणि का क्या कहना। उसकी खुशी का क्या ठिकाना। उसकी कोख के पुत्र के लापता होने के उपरान्त उसकी मौन सत्यभामा उसे बराबर लज्जित और अपमानित करती रहती थी। इससे उसका जीवन दुःखमय हो गया था। कृष्ण नारायण का तो उस पर अगाध प्रेम था और उनके देवर अरिष्टनेमि भी उसका बड़ा आदर करते थे फिर भी उसका जीवन अत्यन्त विरागी हो गया था।

अब इतने वर्षों के बाद अपने लापता पुत्र को फिर पाकर उसने अपने महल में बड़ी-बड़ी खुशियाँ मनाई।

अरिष्टनेमि की ओर प्रद्युम्न कुमार अत्यन्त आकर्षित हुए और उनकी उदात्त भावनाओं और विचारों से भी बहुत प्रभावित हुए। प्रद्युम्न कुमार शूरवीर थे और वाल्यकाल से अबतक युद्ध और योद्धाओं के बीच ही उनका समय निकला था। अरिष्टनेमि के दर्शन, ज्ञान और चानित्र की बातें उसके मन में सहज प्रतिष्ठित हो गईं। सच्चरित्रता उनके प्रत्येक कार्य में दीखने लग गई।

समय पाकर उसका विवाह कौरव नरेश दुर्योधन की पुत्री उदधिकुमारी से हुआ।

प्रद्युम्न कुमार का बड़ा प्रताप था। सभी यदुवशी उनका लोहा मानते थे। राजे-महाराजे उनकी सेवा करते थे। भोग-सुख इच्छानुसार भोगते हुए प्रद्युम्न कुमार अपने पुण्य प्रताप से तीनो लोक के सारभूत सुख को पाते रहे।

पापियो का क्या ! कोई दुःख ऐसा नहीं कि जो उन्हें भोगने न पड़ते। अपना पेट भरने के लिए रात-दिन चिन्तित रहना, वस्त्र भोजन के बिना पृथ्वी पर पड़े रहना, दूसरों की नौकरी-चाकरी करना, रूप-लावण्य रहित होना, दीन-हीन, बिना बान्धवों वाला होना, भाई-बन्धुओं द्वारा निन्दित और जगह-जगह तिरस्कृत होना, यह सभी तो पाप के फल हैं।

जगमव कृष्ण द्वारा मारा जा चुका था। कृष्ण को सुदर्शनचक्र प्राप्त हो चुका था। महाभारत समाप्त हो चुका था। कौरवों का क्षय हो चुका था। अरिष्टनेमि पर इस महायुद्ध का बड़ा प्रभाव पड़ा था और दिन-दिन उनके वैराग्यभाव बढ़ते जा रहे थे। उनके साथ प्रद्युम्न कुमार भी विराग की ओर आकृष्ट हो रहे थे तभी एक अभूतपूर्व घटना हुई।

अरिष्टनेमि के असामान्य बल के कारण कृष्ण कुछ चिन्तित रहा करने थे। एक बार राज्य सभा में ही 'कौन अधिक बलवान है' इस पर बात बहुत अधिक बढ़ गई। अरिष्टनेमि ने अपने पावों को पृथ्वी पर जमा दिया और उनके पावों को हिलाने के कारण कृष्ण आदि सभी सामन्तों को सभा में लज्जित होना पड़ा। कुछ समय उपरान्त एक दिन कुछ कारणवश उत्तेजित हो अरिष्टनेमि कृष्ण की आयुधशाला में चले गए और शेषनाग पर सवार होकर सुदर्शनचक्र को ऐसा नचाया एवं नाको की फूँक से ही ऐसा शखनाद किया कि नगर में शोर मच गया। कृष्ण आदि ने उन्हें किसी-न-किसी तरह शान्त किया।

यह सब था पर अरिष्टनेमि तो अद्भुत सम्यग्दृष्टि थे। उन्हें अहंकार क्षोभ आदि छू तक नहीं गए थे। समय देखकर उनकी इच्छा के विरुद्ध कृष्ण ने उनके विवाह का आयोजन ऐसे कपटपूर्ण ढंग से किया कि अरिष्टनेमि की विराग भावना बिल्कुल जागृत हो जाए और वे राज्य छोड़कर सन्यासी हो जायें। उनकी योजना सफल हुई और अरिष्टनेमि भी बीच बारात से ही विरागी

होकर सन्निकट के गिरनार पर्वत पर चले गए और दिगम्बर मुनि हो गए। उनकी मगेतर राजुल भी आधिका हो गई।

प्रद्युम्न कुमार भी बहुत दिनों तक त्याग के इस प्रभाव से अपने को अलग न रख सके और एक दिन वे भी घर-बार छोड़ कर दिगम्बर मुनि की दीक्षा लेने नेमिनाथ के समवशरण में पहुँच गए।

इसी समय नेमिनाथ ने भविष्यवाणी की कि यादवों पर मद्यपान के प्रति आसक्ति के कारण बड़ी-बड़ी विपदा आएगी। कृष्ण की मृत्यु बाण लगने पर होगी और द्वारिकापुरी द्वीपायन मुनि के क्रोध के कारण भस्मीभूत हो जायगी। इस समाचार से सारी द्वारिका पुरी में बेचैनी फैल गई। लोग द्वारिकापुरी छोड़-छाड़ कर यत्र-तत्र जाने लगे। कृष्ण द्वारा राज्य भर में मद्यपान निषेध की आज्ञा प्रचारित की गई।

परन्तु हुआ वही जो होना था। यादव कुमारों के मद्यपान के कारण दीपायन मुनि ने द्वारिकापुरी को भस्मीभूत कर दिया। कृष्ण जंगल में मारे-मारे फिर और एक बाण द्वारा मृत्यु को प्राप्त हुए।

इधर गिरनार पर्वत पर अरिष्टनेमि तप और त्याग द्वारा तीर्थंकर नेमिनाथ हुए। बाद में उन्हें और प्रद्युम्न कुमार एवं कई अन्य त्यागियों को निर्वाण की प्राप्ति हुई।

आज भी गिरनार पर्वत लाखों भक्तों द्वारा पूजित है। उनकी तीन ऊँची चोटियों पर प्रद्युम्न कुमार आदि यादव कुमारों ने मोक्ष प्राप्त कर उसे पवित्र किया। तीर्थंकर नेमिनाथ एवं इन तीनों महापुरुषों की चरण-पादुकाएँ हजारों वर्षों से इस पवित्र पर्वत पर विराजमान हैं और बन्दना करने वालों का ताता युगों से चला आ रहा है।

करांडों की सम्पदा भक्तों ने इस पहाड़ को सुशोभित करने में लगा दी, और लगा रहे हैं। सगमरमर के जैसे शानदार और दर्शनीय मन्दिर इस पर्वत पर है शायद ही भारत में कहीं हो।

धन्य है प्रद्युम्न कुमार ! कहा कई भव पहले उनका जीव शृगाल पशु था और कहाँ अन्त में सिद्ध परमात्मा होकर रहा ! ★

हिन्दी-भाषा के कुछ अप्रकाशित ग्रन्थ

पन्नालाल अग्रवाल

दि० जैन शास्त्र भंडारों में हिन्दी भाषा का विशाल साहित्य अभी तक अप्रकाशित पड़ा है अनेक गुच्छक ग्रंथों में अनेक सुन्दर रचनाएँ प्रचुर परिमाण में मिलती हैं। उनके प्रकाशित होने पर हिन्दी साहित्य के इतिहास पर विशद प्रकाश पड़ेगा। जैन कवियों ने प्राकृत संस्कृत साहित्य के साथ अपभ्रंश और हिन्दी भाषा में जो अमूर्ती रचनाएँ लिखी हैं, वे बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। अब से कोई ३०-४० वर्ष पहले पं० नाथूरामजी प्रेमी बम्बई और बाबू ज्ञानचन्द्रजी लाहौर ने अनेक ग्रंथ प्रकाशित किये हैं।

दिल्ली के शास्त्र भंडारों में भी हिन्दी भाषा की गद्य-पद्य अनेक रचनाएँ अभी तक अप्रकाशित पड़ी हैं। समाज का लक्ष्य पुराने साहित्य के प्रकाशन की ओर नहीं है। और न उसके समुद्धार की भावना ही है। यदि भावना होती तो भंडारों की सभी सुन्दर रचनाएँ कभी की प्रकाशित हो गई होतीं। मेरा विचार बहुत अर्थ से इन सभी ग्रंथों के प्रकाशन की भावना एवं प्रेरणा करने में लगा रहा है, पर मुझे उसमें कोई सफलता नहीं मिली।

आज इस छोटे से लेख द्वारा समाज से प्रकाशन की प्रेरणा करता हुआ प्रकाशन योग्य कुछ ग्रंथों का परिचय प्रस्तुत कर रहा हूँ। आशा है, साहित्य प्रेमी जन इस ओर अपना ध्यान देंगे। और जिनवाणी की महत्वपूर्ण सेवा करेंगे।

१ पाण्डव पुराण—मूल लेखक भट्टारक शुभचन्द्र है यह मूल ग्रंथ हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशित हो चुका है। किन्तु इस का पद्यानुवाद पं० बुलाकीदास (बूलचन्द्र) अग्रवालकृत है, अभी तक अप्रकाशित है और प्रकाशन की बात जोह रहा है। पद्यानुवादकर्ता ने अपने सामान्य परिचयादि के साथ उसकी प्रशस्ति लिखी है। जिससे उसका रचनाकाल संवत् १७५४ बतलाया गया है। पद्य विविध छन्दों में दिए हुए हैं। प्रति नया मन्दिर धर्म-

पुरा दिल्ली के शास्त्रभंडार की है। और प्रकाशन के योग्य है।

२ वर्धमान पुराण—भ० सकलकीर्ति, पद्यानुवादकर्ता पं० बंजनाथजी माथुर हैं। रचना विक्रम की १६ वीं शताब्दी की है। मूल ग्रंथ अभी तक अप्रकाशित है, और उसका पद्यानुवाद भी। इसका प्रकाशन शीघ्र होना चाहिए।

३ उत्तर पुराण—मूलग्रंथ, आचार्य गुणभद्र प्रणीत है। पद्यानुवादकर्ता पं० खुशालचन्द्र हैं। ग्रंथ में कवि ने दोहा, सर्वया, अंडिल, चौपाई आदि विविध छन्दों का प्रयोग किया है। जिसे पढ़ने से मन सन्तुष्ट होता है। रचना सामान्य है। यह ग्रंथ अनेक भंडारों में सगृहीत है। परिचय वाली प्रति नयामन्दिर धर्मपुरा दिल्ली की है। खुशालचन्द्र काला ने अनेक ग्रंथों के पद्यानुवाद किये हैं। वे प्रायः सभी ग्रंथ अभी तक अप्रकाशित हैं। इस ग्रंथ का प्रकाशित होना आवश्यक है।

४ शान्तिनाथ पुराण—मूलग्रंथ के रचयिता भ० सकलकीर्ति हैं। मूलग्रंथ हिन्दी अनुवाद के साथ कलकत्ता से छप चुका है। पद्यानुवाद के कर्ता कवि सेवाराम हैं। इनकी अन्य कई रचनाएँ हैं। चौबीस तीर्थकर पूजा इन्होंने स० १८२४ में बनाई है।

५ हरिवंश पुराण—(पद्यानुवाद) इस ग्रंथ का पद्यानुवाद कवि खुशाल ने स० १७८० में किया था। यह ग्रंथ अभी तक अप्रकाशित है। प्रस्तुत प्रति दि० जैन नया मन्दिर धर्मपुरा की है।

६ मुनिमुव्रतनाथ पुराण—इस ग्रंथ का पद्यानुवाद ब्र० इन्द्रजीत द्वारा स० १६४५ में सम्पन्न हुआ था। यह प्रति भी उक्त भंडार में अवस्थित है। रचना सामान्य है।

७ श्रेणिक चरित—के पद्यानुवादकर्ता भ० विजय-कीर्ति हैं। जा अजमेर गद्दी के पट्टघर थे। इसका रचना-

काल स० १८२७ है यह ग्रन्थ भी उक्त भंडार में अवस्थित है। कवि की बनाई हुई अन्य अनेक रचनाएं अजमेर के शास्त्र भंडार में सुरक्षित हैं।

८ धन्यकुमार चरित्र—इस ग्रन्थ का पद्यानुवाद भी खुशालचन्द्र काला ने किया है। कवि खडेलवाल जाति में उत्पन्न हुआ था। यह ब्रह्मनेमिदत्त के संस्कृत धन्यकुमार चरित्र का पद्यानुवाद है। नया मन्दिर धर्मपुरा में अवस्थित है।

९ महीपाल चरित्र—इस ग्रंथ के रचयिता रत्ननन्द के शिष्य चरित्रभूषण है। इस ग्रंथ के टीकाकार नथमल विलाहा है। ग्रंथ की रचना सं० १६१८ में हुई है। रचना साधारण है।

१० यशोधर चरित्र—यह भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति की रचना है, इसके पद्यानुवादकर्ता भी वही खुशाल काला है, जिनका ऊपर उल्लेख किया है। ग्रंथ का रचनाकाल सं० १७८१ है।

११ नेमिपुराण—ब्र० नेमिदत्त, पद्यानुवादकर्ता वखतावरमल रतनलाल, रचना समय १६०६, प्रस्तुत ग्रंथ का मूल संस्कृत पद्यों में है। वह अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है किन्तु इसका हिन्दी अनुवाद सूरत से प्रकाशित हो चुका है। पद्यानुवाद अभी अप्रकाशित है, प्रति नयामन्दिर धर्मपुरा की है। कविता साधारण है।

१२ श्रीपालचरित्र—के कर्ता पंडित अतिसुख हैं। ग्रंथ का रचनाकाल सं० १६१८ है। कविता साधारण है। ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित है।

१३ सीताचरित—इसके रचयिता कवि रायचन्द्र हैं, ग्रन्थ का रचनाकाल सं० १७१३ है। कविता कहीं-कहीं चुभती सी है, उसमें प्रवाह है, परन्तु वह सामान्य दर्जे की है।

इसी तरह अन्य अनेक ग्रंथ ग्रन्थभंडारों में पड़े हैं। कोई महानुभाव इन ग्रन्थों का प्रकाशन कर पुण्य का अर्जन करें।

वीरशासन-जयन्ती

परमानन्द शास्त्री

भारतीय इतिहास में श्रावण कृष्ण प्रतिपदा एक अति प्राचीन ऐतिहासिक तिथि है। इसी तिथि से भारत वर्ष में नये वर्ष का प्रारम्भ हुआ करता था। नये वर्ष की खशिया मनाई जाती थीं और वर्ष भर के लिये शुभकामनाएं की जाती थीं। आचार्य यतिवृषभ की तिलोण पण्णत्ती और धवला जैसी प्राचीन टीकाओं में—‘वासस्स पढममासे सावणणामम्मि बहुल पडिवाए तथा वासस्स पढम मासे पढमे पक्खम्मि सावणे बहुले। पाडिवाद पुव्व दिवमे’ जैसे वाक्यों द्वारा इस तिथि को वर्ष के प्रथम मास का प्रथम पक्ष और पहला दिन सूचित किया है। देश में सावनी-ग्राषाढ़ी के विभाग रूप जो फसली साल प्रचलित है वह भी उसी प्राचीन प्रथा का सूचक जान पड़ता है जिसकी संख्या आजकल गलत रूप में प्रचलित हो रही है। कहीं-कहीं विक्रम संवत् का प्रारम्भ भी श्रावण कृष्ण एकम से माना जाता है जैसा कि विश्वेश्वर

नाथ रेड के ‘राजा भोज’ नामक ग्रन्थ से निम्न वाक्य से प्रकट है—‘राजपूताना के उदयपुर राज्य में विक्रम संवत् का प्रारम्भ श्रावण कृष्ण एकम से माना जाता है। इसी प्रकार मारवाड के खेठ-साहूकार भी वर्ष का प्रारम्भ इसी दिन से मानते हैं।’

इससे यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि उदयपुर राज्य और मारवाड में पहले से वर्ष का प्रारम्भ श्रावण कृष्ण प्रतिपदा से ही होता था। विक्रम संवत् को अपनाते हुए यहां के निवासियों ने अपनी वर्षारम्भ की तिथि को भी छोड़ दिया, और अनुरूप विक्रम संवत् को भी परिवर्तित कर दिया।

युग का आरम्भ और सुषम-सुषमादि के विभाष रूप कालचक्र का—उत्तमपिणी अवसपिणी कालों का—प्रारम्भ

१. राजा भोज पृ० ५४

हिन्दी-भाषा के कुछ अप्रकाशित ग्रन्थ

पन्नालाल अग्रवाल

दि० जैन शास्त्र भंडारों में हिन्दी भाषा का विशाल साहित्य अभी तक अप्रकाशित पड़ा है अनेक गुच्छक ग्रंथों में अनेक सुन्दर रचनाएँ प्रचुर परिमाण में मिलती हैं। उनके प्रकाशित होने पर हिन्दी साहित्य के इतिहास पर विशद प्रकाश पड़ेगा। जैन कवियों ने प्राकृत संस्कृत साहित्य के साथ अपभ्रंश और हिन्दी भाषा में जो अनूठी रचनाएँ लिखी हैं, वे बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। अब से कोई ३०-४० वर्ष पहले पं० नाथूरामजी प्रेमी बम्बई और बाबू ज्ञानचन्द्रजी लाहौर ने अनेक ग्रंथ प्रकाशित किये हैं।

दिल्ली के शास्त्र भंडारों में भी हिन्दी भाषा की गद्य-पद्य अनेक रचनाएँ अभी तक अप्रकाशित पड़ी हैं। समाज का लक्ष्य पुराने साहित्य के प्रकाशन की ओर नहीं है। और न उसके समुद्धार की भावना ही है। यदि भावना होती तो भंडारों की सभी सुन्दर रचनाएँ कभी की प्रकाशित हो गई होती। मेरा विचार बहुत असें से इन सभी ग्रंथों के प्रकाशन की भावना एवं प्रेरणा करने में लगा रहा है, पर मुझे उसमें कोई सफलता नहीं मिली।

आज इस छोटे से लेख द्वारा समाज से प्रकाशन की प्रेरणा करता हुआ प्रकाशन योग्य कुछ ग्रंथों का परिचय प्रस्तुत कर रहा हूँ। आशा है, साहित्य प्रेमी जन इस ओर अपना ध्यान देंगे। और जिनवाणी की महत्वपूर्ण सेवा करेंगे।

१ पाण्डव पुराण—मूल लेखक भट्टारक शुभचन्द्र है यह मूल ग्रंथ हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशित हो चुका है। किन्तु इस का पद्यानुवाद पं० बुलाकीदास (बूलचन्द्र) अग्रवालकृत है, अभी तक अप्रकाशित है और प्रकाशन की बाट जोह रहा है। पद्यानुवादकर्ता ने अपने सामान्य परिचयादि के साथ उसकी प्रशस्ति लिखी है। जिससे उसका रचनाकाल संवत् १७५४ बतलाया गया है। पद्य विविध छन्दों में दिए हुए हैं। प्रति नया मन्दिर धर्म-

पुरा दिल्ली के शास्त्रभंडार की है। और प्रकाशन के योग्य है।

२ वर्धमान पुराण—भ० सकलकीर्ति, पद्यानुवादकर्ता पं० बंजनाथजी माथुर हैं। रचना विक्रम की १६ वीं शताब्दी की है। मूल ग्रंथ अभी तक अप्रकाशित है, और उसका पद्यानुवाद भी। इसका प्रकाशन शीघ्र होना चाहिए।

३ उत्तर पुराण—मूलग्रंथ, आचार्य गुणभद्र प्रणीत है। पद्यानुवादकर्ता पं० खुशालचन्द्र हैं। ग्रंथ में कवि ने दोहा, सवैया, अंडिल, चौपाई आदि विविध छन्दों का प्रयोग किया है। जिसे पढ़ने से मन सन्तुष्ट होता है। रचना सामान्य है। यह ग्रंथ अनेक भण्डारों में सगृहीत है। परिचय वाली प्रति नयामन्दिर धर्मपुरा दिल्ली की है। खुशालचन्द्र काला ने अनेक ग्रंथों के पद्यानुवाद किये हैं। वे प्रायः सभी ग्रंथ अभी तक अप्रकाशित हैं। इस ग्रंथ का प्रकाशित होना आवश्यक है।

४ शांतिनाथ पुराण—मूलग्रंथ के रचयिता भ० सकलकीर्ति हैं। मूलग्रंथ हिन्दी अनुवाद के साथ कलकत्ता से छप चुका है। पद्यानुवाद के कर्ता कवि सेवाराम हैं। इनकी अन्य कई रचनाएँ हैं। चौबीस तीर्थकर पूजा इन्होंने स० १८२४ में बनाई है।

५ हरिवंश पुराण—(पद्यानुवाद) इस ग्रंथ का पद्यानुवाद कवि खुशाल ने स० १७८० में किया था। यह ग्रंथ अभी तक अप्रकाशित है। प्रस्तुत प्रति दि० जैन नया मन्दिर धर्मपुरा की है।

६ मुनिमुव्रतनाथ पुराण—इस ग्रंथ का पद्यानुवाद व० इन्द्रजीत द्वारा स० १६४५ में सम्पन्न हुआ था। यह प्रति भी उक्त भंडार में अवस्थित है। रचना सामान्य है।

७ श्रेणिक चरित—के पद्यानुवादकर्ता भ० विजय-कीर्ति हैं। जा अजमेर गद्दी के पट्टघर थे। इसका रचना-

काल सं० १८२७ है यह ग्रन्थ भी उक्त भंडार में अब स्थित है। कवि की बनाई हुई अन्य अनेक रचनाएं अजमेर के शास्त्र भंडार में सुरक्षित हैं।

८ धन्यकुमार चरित्र—इस ग्रन्थ का पद्यानुवाद भी खुशालचन्द्र काला ने किया है। कवि खंडेलवाल जाति में उत्पन्न हुआ था। यह ब्रह्मनेमिदत्त के संस्कृत धन्यकुमार चरित्र का पद्यानुवाद है। नया मन्दिर धर्मपुरा में अवस्थित है।

९ महीपाल चरित्र—इस ग्रंथ के रचयिता रत्ननन्द के शिष्य चरित्रभूषण हैं। इस ग्रंथ के टीकाकार नथमल विलाला है। ग्रंथ की रचना सं० १६१८ में हुई है। रचना साधारण है।

१० यशोधर चरित्र—यह भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति की रचना है, इसके पद्यानुवादकर्ता भी वही खुशाल काला है, जिनका ऊपर उल्लेख किया है। ग्रंथ का रचनाकाल सं० १७८१ है।

११ नेमिपुराण—ब० नेमिदत्त, पद्यानुवादकर्ता वखतावरमल रतनलाल, रचना समय १६०६, प्रस्तुत ग्रंथ का मूल संस्कृत पद्यों में है। वह अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है किन्तु इसका हिन्दी अनुवाद सूरत से प्रकाशित हो चुका है। पद्यानुवाद अभी अप्रकाशित है, प्रति नयामन्दिर धर्मपुरा की है। कविता साधारण है।

१२ श्रीपालचरित्र—के कर्ता पंडित अतिसुख है। ग्रंथ का रचनाकाल सं० १६१८ है। कविता साधारण है। ग्रंथ अभी तक अप्रकाशित है।

१३ सीताचरित—इसके रचयिता कवि रायचन्द्र है, ग्रन्थ का रचनाकाल सं० १७१३ है। कविता कहीं-कहीं चुभती सी है, उसमें प्रवाह है, परन्तु वह सामान्य दर्जे की है।

इसी तरह अन्य अनेक ग्रंथ ग्रन्थभंडारों में पड़े हैं। कोई महानुभाव इन ग्रन्थों का प्रकाशन कर पुण्य का अर्जन करें।

वीरशासन-जयन्ती

परमानन्द शास्त्री

भारतीय इतिहास में श्रावण कृष्ण प्रतिपदा एक अनि प्राचीन ऐतिहासिक तिथि है। इसी तिथि से भारत वर्ष में नये वर्ष का प्रारम्भ हुआ करता था। नये वर्ष की खगिया मनाई जाती थी और वर्ष भर के लिये शुभकामनाएं की जाती थी। आचार्य यतिवृषभ की तिलोण पण्णत्ती और घवला जैसी प्राचीन टीकाओं में—‘वासस्स पढममासे सावणणामम्मि बहुल पडिवाए तथा वासस्स पढम मासे पढमे पक्खम्मि सावणे बहुले। पाडिवाद पुव्व दिवसे’ जैसे वाक्यों द्वारा इस तिथि को वर्ष के प्रथम मास का प्रथम पक्ष और पहला दिन सूचित किया है। देश में सावनी-आषाढी के विभाग रूप जो फसली साल प्रचलित है वह भी उसी प्राचीन प्रथा का सूचक जान पड़ता है जिसकी संख्या आजकल गलत रूप में प्रचलित हो रही है। कहीं-कहीं विक्रम संवत् का प्रारम्भ भी श्रावण कृष्ण एकम से माना जाता है जैसा कि विश्वेश्वर

नाथ रेड के ‘राजा भोज’ नामक ग्रन्थ से निम्न वाक्य से प्रकट है—‘राजपूताना के उदयपुर राज्य में विक्रम संवत् का प्रारम्भ श्रावण कृष्ण एकम से माना जाता है। इसी प्रकार मारवाड के झेठ-साहूकार भी वर्ष का प्रारम्भ इसी दिन से मानते हैं।’

इससे यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि उदयपुर राज्य और मारवाड में पहले से वर्ष का प्रारम्भ श्रावण कृष्ण प्रतिपदा से ही होता था। विक्रम संवत् को अपनाते हुए यहां के निवासियों ने अपनी वर्षारम्भ की तिथि को भी छोड़ दिया, और अनुरूप विक्रम संवत् को भी परिवर्तित कर दिया।

युग का आरम्भ और सुषम-सुषमादि के विभाष रूप कालचक्र का—उत्सविणी अवसविणी कालों का—प्रारम्भ

१. राजा भोज पृ० ५४

भी इसी तिथि से हुआ है। ऐसा पुरातन ग्रंथों में उल्लेख है।^१ साथ ही यह भी लिखा है कि युग की समाप्ति आषाढ की पौर्णमासी को होती है।^२ और पौर्णमासी की रात्रि के अनन्तर ही प्रातःकाल श्रावण कृष्णा प्रतिपदा को अभि-जित नक्षत्र, बालवकरण और रुद्र मुहूर्त में युग का आरम्भ हुआ करता है।^३ इन सब उल्लेखों से इस तिथि की महत्ता का स्पष्ट भान हो जाता है।

इसी श्रावण कृष्णा प्रतिपदा को प्रातःकाल सूर्योदय

१. एण्ड मुसमसुसमादयोअद्वा विसेसाजुगदिणासह पवत्तति जुगंतेण सह समप्पंति । पादलिप्ताचार्य उयो० क० टी०
 २. आषाढ पौर्णिमास्या तु युगनिष्पत्तिश्च श्रावणे । प्रारम्भः प्रतिपच्चन्द्र योगाभिजिदि कृष्णके ॥
लोकविभाग ७, ३६
 ३. आसाढ पुष्णमीएजुगणिप्पत्ती दु सावणे किण्हं । अभिजिम्हिचंदजोगे पाडिवदिवसम्हि पारभो ॥
त्रिलोकसार ४२१
- सावण बहुलपडिवए बालवकरणे अभीइनक्खत्ते ।
सव्वत्थ पढमसमये जुगस्स आडवियाणाहि ॥
ज्यातिपकरण्डक ५५

के समय अभिजित नक्षत्र में भगवान महावीर के शासन की उत्पत्ति विपुलगिरि पर हुई। उनकी प्रथम दिव्यवाणी खिरी। और उसके द्वारा उनका धर्मचक्र प्रवर्तित हुआ। यह उनके सर्वोदय तीर्थ का पहला दिन था। इसी दिन विलविलाट करते हुए पशु कुल की रक्षा हुई, उन्हें याज्ञिक हिंसा से त्राण मिला। उनके भय और दुःख में कमी आई। महावीर के अहिंसा डिमडिम नाद से जगत में कान्ति आई और जनमाधारण में अहिंसा की लहर दौड़ गई।

उनकी दिव्य देशनाओं से संसारके सभी जीवोंके प्रति प्रेमभाव प्रकट हुआ—कल्याण का मार्ग मिला। याज्ञिक हिंसा का प्रतिरोध हुआ, पशुओं को अभयदान मिला। संश्रुत और प्रपीडित जनता को अभूतपूर्व अवलम्बन मिला, जिससे वे सुखपूर्वक जीवन यापन कर सकें। रुद्धि-वाद और धर्मान्धता के आग्रह में शिथिलता आई। अहिंसा का नाद सब जगह प्रतिध्वनित होने लगा। उनके सर्वोदय तीर्थ में जन प्रवाह उमड़ा हुआ चला आया, उनकी शरण में सभी जीव सुख पाते, लोग ऐसे अहिंसा के महा-रथी भगवान की जय बोले बिना नहीं रहते। उन्होंने जनता की भलाई के लिए ही स्वयं सुखपूर्वक जिओ और दूसरों को जीने दो की दुहाई दी।

वीर शासन की विशेषताएँ

भगवान महावीर का यह शासन सर्वोदय तीर्थ के नाम से प्रसिद्ध है, क्योंकि उसमें संसार के समस्त जीवों के अभ्युदय—कल्याण—की बातों का समावेश है। इसमें जाति या धर्म सम्बन्धित संकीर्ण मनोवृत्तियों का सर्वथा अभाव है। इस शासन में आकर सभी जीव अपना आत्महित करने में समर्थ हो सकते हैं। उनकी सभा में देव, मनुष्य, असुर, पशु, पक्षी आदि सभी जीवों ने बैठ कर धर्माभूत का पान किया था। इसमें किसी को कोई विरोध नहीं है कि जाति-विरोधी जीव भी वहाँ (समवसरण सभा में) बैठ कर समभाव से रहते थे। उसका कारण भगवान महावीर की पूर्ण अहिंसा की प्रतिष्ठा थी। उन्होंने अहिंसा की पूर्ण प्रतिष्ठा को प्राप्त कर लिया था।

जब आत्मा अहिंसा की पूर्ण प्रतिष्ठा को प्राप्त कर लेता है—परमब्रह्म परमात्मा बन जाता है, तब उसमें कोई वैर विरोध नहीं रहता। जैसा कि पतंजलि ऋषि के निम्न सूत्र से प्रकट है—‘अहिंसा प्रतिष्ठायात्तत्सन्निधौ वैरत्यागः’ (योग सूत्र)। इसीलिए उनको सभा में बैठने वाले पशुओं में जाति-विरोध भी समाप्त हो गया था। सभी जीव स्वाभाविक प्रणय या मैत्रीभाव को प्राप्त हो जाते हैं। इसी कारण उनका तीर्थ सर्वोदय के नाम से प्रसिद्ध है।

सर्वोदय का अर्थ सब का उदय है, जिसे पाकर सभी जीव अपना अभ्युदय, कल्याण या विकास सिद्ध कर सकें, वही सर्वोदय है। तीर्थ का अर्थ तिरने—पार होने—का उपाय या साधन है। जिसे पाकर जीव अपना हित

माधन कर सकें वही सर्वोदय तीर्थ है। सर्वोदय का सम्बन्ध किसी साम्प्रदाय विशेष से नहीं है। संकीर्ण मनोवृत्तियाँ ही विरोध को उत्पन्न करती हैं। क्योंकि उनका दृष्टिकोण सर्वथा एकान्त रूप होता है। और एकान्त ही मिथ्या दर्शन है। उनका उसमें अभाव है। इसी से सर्वोदय तीर्थ कहा जाता है। आचार्य समन्तभद्र ने इसे युक्त्यनुशासन में सर्वोदय तीर्थ बतलाया है।

**सर्वान्तवत्तद् गुण-मुख्य-कल्पं, सर्वान्तशून्य च मिथोऽनपेक्षम् ।
सर्वापदामन्तकरं निरन्तं, सर्वोदयं तीर्थमिदं तद्वचः ॥**

महावीर का सर्वोदय तीर्थ सामान्य विशेषादि अशेष धर्मों को लिए हुए है। और मुख्य-गोण की व्यवस्था से युक्त है। सर्वान्त शून्य है, सब धर्मों से शून्य है, उसमें किसी एक धर्म का अस्तित्व नहीं बन सकता। परस्पर निरपेक्ष नयों का निरसन करने वाला है। सब आपदाओं का अन्त करने वाला है। इसका आश्रय लेने वाले जीवों के सब दुःख मिट जाते हैं और वे अपना अभ्युदय एवं उत्कर्ष सिद्ध करने में समर्थ हो जाते हैं।

भगवान् महावीर ने जीवों के दुःखों की परम्परा मिटाने, दूषित एवं संकीर्ण मनोवृत्तियों को औदार्य भावों से सरस बनाने का उपक्रम किया है। और सभी जीवों में मंत्रीभाव (दुःखेष्वनुत्पत्ति अभिलाषः मैत्री) रखने का निर्देश किया।

१. शासनो में होने वाले पारस्परिक विरोधों को दूर करने, दोषों को पचाने, विनष्ट करने और गुणों में अनु-राग रखने का संकेत किया है। यदि किसी जीव का किसी से विरोध हो जाता है और शत्रुभाव उत्पन्न हो जाता है तो उस विरोध को दूर करने के लिए अनेकान्त दृष्टि द्वारा दूर करने का प्रयत्न किया जाय। अनेकान्त दृष्टि केवल विरोध को ही नहीं मिटाती। प्रत्युत उनमें सौहार्द और अभिनव मैत्री का संचार भी करती है।

२. भगवान् महावीर ने बतलाया कि ससार के सभी जीव ममान हैं और सुख चाहते हैं तथा दुःख से डरते हैं। जैसे तुम्हें अपने प्राण प्यारे हैं उसी तरह सब जीवों को भी अपने प्राण प्यारे हैं। अतः उनके प्रति सम भाव रखते हुए उन पर दयाभाव रखना, उन्हें दुःख और सक्लेश से

बचाना प्रत्येक मानव का कर्त्तव्य है। अतः उन पर दयाभाव रखना ही श्रेयस्कर है।

३. विरोध का कारण मानसिक दोषवत्य है, अथवा आर्थिक, राजनैतिक एवं सामाजिक विषमता है। विरोध से शत्रुता बढ़ती है। अनैक्यता और विद्वेष को प्रोत्तेजन मिलता है। यही अशान्ति के कारण है। इनसे बचने हेतु उपाय करना बुद्धिमत्ता है। अनेकान्त दृष्टि से दोषों का शमन भले प्रकार हो जाता है, मन से दुर्भाव निकल जाते हैं। अतः अनेकान्त दृष्टि का जीवन में उपयोग करना जरूरी है।

४. जितने अर्थ से अपना प्रयोजन सिद्ध हो सकता है, उतना ही रखना, शेष का सब के हितार्थ त्याग कर देना बुद्धिमत्ता है। वीर शासन में परिग्रह को पाप बतलाया है। उससे बचने के लिए उसका परिमाण कर लेना, उससे अधिक की लालसा न करना परिग्रह परिमाण व्रत कहलाता है। परिग्रह ही विषमता का प्रबल कारण है, इसके कारण मानव जघन्य से जघन्य पाप करने में नहीं हिचकिचाता। महावीर ने इस गुरुतर पाप से छूटने का सहज उपाय उसका परिमाण करना या उसका सर्वथा त्याग कर देना बतलाया है।

५. कायरता घोर पाप है। कायर मनुष्य आत्म-घाती है। मानव की आन्तरिक कमजोरी ही कायरता में सहायक है इसी कारण वह हिंसक है। जिन्होंने इसका परित्याग किया और आत्म-साधना की वे सुखी हुए। जिसने कायरता को छोड़कर वीरता को अपनाया वह निर्भय बना। वही अहिंसक कहलाया। सम्यग्दृष्टि चूक निर्भय होता है अतः वह अहिंसक है। महावीर ने स्वयं आत्म-साधना कर जो उच्चादर्श प्राप्त किया है वह हमारे द्वारा आराध्य है।

जीव स्वयं अपने अच्छे बुरे कर्मों का फल स्वयं अकेला ही भोगता है। दूसरा कोई उसका सगा साथी नहीं होता।

इस तरह महावीर का शासन अनेक मौलिक विशेष-ताओं से भरा हुआ है। यदि हम उनके अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह जैसे सिद्धान्तों का अनेकान्त दृष्टि से पालन करें तो हमारा जीवन भी महावीर जैसा बन सकता है। और विश्व में शान्ति और सद्भावना का विकास हो सकता है।

(वि० सं० १४६१)

ऊपर गांव का अप्रकाशित जैन लेख

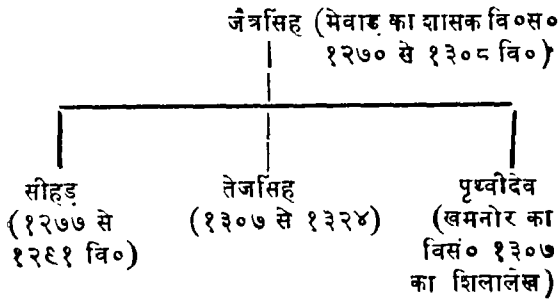
श्री रामवल्लभ सोमानी

ऊपर गांव डूंगरपुर से ३ मील दूर है। यहां एक भग्न दिगम्बर जिनालय में वि० सं० १४६१ का अप्रकाशित जैन लेख है। इसमें ३६ पक्तियों का एक विस्तृत शिलालेख है। यह प्रशस्ति डूंगरपुर राज्य के इतिहास के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण है। अब तक वहां के इतिहास के लिए ज्ञात प्रशस्तियों में यह सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। प्रारम्भ की ८ पक्तियों में तीर्थङ्करों की स्तुति है। पक्ति सं० ८ में श्लोक सं० ९ “राजपद्धति” नामक अश शुरू होता है। इसमें राजवंश का विस्तार से उल्लेख है। श्लोक सं० १० में बाप्पारावल का उल्लेख है। इसे गुहिल वंश में उत्पन्न वर्णित किया है। मेवाड़ के मध्यकालीन शिलालेखों में बाप्पारावल के सम्बन्ध में विभिन्न-विभिन्न मत दिये हैं। वि० सं० १०२८ के नरवाहन^१ के शिलालेख में “अस्मिन्भूद गुहिलगोत्रनरेन्द्रचन्द्रः श्रीवक्पकः क्षितिपतिः क्षितिपीठरत्नम्” पाठ दिया है किन्तु वि० सं० १०३४ के आघाटपुर के शक्तिकुमार के लेख में वंशावली^२ में बाप्पारावल का नाम ही नहीं दिया है। चित्तौड़ निवासी ब्राह्मण प्रियपट्ट के पुत्र वेदशर्मा ने महारावल समरसिंह के शासन काल में बनाई,^३ वि० सं० १३३१ की चित्तौड़ की प्रशस्ति एवं वि० सं० १३४२ की आबू की प्रशस्ति^४ में बाप्पारावल को गुहिल का पिता लिख दिया है। जो गलत है। इसके विपरीत इस ऊपर गांव की प्रशस्ति में स्पष्ट रूप से बाप्पा को गुहिलवंशी लिखा है। बाप्पा के पुत्र का नाम इस प्रशस्ति में खुम्माण दिया गया है जो महत्वपूर्ण है। स्वर्गीय पं० ओभाजी ने भी वान भोज को बाप्पा मानकर इसके पुत्र का नाम खुम्माण^५ दिया है। कुंभलगढ़ के वि० सं० १५१७ के शिलालेख में शीलादित्य (वि० सं० ७०३) को बाप्पा^६ वर्णित किया है और इसको आधार मानकर डी० सी० सरकार प्रभृति

विद्वानों ने शीलादित्य को ही बाप्पा माना है^७ किन्तु इस प्रशस्ति में बाप्पा के पुत्र का नाम स्पष्ट रूप से खुम्माण दिया हुआ है अतएव ओभाजी की मान्यता की इससे पुष्टि होती है।

श्लोक सं० १२ में बहुत ही महत्वपूर्ण सूचना दी गई है। इसमें बागड़ (डूंगरपुर) के वर्तमान शासकों के पूर्वज सीहड़ के सम्बन्ध में सूचना दी गई है कि यह मेवाड़ के महारावल जैत्रसिंह का पुत्र था। सीहड़ के संबंध में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। ओभाजी की मान्यता है कि यह सामंत सिंह का वंशज था जिसका बागड़ में कुछ समय तक अधिकार रहा था।^८ डा० दशरथ शर्मा की भी यही मान्यता थी।^९ इसके विपरीत श्रीराय चौधरी इसे मेवाड़ का शासक जैत्रसिंह का पुत्र बतलाते हैं।^{१०} वस्तुतः सामन्तसिंह का बागड़ पर अधिकार केवल कुछ वर्षों तक (वि० सं० १२३६ के आसपास) ही रहा था। उसे गुजरात के राजा को चैन से नहीं बैठने दिया। एवं मेवाड़ की तरह उसे बागड़ से भी निष्कासित कर दिया। इसकी पुष्टि वि० सं० १२४२ के अमृतपाल^{११} के ताम्रपत्र से होती है। वि० सं० १२५१ के बड़ौदा के हनुमान मूर्ति के लेख वि० सं० १२६१ के रामा के शिवमंदिर के लेख में अमृतपाल का शासक के रूप में उल्लेख है। आट के शिवालय के वि० सं० १२६५ के एक लेख में अमृतपाल के वंशज विजयपाल का शासक के रूप में उल्लेख है। ये लोग भट्टवंशी शासक थे। डूंगरपुर के शिलालेखों में सीहड़ के पिता का नाम जयतसिंह ही दिया गया है। वि० सं० १३०६ के जगत की अम्बिका^{१२} देवी के मन्दिर के एक शिलालेख में इसका स्पष्टतः उल्लेख है किन्तु बाद के लेखों में वंशावलियों में मतभेद है। वि० सं० १६१७ की महारावल आशकरण^{१३} की प्रशस्ति एवं वि० सं० १६७८

की गोवर्द्धन नाथ मंदिर की प्रशस्ति में सीहड़ के पिता जयतसिंह को उक्त सामंतसिंह का पुत्र बताया गया है।^१ वस्तुतः; सामंतसिंह का राज्य केवल वि० सं० १२३६ के आसपास ही था। उसके बाद मेवाड़ में उसका छोटा भाई कुमारसिंह राजा बना था एवं बागड़ में अमृतपाल आदि। अतएव सामंतसिंह के उत्तराधिकारियों के बागड़ में शासक होने के सम्बन्ध में कोई निश्चित सूचना नहीं है। ऊपर गांव का यह लेख सबसे प्रथम ज्ञात लेख है जिसमें स्पष्ट रूप से सीहड़ को मेवाड़ के शासक जैत्रसिंह का वंशज लिखा गया है।^२ कुभलगढ़ प्रशस्ति से भी स्पष्ट है कि जैत्रसिंह का अधिकार बागड़ पर था। वस्तुतः गुजरात के शासक भीमदेव चालुक्य II को मेवाड़ और बागड़ से निष्कासित करने में इसने महत्वपूर्ण योगदान दिया था। ओभाजी द्वारा दी गई वशावली में ऊपर की उक्त सूचना के आधार पर वशावली में निम्नांकित शोधन किया जाना आवश्यक है :-

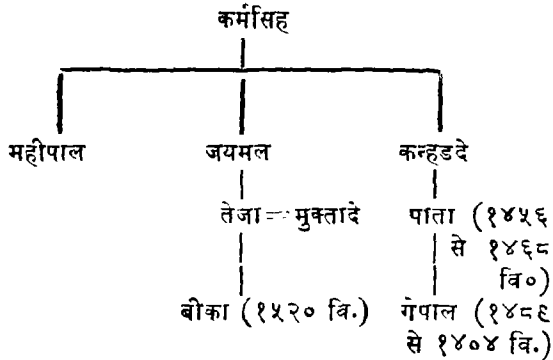


इस ऊपर गांव के लेख में सीहड़ के उत्तराधिकारी का नाम जैसल दिया गया है। ओभाजी के डूंगरपुर राज्य के इतिहास में इस राजा का नाम "विजयसिंह" माना है। इनका लिखना है कि यद्यपि झाड़ोल के लेख में राजा का नाम जयसिंह ही पढ़ा जाता है किन्तु मन्दिर का नाम "विजयनाथ"। अतएव ऐसा प्रतीत होता है कि राजा के नाम के साथ "वि" अक्षर छूट गया है किन्तु यह केवल कल्पना ही है। मुझे मूल शिलालेख की छाप देखने को भी मिली थी जिसमें "वयजनाथ" शब्द पढ़ा जाता है जिसका अर्थ वंशजनाथ होता है। वि० सं० १३०८ के झाड़ोल के लेख में भी राजा का नाम "जयसिंह" दिया गया है। ऊपर गांव की प्रस्तुत^३ प्रशस्ति में इसे

ही जैसल लिखा है अतएव यह नाम ही सही प्रतीत होता है। इसकी पुष्टि चौरवा गांव की वि० सं० १३३० की प्रशस्ति से भी होती है। इस लेख में उल्लेखित है कि तलारक्ष मदन ने अर्थूणा के युद्ध में जैसल^४ के लिए जैत्रमल्ल से युद्ध किया। उस समय अर्थूणा बागड़ के शासक जैसल के अधिकार में ही था। ओभाजी ने इस लेख के जैसल को मेवाड़ के राजा जैत्रसिंह से सम्बन्धित माना है जो पूर्णरूप से गलत है। इस प्रकार ऊपर गांव की प्रशस्ति की यह सूचना महत्वपूर्ण है।

श्लोक सं० १६ और १७ में बागड़ पर प्रबल शत्रुओं के आक्रमण का उल्लेख है। यह काल डूंगर सिंह और कर्म सिंह नामक राजाओं से सम्बन्धित है। इन राजाओं के शासन काल का शिलालेख नहीं मिला है। केवल वि० सं० १४५३ का एक शिलालेख अजमेर संग्रहालय में है जो "डेसा" गांव की बावड़ी का है जिसमें वर्णित है कि गुहलोत वंशी राजा भुचंड के पुत्र और डूंगर सिंह के पुत्र रावल कर्मसिंह की भार्या माणिकदे ने उक्त बावड़ी बनवाई। इससे प्रतीत नहीं होता है कि उक्त सवत तक कर्मसिंह जीवित था या नहीं। यह भीषण आक्रमण संभवतः अलाउद्दीन खिलजी अथवा गुजरात या मालवे के स्थानीय मुस्लिम शासकों का हो सकता है। विविध तीर्थ कल्प के सत्यपुर कल्प^५ में लिखा है कि गुजरात आक्रमण के समय उसकी सेनाएं बागड़ प्रदेश में होकर के गई थी। जयानन्द नामक^६ एक जैन साधु ने वि० सं० १४२७ में "बागड़ प्रवास गीतिका" नामक एक रचना रची थी। उसमें डूंगरपुर नगरमें ५ जैन मंदिर ६०० घर जैनियों के होना लिखा है। इसी प्रकार वड़ी जो वहां की प्राचीन राजधानी थी कम घर होना लिखा है इससे प्रतीत होता है कि उस समय तक राजधानी बदली जा चुकी थी। राजधानी परिवर्तन का कारण भी कोई बाहरी आक्रमण ही रहा प्रतीत होता है। कर्मसिंह का उत्तराधिकारी महीपाल हुआ। इस राजा के बारे में केवल मात्र उल्लेख महारावल पाता की ऊपर गांव की इस प्रशस्ति में ही है। ओभाजी ने कर्मसिंह के बाद कन्हडदेव को ही शासक माना है। किन्तु ऊपर गांव के इस शिलालेख के अनुसार^७ इसके एक पुत्र महीपाल

और था। (तत्पुत्रो निज नामपालि [लि]त महीपालः....") "डेसा" गाँव की बावड़ी के वि० सं० १५२० के लेख में कर्मसिंह के पुत्र जयसल का उल्लेख है। इस प्रकार वंशावली इस प्रकार होना चाहिए :-



इसके बाद श्लोक सं० २१ से काष्ठा सघ के नन्दि-तटगच्छ के आचार्यों का उल्लेख है। गोपसेन नामक एक आचार्य से वंशावली दी गई है। इसमें दिये गये साधुओं के नाम इस प्रकार हैं—गर्गसेन, नागसेन, गोपसेन, रामसेन, यशकीर्ति, कनकसेन, शुभङ्करसेन, अनन्तकीर्ति, मारसेन, केशवसेन, देवकीर्ति, नयकीर्ति, राजकीर्ति, पद्मसेन, भावसेन एवं रत्नकीर्ति। यह वर्णन श्लोक सं० २८ तक चलता है। एक श्लोक सं० ६६ में श्रेष्ठवश का वर्णन दिया गया है। यह तरमिहपुरा जाति का था। ज्ञाति विशाला विमला प्रसिद्धा सप्ताधिके विंशतिभिश्च-गोत्रैः। श्रीनारसिंहोजिनधमे निष्ठापुण्योगरिष्ठा विहिता प्रतिष्ठा" आदि वर्णित है। यह वर्णन श्लोक सं० ३८ तक चलता है। जो श्रेष्ठ भाट्ट वंश का वर्णन है।

सबसे इस प्रकार है "संवत् १४६१ वर्षे वैशाख सुदि ५ पचम्याम् शुक्रवारे राउल प्रतापसिंह विजयराज्ये ऊपर गाम नाम्नि ग्रामे श्रीकाष्ठासन्ने नन्दिनट गच्छे श्री रत्नकीर्तिस्त्रादेशान् नारसिंह जातीय खरनहरगोत्रे..." आदि ॥

महारावल गोपाल के समय जैनधर्म की अभूतपूर्व उन्नति हुई। कई ग्रंथ लिखे गये थे। उस समय यहाँ हुबडवशी श्रेष्ठियों ने विष्णु की मूर्तियाँ भी बनवाई थी जो धार्मिक सहिष्णुता की प्रतीक हैं। इनके शिलालेख मैं अलग से प्रकाशित कर रहा हूँ। इस प्रकार यह प्रशस्ति महत्वपूर्ण है। ●

फुटनोट :-

१. जनरल बम्बई ब्रांच रायल एशियाटिक सोसाइटी भाग XXII पृ० १६६
२. इंडियन एंटिक्वेरी vol ३६ पृ० १६१
३. पीटरसन्—भावनगर इन्स्क्रि० पृ० ७४ से ७७
४. इंडियन एंटिक्वेरी vol XVI पृ० ३४७-५१
५. ओम्हा—उदयपुर राज्य का इतिहास पृ० १०२-१०४
६. कुंभलगढ़ प्रशस्ति श्लोक सं० १३६
७. डी०सी०सरकार—गुहिलोत्स आफ किष्किन्धा पृ० ४८
८. ओम्हा—डूंगरपुर राज्य का इतिहास
९. डा० दशरथ शर्मा—राजस्थान थू दी एजज
१०. अरली हिस्ट्री आफ मेवाड पृ०—
११. इन लेखोंके लिए "बागडमे गुहिल राज्यकी स्थापना" नामक मेरा लेख जो वरदा म एव ऐतिहासिक शोध-संग्रह नामक पुस्तक में प्रकाशित हुआ है दृष्टव्य है।
१२. ... "गुहिलवशे रा० जयतसिंह। पुत्र सीहड पौत्र जयतस्येध देवेन..." (अप्रकाशित लेख)
१३. "वंशावली में" सामंतसी रा० जीतसी रा० सीहड दे" दिया गया है।
१४. सामंतसिंहोस्य विभुविजोन्ने (जे) १५३ सजि (जी) तसिंह तनयं प्रपदे य एव लोक सकल वियजे "तस्य सिंहलदेवोभूत ..."
१५. जैत्रसिंहो जिगायेला सीहडेनाखिलामही। राजन्वती वभूवाल सालङ्काराङ्गनेव या ॥१२॥ (ऊपर गाँव का लेख)
१६. उपरोक्त श्लोक सं० १३
१७. यः श्रीजैसलकार्येभवदुत्थूणकरणागणे प्रहरन्। पचलगुडिकेन सम प्रकटवलो जैत्रमल्लेन ॥२८॥ (चीरवे का लेख)
१८. "अह तेरसयछप्पन्नविक्रमवरिसे अल्लावदीण सुर-ताणस्स कणिट्ठो भाया खलूखान नामधिज्जो ढिल्ली पुराओ मंतिमाह्व पेखिओ गुज्जरधर पट्टिओ।—तओ हमीरजुवराओ वग्गडुस मुहडासयाई नयराणि य भजिय आसायल्लोए पत्तो" (विविधतीर्थकल्प) पृ० ६५
१९. महारावल लक्ष्मणसिंह के राजत्वकाल के रजतजयंती अक में श्री अमरचन्द नाहटा का लेख।
२०. ऊपर गाँव की प्रशस्ति श्लोक संख्या १८

मध्य प्रदेश का जैन पुरातत्व

अगरचन्द नाहटा

जैन पुरातत्व भारत के कोने में कोने में बिखरा पड़ा है। क्योंकि जैनधर्म का प्रचार भारत के प्रायः सभी प्रदेशों में न्यूनाधिक रूप में होता रहा है। प्रारम्भ में इसका प्रचार बंगाल, बिहार की ओर अधिक था, फिर महान दुर्भिक्ष और राजनैतिक उथल-पुथल के कारण जैन श्रमणों ने इधर मथुरा और उधर दक्षिण भारत को धर्म प्रचार का केन्द्र बनाया। क्रमशः राजस्थान और गुजरात में तो श्वेताम्बर सम्प्रदाय का प्रचार बढ़ा और उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र एवं दक्षिण की ओर दिगम्बर सम्प्रदाय का अधिक प्रभाव दिखायी देने लगता है।

जैन धर्म को पहले तो राजाओं ने भी अपनाया था। जैन साधु-साध्वि पैदल विहार करते हुए तीर्थ यात्रा और धर्म प्रचार के लिए भारत के सभी प्रदेशों में विचरने लगे उनके उपदेशों से वैश्य समाज विशेष प्रभावित हुआ। व्यापारी समाज अपनी आजीविका और व्यापारादि प्रसंगों से भारत के सभी प्रदेशों में फैला हुआ है जिससे जैन समाज का भी प्राधान्य रहा है। जैन व्यापारी जहाँ-जहाँ गये अपनी मिलन सारिता, सद्ब्यवहार, नीति-निपुणता और श्रमशीलता के कारण अधिक सफल हुए और उन्होंने जो प्रचुर धनोपाजन किया उसका एक अंश जैन मुनियों के उपदेशों से प्रभावित होकर मन्दिरों एवं मूर्तियों आदि के निर्माण एवं प्रतिष्ठादि में खर्च किया। फलतः जैन मन्दिर और मूर्तियाँ भारत के प्रायः सभी प्रदेशों में पायी जाती हैं।

मुसलमानी-साम्राज्य के समय अन्य हिन्दू मन्दिर और मूर्तियों की तरह जैन मन्दिर और मूर्तियों को भी काफी नुकसान पहुँचा, बहुत से मन्दिर नष्ट-भ्रष्ट कर दिये गए और मूर्तियाँ तोड़ दी गयीं। कई जैन मन्दिरों को मस्जिद का रूप दे दिया गया और कई जैनैतरों ने हथिया कर उनमें शिवलिंग एवं विष्णु आदि की मूर्तियाँ स्थापित

कर दी। मुसलमानों के आक्रमण के भय से स्वयं जैन समाज ने भी बहुत सी मूर्तियों को भूमिस्थ कर दिया था मन्दिरों के गर्भ गृह में (गुम्भारे) में इस तरह छिपा कर रख दीं, जिससे मुसलमान उन्हें नष्ट नहीं कर सके। कई ग्राम नगर उजाड़ से हो गये, पुराने मन्दिर व मकान दब गये उनके ऊपर घूलि आदि इतने परिमाण में छा गयी कि वे टीले से बन गए। इस तरह प्राचीन जैन पुरातत्व मुसलमानी साम्राज्य के समय और उससे पहले प्राकृतिक कारणों से टीलों के नीचे काफ़ी दब गया या नष्ट-भ्रष्ट हो गया।

अंग्रेजी शासन के समय भारत की प्राचीन संस्कृति, साहित्य, इतिहास, कला की खोज प्रारम्भ हुई। उन्होंने बहुत से प्राचीन स्थानों की खुदाई की व करवाई जिससे प्राचीनतम सभ्यता और कला के अवशेष प्रकाश में आये और यह क्रम आज भी भारत सरकार की ओर से चालू है। भारत के पुरातत्व विभाग ने अनेक स्थानों की खुदाई की है और इधर-उधर बिखरे हुए पुरातत्व को म्यूजियम या संग्रहालय में संग्रह किया है। अनेक स्थानों के पुरातत्व की खोज करके उनसे बहुत सी रिपोर्टें प्रकाशित की हैं। बहुत वर्ष पहले ब्रह्मचारी शीतल प्रसाद जी ने ऐसी रिपोर्टों के आधार से अलग-अलग प्रान्तों के जैन पुरातत्व या स्मारकों सम्बन्धी ग्रन्थ हिन्दी में लिखकर प्रकाशित करवाये थे पर उसके बाद जैन पुरातत्व का ऐसा सर्वेक्षण प्रायः नहीं हुआ, जिसकी बहुत ही आवश्यकता है। जैन समाज चाहे तो भारत के पुरातत्व विभाग के विद्वानों से एक-एक प्रदेश के जैन पुरातत्व सम्बन्धी निबन्ध लिखवा कर उन्हें एक ग्रंथ के रूप में प्रकाशित करवा सकता है। अपनी प्राचीन कला और इतिहास की जानकारी के लिए यह कार्य किसी जैन संस्था को शीघ्र एवं अवश्य हाथ में लेना चाहिए।

अभी-अभी मध्य प्रदेश शासन ने 'पुरातत्व सप्ताह'

मनाया है, इस प्रसंग पर ग्वालियर से प्रकाशित मध्य प्रदेश संदेश का 'पुरातत्व अंक' प्रकाशित हुआ है जिसमें मध्य प्रदेश के अनेक स्थानों के जैन पुरातत्व का भी संक्षिप्त उल्लेख हुआ है। पुरातत्व अंक में करीब पैंतीस (३५) स्थानों का विवरण छपा है जिनमें से 'सोनागिर' दिगम्बर जैनतीर्थ का विवरण श्री हरिमोहन लाल श्रीवास्तव ने दिया है। वह तो जैन पत्रों में ज्यों का त्यों प्रकाशित किया जा सकता है। अन्य स्थानों के विवरण में प्रसंगवश जैन मन्दिर व मूर्तियों का उल्लेख हुआ है जिनका आवश्यक अंश इस लेख में प्रकाशित कर रहा हूँ जिससे जैन समाज को मध्य प्रदेश में फैले हुए जैन पुरातत्व की कुछ जानकारी मिल सके और विद्वद्गण विशेष खोज के लिए प्रेरणा प्राप्त करे।

प्रस्तुत पुरातत्व अंक में कुछ जैन मन्दिर और मूर्तियों के चित्र भी छपे हैं। गुप्तकाल से लेकर मध्यकाल तक के जैन मन्दिर और मूर्तियों का जो विवरण इस अंक में छपा है उसमें कुछ स्थान तो प्रसिद्ध हैं पर कुछ ऐसे भी हैं जिनके सम्बन्ध में जैन समाज को प्रायः जानकारी नहीं है। उज्जैन में जो जैन संग्रहालय श्री सत्यधर सेठी आदि के प्रयत्न से जैन मन्दिर से संलग्न रूप में स्थापित है उसकी भी जैन मूर्तियों आदि का विवरण इस 'पुरातत्व अंक' में प्रकाशित किया जाता तो अच्छा होता। अब इस अंक की जैन सम्बन्धी जानकारी नीचे दी जा रही है—

(१) ग्वालियर—उरवाई द्वार के दोनों ओर ढाल पर अनेक छोटी-बड़ी जैन मूर्तियाँ बनी हुई हैं। इसी प्रकार किले की चट्टानों पर कई मूर्तियाँ जहाँ तहाँ उत्कीर्ण हैं। पत्थर की ये जैन तीर्थंकरों की मूर्तियाँ उत्तर भारत की विशालतम मूर्तियों में से हैं। लक्ष्मण द्वार से उतरे हुए ढाल पर बायीं ओर बनी सबसे बड़ी मूर्ति तो १७ मीटर ऊँची है।

(२) मुहानिया—अनेक जैन मूर्तियों के अतिरिक्त आसपास के क्षेत्र में प्राप्त अनेक अवशेष (चैतनाथ) यहीं के मन्दिर में एकत्रित हैं।

(३) पठावली—ग्राम के पश्चिम में जैन मन्दिर के अवशेष हैं। जिनकी मूर्तियों का शिल्प उच्चकोटि का है। ग्राम के आस-पास के क्षेत्र में भी जैन मूर्तियाँ पड़ी

दिखाई देती हैं।

(४) तिराही—जैन चोमुखी की सुन्दर मूर्ति दृष्टि-गोचर होती है। यह वास्तुकला का अनूठा नमूना है।

(५) इन्दार-महुआ—जैन तीर्थंकरों की प्राचीन मूर्तियाँ प्रतिष्ठित हैं इन मूर्तियों का शिल्प, दर्शक को मंत्र-मुग्ध कर देता है।

(६) चन्देरी—अनेक जैन मूर्तियाँ यहाँ तथा बूढ़ी चन्देरी में ध्वस्तावस्था में हैं।

(७) खजुराहो—घटई मन्दिर—यह खजुराहो के दक्षिण में बना हुआ है। यद्यपि यह मन्दिर भग्नावस्था में है, तो भी शिल्पकारों की कला प्रवीणता की गौरवमयी कहानी को धीरे-धीरे कहता हुआ लगता है। इसके प्रवेश द्वार पर आठ भुजाओं वाली जैन देवी की मूर्ति गरुड़ पर विराजमान होकर द्वार की शोभा को द्विगुणित कर रही है। मन्दिर के तोरण के ऊपरी भाग में जैन प्रवर्तक तीर्थंकर महावीर की माता के सोलह स्वप्नों का सजीव अंकन हो रहा है।

पार्श्वनाथ मन्दिर—खजुराहो का विशाल तथा सुन्दरतम मन्दिर है। इसके भीतरी भाग में बना सुन्दर सिंहासन है। इसके अगले भाग में वृषभ की प्रतिमा का अंकन किया गया है। इसमें पार्श्वनाथ की आधुनिक प्रतिमा की स्थापना १८६० में की गयी थी। इस मन्दिर के गर्भ-गृह के बाहरी दीवारों पर शिल्प कला के द्वारा बालक बालिका शृंगारित सुन्दरी आदि के अनोखे रूपांकन हैं। आदिनाथ मन्दिर, पार्श्वनाथ मन्दिर के पास ही उत्तर में छोटी सी आकृति में विनिर्मित है।

(८) बड़ोह पठारी—जैन मन्दिर—एक अहाते में लग-भग २५ जैन मूर्तियाँ विराजमान हैं, मध्य में एक ऊँची वेदी है। कुछ मूर्तियाँ शिखरों से सुशोभित हैं, कुछ गुम्बदों से अलंकृत हैं और कुछ के ऊपर समतल छत है।

बड़ोह के भव्य जैन मन्दिर और वहाँ की एक प्राचीन जैन प्रतिमा का ब्लाक 'मध्यप्रदेश संदेश' के ता० २० जून के अंक में अभी छपा है।

(९) ग्यारसपुर—बज्रमठ—यह छोटा-सा अनुपम मन्दिर है जिसमें तीन छोटे-छोटे मन्दिर एक ही बरामदे में हैं। आज इनमें जैन मूर्तियाँ हैं जिसकी स्थापना बाद

में की गई स्पष्ट रूप से प्रतीत होती है।

दि० २० जून के अंक में लिखा है कि विदिशा जिले के ग्यारसपुर ग्राम में स्थित माला देवी मन्दिर प्रतिहार स्थापत्य कला का सबसे परिपक्व दृष्टान्त है। इसमें गर्भ-गृह, अन्तराल मण्डप तथा अर्थ मण्डप है। गर्भ-गृह के चारों ओर प्रदक्षिणा-पथ है। इसका शिखर पंचरथ है तथा उसके चारों ओर आठ अन्य लघु शिखर हैं। मण्डप तथा गर्भ-गृह दोनों के बीच में पंचशाखाये हैं। गर्भ-गृह द्वार का ललाट (lintel) स्थानक जैन प्रतिमाओं से अलंकृत है। मण्डप द्वार के ललाट पर प्रदर्शित गरुडारूढा यक्षी चक्रेश्वरी इसके जैन मन्दिर होने की सूचना देती है। यह मन्दिर आशिक रूप से सरचनात्मक तथा आशिक रूप से शिला में काटा हुआ है।

(१०) उदयगिरि गुफाएँ—इनमें जैन मूर्तियाँ भी हैं।

(११) भोजपुर—जैन मन्दिर तथा गाँव से तीन मील दूर विद्यमान जैन तीर्थंकर शान्तिनाथ की मूर्ति के लिए भी प्रसिद्ध है। शिव मन्दिर के पूर्व में जो जैन मन्दिर है वह भोज के समय का ही है ऐसा राज मन्दिर के शिलालेख से प्रतीत होता है। शान्तिनाथ की मूर्ति आशापुरी नामक गाँव में है।

(१२) ऊन—जैन मन्दिरों में सबसे प्रसिद्ध चौबारा-डोरा नाम का दूसरा मन्दिर है। इसको कला लगभग वंसी ही है जैसी इस नाम के पहले मन्दिर की है। सड़क के पार और निकट ही दूसरा मन्दिर है जिसका नाम है ग्वालेश्वर मन्दिर।

(१३) मुक्तागिरि—के मन्दिर—बैतूल जिले में मुक्तागिरि स्थान जैन सम्प्रदाय के लोगों के लिए मुख्य है। यहाँ ५२ मन्दिर हैं जिनमें से अधिकांश आधुनिक जैन स्थापत्य-कला के नमूने हैं। एक मन्दिर चट्टान में है जो एक वन-घाटी में चट्टानों पर बने हैं। यहाँ एक सुन्दर प्रपात ऊँचाई से गिरता है।

(१४) नरवर—अनेक जैन मूर्तियाँ टूटी पड़ी हैं जिन पर चौदहवीं शताब्दी के अनेक वर्ष खुदे हुए पड़े हैं।

(१५) अजयगढ़—सड़क के ठीक दूसरी ओर तलाब के समीप ही जैन तीर्थंकर की तीन विशाल मूर्तियाँ हैं जो कला का अनुपम उदाहरण हैं।

(१६) आरङ्ग—जिला रायपुर में आरङ्ग में स्थिति भग्न जैन मन्दिर जिसे भाण्ड देवल कहा जाता है, मूमिज शैली के मध्यप्रदेश में विद्यमान अनेक उदाहरण है।

अभी सागर विश्वविद्यालय के पुरातत्व विभाग में अधिकारी विद्वान श्रीकृष्णदत्त जी वाजपेयी हैं जो पहले मथुरा म्यूजियम के ब्यूरीटर थे जहाँ कंकाली टीले से प्राप्त जैन पुरातत्व से उन्हें बड़ा प्रेम रहा है। उन्होंने जैन पुरातत्व सम्बन्धी अनेकों लेख लिखे हैं अतः उनसे उत्तर और मध्य प्रदेश की जैन पुरातत्व सम्बन्धी एक सचित्र ग्रन्थ तैयार करवा के प्रकाशित किया जाना आवश्यक है।

मध्यप्रदेश के श्री नीरज जैन आदि कई बन्धुओं का भी पुरातत्व से गहरा प्रेम और अच्छा अध्ययन है। उनसे भी एक ग्रन्थ लिखवाया जाय, भगवान महावीर की २५वीं जयन्ती की चर्चा काफी चल रही है पर इन ठोंस कार्यों की ओर किसी का अभी तक ध्यान नहीं गया मैंने भारत जैन महामण्डल के सुयोग्य कार्यकर्ता श्री ऋषभदास जी राका को अनेकों बार लिखा कि २५ सौवीं जयन्ती के उपलक्ष में जो साहित्य प्रकाशनार्थ तैयार हो रहा है उसमें एक ग्रन्थ 'जैन कला' के सम्बन्ध में भी अवश्य प्रकाशित हो। जैन मन्दिर, मूर्ति चित्रकला आदि के कला पूर्ण चित्रों का एक एलबम भी अवश्य प्रकाशित किया जाय। वास्तव में जैन कला बहुत उच्च स्तर की रही है। भारतीय कला में उसका महत्वपूर्ण स्थान है। हमारे पूर्वजों ने लाखों करोड़ों रुपये उन कलाओं के उन्नयन में खर्च किया है। सर्वाधिक लोगों को आकर्षित करने का माध्यम कला ही है। बालक से लेकर वृद्ध तक सभी सुन्दर मन्दिर, मूर्ति और चित्रों को देख कर आकर्षित होते हैं। जैन कला की भव्यता का दर्शन करके जनसाधारण और बड़े-बड़े विदेशी विद्वान जैनधर्म के प्रति आकर्षित हुए हैं।

जैन पुरातत्व से जैनधर्म की प्रचीनता सिद्ध होने के साथ-साथ जैन साहित्य का महत्व भी विद्वानों के समक्ष आया है। जैन इतिहास की अनेक महत्वपूर्ण बातें जैन पुरातत्व से ही प्रकाश में आ सकीं। अतः उसकी खोज सग्रह एवं प्रकाशन का कार्य जोरों से किया जाना आवश्यक है।

वीर-शासन जयन्ती

श्रावण कृष्ण प्रतिपदा दिनांक १६ जुलाई १९७०
वीरसेवामन्दिर २१ दरियागंज के तत्वावधान में श्री
दि० जैन लाल मन्दिर चांदनी चौक दिल्ली में वीर शासन
जयन्ती समारोह का आयोजन किया गया। उत्सव की
अध्यक्षता दिल्ली विश्व विद्यालय के बौद्ध अध्ययन
विभाग के अध्यक्ष डा० रामचन्द्र पाण्डे ने की।

समा का आरम्भ जैन वाल आश्रम के छात्रों तथा
जैन महिलाश्रम की छात्राओं के धार्मिक भजनों तथा
गायनों से हुआ।

सर्व प्रथम पं० परमानन्द शास्त्री ने वीर शासन
जयन्ती के महत्त्व और उसके इतिहास पर प्रकाश डालते
हुए कहा कि सर्व प्रथम आचार्य जुगल किशोर जी मुस्तार
ने वीरशासनजयन्ती मनाने की और लोगों का ध्यान
आकृष्ट किया। तिलोय पण्णत्ती और घवला में इस बात
के सन्दर्भ मिलते हैं कि सावन कृष्ण प्रतिपदा के दिन
सूर्योदय के समय अभिजित नक्षत्र में प्रथम वाणी खिरी थी—
महावीर के सर्वोदय तीर्थ का प्रवर्तन हुआ था।

वीर-सेवा-मन्दिर के मंत्री श्री प्रेमचन्द्र जैन ने कहा
कि वीर-सेवा-मन्दिर के लिए यह हर्ष और गौरव की
बात है कि उसके संस्थापक आचार्य जुगल किशोर मुस्तार
ने वीरशासनजयन्ती की शुरुआत की, जिसे हम प्रति
वर्ष मनाते आ रहे हैं। इस वर्ष यह महोत्सव सर्व साधारण
के हितार्थ दि० जैन लाल मन्दिर में मनाया गया, उप-
स्थिति सन्तोष-जनक थी।

ब० प० हुकमचन्द जी सलावा ने भगवान महावीर के
सिद्धान्तों का विवेचन करते हुए कहा कि आज के युग में
उनकी नितान्त आवश्यकता है। हिन्दी के प्रसिद्ध साहित्य
कार श्री यशपाल जैन ने आज के युग के सन्दर्भ में

महावीर के उद्देश्यों की व्याख्या करते हुए बतलाया कि
हम सब नेक और एक बने।

भारतीय ज्ञानपीठ के मंत्री श्री लक्ष्मीचन्द जैन ने
तीर्थ, तीर्थकर और शासन की व्याख्या करते हुए बतलाया
कि वीर शासन जयन्ती की उपयोगिता तभी है जब हम
भगवान महावीर के उपदेशों को अमल में लायें। प०
बाबू लाल जी कलकत्ता, प० प्रकाश हितैषी भारिल्ल,
तथा ला० प्रेमचन्द जैनावाच वालों ने भगवान महावीर
के सिद्धान्त अहिंसा, अनेकान्त तथा अपरिग्रह को अमल
में लाने पर बल दिया।

डा० गोकुल चन्द जैन ने अपने भाषण में बतलाया कि
भगवान महावीर के चिन्तन और सिद्धान्तों की व्याख्या
धर्म और दर्शन के दायरे से हटकर विश्व चिन्तन के
सन्दर्भ में आनी चाहिए, अब तक प्रायः उनके सिद्धान्तों
की व्याख्या धार्मिक और दार्शनिक दृष्टिकोणों से की गई
है आवश्यकता इस बात की है कि आज के युग के परि-
वेश में उनके उपदेशों का मूल्यांकन समाज शास्त्र और
लोक-कल्याण की दृष्टि से किया जाय। अध्यक्ष-पद से
बोलते हुए डा० रामचन्द्र पाण्डे ने कहा कि भगवान
महावीर और उनके सिद्धान्तों के बारे में विद्वानों ने जो
कुछ कहा है वह निश्चय ही तथ्यपूर्ण है। इसलिए हमें
उन्हें अपने जीवन में उतारने का यत्न करना चाहिए।

अन्त में वीरसेवामन्दिर के उपाध्यक्ष ला० श्याम
लाल जैन ने अध्यक्ष, विद्वानों एवं उपस्थित समस्त
श्रोताओं को धन्यवाद दिया और महावीर की जय के
साथ महोत्सव समाप्त किया।

प्रेमचन्द जैन
मंत्री, वीर सेवा मन्दिर

भगत प्यारेलाल जी का समाधिमरणपूर्वक स्वर्गवास

पूज्य बाल ब्रह्मचारी भगत प्यारेलाल जी महाराज का समाधिमरण ज्येष्ठ सुदी ७ से चालू हुआ ५ तोला गर्म जल से। ज्येष्ठ सुदी १५ शुक्रवार को दिन के एक बजकर पचास मिनट पर बड़े होश-हवास में मरण हुआ। अन्त में जयपुर संस्कृत कालेज के प्रिंसिपल पं० गुलाबचन्द जी पहुंच गये थे। उन्होंने खूब धर्म सुनाया तथा अग्नि संस्कार भी कराया। उनके आनेसे समाधि शान्तिपूर्वक सम्पन्न हुई।

भगतजी को ६ दिन तक १००/१३५ दस्त होते रहे। आपकी सेवा के लिए इसरी से ब्र० आत्मारामजी भा आये थे। तथा बा० रूपचन्द जी तथा ब्र० चमेलोवाई जी ने बहुत ही सेवा की। भगत जी को तीव्र वेदना थी : किन्तु उन्होंने परवाह न की। उनका समाधिमरण बड़े आनन्द से हुआ। प्रतिदिन पड़े-पड़े सामायिक पाठ सुनते थे। शक्ति क्षीण हो गई थी पर उत्साह पूर्ण था। आपका त्याग प्रशंसनीय था, धैर्यशक्ति भी थी। उफ नही करते थे।

भगत जी का जन्म राजा खेड़ा के पास दिप्पी गांव में श्री नाथूराम जी जैन के घर मगशिर सुदी ४ सम्बत् १९४१ में हुआ था। आप ईस्वी सन् १९४१ में आज से ५६ वर्ष पहले कलकत्ता आये थे। पाठशाला में तो नहीं पढ़े थे। पर उस समय पं० गजाधरलालजी आदि से कुछ पढ़ लिया करते थे। इस तरह संस्कृत और प्राकृत भाषा का अर्थ करना सीख गये थे। गोम्मटसार की अष्टक संदृष्टि आप चार-पांच जनों को १९३६ में पढ़ाया करते थे। मुनि श्रुतसागर जी महाराज ब्र० सुरेन्द्रनाथ जी आदि सब उनसे पढ़े हैं।

जब आप कलकत्ता आये तो स्व० बाबू छोटेलाल जी के बड़े भाई स्व० दीनानाथ जी तथा सेठ बलदेवदास जी से पूजन करते समय परिचय हुआ। स्वभाव से सादा जीवन तथा स्वाध्याय प्रेमी होने से दीनानाथ जी आपका भगतजी महाराज कहते थे। शुरू में १९१७ तक तीन वर्ष आपने कपड़े को फेरी की थी। वह छुड़ा दी गई और आप सामाजिक, पूजन तथा स्वाध्याय में समय बिताने लगे। स्व० दीनानाथ जी का परिवार आपको देवता की तरह मानता था। बड़े बूढ़े, स्त्री, बच्चे सभी पर आपका प्रभाव था। सेठ दयाचन्द जी, सेठ विरधीचन्द जी, सेठ बैजनाथ जी, सेठ हुकुमचन्द्र जी इन्दौर, सेठ भागचन्द जी इन्दौर, सेठ रतनलाल जी रांची, जगन्नाथ जी कोठरिया तथा हजारोबाग, गया, गिरीडीह, जियागंज, आसाम, राजस्थान आदि के भाइयों पर आपका बड़ा प्रभाव था। चारित्र के आप ज्यादा पक्षपाती थे।

आप उदासोन आश्रम इन्दौर तथा इसरी के अधिष्ठाता थे, पीछे पद त्याग कर दिये थे। फिर भी दोनों आश्रमों में आपकी सम्मति मानी जाती थी। आपने अपने खर्च के लिए किसी से पैसे नहीं लिया। आपने ४५ वर्ष पहले राजाखेड़ा में एक साधारण पाठशाला खोली थी। वह आज एक विद्यालय के रूप में है। उसमें ३०० बालक और १०० कन्याएं पढ़ती हैं। पं० नन्हेंलाल जी वर्षों से प्रधानाध्यापक के रूप में उसका संचालन करते हैं। भगतजी पं० जी को बहुत मानते थे और बड़ा स्नह करते थे। वर्तमान में विद्यालय का फण्ड २६००००) है और डेढ़ लाख के मकानात हैं। इसकी ट्रस्ट कमेटी के संरक्षक भगतजी थे। सभापति घमचन्द जी हैं, शान्तिलाल मंत्री हैं, और सदस्य नन्दलालजी, जुग-मन्दिरदास जी, रूपचन्दजी, श्यामलाल जी, हुमकचन्द जी तथा सावित्रीवाई जी हैं।

नन्दलाल सरावगी
कलकत्ता

अखिल भारतीय जैन जनगणना समिति

आवश्यक-पत्र

मान्यवर, सादर जयजिअन्द्र !

जैसा कि आपको विदित ही है कि देश की जनगणना फरवरी १९७१ में हो रही है। भारत में जैनियों की संख्या एक करोड़ से कम नहीं है, किन्तु पिछली जनगणना में केवल २० लाख आयी है। इस सम्बन्ध में आपकी सेवा में पत्र आदि भेजे गये हैं, जिससे आपको 'अखिल भारतीय जैन जनगणना समिति' की गतिविधियों की जानकारी मिली होगी।

आप जानते ही है कि यह एक बड़ा महत्वपूर्ण कार्य है। आज जिस समाज की शक्ति सगठित है उसकी बात का महत्व है। जैन समाज में इनको जाति, गोत्र, सम्प्रदाय है। जिन्हें हम अधिकतर अपने नाम के साथ लिखते हैं। जनगणना में उपजाति लिखाने के कारण समाज को बहुत नुकसान उठाना पड़ा है।

आगामी होने वाली जनगणना में जैन समाज को भूल सुधार कर अपने साथ जैन बताना। एव धर्म के कालम न० १० में जैन लिखाना आवश्यक है। तभी इस महान कार्य में सफलता प्राप्त हो सकती है। आप यह भी जानते हैं कि यह कार्य किसी एक सम्प्रदाय या संस्था का नहीं, प्रत्येक जैन का है। जैन समाज भारत के कोने-कोने में रहती है और हम उपरोक्त जानकारी प्रत्येक घर-घर में पहुंचाना है।

इस कार्य हेतु देशव्यापी प्रचार हो रहा है, प्रान्तीय व क्षेत्रीय समितियों का गठन कर इसके व्यापक प्रसार का प्रयास प्रारम्भ है। कई प्रान्तों व क्षेत्रों की समितियों का गठन हो चुका है। जिनका कार्य सुचारु रूप से चलना प्रारम्भ हो गया है। अन्य स्थानों पर भी समितियां गठित हो रही हैं जो अपना कार्य सुचारु रूप से प्रारम्भ करेंगी। जनगणना समिति के अधिकारी देश का भ्रमण कर समितियों के गठन कराने के प्रयास में लगे हुए हैं।

३-४ अक्टूबर १९७० शनिवार, रविवार को दिल्ली में अ० भा० जैन जनगणना समिति के अन्तर्गत जैन सम्मेलन का आयोजन किया जा रहा है, जिसमें प्रत्येक प्रान्तों से जैन जनगणना समिति के प्रतिनिधियों एवं सभी सम्प्रदायों के कार्यकर्ताओं को आमंत्रित किया जायेगा। जिसमें केन्द्रीय समिति का पूर्ण गठन तथा जनगणना के कार्य को व्यापक रूप से चलाने के लिए योजनाओं पर विचार-विमर्श होगा। आप समाज के एक स्तम्भ हैं। आपका सहयोग समाज के प्रत्येक कार्य में मिलता रहा है। हमें आशा है कि आपने इस महान कार्य में भी अपना योगदान दिया होगा जिसके लिए समिति आपकी आभारी है। यदि किसी कारणवश आप अपने बहुमूल्य व्यस्त जीवन में से इस महान कार्य के लिए समय न भी निकाल सके हों तो आपसे निवेदन है कि आप अपने क्षेत्र व अन्य क्षेत्रों में जहां-जहां आपका योग अनिवार्य हो वहां समय अवश्य दें। क्षेत्रीय समितियों का गठन कराये तथा महिला समाज, स्वयंसेवक एवं अन्य कार्यकर्ताओं को तैयार करें कि वह अप्रसर होकर इस संदेश को अपने हाथों में लेकर घर-घर, गांव-गांव पहुँचें। इस सम्बन्ध में जो-जो कार्य करने हैं उसका विवरण निम्नलिखित है, इसके अतिरिक्त अन्य जानकारी आप उपरोक्त पते पर प्राप्त कर सकते हैं। ३-४ अक्टूबर को होने वाले सम्मेलन में सम्मिलित होने के लिए अन्य कार्यों से बचा कर रखें।

१—प्रत्येक जैन अपने को केवल 'जैन' ही लिखाये अन्य कोई जाति, गोत्र, सम्प्रदाय न लिखाये।

२—जनगणना के लिए सरकार द्वारा भेजे गये अधिकारी धर्म के कालम में केवल 'जैन' लिखें अन्य किसी प्रकार का कोई सम्प्रदाय, गोत्र, जाति आदि चिन्हों को नहीं लिखें इसका घर-घर, गांव-गांव में व्यापक प्रचार करना।

३—जनगणना के समय गांव-गांव, मोहल्ले-मोहल्ले के कार्यकर्ता सरकारी कर्मचारियों के साथ जाकर ठीक-ठीक लिखाने का प्रयत्न करना।

४—प्रत्येक उत्सवों, सभाओं तथा मेलों आदि अवसरों पर इसके लिए व्यापक प्रचार करना।

५—आचार्य, मुनिगण साधु-साध्वी, महाराजाओं से अनुरोध करना है कि वे अपने प्रवचनों एवं उनके दर्शनार्थ आये श्रावकों को प्रेरणा देवे कि प्रत्येक जैन, इस महान कार्य में योग दे तथा केवल जैन ही लिखायें।

६—प्रत्येक मन्दिर, उपाश्रय एवं अन्य स्थान जहां बहिन-भाई आते हैं, उन स्थानों पर बड़े-बड़े पोस्टर

लगाकर उपरोक्त जानकारी देना।

७—स्वयंसेवक संस्थाएँ, नवयुवक-वर्ग तथा महिला समाज से सक्रिय सहयोग का अनुरोध करना।

८—जैन पत्रों में व्यापक प्रचार करना।

९—जैन पत्रों के सम्पादकों, विद्वानों से अनुरोध करना कि वह अपने लेखों, भाषणों द्वारा इसका व्यापक प्रचार करें।

१०—अन्य संस्थाओं से इस कार्य में सहयोग लेने का प्रयत्न करना।

प्रार्थी :-

श्रीतलप्रसाद जैन,
अध्यक्ष

सुकुमारचन्द जैन
महामन्त्री

प्रत्येक स्थान की जैन समाज से अपील

अ० भा० जैन जनगणना समिति पिछले एक वर्ष से जनगणना के समय जैन जगत के बच्चे-बच्चे को क्या करना है इसके व्यापक प्रचार में लगी हुई है। कई बार हजारों स्थानों पर बड़े-बड़े पोस्टर भेज कर, समस्त जैन पत्रों में लगातार प्रचार सामग्री प्रकाशित कराकर, बड़े-बड़े महोत्सवों पर प्रचार सामग्री एवं अपने कार्यकर्ताओं के द्वारा प्रचार कराकर समिति के पदाधिकारी स्थान-स्थान पर भ्रमण कर समितियों का गठन कर इस कार्य में जुटे हुए हैं। यही कारण है कि आज समाज का बच्चा-अपने कर्तव्य के प्रति सजग है कि आगामी जैन जनगणना के समय हमें क्या करना है। इस कार्य की सर्वत्र व्यापक रूप से चर्चा है। समिति को जैन समाज की सभी सम्प्रदायों तथा संस्थाओं का पूरा सहयोग प्राप्त है।

जैसा कि समिति बराबर कह रही है कि यह कार्य महान है हमें यह सन्देश गांव-गांव, घर-घर, बच्चे-बच्चे तक पहुँचाना है। इसमें समाज को तभी सफलता मिलेगी जब समस्त स्थानीय समाज अपना उत्तरदायित्व समझकर इस कार्य में जुट जावेगी व अपने आसपास के प्रत्येक गांव में बसने वाली जैन समाज तक यह सन्देश पहुँचाना है कि हमें जनगणना में अपने को केवल “जैन” ही

लिखाना है। अन्य कुछ नहीं। साथ में यह भी निवेदन करते हैं कि आपके यहां बनी जैन जनगणना समिति को हर प्रकार का योग देवें। जिन-जिन स्थानों पर समितियाँ गठित नहीं हुई हैं वहाँ समितियों का गठन कराकर कार्य प्रारम्भ करायें और केन्द्रीय समिति के कार्यालय २०४ दरीबा कलां, दिल्ली को सूचित करें जिससे कि केन्द्रीय कार्यालय उन्हें प्रचार सामग्री आदि भेजता रहे।

१५ जुलाई से चौमासा प्रारम्भ हो रहा है। हमारी समस्त जैन समाज के आचार्य, मुनिगण तथा अन्य त्यागी महाराज चार महीने एक ही नगर में रहेंगे। यह एक बड़ा सुन्दर अवसर है कि प्रत्येक स्थानीय समाज जिन स्थानों पर आचार्य, मुनिराज व त्यागियों के चौमासे हो रहे हैं, प्रत्येक प्रवचन के अवसर पर, विशेष कार्यक्रमों पर इस सम्बन्ध में व्यापक प्रचार करें एवं आचार्य महाराजों, मुनिराजों तथा त्यागी महाराजों से भी इस महान कार्य के लिए समाज को अपने कर्तव्य-बोध के प्रति जागरूक करायें।

प्रार्थी—

भगतराम जैन

मन्त्री, अ० भा० जैन जनगणना समिति

साहित्य-समीक्षा

१. जैन शोध और समीक्षा—डा० प्रेमसागर जैन एम. ए. पी-एच. डी. बड़ौत, प्रकाशक ज्ञानचन्द बिन्दूका, मंत्री श्री दि० अतिशय क्षेत्र श्री महावीर जी, जयपुर । पृ० २३६, मूल्य सजित्द प्रति का १०) रुपया ।

प्रस्तुत पुस्तक में १० निबन्ध दिये गये हैं । जो विभिन्न समयों में लिखे गये हैं । उनके नाम इस प्रकार हैं—१. भगवान महावीर और उनके समकालीन साधक, २. जैन समाधि और समाधिमरण, ३. जैन भक्ति काव्य, ४. जैन अपभ्रंश का हिन्दी के निर्गुण भक्ति काव्य पर प्रभाव । ५. हिन्दी के आदिकाल में जैन भक्ति परक कृतियाँ, ६. जैन परिप्रेक्ष्य में मध्ययुगीन हिन्दी काव्य । ७. कविवर बनारसीदास की भक्ति साधना, ८. मध्यकालीन जैन हिन्दी कवियों की शिक्षा-दीक्षा, ९. मध्यकालीन जैन हिन्दी कवियों की प्रेम साधना, १०. मध्यकालीन जैन हिन्दी काव्य में शान्ता भक्ति ।

इनका विषय नाम से स्पष्ट है । ये सब निबन्ध प्रायः पत्रों आदि में प्रकाशित हो चुके हैं । उनमें जिस-जिस विषय की चर्चा की गई है उस पर लेखक ने अच्छी तरह विचार किया है । लेख अच्छे और प्रभावक है । महावीर तीर्थ-क्षेत्र कमेटी ने इन निबन्धों को पुस्तकाकार प्रकाशित कर सराहनीय कार्य किया है, इसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं । प्रकाशन सुन्दर है मंगाकर पढ़ना चाहिए ।

२. आराधना समुच्चय—कर्ता रविचन्द्र मुनि, संपादक और टीकाकार क्षु० सिद्धसागर जी, प्रकाशक दि० जैन समाज, मोजमाबाद (जयपुर, राजस्थान) मूल्य १) रुपया ।

प्रस्तुत ग्रंथ का विषय उसके नाम से स्पष्ट है । ग्रंथ में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप इन चार आराधनाओं के स्वरूप पर विचार करते हुए आराधना का उपाय और उसके फल का निर्देश किया है । मूलग्रन्थ के कर्ता मुनि रविचन्द्र हैं । उनके सम्बन्ध में कोई

विशेष जानकारी नहीं मिल सकी है । मूलग्रन्थ संस्कृत के २५२ पद्यों में समाप्त हुआ है । क्षुल्लक जी ने अनुवाद अच्छा किया है । इस ग्रन्थ की प्रस्तावना के लेखक डा० कस्तूरचन्द जी कासलीवाल हैं इस तरह यह ग्रन्थ बहुत उपयोगी बन गया है । इसके लिए क्षुल्लक जी धन्यवाद के पात्र हैं । उनकी साहित्यिक लगन श्रेष्ठ है और मोजमाबाद जैन समाज की ग्रन्थ प्रकाशन योजना भी उपयोगी और अनुकरणीय है । स्वाध्यायप्रेमियों को इसे मंगा कर पढ़ना चाहिए ।

३. जिन सहस्रनाम-प्रदीप — सम्पादक प्रकाशक अशोक भाई, मंत्री श्रमण संस्कृत प्रचारक समिति, देहली ।

इस पुस्तक में दो सहस्रनामों का संकलन हिन्दी अर्थ और मूल के साथ किया गया है । प० आशाधर जी के सहस्रनाम का अर्थ भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित सहस्र नाम से दिया जान पड़ता है । जिनसेनाचार्य के सहस्र नाम का अर्थ सामान्य रूप में दिया गया है हा, दोनों के मन्त्रों का उल्लेख अवश्य है, पुस्तक स्वाध्याय प्रेमियों के लिए उपयोगी है । आशा है प्रेमीजन उसे मंगा कर अवश्य पढ़ेंगे ।

४. महावीर जयन्ती स्मारिका—इसके प्रधान संपादक भवरलाल पोल्या का है और प्रकाशन राजस्थान जैन सभा, जयपुर, मूल्य २) रुपया ।

प्रस्तुत स्मारिका महावीर जयन्ती पर प्रकाशित होती है । स्मारिका में अच्छे लेखों का चयन किया गया है । सभा के संचालक और सम्पादक मण्डल इसकी उपयोगिता के लिए प्रयत्नशील है । आशा है भविष्य में पत्रिका और भी समुन्नत हो सकेगी । इस उपयोगी प्रकाशन के लिए सम्पादक और प्रकाशक दोनों ही धन्यवाद के पात्र हैं ।

५. अणुव्रत (साधना विशेषांक)—सम्पादक रिषभ-दास रांका । प्रकाशक बालचन्द जी अ० भा० अणुव्रत

समिति छतरा पुर रोड महरोली, नई दिल्ली। विशेषांक का मूल्य ३ रु० ५० पै०।

प्रस्तुत माधना विशेषांक अणुव्रत पाक्षिक का ही विशेष रूप है। इस ग्रंथ में माधना के सम्बन्ध में उप-योगी मामग्री का चयन किया गया है। अनेक लेख उच्च कोटि के विद्वानों द्वारा लिखे गये हैं। जो माधना के स्वरूप और उसके फल पर अच्छा प्रकाश डालते हैं। अंक में

यद्यपि जहा-तहा विज्ञापनों की भगमार है, फिर भी पत्र अपने उद्देश्य में अवश्य सफल हुआ है। सन्तों की माधना का मार्गप्रशस्त है। यह सर्वमाधारण जानते हैं। छपाई सफाई उत्तम है। अंक पठनीय है। इस सब के लिए सम्पादक प्रकाशक धन्यवाद के पात्र हैं।

—परमानन्द शास्त्री

वीर-सेवा-मन्दिर और “अनेकान्त” के सहायक

१०००) श्री मिश्रीलाल जी धर्मचन्द जी जैन, कलकत्ता

१०००) श्री देवेन्द्रकुमार जैन, ट्रस्ट,

श्री साहू शीतलप्रसाद जी, कलकत्ता

५००) श्री रामजीवन सरावगी एण्ड सस, कलकत्ता

५००) श्री गजराज जी सरावगी, कलकत्ता

५००) श्री नथमल जी सेठी, कलकत्ता

५००) श्री वंजनाथ जी धर्मचन्द जी, कलकत्ता

२५१) श्री शिखरचन्द जी भाभरी, कलकत्ता

२५१) श्री रा० बा० हरखचन्द जी जैन, राची

२५१) श्री अमरचन्द जी जैन (पहाड्या), कलकत्ता

२५१) श्री स० सि० धन्यकुमार जी जैन, कटनी

२५१) श्री सेठ सोहनलाल जी जैन,

मंसस मुन्नालाल द्वारकादास, कलकत्ता

२५१) श्री लाला जयप्रकाश जी जैन

स्वस्तिक मेटल वर्क्स, जगाधरी

२५०) श्री मोतीलाल हीराचन्द गांधी, उस्मानाबाद

२५०) श्री बन्नीधर जी जुगलकिशोर जी, कलकत्ता

२५०) श्री जुगमन्दिरदास जी जैन, कलकत्ता

२५०) श्री सिधई कुन्दनलाल जी, कटनी

२५०) श्री महावीरप्रसाद जी अग्रवाल, कलकत्ता

२५०) श्री बी० आर० सी० जैन, कलकत्ता

२५०) श्री रामस्वरूप जी नेमिचन्द्र जी, कलकत्ता

१५०) श्री बजरंगलाल जी चन्द्रकुमार जी, कलकत्ता

१५०) श्री चम्पालाल जी सरावगी, कलकत्ता

१५०) श्री जगमोहन जी सरावगी, कलकत्ता

१५०) „ कस्तूरचन्द जी आनन्दीलाल जी कलकत्ता

१५०) „ कन्हैयालाल जी सीताराम, कलकत्ता

१५०) „ पं० बाबूलाल जी जैन, कलकत्ता

१५०) „ मालीराम जी सरावगी, कलकत्ता

१५०) „ प्रतापमल जी मदनलाल पाड्या, कलकत्ता

१५०) „ भागचन्द जी पाटनी, कलकत्ता

१५०) „ शिखरचन्द जी सरावगी, कलकत्ता

१५०) „ सुरेन्द्रनाथ जी नरेन्द्रनाथ जी कलकत्ता

१०१) „ मारवाड़ी दि० जैन समाज, व्यावर

१०१) „ विगम्बर जैन समाज, केकड़ी

१०१) „ सेठ चन्दूलाल कस्तूरचन्दजी, बम्बई नं० २

१०१) „ लाला शान्तिलाल कागजी, दरियागंज दिल्ली

१०१) „ सेठ भंवरीलाल जी बाकलीवाल, इम्फाल

१०१) „ शान्तिप्रसाद जी जैन, जैन बुक एजेंसी, नई दिल्ली

१०१) „ सेठ जगन्नाथजी पाण्ड्या भूमरीतलया

१०१) „ सेठ भगवानदास शोभाराम जी सागर

१०१) „ बाबू नृपेन्द्रकुमार जी जैन, कलकत्ता

१०१) „ सेठ दानमल हीरालाल जी, निवाई (राज०)

१००) „ बट्टीप्रसाद जी आत्माराम जी, पटना

१००) „ रूपचन्दजी जैन, कलकत्ता

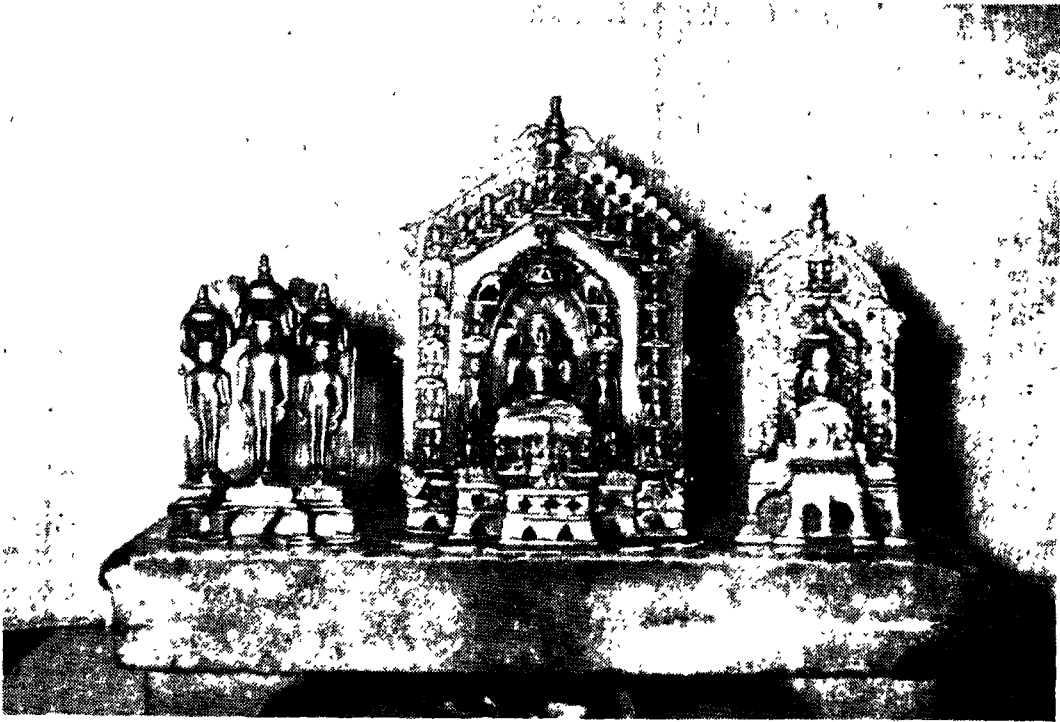
१००) „ जैन रत्न सेठ गुलाबचन्द जी टोंग्या कुन्दोर

पर्यवर्ण पर्व के उपलक्ष में पौने मूल्य में

- (१) प्रातन-जैनवाक्य-सूची—प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादिग्रन्थों में उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। संपादक मुस्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्व की ७० पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए. डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये एम. ए. डी. लिट् की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोज के विद्वानों के लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द १५-००
- (२) ग्रात परीक्षा—श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति, आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर, विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य प. दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द। ८-००
- (३) स्वयम्भूस्तोत्र—समन्तभद्रभारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुस्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद, तथा महत्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना में सुशोभित। ... २-००
- (४) स्तुतिविद्या—स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापों के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगल किशोर मुस्तार की महत्व की प्रस्तावनादि में अलंकृत सुन्दर जिल्द-महित। १-५०
- (५) अध्यात्मकमलमार्ग—पद्याध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिकरचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित १-५०
- (६) युक्त्यनुशासन—तत्त्वज्ञान में परिपूर्ण समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुस्तार श्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। ... १-२५
- (७) श्रीपुरपाद्वेनाथस्तोत्र—आचार्य विद्यानन्द रचित, महत्व की स्तुति, हिन्दी अनुवाद सहित। ७५
- (८) शासनचतुस्त्रिंशिका—(तीर्थपरिचय) मुनि मदनकीर्ति की १३वीं शताब्दी की रचना, हिन्दी-अनुवाद सहित ७५
- (९) समीचीन धर्मशास्त्र—स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुस्तार श्री जुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना में युक्त, सजिल्द। ... ३-००
- (१०) जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० १ संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह. उपयोगी ११ परिशिष्टों और प० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना में अलंकृत, सजिल्द। ... ४-००
- (११) समाधितन्त्र और इष्टोपदेश—अध्यात्मकृति परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ४-००
- (१२) अनित्यभावना—आ० पद्मनन्दीकी महत्वकी रचना, मुस्तार श्री के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित २५
- (१३) तत्त्वार्थसूत्र—(प्रभाचन्द्रीय)—मुस्तार श्री के हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या से युक्त। ... २५
- (१४) श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैनतीर्थ। १-२५
- (१५) महावीर का सर्वोदय तीर्थ १६ पैमे, १६ समन्तभद्र विचार-दीपिका १६ पैमे, (१७) महावीर पूजा १६
- (१८) अध्यात्म रहस्य—प० आशाधर की सुन्दर कृति मुस्तार श्री के हिन्दी अनुवाद सहित। १-००
- (१९) जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० २ अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रन्थ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं० परमानन्द शास्त्री। सजिल्द १२-००
- (२०) न्याय-दीपिका—आ. अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा सं० अनु० ७-००
- (२१) जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पृष्ठ संख्या ७४० सजिल्द (वीर-शासन-संघ प्रकाशन ५-००
- (२२) कसायपाहुड सुत—मूलग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं० हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। ... २०-००
- (२३) Reality आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद बड़े आकार के ३०० पृ. पक्की जिल्द ६-००

अनेकान्त

दिल्ली दरवाजे की कलापूर्ण धातु मूर्तियाँ



[ला० पन्नालाल अग्रवाल के सौजन्य से]

समन्तभद्राश्रम (वीर-सेवा-मन्दिर) का मुख पत्र

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
१. जिनवर स्तवनम्—मुनि पद्मनन्दि	६७
२. पावा कहां गंगा के दक्षिण में या उत्तर में — मुनि महेन्द्रकुमार जी प्रथम	६८
३. भारत में वर्णनात्मक कथा सहित्य— डा० ए. एन. उपाध्ये एम. ए. डी. लिट्	६९
४. नलपुर का जैन शिलालेख—पं० रतनलाल कटारिया	११०
५. जैन विद्वानों द्वारा रचित संस्कृत के शब्दकोश —अगरचन्द नाहटा	११५
६. ढूंढाणी कवि ब्रह्म नाथू की रचनाए— डा० गगाराम गर्ग	११६
७. उद्बोधक पद—मंगतराम चिलकाना वासी	१२१
८. सम्राट् का अश्वरा सपना — श्री बाबू सुबोधकुमार	१२२
९. दिल्ली पट्ट के मूल सघीय भट्टारक प्रभावचन्द्र —परमानन्द जैन शास्त्री	१२६
१०. मथुरा के सेठ मनीराम—परमानन्द शास्त्री	१३१
११. राजस्थानी लोककथाओं में अभिप्राय और कथानक रूढ़ियों की सीमा रेखाए—श्री रमेश जैन	१३३
१२. १३वीं शताब्दी के विद्वान हरिभद्र : एक अध्ययन—परमानन्द शास्त्री	१३७
१३. जाम्भोजी विष्णोई सम्प्रदाय और उनका साहित्य—डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल एम. ए. पी. एच. डी.	१३९
१४. ब्रह्म यशोधर—परमानन्द शास्त्री	१४१
१५. चतुर्मास मध्य विहार : आचार्य श्री तुलसी —मोहनलाल बाठिया	१४३



सम्पादक-मण्डल
डा० आ० ने० उपाध्ये
डा० प्रेमसागर जैन
श्री यशपाल जैन
परमानन्द शास्त्री

अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपया
एक किरण का मूल्य १ रुपया २५ पैसे।

अनेकान्त को सहायता

२१) श्री जगमोहनलाल जी जैन कलकत्ता ने इक्कीस
रुपया अनेकान्त को सहायताथे सधन्वाद प्रदान किया
है, आशा है अन्य दानी महानुभाव इस ओर ध्यान
देगे।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज
दिल्ली।



अनेकान्त के प्रकाशन में विलम्ब का कारण

अनेकान्त के इस अंक का सितम्बर के अन्न में
प्रकाशित करने की योजना थी। और मेट- भी प्रेस को दे
दिया था किन्तु सम्पादक के अन्यधिक बीमार हो जाने
से वैसा न हो सका। सम्पादक ने तो बुखार :
कमी होने ही आगे का मेटर भी तैयार कर के दिया
किन्तु पुनः बुखार ने जोर पकड़ा, और बच्चों के इलाज
से कोई लाभ नहीं हुआ, तब कृष्णनगर के प्रसिद्ध ड
अरोडा का इलाज किया, उनके परिणाम स्वरूप बुख
तो चला गया परन्तु कमजोरी अन्यधिक हो गई है।
धीरे-धीरे पूरी होगी।

व्यवस्थापक

'अनेकान्त'

वीर सेवामन्दिर २१, दरि
दिल्ली।



अनेकान्त में प्रकाशित विचारों के लिए सम्
मण्डल उत्तरदायी नहीं है। — व्यवस्थापक अनेकान्त

ग्रोम अर्हम

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष २३
क्रि.पू. ३

}

वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६
वीर निर्वाण सवत् २४९६, वि० म० २०२७

{

अगस्त
१९७०

जिनवर-स्तवनम्

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर समयामयसायरे गहीरम्मि ।
रायाइदोसकलुसे देवेको मण्णए सयाणो ॥१४
दिट्ठे तुमम्मि जिणवर मोक्खो अइदुल्लहो वि संपडइ ।
मिच्छत्तमलकलंकी मणो एण जइ होइ पुरिसस्सा ॥१५

—मुनि पच्चनन्दि

अर्थ—हे जिनेन्द्र ! सिद्धान्तरूप अमृत के समुद्र एवं गम्भीर ऐसे आपका दर्शन होने पर कौम-सा बुद्धि-
मान मनुष्य रागादि-दोषों से मलिनता को प्राप्त हुए देवों को मानता है ? अर्थात्—कोई भी बुद्धिमान पुरुष उन्हें
नहीं मानता है ?

हे जिनेन्द्र ! यदि पुरुष का मन मिथ्यात्वरूप मन से मलिन नहीं होता है तो आपका दर्शन होने पर
उन दुर्लभ मोक्ष भी प्राप्त हो सकता है ॥१४-१५॥



पावा कहाँ ? गंगा के दक्षिण में या उत्तर में ?

मुनि श्री महेन्द्रकुमार जी 'प्रथम'

इतिहास और परम्परा जब एक-दूसरे को साथ लेकर चलते हैं, बहुत सारे तथ्य प्रामाणिक हो जाते हैं और उन्हें मुगमता से मान्यता मिल जाती है। किन्तु परम्परा जब इतिहास का साथ छोड़ देती है, वह श्रद्धा युग में चली जाती है और उसकी सर्व मान्यता सदिग्ध हो जाती है। इतिहास परम्परा को साथ लेकर पुष्ट होता है, पर उसके साथ न रहने पर भी उसके अस्तित्व को कोई चुनौती नहीं दे सकता। किन्तु कई बार इसका उल्टा भी होता है। परम्परा इतिहास को इतना धुंधला कर देती है कि यथार्थता बिल्कुल ओझल हो जाती है। ऐसा ही उत्तर प्रदेश के 'पण्डुर' गांव के साथ हुआ है। परम्परा ने उसके इतिहास को अनगिन परतों के नीचे दबा दिया है। आवश्यकता है, उस इतिहास को पुनः उभारा जाये।

'पण्डुर' वर्तमान में देवरिया जिले में है। आज से ठाई हजार वर्ष पूर्व यह 'अपापापुरी', 'पावा' आदि नामों से भी विख्यात था। इतना ही नहीं, राजा हस्तिपाल की राजधानी होने का भी गौरव इसे प्राप्त था। भगवान् महावीर ने अपना अन्तिम वर्षावास भी यहीं किया था और यहीं से कात्तिक अमावस्या को ये निर्वाण प्राप्त हुए थे। परम्परा ने इस गांव को इतना पीछे धकेल दिया है कि विद्वानों के अतिरिक्त सामान्य जनता इस तथ्य को स्वीकार करने को भी तैयार नहीं है।

भगवान् महावीर का निर्वाण-स्थल परम्परा के अनुसार पटना जिले में गंगा के दक्षिण प्रदेश में राजगिर की समीपवर्ती पावा को बतलाया जा रहा है। वहां के भव्य मन्दिरों ने उसे एक जैन तीर्थ बना दिया है, पर इतिहास इसे स्वीकार नहीं कर सकता। इसके कुछ मुख्य कारण हैं। इतिहास के अनुसार यह सर्वसम्मत मान्यता है कि भगवान् महावीर के निर्वाण के समय नौ मल्लकी तथा नौ लिच्छवी; अठारह गणराजा उपस्थित थे। राजगिर की

निकटवर्ती पावा उस समय मागधों के अधीन थी। मागधों और गणराजाओं के बीच ज्वलंत शत्रुता थी। शत्रु प्रदेश में उनका जाना कनई सम्भव नहीं हो सकता। गंगा के उत्तरी अंचल में गणराज्य थे। वे अपनी राज्य सीमा में भगवान् महावीर के निर्वाणोत्सव में सम्मिलित हुए हैं, यही यथार्थता के अग्रिक निकट है।

भगवान् महावीर ने अन्तिम वर्षावास से पूर्व का वर्षावास राजगृह में किया। अन्तिम समय तक उनका शरीर नीरोग था और उन पर बाधक का भी कोई विशेष अमर नहीं था। राजगिर में वर्तमान पावा की दूरी केवल सात-आठ मील है। प्रश्न होता है, आठ महीनों की अर्वाध में क्या उन्होंने इतना ही विहार किया होगा? सम्भव है, उन्होंने लम्बा विहार किया है और गंगा के दक्षिण अंचल में वे उत्तरी अंचल में आये हैं।

दीघनिकाय अट्ठकथा (सुमंगल विलासिनी) में बताया गया है, 'पावा नगर तो तीणि गावुतानि कुमिनारा नगर' पावा से कुमिनारा की दूरी तीन गव्यूत (तीन कोस) है। इससे भी स्पष्ट ध्वनि होता है कि पावा एक ही नहीं दो है। एक गंगा के उत्तर में तथा दूसरा दक्षिण में। उत्तरी पावा क्रमशः परम्परा की निगाह से ओझल होती गई और दक्षिण पावा को मान्यता मिलती गई। इतिहास ने पुनः कण्ठ ली है। अणुवत् परामर्शक मुनिश्री नगराज जी डी लिट.०, महापंडित राहुल सांकृत्यायन आदि विद्वानों ने अपनी शोध के आधार पर उपेक्षित उत्तरी पावा की ओर पुनः जन सामान्य का ध्यान आकर्षित किया है।

चार वर्ष के बाद भगवान् महावीर की २५ सौवी निर्वाण शताब्दी के अवसर पर उत्तर प्रदेश का उपेक्षित ग्राम 'पण्डुर' पुनः अपनी ऐतिहासिक महत्ता को प्राप्त कर सकेगा; ऐसी सम्भावनाएं अब आकार लेने लगी हैं। ★

भारत में वर्णनात्मक कथा-साहित्य

डा० ए. एन. उपाध्ये एम. ए. पी. एच. डी.

[गत किरण २ से आगे]

कथात्मक रचनाओं का सर्वेक्षण—

कितने ही भण्डारों में ऐसे अनेक हस्तलिखित ग्रंथ हमें मिलते हैं जो कथानकों के संग्रह हैं और उनके नाम भी हमें बृहद्दृष्टिपणिका,^१ जैनग्रन्थावली^२ और जिनरत्न-कोश^३ जैसी सूचियों में मिलते हैं। अन्तिम सूची एकदम दिनाप्त और परिपूर्ण है और इसके सफलनकार हैं आचार्य ह० द० वेलनकर। यह सूची बड़े ही परिश्रम से तैयार की गई है। इसे निघण्टुराज [कैटलोगस कैटलोगोरम्] कहना ही उपयुक्त होगा। जो सर्वेक्षण यहां प्रस्तुत किया जा रहा है, वह प्रवानतया इसी निघण्टुराज पर ही आधारित है जिसके कि अग्रिम फरमों का उपयोग संकलनकार एवम् प्रकाशक दोनों ही के सौजन्य से, करने का सुयोग मुझे प्राप्त हो गया था। हस्तप्रतियों के सूक्ष्म परीक्षण बिना एक कथाकोश का दूसरे से विभेद करना दुर्लभ काम है। इसलिए मैंने इस सर्वेक्षण में उन्हीं ग्रन्थों का विचार किया है कि जो विभेद किये जा सकते थे और जिनके विषय में कुछ विशेष सूचना भी प्राप्त हो सकती थी।

१. कथाकोश [कथानककोश या कथाकोश-प्रकरणम्]—बृहद्दृष्टिपणिका के अनुसार यह २३६ गाथाओं का एक प्राकृत ग्रन्थ है। इसकी प्रारम्भिक गाथा ही में लेखक ने घोषणा कर दी है कि वह कुछ ऐसे नायक, दृष्टान्त या आदर्श कथाएँ कहेगा कि जिनसे मुक्ति प्राप्त हो सकती है। गाथाओं में कथाओं का 'शब्दघोष [कैव-

वर्डस]' से ही उल्लेख किया गया है। कही-कही एक ही दृष्टान्त की एक से अधिक कथाएँ दी गई हैं। उदाहरणार्थ चौथी गाथा में यह कहा गया है कि पूजा-प्रणिधान से आत्मा स्वर्ग-सुख प्राप्त करता है जैसे कि जिनदत्त, सूरसेना, श्रीमाला और गोरनारी ने प्राप्त किया था। प्रथम की १७ गाथाओं में, जिनका अध्ययन ही मैंने किया है, सब कथाएँ-जिन पूजा और साधू-दान पर ही हैं।^४ इन गाथाओं की सम्स्कृत टीका में दृष्टान्त कथाएँ प्राकृत में दी गई हैं और गद्य-पद्य दोनों ही का मिश्र प्रयोग उनमें किया गया है। आचार्य जिनवियजजी ने मुझे सूचना दी है कि वर्णमानसूरि के शिष्य श्री जिनेश्वरसूरि ने ही ये गाथाएँ और उनकी कथा की रचना इस वर्तमान रूप में की है हालांकि यह भी असम्भव नहीं है कि उन्होंने प्राचीन सामग्री भी इसमें सम्मिलित कर दी हो।^५ कथाकार ने आगमांश और

४. एक कथाकोश हरिभद्र का भी कहा जाता है। देखो, जैन साहित्यनो इतिहास, पृ० १६८। परन्तु अभी तक न तो कही यह उपलब्ध ही हुआ है और न इसका पता ही लगा है।

५. पेटर्सन [प्रतिवेदना ४, पृ. ४४] कहता है : 'आशा-पत्नी में सं. १०६२ में रचित एक लीलावती कथा और डिण्डियानक ग्राम में एक कथानककोश है। देसाई के मतानुसार [जैन साहित्यनो इतिहास, पृ० २०८], उसने सं. १०८२-१०९५ के बीच एक कथाकोश की रचना की थी। बृहद्दृष्टिपणक में सं. ११०८ दिया है। इसलिए इस कथाकोश को ११वीं सदी के द्वितीयपाठ का समय दिया जा सकता है। विण्टरनिटज [भासाइ. पृ. ५४३] ने ई० १०६२ का समय दिया है। ऐसा लगता है कि उसने संवत् को सन् भूल से मान लिया है।

१. जैनसाहित्य सशोधक, भाग २ खण्ड २।

२. जैन श्वेताम्बर कान्फेस, बम्बई द्वारा सं. १९६५ में प्रकाशित।

३. भाण्डारकर औरियंटल रिसर्च इस्टीट्यूट, पूना द्वारा कीमती ही प्रकाशित किया जा रहा है।

संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंशमें कुछ श्लोकभी उद्धृत किये हैं।^१

२. कथाकोश—यह २७ कथानकों का एक संग्रह है। घनद की कहानी से यह प्रारम्भ होकर नल की कहानी में समाप्त होता है। ये कहानियाँ, पूजा और अन्य पुण्य कार्यों एवम् धार्मिक व्रतों के फल, चार कपायों के प्रभाव एवं वैरागी जीवन के परिणाम सबन्धी हैं।^२ टानी के मूल्यों-कथानुसार, ये कहानियाँ भारतीय लोकवार्ताओं की यथार्थ अंश ही हैं, परन्तु उन्हें किसी जैनाचार्य ने अपने धर्म के अनुयायियों के गौरवगान का रूप देकर अपने ढंग से फिर से सम्पादन कर दिया है। वर्तमान रूप में तो ये कम से कम जैनाचार्य एव सिद्धान्त का दार्ष्टान्तिक चित्रण ही करती हैं। यह ग्रंथ संस्कृत में है परन्तु बीच-बीच में इसमें प्राकृत गाथाएँ भी मिली हुई हैं। इसके लेखक का नाम नहीं दिया गया है और इसकी रचना का निश्चित समय निर्धारित नहीं किया जा सकता है। इसमें तीन राजाओं का नाम, यथाकर्क, अरिकेसरिन और मम्मण आया है और इनका ईस्वी १०वीं-११वीं शती की कर्णाटक की राज-वशावली में पता मिलता है। इन उल्लेखों से डा० सले-टोर ने यह मत दिया है कि 'इस ग्रंथ की रचना ११वीं सदी ईसवी के चतुर्थ-पाद पश्चात् ही हुई होगी, यह परिणाम निकालना अनुचित नहीं कहा जा सकता है।'^३

३. कथाकोश [कथारत्नकोश]—इसकी रचना भद्रोंच में वि० स० ११५८, ई० ११०१ में हुई और इसके रचयिता थे प्रसन्नचन्द्र के शिष्य, देवभद्र। जैन तीर्थंकरों के सिद्धान्तानुसार, मुक्ति का मार्ग उन्हीं अच्छे माधुओं और अच्छे श्रावकों को प्राप्त होता है कि जो अपने-अपने व्रतों में निष्णात हैं। और अच्छा श्रावक हुए बिना एक अच्छा साधू नहीं हुआ जा सकता है। जो अणुव्रतों का भली प्रकार पालन कर सका हो, वही महाव्रतों का पालन

६. यह ग्रंथ इस समय मुद्रयमाण है और मैं श्री जिन-विजयजी का आभारी हूँ कि मुझे उनसे इसके १३ फारम अग्रिम भेज दिए।

७. इस कथाकोश का अंगरेजी में अनुवाद सी. एच. टानी का किया ओरियंटल ट्रांसलेशन फंड, सिरीज नई २, लंदन १८९५ में प्रकाशित हुआ है।

८. जैन एण्टीक्वेरी, आग १९३८, भाग ४, स. ३, पृ. ७७-८०।

कर सकता है। सुश्रावक होने के लिए व्यक्ति में सामान्य और विशेष दोनों ही गुण होना चाहिए। सुश्रावक के सामान्य गुण हैं तैत्तीस [३३] जिनमें सम्यक्-दृष्टि और उसके आठ अतिचार, धर्म में श्रद्धा, देव-मंदिर और साधू की सत्ता की, आस्था पूर्वक सहायता करना और करुणा दया, आदि मानवी वृत्तियों का पोषण करना समाविष्ट है। विशेषगुण १७ हैं जिनमें पाँच अणुव्रत, सात शिक्षाव्रत और सवरण एव त्याग सहित कुछ अनावश्यक समाविष्ट हैं। इन गुणों के अनुरूप ही दार्ष्टान्तिक कथाएँ इस कथा-कोश में प्राकृत की यहाँ वहाँ संस्कृत के श्लोकों वाली दी गई हैं। यह कथाकोश बहुतांश पद्य में ही लिखा गया है, यद्यपि कहीं-कहीं कुछ अंश गद्य में भी दिए गए हैं। धार्मिक और औपदेशिक शिक्षा कथाओं द्वारा देना ही इसका प्रधान लक्ष्य है। इनसे प्रभावित होकर व्यक्ति मुनिनीत गृहस्थ बनेगा यही आशा रखी गयी है।^४

४. शम्भुशील का कथाकोश, [भरतेश्वर-बाहुबलि-वृत्ति]—तेरह गाथा की यह प्राकृत रचना 'भरहेसर, बाहुबलि' वाक्यावली से ही प्रारम्भ होती है। यह कदाचित् नित्य-स्मरण की ही एक स्तुति है। इसमें १०० महान व्यक्तियों के नाम स्मरण किए गए हैं। इनमें ५३ पुरुष [पहला भरत और अन्तिम मेघकुमार] और ४७ स्त्रियाँ [पहली मुलसा और अन्तिम रेणा] हैं कि जो धार्मिक-वैरागिक साधनाओं के लिए जैनो में सुप्रख्यात हैं। अधिकांश तो इनमें प्राचीन जैन साहित्य में उल्लिखित एवम् वर्णित दार्ष्टान्तिक कथाओं, कथाओं उपकथाओं के ही पात्र हैं। इनका उल्लेख सुयगडांग, भगवई, नायाधम्म-कथाओं, अन्नगड, उत्तराध्ययन, पइन्नय, आवस्सयव-दश-वैकालिक-निज्जुत्ति और टीकाओं में है। मूल प्राकृत गाथाओं में तो इन नामों की शृंखला मात्र दी गई है। आदि में जैन साहित्य के विशाल क्षेत्र से पूर्ण परिचितों में ये व्यक्तियाँ बिलकुल परिचित ही होंगी। परन्तु बाद में मूल पर परिपूर्ण टीका एव कथाओं के पूर्ण वितरण की आवश्यकता प्रतीत होने लगी होगी। इसीलिए तपागच्छ

९. श्री जिनविजयजी का आभारी हूँ कि जिनने कृपा कर ९० पत्रों के छपे फारम मुझे अग्रिम भेज दिए। ग्रंथ मुद्रयमाण है।

मुनिसुन्दरगणि के शिष्य शुभशीलगणि ने इसकी सम्स्कृत टीका लिखी और उसी में गद्य-पद्य मिश्रित कथाएँ भी दी कि जिनमें यहाँ-वहाँ प्राकृत के उद्धरण भी हैं। वृत्ति में सब कथाएँ ही कथाएँ हैं और इसीलिए इसे कथाकोश का नाम भी दिया गया है। यह वि० स० १५०६ की रचना है।^{१०} शुभशील में वर्णनात्मक रचना करने की विशेष प्रवणता प्रतीत होती है। उनमें अनेक ग्रन्थों के अतिरिक्त, पचास्तिप्रबोधसम्बन्ध^{११} भी लिखा है जिसमें लगभग ६०० कथा, आख्यायिका, सिद्धों की जीवनी, नीतिकथा, काल्पनिक कथा आदि-आदि हैं और उनमें से कुछ नन्द, सातवाहन, भर्तृहरि, भोज, कुमारपाल, हेमसूरि आदि आदि ऐतिहासिक व्यक्तियों, राजा, ग्रथकारों, प्राचीन एवं अर्वाचीन, को परिलक्षित करती हैं।

५. भूतसागर^{१२} का संस्कृत कथाकोश [व्रतकथाकोष]—इसमें व्रत, धार्मिक क्रियाएँ और नियम जिनमें आकाश-पचमी, मुक्तासप्तमी, चन्दनषष्टि, आष्टाह्निक आदि-आदि अनुष्ठान व तप की कथाएँ हैं। लेखक मूलसध, सरस्वती गच्छ, बलात्कार सध [गण] का है और उसके गुरु थे विद्या-नन्दी। उसने अपना समय यद्यपि नहीं बताया है, फिर भी अनेक बाह्य साक्ष्यों द्वारा उसे १६वीं सदी विक्रमी का समय दिया जा सकता है। इसने कुन्दकुन्द के पाहुड़ों पर की अपनी संस्कृत वृत्ति में भी कुछ कथाएँ दी हैं।

६. कथाकोश^{१३}—पूना के भण्डारकर प्राच्य मन्दिर के सरकारी सग्रह विभाग में कुछ हस्तप्रतियाँ उपलब्ध हैं जिन्हें 'कथाकोश' कहा गया है। उनके रचयिताओं के विषय में कुछ भी सूचना प्राप्त नहीं है और न वर्तमान स्थिति में यही कहा जा सकता है कि इन कथाकोशों का

१०. देवचन्द लालभाई पुस्तकोद्धार माला सं. ७७ और ८७, बबई से १६३२ और १६३७ में यह प्रकाशित हो गया है।

११. मे पेटरसन की प्रतिवेदनाएँ, ३ पृ. ७१, विण्टरनिट्ज भासाइ भाग २ पृ० ५४४ आदि।

१२. प्रेमी : जैन साहित्य और इतिहास, पृ. ४०६-११।

१३. कई आराधना कथाकोशों का विचार आगे किया जाएगा।

मूल-श्रोत, साहित्यिक आधार, या अन्य कथाकोशों से कितना और कैसा सम्बन्ध है? मैंने कुछ का सरसरी गीति में उनकी स्थिति आदि जानने के लिए निरीक्षण किया है और उसके परिणाम स्वरूप उनके कुछ तथ्य यहाँ देना हूँ : (१) १८८४-८७ की स० १२६६। पत्र ४७। अपूर्ण। चन्द्रप्रभ की स्तुति से यह प्रारम्भ होता है और इसमें संस्कृत में आरामतनय, हरिषेण, श्रीषेण, जीमूत-वाहन आदि-आदि की कथाएँ दी हुई हैं। (२) १८८४-८७ की सं. १२६७। इसमें सम्यक्त्व-कौमुदी-कथा नाम से सामान्यतया परिचित कथाएँ दी गई हैं। प्रारम्भ का गद्य कुछ दूसरी तरह का है और वह इस प्रकार का है—गांडदेशे पाडलीपुत्रनगरे आर्यसुहृस्तिश्रीश्वराः। त्रिषण्ड-भरताधिपसप्रतिगजोऽग्रे धर्मदेशना चकुरेव, भो भो भव्या आदि-आदि। इसमें सबसे अन्त की कथा है पात्रदान-दाष्टान्तिक धनपति की। यद्यपि यह संस्कृत का ग्रन्थ है परन्तु यहाँ वहाँ प्राकृत गाथाएँ भी उसमें दी हुई हैं। (३) १८८४-८७ का स. १२६८। इसमें प्राकृत में कथाएँ दी गई हैं और वे गद्य-पूजा [शुभमति आदि द्वारा], धूप-पूजा [विनयधर आदि द्वारा] आदि-आदि पर दृष्टांत रूप हैं। प्रशस्ति और कुछ अग्रे संस्कृत में हैं। यह हरिसिध-गणि द्वारा सागपुर में रचा गया था। (४) १८८४-८७ का स. १२६९। प्रति बहुत बिगड़ो और बड़ी बुरी तरह लिखी गई है। इसमें अमरचन्द्र [भावना विषयक], विक्रमादित्य [पारमाथिक मैत्री विषयक], आदि के कथानक दिए हैं। वेतालपचवीसी भी पृ० १६ में उद्धृत है, और अपभ्रंश एवम् प्राचीन गुजराती में भी छोटी-छोटी कुछ कथाएँ हैं। इसकी समाप्ति सम्भवतया पंचतत्र की एक पशुकथा में होती है। (५) १८८४-८६ का स. ५८२। इसमें संस्कृत श्लोकों के बाद ही दाष्टान्तिक कथाएँ दी गई हैं। उनमें कुछ जिनप्रभसूरि, जगसिंह, सातवाहन जगद्गुहा आदि-आदि के प्रबन्ध भी हैं। (६) १८८४-८६ का स. ५८३। यह ग्रन्थ दोनों ओर से ही भुसा हुआ है। यह संस्कृत में है और इसमें संस्कृत, प्राकृत दोनों ही प्रकार के उद्धरण हैं। इसमें भी सम्यक्त्व-कौमुदी की ही कथाएँ कदाचित् हैं। (७) १८९१-९५ का स. १३२४। यह भी भुसा हुआ और अपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें प्रसन्नचन्द्र, सुलसा,

चिलातिपुत्र आदि की कथाएं संस्कृत गद्य में हैं। कहीं-कहीं श्लोक भी हैं। (८) १८६१-६५ का स. १३२३ / संस्कृत गद्य, प्राकृत-संस्कृत श्लोक-गाथाओं के मेल वाले इस कथाकोश में देवपाल की [देवपूजा के सम्बन्ध में], बाहुबलि की [मान के संबंध में], अशोकदत्त की [माया के संबंध में], मदनावली [वन्दन पूजा के संबंध में], की आदि-आदि कथाएं हैं। कोई-कोई कथा प्राकृत गाथा से ही प्रारम्भ होती है। १८८७-९१ की स. १२६७ की प्रति भी इसी प्रकार प्रारम्भ होती है और उसमें की कुछ कथाएं भी उसी के समान हैं। उपदेशमाला की गाथा २४० याने 'वसही आदि' इसकी कुछ गाथा का आधार है। (९) १८६१-६५ का स. १३२२। मदनरेखा, सनत्कुमार आदि की कथाएं संस्कृत में दी गई हैं और बीच-बीच में प्राकृत एवम् अपभ्रंश की गाथा भी उनमें है। (१०) १८८४-८६ का स. ४७८। इसके पहले तीन पत्रों में हरि-पेण का कथाकोश है, उसके बाद अपभ्रंश की कथाओं का ग्रन्थ है जिसमें लगभग ५३ कथाएं हैं। सुगन्धदशमी, षोडशकरण, रत्नावली [संस्कृत में], निर्दोष सप्तमी आदि-आदि वृत्तों की कथाएं हैं। इनके अतिरिक्त और भी कथाकोश हैं जिनके लेखक वर्धमान, चन्द्रकीर्ति, सिंहसूरि, जयतिलक, सकलकीर्ति, पद्मनन्दी, रामचन्द्र आदि-आदि हैं। परन्तु उनकी हस्तप्रतियां मुझे प्राप्त नहीं हो सकी थीं।

७. कथानक कोश :—इसका रचयिता विनयचन्द्र

१४. दिल्ली के नए दिगम्बर मन्दिर में एक संस्कृत का पुण्याश्रव-कथाकोश है। ऐसा ही एक ग्रन्थ कन्नड में नागराज का ई० १४३१ का लिखा हुआ है। सब मिला कर ५२ कथा हैं जिनमें पूजा आदि धर्म कार्यों के दृष्टान्त रूप भरत, करकट, यम, चारुदत्त, सुकुमार, सीता आदि की जीवनियां दी गई हैं और उन्हें बारह अधिकारों में विभाजित किया गया है। यह चम्पू शैली में लिखा है और लेखक कहता है कि यह संस्कृत ग्रंथ पर आधारित है [कविचरिते भाग १, पृ० ४०६-११]। इस कन्नड ग्रन्थ का अनुवाद बराठी ओविषों में जिनसेन ने शक स. १७४३ याने ई० १८२१ में किया था।

है^{१५}। इसमें १४० प्राकृत गाथाएं हैं। इसमें ग्रन्थ का नाम धम्मक्खाणय-कोस दिया है। पाटण की हस्त प्रति जिसमें संस्कृत व्याख्या भी है, की तिथि वि. सं. ११६६ है।

८. कथा मणि-कोश [आख्यानमणि-कोश]—यह देवेन्द्रगणि उर्फ नेमिचन्द्र की एक प्राकृत गाथाबद्ध रचना है जिसने सुखबोधा टीका, जो उत्तराध्ययन की प्राकृत^{१६} कथाओं के लिए सुख्यात है, वि. स. ११२९ में समाप्त की थी। देवेन्द्र अपनी बोधगम्य शैली के लिए सुप्रसिद्ध हैं और इसलिए ४१ अध्यायों के इस बृहद् ग्रन्थ की हस्तप्रति की इस सूक्ष्म परीक्षा करने की आवश्यकता है। इसकी संस्कृत टीका जिनचन्द्र के शिष्य अमरदेव ने वि. स. ११९० में, याने ग्रंथ प्रणयन के ठीक ६० वर्ष बाद^{१७} लिखी है।

९. कथा महोदधि—हरि या हरिषेण का कर्पूरप्रकर^{१८} या सूक्तावली १७९ श्लोकों का एक उपदेशी काव्य है। इसमें जैन धार्मिक और नैतिक सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है जो ग्रन्थकार के अनुसार ८७ है। यह वास्तव में कभी-कभी ही होता है कि एक व्यक्ति धार्मिक बातावरण में जन्म ले, आवश्यक शिक्षा संस्कार पाये और जेताचार पर, आन्तर एवम् बाह्य सब अनुरोध को दबा कर, जीवन यापन करे और अन्त में मुक्त ही हो जाए। इस उपदेशी काव्य का प्रत्येक पद बड़ी सुन्दरता से प्रस्तुत

१५. पाटण की हस्तप्रतियों की सूची, भाग १ [गायकवाह

ओ. ग्रंथमाला सं. ७६] पृ० ४२।

१६. इनमें से कुछ का सम्पादन याकोबी ने अपने ग्रन्थ लेपजिग से १८८६ में किया था और उनका अनुवाद 'हिन्दू टेल्स' शीर्षक से मायर का किया हुआ लंदन से १९०९ में प्रकाशित हुआ है; देखो 'प्राकृत कथासंग्रह' जिनविजयजी सम्पादित, अहमदाबाद से प्रकाशित भी है।

१७. देखो चार्पेटियर सम्पादित उत्तराध्ययन में उसका लिखा इंट्रोडक्शन, पृ० ५६ आदि; पटरसन प्रतिवेद-नाए ४, पृ० ५६ [लेखक अनुक्रमणिका]; प्रतिवे: ३ पृ० ७८ आदि।

१८. ग्रन्थ का प्रारम्भ ही 'कर्पूर प्रकर वाक्य से होता है, अतः यह नाम है।

किया गया है और प्रसगानुकूल दृष्टान्तों द्वारा वह सम-
झाया गया है। उदाहरणार्थ यह कहा गया कि नेमिनाथ
ने जीवदया का पालन किया इसलिए उन्हें आध्यात्मिक
लाभ पहुँचा, और रावण को पराई स्त्री की आसक्ति के
कारण ही दुःख भोगना पड़ा। प्रत्येक श्लोक में एक या
अधिक दृष्टान्त रूप जीवनिर्वादी दी गई है। ग्रंथ की
समाप्ति तक पहुँचते-पहुँचते जीवन-दृष्टान्तों की अपेक्षा
उसमें उपदेश अधिक से अधिकतर हो जाता है। ग्रन्थकार
हरिवेण वज्रसेण का शिष्य था, परन्तु इस ग्रन्थ की रचना
तिथी अभी तक भी निश्चित नहीं की जा सकी है।

इन कथाओं का पूर्ण विवरण देने का काम टीकाकारों
पर ही छोड़ दिया गया था और छोटी-लंबी सब मिला
कर इसकी १५० कथाएँ हैं^{१९}। रत्नशेखर के शिष्य, सोम-
चन्द्र द्वारा वि. स. १५०४ के रचित 'कथामहोदधि' में ये
सब कथाएँ दी गई हैं। खरतरगच्छ के श्री वर्धनसूरि के
शिष्य श्री जिनसागर ने 'कर्पूर-प्रकर टीका' लिखी है^{२०}।
इसका समय सं. १४६२ से १५२० तक का कहा जाता
है। इस प्रकार यह लेखक सोमचन्द्र का समकालिक ही
प्रतीत होता है। यह पहले तो गाथा की व्याख्या करता
है और फिर दृष्टान्तिक कथा सामान्यतया संस्कृत श्लोकों
में ही देता है। कथा का प्रवेश आगमो या उपदेशमाला
जैसे ग्रन्थों के प्राकृत उद्धरणों, गद्य-पद्य दोनों में, देकर
करता है। मैंने 'कथामहोदधि' की कथाओं का इसकी
कथाओं से मिलान नहीं किया है। परन्तु दोनों कथाओं
के शीर्षक और क्रम समान हैं। दृष्टान्त में शलाका-पुरुष
जैसे कि नेमिनाथ, सनत्कुमार आदि। ऐतिहासिक-अर्ध-
ऐतिहासिक व्यक्ति जैसे कि सत्यकी, चेल्लणा, कुमारपाल
आदि भिक्षुत्न जैसे कि अतिमुक्तक, गजसुकुमाल आदि।
और जैन परम्परा के अन्य धर्मगुरु नर-नारियों के दिए
गये हैं।

१९. इन कथाओं की सूची के लिए देखो पेंटरसन प्रति-
वेदनाएं ३, पृ० ३१६-१९।

२०. जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर से सन् १९१९ में
प्रकाशित; एच. डी. वेसनकर का बनाई रा. ए. सो.
बवाई शाखा की सूची भाग ३-४ में सं. १७०५ और
१७६८ देखो।

१०. कथारत्नसागर—इसमें १५ तरंग हैं और अंतिम
कथा है अगडदत्त की। इसका रचयिता है तरचन्द्रसूरि^{२१},
देवभद्रसूरि का शिष्य। पाटण की इसकी प्रति सं. १३६१
की है।

११. कथारत्नाकर—तपागच्छ के कन्याणविजयगणि
के शिष्य हेमविजयगणि ने स० १६५७ में इसकी रचना
की है। जैसा कि ग्रन्थकार ने कहा है, इसकी कुछ कथाएँ
परम्परा से कही सुनी जाती रही हैं, कुछ काल्पनिक हैं,
कुछ की रचना अन्य आचार्यों से की गई है, तो कुछ
शास्त्रों में से ली गई है। दस तरंगों में कुल २५८ कथाएँ
हैं। अनेक सरल संस्कृत गद्य में लिखी हैं। बहुत थोड़ी ही
गंभीर शैली में है। इनी-गिनी संस्कृत पद्यों में हैं। प्रत्येक
कथा का प्रारम्भ एक या दो उपदेशी गाथा या श्लोक से
होता है। सारे ही ग्रन्थ में संस्कृत, महाराष्ट्री, अपभ्रंश,
पुरानी हिन्दी और पुरानी गुजराती के उद्धरण प्रचुर परि-
माण में पाए जाते हैं। महाभारत, रामायण आदि महा-
काव्य, भर्तृहरि के शतक, पंचतन्त्र, आदि-आदि से सुपरि-
चित कुछ उद्धरण भी हैं। ग्रन्थ का जैन दृष्टिकोण उसके
प्रारम्भ के श्लोक, भाव और कथाओं में ही स्पष्ट हो
जाता है। इसमें शृंगार से लेकर वैराग्य तक के विचारों
और भावों का समावेश है। विष्टरनिर्ज का कहना है
कि बहुत सी कथाएँ तो पंचतन्त्र और ऐसी ही कहानियों
की अन्य पुस्तकों जैसी ही हैं, याने स्त्री-छल की कथाएँ,
गुण्डो-बदमाशों की कथाएँ, मूर्खों की कथाएँ, पशुओं की
कथाएँ, सभी प्रकार के विवरणों की आख्यायिकाएँ जिनमें
कुछ ब्राह्मण एवम् अन्य मतावलम्बी की निंदा या व्यंग की
भी है। पंचतन्त्र के जैसे ही कथाओं के बीच-बीच में बुद्धि-
मानी की कहावतें या उक्तिया भी हैं। कथाओं की रचना
ढीली-ढाली है। वे सुदृढ़ ढाँचे में सजाई हुई भी नहीं हैं।
अधिकांशतः ग्रन्थ दृष्टिकोण में यथार्थ रूपेण भारतीय ही
है। जैन ग्रन्थों में सामान्य रूप से आने वाले नामों के
अतिरिक्त उसमें भोज, विक्रम, कानिदास, श्रेणिक आदि-
आदि की आख्यायिकाएँ भी हैं। कुछ भौगोलिक उल्लेख
भी उसमें बिलकुल आधुनिक हैं और दिल्ली चापानेर और
अहमदाबाद जैसे नगरों से सम्बन्धित कहानियाँ भी हैं।

२१. पाटण की हस्तप्रतियों का कॅटलोग भाग १, पृ. १४।

संक्षेप में इसका विषय शिक्षादायक और मनोरंजक दोनों ही हैं।

१२. कथा रत्नाकर—यह ग्रन्थ संस्कृत में है और उत्तमर्षि इसका रचयिता है। उपलब्ध हस्तप्रति अपूर्ण है और वह दूसरे खण्ड पर समाप्त हो जाती है। इसमें साधू निदा का परिणाम दिखाने के लिए हविमणी की कथा सम्मिलित है।

१३. कथार्णव—धर्मघोषमूर्ति [लगभग १३वीं सदी ई०] का इसिमण्डल या ऋषिमण्डल स्तोत्र २०८ से २१८ गाथा की रचना है जिसमें शलाका पुरुषों और उनके धर्म-परायण समकालिकों, प्रत्येक बुद्धों, जिनपालित जैसे काल्पनिक बीरों, मेतार्थ जैसे क्षमाशील मुनियों और महावीरों के उत्तरकालीन आचार्यों की जिनमें कुछ के जीवन प्रसंग भी कुछ-कुछ दिए हैं आदि को आद्वान-नमस्कार किया गया है। इसमें से अधिकांश आगमों, निर्युक्तियों और प्रकीर्णकों में भी पाए जाते हैं। जो औपदेशक कथाओं, गोरवान्वित कथाओं और वर्णनात्मक दृष्टान्तों में अनर्तहासक पात्र से प्रतीत होते हैं, वे सब यहाँ वैराग्य-वीर या जनसब की सुप्रसिद्ध व्यक्ति मानी गई हैं। टीकाकारों के लिए इन कथाओं की व्याख्या में स्तोत्र में उल्लिखित व्यक्तियों की पूर्ण जीवनी देना इसलिए परमावश्यक था। आधे दर्जन से अधिक वृत्तिवा इस स्तोत्र पर उपलब्ध हैं। प्राचीनतम प्रति सं. १३८० की और नवीनतम सं. १६७० की है। इसकी प्राकृत में बृहद्वृत्ति पाठों के संग्रह में है। खरतर-गच्छ के पद्ममन्दिर की वृत्ति 'कथार्णव' कहलाती है और वह वि. सं. १५५३ याने १४९६ ई० की है। उसमें गाथाओं की व्याख्या और मारी कथाएँ संस्कृत अनुष्टुप छन्द में दी हुई हैं। मूल स्तोत्र की कुछ गाथा जैसे कि

२२. हीरालाल हयराज, जामनगर वाले द्वारा सन् १९११ में प्रकाशित; हट्टल द्वारा सन् १९२० में जरमन भाषा में अनुवादित; देखो विण्टरनिट्ज : भासाइ भाग २ पृ० १४५।

२३. पेटरसन की प्रतिवेदनाएँ ४, पृ. ८०।

२४. देखो श्री ऋषिमण्डल-प्रकरणम् आत्मवत्तलभ ग्रन्थ-माला सं. १३, बलाड १९३९, उसका इण्ड्रोडक्शन विशेष रूप से, जैन ग्रन्थावली, पृ. १७७; जैसलमेर

तीसरे अंश की प्रारम्भ की गाथा १५४-१६०, को पद्ममन्दिर ने परकृत याने बाद की बनी कहा है।

१४. कथावली—यह भद्रेश्वर का लिखा हुआ प्राकृत में एक भारी गद्य-ग्रंथ है। इसकी अब तक एक ही प्रति पाटण में पाई गई है। उस प्रति का संवत् १३९ [अंतिम अक्षर भड या टूट गया है]। डा. याकोबी के अनुसार है, परन्तु दलाल के अनुसार वह सं. १४९७ की है। दलाल भद्रेश्वर को कर्ण के राज्यकाल [१०६४-९४ ई०] का समय देता है। जब कि याकोबी इस ग्रन्थकार को, बहुत करके वही भद्रेश्वर मानता है कि जो १२वीं सदी विक्रमी के द्वितीयार्ध में हुआ था। कुछ भी हो, इस ग्रन्थ को हेमचन्द्राचार्य के परिशिष्टपूर्व से प्राचीनतम तो मानना ही होगा। इसमें ६३ शलाका पुरुषों का वृत्त है और कालक के लेकर हरिभद्रमूर्ति तक के आचार्यों की भी जीवनिया दी हुई है। जहाँ तक इस द्वितीय विभाग की बात है, हेमचन्द्र तो वज्रस्वामी की कथा लिख कर ही परिशिष्टपूर्व समाप्त कर देने है, जबकि भद्रेश्वर श्रीहरिभद्रमूर्ति तक अपनी कथा को ले आता है। याकोबी कहते हैं 'सामग्री का संग्रह गुणप्रधानों के सम्पूर्ण इतिहास के लिए सबसे पहले कदाचित् भद्रेश्वर द्वारा ही किया गया था। और इसकी कथाएं मामान्यतया चर्णिया और टीकाओं में मिल रहे कथानकों की अधिक माजित संस्करण ही हैं।' भद्रेश्वर और हेमचन्द्र की रचनाओं के कुछ भेदों का विचार करने के बाद, याकोबी कहते हैं, 'भद्रेश्वर की रचना में साहित्यिक गुण कम हैं। यह स्वताम्बर सम्प्रदाय के इतिहास की अमम्बद्ध सामग्री का संग्रह मात्र है कि जो चर्ण और टीका के प्रचुर साहित्य से छांट ली गई है। कथावली हेमचन्द्र की स्थविगवली चरित्र से तुलना में नीचा है क्योंकि स्थविगवली चरित्र में जम्बू से वज्रमेन तक के

भण्डारों की हस्तप्रतियों का सूचीपत्र पृ. १४, सं. १२६, बड़ोदा १९२३; पाटण हस्त. की सूची, भाग १, पृ. ११९ आदि।

२५. याकोबी सम्पादित, बिबलोथिका इण्डिका, कलकत्ता से १९३२ में प्रकाशित द्वितीय संस्करण, स्थविगवली-चरित्र को देखो। पाटण हस्त. की सूची भाग १, पृ. ५९, २४४।

भुगप्रधानों और आचार्यों का सलग इतिहास प्रसन्न संस्कृत बल्लोकों और ओजस्वी काव्यशैली में देती है। कोई आश्चर्य नहीं कि स्थविरावली ने इस प्राचीन कथावली को बहुत काल से इतना भुला दिया था कि यह नष्ट हुई ही समझ ली गई थी जब तक कि उसकी एक मात्र प्रति फिर से उपलब्ध हो कर प्रकाश में नहीं आई।

१५. कथा समास [उपदेशमाला]—यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि उवएसमाला में धार्मिक व्यक्तियों के अनेक उल्लेख हैं कि जिनकी पूर्ण कथाएं जिनभद्र रचित इस प्राकृत ग्रन्थ में दी गई हैं। इस जिनभद्र का समय और पहचान आज भी पूरी तरह से नहीं हो पाई है^{१५}। कथाओं के संस्कृत में और भी चयनिकाएँ हैं। एक तो सर्वनन्दी की है और दूसरी किसी अज्ञात लेखक की^{१६}। टीकाकारों ने न केवल कहानियाँ ही दी हैं, परन्तु मूल-ग्रन्थ में उल्लिखित दृष्टान्तों की कथाओं के स्वतंत्र संग्रह करना भी एक सामान्य प्रथा हो गई थी जैसा कि जिनभद्र ने उवएसमाला की कथाओं का यह संग्रह तैयार किया है। उत्तराध्ययन, शीलोपदेशमाला, भगवती आराधना आदि ग्रन्थों के दृष्टान्तों की कथाएं भी पृथक् रूप में संकलित और संग्रहीत की गई हैं^{१७}।

१६. कथासंग्रह [अन्तर-कथासंग्रह या कथाकोश]—इसका लेखक है हर्षपुरीय गच्छ के तिलकसूरि का शिष्य राजशेखर जिसको १४वीं सदी के मध्य का समय दिया जा सकता है। इसका प्रबंधकोश सं. १४०५ का रचित है। कथाएं सब सरल संस्कृत गद्य में लिखी हैं। उनकी शैली बिल्कुल बातचीत की है। शब्द-विन्यास प्रणाली देशज शब्दों से बहुत कुछ रंगित है। संस्कृत, महाराष्ट्री और अपभ्रंश गाथाएं बहुलता से ग्रन्थ भर में उद्धृत हैं। अनेक कथाएं तो सिद्धान्त की गाथा कह कर ही कही गई हैं। ऐसी गाथा में किसी व्रत का गौरव गान किया जाता है,

२६. पाटण हस्त. सूची भाग १, पृ. ६०।

२७. देखो हस्तप्रति सं. १२७१ [भण्डारकर ५] और १३२५, १८६१-६५ की।

२८. वेलनकर कृत राएसो, बंबई शाखा की हस्तप्रतियों की सूची [बंबई १६३०] सं. १४१७, १७०३, १६६५; और देखो आराधना कथाकोश ग्रन्थ निबन्ध आगे।

या सदाचार या समझदारी से काम लेने का उपदेश दिया जाता है। तदनन्तर गायोक्त भावों के स्पष्टीकरण में दृष्टान्त रूप से कथा कही गई है। कई स्थलों पर तो शैली आकार और विषय पद्यतंत्र का ही स्मरण करा देती है। इस ग्रन्थ की रचना में रचयिता के दृष्टिकोण दो रहे मालूम पड़ते हैं। लगभग ८६ कथाएं तो धार्मिक और नैतिक शिक्षा की ही हैं और शेष १४ का वाग्विदग्धता और परिहास द्वारा मनोरंजन का लक्ष्य है। ग्रन्थ से ही यह विभाग दीख पड़ता है, परन्तु विवेचन में परस्पर पृथक्-करण नहीं है। दार्ष्टान्तिक कथाओं में सांसारिक चतुराई के सभी विषय हैं और उनमें से कुछ पर जैनधर्म और आचार की छाप स्पष्ट ही दीख पड़ती है। यद्यपि दूसरो ने भी इन विषयों पर कथाएं कही हैं, फिर भी यह बहुत संभव है कि अधिकांश कथाएं काल्पनिक और फरमाइशानुसार घड़ी गई सी प्रतीत होती हैं। कुछ तो भारतीय कथाओं के जनप्रिय संग्रह में से चयन की हुई हैं तो दूसरी जैसे कि रोहक की, जैन टीका साहित्य में से ली गई हैं कि जिसका बीज चूर्णियों और भाष्यों में प्राप्त है। इसके विकल्प-शीर्षक 'अन्तरकथा' का कदाचित् यह अभिप्राय है कि ये कथाएं बड़ी कथाओं की उपकथा रूप से बारम्बार उपयुक्त होती रही हैं^{१८}।

इनके अतिरिक्त और भी कितने ही कथासंग्रहों का उल्लेख जिनरत्नकोशमें है, परन्तु वे या तो अनामी हैं या हमें उनके लेखकों का विशेष परिचय नहीं है। उनकी सूची मात्र यहाँ दी जाती है:—१. हेमाचार्य का कथासंग्रह, २. आनन्द सुन्दर का कथासंग्रह, ३. मलघारीगच्छ के गुणसुन्दरसूरि के पट्टघर सर्वसुन्दर [सं. १५१०] का कथासंग्रह, ४. १८८४-८७ की प्रतिवेदना की सं. १२७२ के कथासंग्रह [जिस पर सं. १५२४ लिखा है] में जीव दया आदि कई विषयों पर संस्कृत में कई उपदेशात्मक छोटी-छोटी कथाएं हैं। कथासंग्रहों का यह एक अच्छा नमूना है जिनका उपयोग साधू लोग अपने प्रवचनों में दृष्टान्तों के लिए करते

२९. श्रीकथाकोश सूर्यपुर १६३७, उद्धरणों आदि की वर्ण-क्रमानुसारी सूची सहित; भण्डारकर प्रा. शोमं. में १८८७-६१ की सं. १२६८ की हस्तप्रति में मुद्रित सन् प्रति से भिन्न ही प्रारम्भ मिलता है।

थे। ४. सन् १८९१-९५ की प्रतिवेदना की स. १३२६ के कथासंग्रह में और १८८७-९१ की सं. १२९७ में बहुत कुछ समानता है। इसमें घनदत्त, नागदत्त, मदनावली आदि की कथाएं भिन्न-भिन्न प्रकार की पूजा आदि के फलों की प्राप्ति के दृष्टान्त रूप दी हुई है। ६. सन् १८९१-९५ की प्रतिवेदना की संख्या १३२५ के कथाकोश में संस्कृत गद्य में आठ कथाएं, कुरुचन्द्र, पद्माकर आदि की, साधुओं को निवास, शैयातर, आहार-पानी, ओषधि, वस्त्र और पात्रादि देने के फल की कथाएं हैं। इनका उल्लेख उपदेशमाला की २४०वीं गाथा 'वसही-सयणासन आदि' में है। ८. सन् १८७१-७२ की प्रतिवेदना की स. ३३५ के कथासंग्रह में पहली कथा विक्रमादित्य की ही है। इसके अतिरिक्त श्रीपाल आदि की अन्य कहानियां हैं जिनमें जैन व्रतों और आचारों के फलों का प्रभाव परिलक्षित किया गया है। इसकी सब कथाएं संस्कृत में हैं, परन्तु उनमें मराठी और अपभ्रंश के उद्धरण भी हैं। सिर्फ एक कथा ही इस संग्रह में प्राकृत में है।

जिनरत्नकोश के अनुसार और भी कथासंग्रह हैं जैसे कि कथाकलोलिनी, कथाग्रन्थ, कथाद्वात्रिंशिका [परमानन्द की] कथाप्रबन्ध, कथाशतक, कथासमुच्चय, कथासंचय आदि। परन्तु जब तक हस्तप्रतियों की सूक्ष्म परीक्षाएं नहीं की जाती हैं तब तक उपर्युक्त कथाकोशों से वे कहा तक मिलते या नहीं मिलते हैं न तो यहां कहा जा सकता है और न उनकी कथाओं आदि के विषय में ही कुछ कहा जा सकता है।

जैन वर्णनात्मक साहित्य पर प्राच्यविद्याविदों के विचार :

प्राच्यविद्याविदों ने जैन साहित्य का अध्ययन बहुत देर से प्रारम्भ किया था। फिर भी अनेक प्रमुख पण्डितों ने प्रमुख जैन वर्णनात्मक ग्रन्थों पर काम किया है और उससे भारतीय विद्या अध्ययन की अनेक शाखाओं को नई नई सामग्री प्राप्त हुई है। कुछ ने तो भारतीय साहित्य और जीवन ही नहीं, अपितु भारतीय संस्कृति की मुख्य-मुख्य धाराओं के समझने के लिए उसके अध्ययन पर पर्याप्त बल भी दे दिया है। उनके विचार जैन वर्णनात्मक साहित्य के मूल्यांकन के लिए ही महत्वपूर्ण नहीं हैं अपितु इस क्षेत्र में भावी काम करने वालों की रहनुमाई के लिए

भी रचनात्मक सूचनाएं उनमें मिलती हैं। जैन साहित्य की विभिन्न शाखाओं का सूक्ष्म अध्ययन अभी तक शैश-वास्था में ही है हालांकि क्षेत्र की सम्पन्नता का अग्रचितन श्री बहूलर ने वर्षों पहले ही यह लिखकर कर लिया था कि जैन लेखकों ने इतने महत्व की सिद्धी व्याकरण, ज्योतिष और साहित्य की कतिपय अन्य शाखाओं में प्राप्त कर ली है कि उन्हें अपने विरोधियों से भी सम्मान प्राप्त हुए बिना नहीं रह सका और उनकी कुछ कृतियां तो आज भी यूरोपीय विज्ञान के लिए महत्व की हैं। दक्षिण भारत में, जहां कि जैनो ने द्रविड कबीलों में काम किया था, वहां भी उनमें उनकी भाषाओं के विकास की प्रगति दी थी। कन्नड़ साहित्य की भाषा और तमिल एवम् तेलगू भी जैन साधुओं की लगाई नींव पर ही खड़ी है। इस प्रवृत्ति ने उन्हें अपने उचित लक्ष्य-बिन्दु से यद्यपि बहुत भटका दिया था, परन्तु उसने साहित्य और संस्कृति के इतिहास में एक महत्वपूर्ण स्थान भी उनके लिए बना दिया। यदि कार्यकर्ता अध्ययन की सूक्ष्म एवम् तुलनात्मक शैलीका अनुसरण करते रहेगे तो उनके अनुसंधान का फल अवश्य ही भारतीय-विद्याध्ययन के क्षेत्रों को समृद्ध ही करेगा। जैन वर्णनात्मक साहित्य के सम्बन्ध में विण्टरनिट्ज^१ कहता है, "बौद्ध भिक्षुओं की तरह ही जैन साधु भी अपने प्रवचनों को कथा कह कर सजाने में, ऐहिक कथाओं को सतों की जीवनियों में परिवर्तन करने में, जैन सिद्धान्तों को दृष्टांत द्वारा व्याख्या करने में, सदा ही प्रसन्न रहते थे, और इस प्रकार रूपक कथाओं के नैसर्गिक भारतीय प्रेम को अपने धर्मानुयायी बढ़ाने एवम् जहां तक बने स्थिर रखने में पूरी तरह लाभप्रद उपयोग करते थे।" जैसे कि बौद्ध जातकों में हुआ है, जैन टीकाग्रन्थों में भली प्रकार जमाए हुए इस वर्णनात्मक साहित्य में जनोपयोगी कितने ही विषय हैं जिनमें कुछ ऐसे भी हैं कि जो अन्य भारतीय एवम् अ भारतीय साहित्य में भी मिलते हैं और यह सार्व-भौमी साहित्य की सामान्य निधि का ही एक भाग है।"

१. ग्रान् दी इण्डियन सेक्ट आफ् दी जैनाज, लंदन, १९०३, पृ. २२।

२. ए हिस्ट्री आफ् इण्डियन लिटरेचर, भाग २, पृ. ४८४, ४४५ आदि।

विण्टरनिट्ज के वैराग्य काव्य मत का विचार तो पहले ही किया जा चुका है, परन्तु वे उस सम्बन्ध में फिर भी कहते हैं कि “वे लोग जनप्रिय कथाओं, परी-कथाओं, रूपकों और दृष्टान्तों से अपना मसाला तैयार करते हैं। जैनों को लोक-काव्य और उसमें भी लोक-कथाएँ सदा ही विशेष प्रिय रही हैं। जैन साहित्य, आगमिक और उससे अधिक आगमबाह्य, जनप्रिय कथाओं, काल्पनिक किस्सों और प्रत्येक प्रकार की वर्णनात्मक कविताओं का सत्य ही खजाना है।” उनके विस्तार और ध्वनि-यथार्थता पर वह कहता है, “जैनों में वर्णकों की राशि और वर्णक ग्रन्थ निःसंदेह व्यापक और प्रचुर है। काल्पनिक-कथा साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन के लिए ही वे अतिशय महत्व के नहीं हैं, अपितु इसलिए भी कि अन्य साहित्य-शास्त्रों से अधिक वे हमें जन साधारण के यथार्थ जीवन की भाँकिया देखने का अवसर देते हैं। इन वर्णक साहित्यों की भाषा में जिस प्रकार लोगों की देशज भाषा से मेल खाने वाले बहुत स्थल मिलते हैं, उसी प्रकार उनका चर्चित विषय भी न केवल राजा और साधू-सन्यासियों के ही अपितु भिन्न-भिन्न स्तरों के व्यक्तियों के यथार्थ जीवन का चित्र भी ऐसा प्रस्तुत करते हैं कि जैसा अन्य किसी भी भारतीय साहित्यिक ग्रन्थों में, और विशेषकर ब्राह्मण ग्रन्थों में कही भी नहीं मिलता है।”

डा० हरटल ने कि जिनका पञ्चतन्त्र का अध्ययन सर्व-विदित है, मध्यकालिक वर्णनात्मक जैन ग्रन्थों में से अनेक का अध्ययन किया है। उनकी सम्मति में “जैनों का वर्णनात्मक साहित्य कितनी ही समस्याओं से सम्बन्धित है जिनमें से प्रमुख समस्याएँ इस प्रकार हैं—(१) कथाओं के देशान्तर गमन की समस्या। यह “साहित्यिक और सांस्कृतिक इतिहास के क्षेत्र की है। इसका निराकरण भारतवर्ष के लिए ही नहीं, अपितु अन्य देशों के लिए भी समान महत्व का है।” (२) विशुद्ध भाषाई समस्या, जिसका हल भी ‘ऐसे परिणामों पर पहुँचाए बिना नहीं रह सकता है कि जो संस्कृत एवम् अन्य भार-

तीय भाषाओं के इतिहास के लिए ही नहीं, अपितु भारतीय साहित्य के इतिहास के लिए भी मूलभूत महत्व का सिद्ध हो सकता है।’ उनमें इन दोनों समस्याओं पर खूब ही ऊहापोह किया है और इन ग्रन्थों की भाषाई दृष्टि के अध्ययन से निकाले गए उनके निष्कर्ष बहुत सूक्ष्म और विचारोत्तेजक भी हैं। ऐसा कहते हुए उनमें मध्य और उत्तरमध्यकालिक गुजरात के श्वेताम्बर आचार्यों के लिखे संस्कृत वर्णनात्मक ग्रन्थों की ओर विशेष रूप से दृष्टि रखी है। परन्तु मोटामोटी उनका यह मत अन्य जैन वर्णनात्मक साहित्य को भी समान रूप से लागू होता है और इसलिए उसका सावधानी से अध्ययन अपेक्षित है। यह तो ऊपर पहले ही कहा जा चुका है कि कर्म-सिद्धान्त ही अनेक कथाओं की रीढ़ बना हुआ है और इस सम्बन्ध में श्री हरटल कहते हैं, ‘कोई भी उस पवित्र प्रभाव को अस्वीकृत नहीं कर सकता कि जो जैनसंघ के श्रद्धावान सदस्यों पर न केवल अपने साधर्म्य भाव्यों अपितु पशु-पक्षियों तक के प्रति किए जाने वाले व्यवहार में इस कर्म-सिद्धान्त का अवश्य ही पड़ता है। एक जैन के लिए पशु-प्राणी भी उतना माननीय है जितना कि एक मनुष्य।’ उनमें जैन औपदेशिक वर्णनात्मक ग्रन्थों की प्रमुख धाराओं में से कुछ का सिंहावलोकन इन शब्दों में किया है :—

‘इन ग्रन्थों [याने औपदेशिक ग्रन्थों] में और सिद्धान्त के टीका ग्रन्थों में, जैनों का अत्यन्त मूल्यवान वर्णनात्मक साहित्य भरा हुआ है जिनमें हर प्रकार की कथाएँ हैं : रम-न्यास, उपन्यास, दृष्टान्त-कथा और पशु-रूपककथा, सिद्ध पुरुषों की जीवनिया, काल्पनिक कथा और हर प्रकार की कौतुक एवम् अद्भुत कथा। श्वेताम्बर साधुओं ने इन कथाओं को अपने सिद्धान्तों के देशवासियों में प्रचार करने का महत्वपूर्ण साधन बना लिया था और संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, गुजराती, राजस्थानी आदि सभी भाषाओं में, गद्य और पद्य में, काव्य में और दैनिक प्रयोग की सीधी-सादी शैली में वर्णन करने की यथार्थ कला का भी विकास किया था। अकेली कथा ही नहीं अपितु ऐसी रचनाएँ उनकी हैं कि जिनमें अनेक कहानियाँ कहानी के चौखट में ऐसी जड़ दी गई हैं कि जैसे पञ्चतन्त्र में जड़ी हैं और ग्रिम्स बन्धुओं की पारिवारिक कहानियों के संग्रह

३. इण्डियन कलचर, भाग १, २, पृ. १४७।

४. भान दी लिटरेचर आफ दी श्वेताम्बराज आफ गुजरात, लैपडिग १९२२, पृ. ११ आदि, ३, ६ आदि।

की सी स्वतंत्र कहानी-संग्रहों में हैं।

“प्रवचन के प्रारम्भ में, प्रवचनकार जैन साधू, कुछ शब्दों या श्लोकों में, अपनी धर्मदेशना का प्रसंग बता देता है और फिर एक लम्बी सी मनोरंजक कहानी कहने लगता है कि जिसमें अनेक रोमांचक घटनाएँ होती हैं और अनेक बार तो एक कथा में से दूसरी कथाएँ निकलती जाती हैं। कथा के अन्त में वह सदा ही केवली का अध्याहार याने प्रवेश कराता है कि जो उस नगर के उद्यान में जहाँ के लोगो की कथा कही जा रही है, अकस्मात् विहार करते-करते आ जाते हैं, और इन केवली का धर्मोपदेश सुनकर लोग पूछते हैं कि इतने उतार-चढ़ाव और भव-भवान्तर जो देखे गए, वे सब किस कारण से हुए? केवली तब उन्हें पूर्व भवों की अच्छी और बुरी सब घटनाओं का विवरण देकर उनका समाधान देकर देते हैं।”

“इन जैन प्रवचनों का साहित्यिक रूप बौद्ध जातकों जैसा ही यद्यपि होता है, परन्तु वह उनसे कहीं अधिक उन्नत है। जातक का प्रारम्भ एक कथा से होता है जो कि अधिकांशतः अपने में महत्वहीन ही होती है। ऐसा ऐसा ऐसे ऐसे भिक्षु को हुआ था, बस यही कथा होती है। परन्तु अन्त में बुद्ध का आगमन उसमें होता है। दूसरे भिक्षु उनसे वर्तमान अवस्था के विषय में प्रश्न करते हैं, और बुद्ध तब उन्हें उस भिक्षु के पूर्व भव की कथा कह कर वर्तमान अवस्था की व्याख्या कर देते हैं। पूर्व भव की कथा ही जातक की मुख्य कथा है। पक्षान्तर में जैन प्रवचनों में यह कथा उसका परिणाम होती है। बोधिसत्व या भावी बुद्ध स्वयम् ही इसमें एक अभिनेता होते हैं और इसलिए वह अभिनय उनके योग्य भी होना ही चाहिए। संक्षेप में सारी कहानी उपदेशी या उन्नायक होनी भी आवश्यक है। जातक यद्यपि मनोरंजक है परन्तु बुद्धों की रचना तो वे नहीं हैं। वे सारे भारत व्यापी कहानी के महान् संग्रह से ही चुनी हुई हैं। इन जैन-कहानियों में से अनेक कहानियाँ निष्कपट, कौतूहलक, या मनोरंजक किसी न किसी रूप में होती ही हैं, परन्तु औपदेशिक तो वे नहीं ही होती हैं। इसीलिए बौद्ध भिक्षु जिस कहानी का प्रयोग करते हैं उसे अपने कार्यानुसार परिवर्तन कर लेते हैं; क्योंकि जातक उपदेशी होना ही चाहिए और बोधिसत्व

को शोभनीय ऐसा उसका काम या अभिनय भी उसमें होना आवश्यक है। इसका दुखद परिणाम यह होता है कि वह जातक एक नीरस कहानी मात्र रह जाता है और उसका मौलिक रस सब गायब हो जाता है। यही नहीं उसका विकास भी बहुधा मनोवैज्ञानिकता के सिद्धान्तों या सम्भावनाओं से विमुख पड़ जाता है। बुद्ध अपने सिद्धान्तों का उपदेश सीधी प्रत्यक्ष रीति से देते हैं और बाधिसत्व का दृष्टांत देकर यह बताते हैं कि कैसे किसी जीव को बुद्ध के धर्म-सिद्धान्तों के अनुसार जीवन यापन करना चाहिए। यदि चुनी हुई जन-कथा जातक रूप में परिवर्तन की जाने की धर्म-प्रवृत्ति वाली नहीं है तो उसको तदनुरूप बदलना ही चाहिए। बुद्ध के लिए अर्थशास्त्र याने राजनीति का अध्ययन करना पाप है। परन्तु अनेक उत्कृष्ट भारतीय कहानियाँ इसी शास्त्र से विकसित हुई हैं। बौद्ध-भिक्षुगण अपने कथा संग्रहों में अनेक ऐसी नीति कथाएँ यद्यपि सम्मिलित करने तो हैं, परन्तु अपने सिद्धान्तों के अनुसार उन्हें उन कथाओं की वे बातें ही और इसलिए उनकी अनिवार्य दृष्टियाँ भी, उन्हें बदल देना होती हैं और ऐसा करते हुए उन्हें उन कथाओं की ही अनिवार्यतः नष्ट कर देना पड़ता है।^१ यह कोई अकस्मात् ही नहीं है कि पंचतंत्र के अनेक संस्करणों में बौद्ध संस्करण एक भी नहीं है जब कि जैनो के संस्करण, जो कि पंचाख्यान या पचाख्यानक कहलाते हैं, न इस प्राचीनतम नीति-ग्रन्थ को सारे भारतवर्ष में ही लोक प्रिय नहीं बना दिया है अपितु इन्डो-चायना और इन्डोनेशिया में भी। पचाख्यान, संस्कृत का और अन्य देशी भाषाओं का, यथार्थ में ही इतना जन प्रिय इन सब देशों में हुआ कि उसका मूलतः जैनकृति होना स्वयम् जैनो द्वारा ही बिलकुल भुला दिया गया।

“बौद्ध कथक, फिर, लोगों की चमत्कारिक, नृशंस और रौद्र कथाओं की तीव्र वासना का लाभ उठाने का

५. लेखक के लेख जर्मन भाषा के देखो—‘Die Erzählungsliteratur der Jaina’ (Geist des Ostens I, 178ff) and ‘Ein altindisches Narrenbuch’ (Ber. d. Kgl. Sachs. Gesellsch. der Wissenschaften, Ph.-h. KL. 64 (1912), Heft.-1).

अत्यन्त सदा ही करते रहे हैं। इसीलिए वे बार-बार उन्हीं भावों को वैसे ही कहानियों में दोहराते भी रहते हैं और उन्हें कार्य-कारण सम्बन्ध एवम् प्रेरणा की मनोवैज्ञानिकता का कोई भी विचार नहीं है। उनकी कहानियाँ बौद्ध विशिष्ट-गुणी होती हैं न कि भारतीय विशिष्ट-गुणी।

भारतीय वर्णनात्मक कला की लाक्षणिक है जैन कहानियाँ या कथाएँ। उनमें भारतीय जनता के सभी वर्गों के जीवन और रीति-रिवाजों का वर्णन ही नहीं है अपितु वह यथार्थता के बिल्कुल अनुरूप भी है। इसीलिए जैन साहित्य, भारतीय साहित्य के महान् पुज में, न केवल लोक-साहित्य का ही (उसके अत्यन्त व्यापक अर्थ में भी) अपितु भारतीय संस्कृति के इतिहास में भी अत्यन्त मूल्यवान् है।

कहानी कहने की जैनों की शैली बौद्धों की शैली से अति अनिवार्य कितनी ही बातों में भिन्न है। उनकी मुख्य कथा पूर्व भव की कथा नहीं अपितु वर्तमान भव की ही होती है। वे अपने धर्म-सिद्धान्त का प्रत्यक्ष रूप में नहीं अपितु परोक्ष रूप में ही उपदेश देते हैं। उनकी कथाओं में भावी जिन या तीर्थंकर को अभिनेता या पात्र नहीं बनाया जाता है।

यह स्पष्ट है कि ऐसी दशा में जैन कथाकार पूर्ण स्वतंत्र रह पाते हैं। चूँकि उनका आशय अपनी कथाओं के पात्रों को धर्मानुसार आचरण कराने का सम्भवतया नहीं रहता है इसलिए वे पुरानी कथाएँ कहने में भी स्वतंत्र रहते हैं क्योंकि ये कथाएँ साहित्यिक या जन-प्रवादी परम्परा से उन्हें विरसे में मिली हुई होती हैं। उनकी कथाओं के पात्रों की प्रवृत्तियाँ धार्मिक हैं या अधार्मिक, उनके पात्र दुखी रहते हैं या सुखी, इससे इन कथकों का कोई भी सरोकार नहीं है। क्योंकि जो धर्मोपदेश उस

कहानी से दिया जाता है वह इन घटनाओं में निबद्ध या निहित नहीं है कि जिस तरह कहानी कही गई है अपितु उस व्याख्या में है कि जो कथा के अन्त में केवली स्पष्ट करते हैं। यह केवली ही बताता है कि जो कुछ दुर्भाग्य इस कथा के विभिन्न पात्रों का हुआ, वह उनके बुरे कर्मों के कारण था और इसी तरह जो उनका सौभाग्य हुआ, वह उनके अच्छे कर्मों के कारण था कि जो उनमें पूर्व भवों में किए और कराये थे। इससे स्पष्ट है कि धर्म और नीति सिखाने की यह शैली या रीति प्रत्येक कहानी में लागू हो सकती है फिर वह चाहे जैसी ही हो, क्योंकि प्रत्येक मनोरंजक कहानी में वे जीव जिनकी घटनाएँ उसमें वर्णन की जाती हैं, अवश्य ही अनेक उतार-चढ़ाव से गुजरना चाहिए। इस तथ्य का फल यह होता है कि कोई भी कथक जैन साधू को किसी भी कहानी में जैसी कि परम्परा से वह प्राप्त हुई है, कोई भी फेर-बदल करने की कभी आवश्यकता ही नहीं होती और इसीलिए जैन कथाएँ, बौद्ध ग्रन्थों में चली आती कथाओं की अपेक्षा लोक-कथाओं की अधिकतम प्रामाणिक आधार है।

जैन साधू, सिर्फ कहानी दोहरा देने वाले ही नहीं थे, परन्तु कथाओं के उत्पादक भी थे। उनमें नई-नई कहानियाँ, आख्यान, उपाख्यान अपनी उपदेशी पुस्तकों के लिए रचे या आविष्कार किये हैं। मच तो यह है कि साहित्यिक कहानियाँ कहना उन्हें विशेष रूप से सिखाया जाता था। इसलिए यह आवश्यक है कि संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और उत्तर-अपभ्रंश काल के हमारी आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के वर्णनात्मक जैन ग्रन्थों की सूक्ष्म परीक्षा, अध्ययन और सम्पादन, भारतीय जीवन, साहित्य और संस्कृति के हमारे ज्ञान को सुसम्पन्न करने के लिए किया जाए। ●

सन् १९७१ की जनगणना के समय धर्म के
रखाना नं० १० में "जैन" लिखाकर सही आँकड़े
इकट्ठा करने में सरकार की मदद करें ॥

नलपुर का जैन शिलालेख

श्री रतनलाल कटारिया

यह शिलालेख भीमपुर में पाया गया था इस वक्त ग्वालियर म्युजियम में है। इसमें कुल पक्तियाँ ४० और कुल संस्कृत श्लोक ७० हैं जिनमें छन्दों का प्रयोग इस प्रकार हुआ है :—

वसततिलका १०, इन्द्रवंशा १, स्वागता २ उपजाति १२, रथोद्धता ३, अनुष्टुप् ३२, शार्दूल-विक्रीडित ४, मालिनी १, मंदाक्रान्ता २, शालिनी १, इन्द्रवंजा २= ७०।

यह शिलालेख नलपुर (नरवर) का है, 'देखो श्लोक १४'। इसका लेखनकाल वि० स० १३१६ का है 'देखो श्लोक ४०'। यह नरवरगढ़, शिवपुरी (ग्वालियर-मध्य प्रदेश) के पास है। "कादंबिनी" दिसंबर ६६ में एक लेख कुन्दनलाल जी जैन, दिल्ली ने "बुदेला सरदार ऊदल की ससुराल नरवरगढ़" शीर्षक से प्रकाशित करवाया है। इस लेख में बताया है कि—स० १२२५ में गजरथ प्रतिष्ठा भट्टारक विष्णुसेन के द्वारा नलपुर में हुई। यहाँ जैन पुरातत्व की विपुल सामग्री बिखरी पड़ी है—अनेक ध्वस्त जैन मन्दिर हैं।

"राजस्थान के जैनसत" पृ० १७२ में लिखा है :— "स० १८४१ में भट्टारक जगत्कीर्ति द्वारा नरवर में प्रतिष्ठा महोत्सव हुआ।" इन सब से जाना जाता है कि नलपुर सैकड़ों वर्षों से बराबर जैन संस्कृति का एक भव्य क्षेत्र रहा है। नलपुर को नलगिरि, नलपुरगिरि भी कहीं-कहीं लिखा गया है नलपुरगिरि का ही अपभ्रंश नरवरगढ़ है।

श्री पं० परमानन्द जी शास्त्री ने इस शिलालेख की हूबहू छाप तथा उसको पढ़कर उतारी गई हस्तलिखित प्रति दोनों ४-५ महीने पूर्व हमारे पास सम्पादनार्थ और हिन्दी अनुवाद करने के लिए भिजवाई थी किन्तु समयाभाव से हमारी ओर से इसमें विलंब हो गया। इसी अंत-

राल में श्री कस्तूरचन्द जी 'मुमन' जैन ने "भीमपुर का जैन अभिलेख" शीर्षक से इस सम्पूर्ण शिलालेख को 'अनेकान्त' अप्रैल ७० के अंक में प्रकाशित करवा दिया किन्तु इसमें एक भी श्लोक शुद्ध नहीं दिया गया है। कस्तूरचन्द जी सा० शिलालेख को शुद्ध पढ़ ही नहीं पाये हैं। फिर भी उन्होंने अपने उक्त लेख में यह आकांक्षा की है कि कोई विद्वान् इसका हिन्दी अनुवाद कर दे। लेकिन महा अशुद्ध श्लोकों का कोई विद्वान् क्या हिन्दी अनुवाद करेगा। आपने इस शिलालेख का अगले अंक में भाषा शास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत करने की भी सूचना की है। किन्तु जब एक भी श्लोक शुद्ध नहीं है जिससे कोई अर्थ ही नहीं बैठता ऐसी हालत में कोई क्या हिन्दी अनुवाद और क्या भाषा शास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत करेगा? क्या कीचड़ से धोने पर कभी शुद्धता आ सकती है? मैं उनके प्रयत्न और भावना की आलोचना नहीं करता किन्तु वस्तुस्थिति की समीक्षा कर रहा हूँ—उनकी अपेक्षा तो पं० परमानन्द जी शास्त्री ने शिलालेख को काफी शुद्ध पढ़ा है अगर वे अपनी प्रतिलिपि को ही अनेकान्त में प्रकाशित करते तो श्रेष्ठ रहता किन्तु वह प्रतिलिपि हमारे पास होने से शायद वे ऐसा नहीं कर सके।

शास्त्री जी की प्रतिलिपि को ही मूलाधार से परिशुद्ध कर मय हिन्दी अनुवाद के हम आगे प्रस्तुत कर रहे हैं। जिससे विज्ञ पाठक कस्तूरचन्द जी सा० के प्रस्तुत किये पाठ को और इस पाठ को परस्पर मिलान कर शुद्धता की परीक्षा कर सकेंगे।

श्लोकों के छंद निर्णय में भी कस्तूरचन्द जी सा० ने कुछ गलतियाँ की हैं जो इस प्रकार हैं—

श्लोक ५ इन्द्रवंजा की बजाय इन्द्रवंशा होना चाहिए श्लोक ६ रथोद्धता की बजाय स्वागता होना चाहिए। श्लोक १७, १८, (१९), २७, २८, ३६, ४२ और ६५

इन्द्रवज्रा की बजाय उपजाति होना चाहिए ।

श्लोक ५०, ५२ को अपठनीय लिखा है इनका छंद नाम क्रमशः स्वागता, शालिनी है ।

श्लोक ३८, ३९ उपेन्द्रवज्रा लिखा है किन्तु उपजाति होना चाहिए ।

आपने अपने लेख में 'कच्छपघात वशी' राजाओं का उल्लेख किया है सो पाठकों की जानकारी के लिए मैं यह बताना चाहता हूँ कि—कच्छपघात को बोल-चाल में "कछवाहा" कहते हैं ।

लेख में—“नरवर्मदेव के पास शत्रु भी प्रसन्न चित्त रहते थे ।” ऐसा जो श्लोक नं० के साथ लिखा है सो किसी भी श्लोक में ऐसा कथन नहीं है यह कथन गलत प्रतीत होता है ।

इसके सिवा कस्तूरचन्द जी सा० ने इस शिलालेख का नाम—“भीमपुर का शिलालेख” दिया है किन्तु यह शिलालेख नलपुर का है, क्योंकि इसमें नलपुर का ही वर्णन है । भीमपुर का कहीं कोई नामोल्लेख तक नहीं है । भीमपुर में पाने से या आज खालियर म्युजियम में होने से शिलालेख वहाँ का नहीं हो जाना । अगर शिलालेख में स्थान का समूचन न हो तो फिर भी चाहे जो नाम दिया जा सकता है किन्तु जब शिलालेख में स्पष्ट नलपुर का उल्लेख है तो उसका अपनापन कर भीमपुर का नाम देना उचित नहीं, उल्टी इसमें भ्रांति होती है । हमने इसीलिए इस अभिलेख का नाम “नलपुर का शिलालेख” दिया है ।

इस शिलालेख में निम्न प्रकार वर्णन है :—देवशास्त्र गुरु का मंगलाचरण, यज्वपाल राजवंश इसमें परमाद्विराज-चाहुड नृवर्मा राजा हुए उनके बाद आसन नरेन्द्र हुए । इनके राज्य में नलपुर नगर था जहाँ जंमवाल वंश उस वंश में जैत्रसिंह उनके पूर्वज तथा पुत्र पौत्रादि का उल्लेख । जैत्रसिंह ने नलपुर में सगमरमर के नवीन जिनालय का निर्माण कराया, पौरपाट जाति के नागदेव ने महेंद्र बन कर १३१६ सं० में इसकी प्रतिष्ठा कराई, प्रतिष्ठा गुरु अमरकीर्ति देव और वसन्तदेव थे, जैसवाल जाति के अन्य अनेक श्रेष्ठीगण, परवार और पौरवाड़ जाति के साहू (शाह) एवं माथुरवंशी श्रावक आदि सब शिवालय निर्माण में सहयोगी थे, केश गण के देव-स्वामी के शिष्य कविवर वीरचन्द्र से ज्ञान प्राप्त

कर विद्वान् देवचन्द्र ने यह प्रशस्ति बनाई थी । वास्तव्य गोत्री कायस्थ जाति के शार्द के पुत्र सोमा से उत्पन्न शेखर ने यह प्रशस्ति वेदी पर लिखी । काश्यपगोत्री पायक सूत्रधार (शिल्पी) के पुत्र वामदेव ने यह प्रशस्ति उत्कीर्ण की ।”

यह सब वर्णन अत्यन्त प्रांजल सुन्दर सरस मनोहर प्रसाद गुण युक्त काव्य में किया गया है । काव्य शैली बड़ी ही लाजवाब है इसी से आकृष्ट होकर मैंने इस पर परिश्रम किया है पाठक भी इसका समुचित रसास्वादन ले सकें इस लिए इसे हिन्दी अर्थ के साथ आगे प्रकट किया जा रहा है । अब तक जिनने शिलालेख प्रकट हुए हैं उन सब में काव्य दृष्टि से यह सर्वोपरि ज्ञात होता है ।

श्री मान् ५० वर्त्य दीपचन्द जी पाण्ड्या ने इस साहित्यिक कार्य में मुझे सब प्रकार का पूर्ण सहयोग दिया है इसके लिए मैं उनका अतीव आभारी हूँ ।

अगर इस महान् कार्य में किसी भी प्रकार की कोई गलती विशेषज्ञ विद्वानों को दृष्टिगत हो तो मुझे सूचित करने का अनुग्रह करे मैं उनका आभारी होऊँगा ।

॥ श्री ॥

नलपुर का जैन शिलालेख

(हिन्दी अनुवाद युक्त)

॥ स्वस्ति ॥

(वसंत निलका छंद)

भामडलीयमिषतः सवितारमेषा

समेवितु दिवसवासवनदिनीव ।

यस्यासघोर्लसति कुंतल कात लेखा

स श्रेयसे भवतु व. प्रभुराबिदेव ॥१॥

अर्थ.—वे आदिनाथ भगवान् तुम्हारे कल्याण के लिए हो जिनके दोनों कंधों पर लहराती हुई केशराशि भामडल के बहाने ऐसी सुशोभित हो रही है मानो सूर्य की सेवा के लिए यमुना नदी ही हो ।

(विशेष :—दिवसवासवनदिनी—दिन का इन्द्र-सूर्य उसकी पुत्री—यमुना नदी । यहाँ भामडल को सूर्य की उपमा दी है क्योंकि दोनों पीले हैं और केशराशि को यमुना नदी की क्योंकि दोनों काली हैं ।)

उद्भासयति यदुपर्युरगेन्द्रचूला—

रत्नप्रदीपकलिकाः किल सप्त संख्याः ।

तत्त्वानि सप्त भुवने कुमतांशकारे

पाश्वर्षं प्रभुर्भवतु संघं विभूतये वः ॥२॥

अर्थ :—वे पाश्वर्ष प्रभु तुम्हारी विभूति के लिए हों जिनके मस्तक पर नागराज के सात फण रूपी रत्न दीप मिथ्या मत रूपी अघकार से व्याप्त इस ससार में सात तत्त्वों को प्रकाशित कर रहे है ।

(विशेष—सुपाश्वर्षनाथ के १, ५, ९ फण होते हैं तथा पाश्वर्षनाथ के ३, ७, ११ फण होते है, यहाँ पाश्वर्षनाथ के ७ फणों का वर्णन है ।)

विल्लसमान-लवणोदधि-मेखलेय—

माकम्पमान कुल शैल नितब बिम्बा ।

यस्मिन्नभूदवनियोषिदिद मुदे वः

श्रीवीर भर्तुर्मराचल चालनं स्तात् ॥३॥

अर्थ :—महावीर भगवान् का वह मेरु कम्पन तुम्हारी प्रसन्नता के लिए हो, जिसके होने पर यह पृथ्वी रूपी स्त्री लवण समुद्र रूपी ढीली करघनी वाली हुई तथा कम्पित कुलाचल रूपी मटकते नितबो वाली हुई ।

(विशेष—यहाँ 'इय' अवनियोषिद् के लिए और 'इद' अमराचल चालन के लिए प्रयुक्त है ।)

यस्याः प्रसादमधिगम्य जडाशयस्या—

प्याभाति सारसविशिष्टनिनाद संग्या ।

श्रीः शारदीनशिशिरद्युति कीमुदीव

साऽहृन्निशं मनसि दीव्यतु शारदा मे ॥४॥

अर्थ :—वह सरस्वती रात-दिन मेरे मन में स्फुरायमान रहे जिसके प्रसाद से मूर्ख की प्रतिभा भी सार और विशिष्ट भाषा युक्त हो शोभा को प्राप्त होती है जिस तरह शरदकालीन चाँदनी में सरोवर की शोभा भी हंसों के मधुर कलरव से गुंजायमान होकर बढ़ जाती है ।

(विशेष :—साहित्य में 'ड' और 'ल' एक माने गये हैं तदनुसार यहाँ जडाशय (मूर्ख) और जलाशय (सरोवर) दोनों का ग्रहण किया गया है । 'शिशिरद्युति' का अर्थ चन्द्रमा है ।) सारस का अर्थ कमल भी होता है उस पक्ष में—“सरोवर की शोभा भ्रमरों से गुंजायमान कमलों से सुशोभित हो रही थी” ऐसा करना चाहिए ।

(इन्द्रवंश—छंद)

स्याद्वादविदधान्वं पाश्वर्षेन्दवः

कारुण्यरत्नाङ्कुररोहणाग्रयः

कीर्तिच्छटाधीत दिगंबरश्रियः

श्रीमूलसंघे मनयः पुनन्तु वः ॥५॥

अर्थ :—स्याद्वाद विद्या रूपी सागर के लिए जो पूर्णिमा के चाँद है और दयारूपी रत्नाङ्कुरों के जो उदयाचल है तथा पवित्र कीर्ति वाली दिगम्बर लक्ष्मी से युक्त है ऐसे मूलसंघी मुनि तुम्हें पवित्र करें ।

विशेष :—विचार-आचार और व्यवहार की दृष्टि से मूलसंघी मुनियों को क्रमशः अनेकान्ती, अहिंसक और नग्न दिगंबर चोतित किया है ।)

(स्वागता छंद)

इतश्च—

यज्वपाल इति सार्थक नामा

संबभूव वसुधा धववंशः ।

सठवतः कालतकीर्तिदुकूल—

इच्छत्रमेकमसृजद् भुवने यः ॥६॥

अर्थ :—(यज्वपाल) (पूजा प्रतिष्ठा कराने वालों का रक्षक) इस प्रकार के सार्थक नाम वाला राजवंश हुआ जिसने सर्वत्र अपना कीर्तिवस्त्र फैला कर इस संसार पर अपना एक छत्र तान दिया था ।

(उपजाति छंद)

कुले किलास्मिन्नजनिष्ट वीर—

चूडामणिः श्री परमाद्रिराजः ।

शूरच्छिदा भर्त्सित तारक श्रीः

स्कंदोऽपि नास्कंदति येन साम्यम् ॥७॥

अर्थ :—इस वंश में वीर चूडामणि श्री परमाद्रिराज उत्पन्न हुए । तारकासुर का वध करने वाले स्वामी कार्तिकेय भी जिनकी शत्रु हनन में समता नहीं करते ।

(विशेष :—अद्रि का अर्थ सूर्य भी होता है सूर्य के उगते ही जैसे तारों की शोभा विलीन हो जाती है वैसे ही परमाद्रिराज के पैदा होते ही शत्रु समाप्त हो गये ।)

नोट :—‘इतश्च’ का मतलब है यहाँ से प्रशस्ति प्रारम्भ होती है । इससे पूर्व ५ श्लोकों में मंगलाचरण है । १ से ३ में क्रमशः ऋषभ, पाश्वर्ष और महावीर जिन देव, ४ में शास्त्र और ५ में गुरु इस तरह देवशास्त्र गुरु का स्वस्ति पाठ किया है ।)

(रथोद्धता छंद)

तत्र नाकयुवति स्तन स्थली,

पत्रवल्लिघनडंबरस्पृशि ।

चाहडः प्रतिनरेन्द्रकानन,

पयोषडावशिखिमूर्तिरुच्यो ॥८॥

अर्थ :—उन परमाडिराज के अप्सराओं के चित्रांकित स्तनों का आलिंगन कर लेने पर अर्थात् उन परमाडिराज के स्वर्गवासी होने पर 'चाहड' राजा हुए जो शत्रु राजाओं रूपी वन को जलाने में दावानल थे ।

(विशेष :—'स्तन-स्थली पत्रवल्लिघनडंबर' का अर्थ है स्तनों पर बेल-बूटे आदि का चित्रांकन था ।)

(अनुष्टुप् छंद)

तत्र स्वर्गपुरी पौर, गौरवंशमुपेयुषि ।

नृवर्मा वैरिमर्माविन्, महीजानि रजायत ॥९॥

अर्थ :—उन राजा चाहड के भी स्वर्गपुरी के पुर-वासी अर्थात् देव उनका जो गौरवश (देवगण गौर वर्ण होते हैं) उसे प्राप्त होने पर अर्थात् स्वर्गवासी होने पर शत्रुहंता नृवर्मा नाम के राजा उत्पन्न हुए ।

(विशेष :—महीजानि=मही-पृथ्वी ही है जानि-स्त्री जिसके अर्थात् पृथ्वीपति=राजा ।)

(वसततिलका)

यस्मिन् विलासकुशले हृदयाधिनाथे

स्थाने करं क्षिपति सागरमेखलेयम् ।

उत्कंटका न, पृथुकम्पवती न जज्ञे

प्रोढांगनेव न बभार विवर्णभावं ॥१०॥

अर्थ :—जिन सुखदायी नृवर्मा शासक के द्वारा यथोचित टेकस लगाने पर यह पृथ्वी उपद्रवियों से रहित हो गई तथा अस्थिर स्वामित्व और दुःख सकट से दूर हो गई अर्थात् प्रजा ने अमन-चैन का अनुभव किया । जिस तरह विनासप्रिय पति के द्वारा काम-स्थान पर हाथ लगाने पर प्रोढ स्त्री न तो रोमांचित होती है न चौकती है और न म्लान होती है ।

(अनुष्टुप्)

अस्मिन्नाषेदुषि स्वर्ग-श्री संसर्ग महीभुजि ।

नंदत्यासल राजेन्दुर्भोलितारिमुखांबुजः ॥११॥

अर्थ :—इन (नृवर्मा राजा) के भी स्वर्ग लक्ष्मी से

मुलाकात हो जाने पर अर्थात् स्वर्गवासी हो जाने पर, कुंद कर दिया है शत्रुओं के मुख कमलों को जिसने ऐसे प्रजानन्दक आसलराज चन्द्र हुए ।

(विशेष :—आसलराज को जो चन्द्रमा बताया है सो उचित है; क्योंकि चन्द्रमा भी "भोलितारि मुखांबुजः" है अर्थात् अरि-अलि-भौरें हैं मुख में जिनके ऐसे कमलों को संकुचित करने वाला है (रात में कमल संकुचित हो जाते हैं और सूर्योदय पर खिलते हैं ।)

(शार्दूल विक्रीडित छंद)

संग्रामेषु समग्रसाहसरिपुक्षुण्णेभक्तुस्थल-

मुक्तादंतुरिता कृपाणलतिका बाभातिहस्ते तव ।

धीमन्नासल भूप किन्तु भवते जंत्रधिया प्रेषितः

कन्दर्पोत्सवलेख एष कबलीपत्रे पवित्राक्षरः ॥१२॥

अर्थ :—युद्धों में सम्पूर्ण साहसी शत्रुओं को रौंदने वाले ऐसे हाथियों के कुभस्थलों की गजमुक्ता में व्याप्त लपलपाती तलवार, हे श्रीमान् आसल नरेन्द्र ! आपके हाथ में ऐसी सुशोभित होती है मानों विजय लक्ष्मी ने आपके लिए केले के पत्ते पर पवित्र अक्षर लिख कर वसंतोत्सव (होली) का लेख ही भेजा हो ।

(अनुष्टुप्)

त्वयाऽवधूत भूपाल, गोरक्षेणारियोषिताम् ।

लोचनेषु नृपासल्ल, चक्रे लक्ष्मीनिरंजना ॥१३॥

अर्थ :—हे आसल नरेन्द्र ! पराजित राजाओं की पृथ्वी की रक्षा करने वाले आपने शत्रु—नारियों की आंखों की शोभा को काजल रहित कर दिया (आपके द्वारा शत्रुओं के राज्य छीन लिए जाने पर उनकी स्त्रियों ने जो रुदन किया उससे उनकी आंखों की शोभारूप काजल धुल गया ।)

(वसत तिलका)

अस्य प्रतापकनकं रमलैर्यशोभि

मुक्ताफलैरखिलभूषण विभ्रमायां ।

पादोनलक्ष विषय क्षिति पक्षमलाक्ष्या—

मास्ते पुरं 'नलपुर' तिलकायमानं ॥१४॥

अर्थ :—इन आसल नरेन्द्र के प्रतापरूपी सुवर्ण और निर्मल यशरूपी मोतियों के सम्पूर्ण आभूषणों से अलंकृत

ऐसी पौनलखदेश की भूमि रूपी स्त्री (के भाल) पर विलक स्वरूप नलपुर नाम का नगर है ।

(विशेष—पक्षमल=डोरेदार-शराबी-मत्त, अक्षि=प्रांखों वाली, प्रमदा=स्त्री । आशाधर जी ने अनगार धर्मावृत की प्रशस्ति में 'सपादलक्ष विषय' का उल्लेख किया है (श्री मानस्ति सपादलक्षविषयः शाकम्भरी भूषणः) सवालखदेश—जोधपुर नागौर इलाका (साभर भी पहिले इसी में था) । इसी तरह यहाँ 'पादोनलक्ष विषय' पौनलख देश समझना चाहिए इसमें सवा की बजाय पौन भाग ही है) ।

(मालिनी छद)

अथ च—

अमरहित विकासः, प्रीतसच्चक्रवर्गः ।

परिचित धनपङ्कं, नालसत्त्वं दधानः ।

जयति भुवन लक्ष्मी विभ्रमागारभूमिः

कमल वन सनाभिजैसवालाऽन्ववायः ॥१५॥

अर्थ :—इसके बाद, असदिग्ध उन्नतिशील (सब तरह से बढ़ा-चढ़ा) सज्जनो का आनन्दकारी, प्रचुर-प्रगाढ़ पाप और आलस्य को नहीं धारण करने वाला (पुण्यशाली और उत्साही) सांसारिक लक्ष्मी की विलास-लीला का स्थान, कमलों का सहोदर (कमलकुल सदृश) जैसवाल वंश जयवंत रहे ।

कमल के पक्ष में इस प्रकार अर्थ होगा—

अमरो के हित में है विकास जिसका, चक्रवा पक्षी का प्रिय, सचित प्रगाढ़ कीचयुक्त, नालरूपी प्राण को धारण करने वाला, संसार लक्ष्मी की लीला भूमि ।

(अनुष्टुप्)

एतद्वश सुषाम्मोधि सुषादीधितिरुद्यौ ।

साढदेवः सुषोः पूर्वमपूर्वमतिवभवः ॥१६॥

अर्थ :—पहिले इस (जैसवाल) वंश रूपी क्षीर समुद्र से अपूर्व बुद्धि सम्पन्न, विवेकी साढदेव रूपी चन्द्र उत्पन्न हुआ ।

(विशेष :—सुषाम्मोधि=क्षीरसागर । सुषादीधिति=चन्द्र ।)

(उपजाति)

अभीकभावं भुविभीक्ष्वर्च्यसाम कुर्वन्नपि यद्वचकार ।

स श्रीकुमारः सुकुमारभाषा पीयूषवर्षी तवपत्यमासीत् ॥१७॥

अर्थ :—उन (साढदेव) की मृदुवाणी से अमृत की वर्षा करने वाला श्री कुमार नाम का पुत्र था जो लोक में भय-भीतों का बंधु होते हुए भी स्वयं अभीक भाव (निर्भयता) को प्राप्त था ।

(विशेष—पीयूषवर्षी का अर्थ चन्द्रमा भी होता है । उसके साथ ये सब विशेषण इस प्रकार लागू होंगे—सुकुमार-कोमल ठंडी भाषा-किरण से अमृतवर्षा करने वाला । श्री कुमार=शोभा चांदनी वाला । भीरुबंधु=डर-पोकों का बंधु अधेरा भय उत्पन्न करने वाला है, चंद्रोदय होते ही अधकार का भय समाप्त हो जाता है । अभीक-भाव=कामभाव का करने वाला (कामियों को चांद चांदनी बढ़ी प्रिय होती है ।)

(रथोद्धता)

नागणस्तदनु तस्यनन्दनश्चन्दनैरिव यशोभिरुज्ज्वलैः ।

पूर्व पूरुष वियोगवेदिनीं मेदिनीं शशिमुखी मुपाचरन् ॥१८॥

अर्थ :—उन (श्री कुमार) के नागण नाम का पुत्र था जिसने चन्दन के समान उज्ज्वल (श्वेत) यश से, पूर्व पुरुषों के वियोग से आकुलित पृथ्वी (प्रजा) को चन्द्रमुखी—आल्हादित—कर दिया था ।

(उपजाति)

चेतः श्रिया केतकगर्भगौरं, गिरः शरच्चन्द्र सुषासधर्माः ।

शीलश्रिया मगल सोधमगं, राजल्ल देवी गृहिणी तवीया ॥१९॥

अर्थ :—जिस प्रकार केवड़े का अंतरंग भाग श्वेत—होता है उसी तरह हृदय से निर्मल, शरत्कालीन चांदनी के समान अमृतवर्षी वाणी वाली, शील से मगल महल ऐसे अग वाली राजल्लदेवी उन (नागण) की धर्मपत्नी थी ।

(अनुष्टुप्)

तत्कुक्षिरोहण क्षोणी माणिष्यं द्योतते भुवि ।

जैत्रसिंह, क्षमापाल-सभा युवति भूषणम् ॥२०॥

अर्थ :—उन (राजल्ल देवी) की कूख से निकला पृथ्वी रत्न तथा राजसभा रूपी युवति का भूषण ऐसा जैत्रसिंह संसार में प्रकाशमान (प्रसिद्ध) हुआ ।

(क्रमशः)

जैन विद्वानों द्वारा रचित संस्कृत के शब्दकोश

श्री भगरखन्ध नाहटा

मानव की कुछ विशेषताएं तो प्रकृति प्रदत्त है और कुछ स्वयं उपाजित। जगत के प्राणियों में मानव को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। मन की मुख्यता होने से मानव चिन्तन-शील होता है। प्रकृति प्रदत्त साधनों के अतिरिक्त वह स्वयं आविष्कार भी करता है।

जीवन व्यवहार में भाषा की उपयोगिता निर्विवाद है। वैसे पशु-पक्षी भी ध्वनियों के उच्चारण द्वारा अपने भावों को व्यक्त करते हैं। पर मनुष्य ने अपने भावों को व्यक्त करने के लिए जिस तरह भाषा का विकास किया वैसा अन्य प्राणी नहीं कर पाए। वस्तुएं असंख्य हैं। उनको पृथक्-पृथक् रूप में जानने एवं दूसरों को समझाने के लिए उनके अलग अलग नाम रखे गये हैं। इससे असंख्य नाम व शब्दों का विकास हो गया। तब भाषा को व्यवस्थित करने के लिए व्याकरण के नियम भी बनाए गये। इस तरह शब्दशास्त्र के दो मुख्य अंग हो गये। व्याकरण और कोष। व्याकरण शब्द की उत्पत्ति और उसके अर्थ द्योतक विविध स्वरूपों का विवेचन करता है और कोष मुख्यतः शब्दों का अर्थ सूचित करता है। कौन शब्द किस लिंग में व्यवहृत है, इसका भी सूचन कोष में किया जाता है। शब्दकोश का प्राचीन नाम 'निघंटु' और परवर्ती नाम—'नाममाला' भी पाया जाता है।

मुनि जिनविजय जी ने शब्दकोशों को तीन भागों में विभक्त किया है—१. एकार्थक वाचक शब्दकोश, २. अनेकार्थक वाचक शब्दकोश, ३. एकाक्षर सग्राहक शब्दकोश। एकार्थक वाचक शब्दकोश में मुख्यतया उन शब्दों का संग्रह है जो एक ही अर्थ अथवा पदार्थ के वाचक हैं। अर्थात् समान अर्थ को प्रदर्शित करने वाले हैं। अनेकार्थक वाचक शब्दकोशों में वे शब्द संगृहीत होते हैं—जो एक से अधिक अर्थ अथवा पदार्थ व्यक्त करते हैं। ये नानार्थक वाचक भी कहे जाते हैं। एकाक्षर सग्राहक

शब्दकोशों में एकाक्षरात्मक शब्दों का संग्रह होता है। संस्कृत भाषा में शब्दों का मुख्य अर्थ है स्वर, यद्यपि सामान्य रूप से व्यंजन और स्वर दोनों प्रकार के वर्णों को अक्षर कहा जाता है, परन्तु स्वर के सहयोग के बिना अकेले व्यंजन में किसी प्रकार के अर्थ को व्यक्त करने की शक्ति नहीं है और न ही किसी ध्वनि विशेष का उससे विस्फुट होता है। एकाक्षरी शब्द का अर्थ है एक स्वर वाला शब्द। इसी तरह द्व्यक्षरी या वृत् छः अक्षरी वाले शब्दों का संग्रहात्मक कोश होते हैं।

संस्कृत भाषा की जैन विद्वानों ने बहुत बड़ी सेवा की है। संस्कृत के व्याकरण के सम्बन्ध में जिस तरह जैनों के अनेक ग्रंथ हैं उसी तरह शब्दकोश सम्बन्धी भी बहुत सी रचनाएं प्राप्त हैं। जिनका सक्षिप्त परिचय इस लेख में दिया जा रहा है। इनके अतिरिक्त भी कई ऐसे ग्रंथ हैं जिनमें शब्दों का संग्रह काफी परिमाण में मिलता है।

प्राचीनतम जैन साहित्य प्राकृत भाषा में है। भगवान महावीर ने, जन साधारण सुगमता से उनके प्रवचनों को समझ सके, इसलिए (उनका विशेष विचरण मगध प्रदेश के आस-पास हुआ अतः) अर्द्ध-मागधी भाषा में उपदेश दिया। करीब ५०० वर्षों तक जैनाचार्यों ने भी प्राकृत को ही अपनाया रखा पर इसके बाद संस्कृत के बढ़ते हुए प्रभाव से प्रभावित होकर इस भाषा में भी वे रचनाएं करने लगे। आचार्य उमास्वाति का तत्त्वार्थ सूत्र शायद जैनों की पहली संस्कृत रचना है। प्राकृत ग्रन्थों में जन-प्रचलित शब्दों का बहुत बड़ा संग्रह है। एक-एक शब्द के अनेक पर्याय नामों का भी महत्वपूर्ण संग्रह मिलता है। जिससे उस समय की शब्द समृद्धि का भली भांति परिचय मिल जाता है। संस्कृत में रचना तो जैन विद्वानों ने दूसरी तीसरी शताब्दी से ही प्रारम्भ कर दी और चौपांचवीं शताब्दी में तो आचार्य समंतभद्र और सिद्धनक्षे

आदि की प्रौढ़ एवं दार्शनिक चर्चा प्रधान रचनाएं मिलने लगती हैं। जैनाचार्यों में बहुत से मूलतः ब्राह्मण थे, इसलिए संस्कृत के विद्वान तो वे प्रारम्भ से थे ही। फलतः उन्हें प्रौढ़ संस्कृत रचनाएं करने में कोई कठिनाई नहीं हुई। पर व्याकरण और कोष जो जैनतर विद्वानों के रचित प्रसिद्ध ग्रन्थ थे, उन्हीं से काम चलाया जाता रहा। इसलिए ११वीं शताब्दी से पहले^१ श्वे० जैनों के रचित कोई संस्कृत व्याकरण और कोष ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। ११वीं शताब्दी के विद्वान जिनेश्वर सूरि और बुद्धिसागर सूरि दोनों ब्राह्मण थे। श्वे० बुद्धिसागर सूरि जी ने सर्वप्रथम स्वतंत्र व्याकरण बनाया जो बुद्धिसागर व्याकरण के नाम से प्रसिद्ध है। उसका मूल नाम 'पंचग्रन्थी'-शब्द-लक्ष्मलक्षण है ७ हजार श्लोक परिमित इस व्याकरण की रचना सं० १०८० में जावालपुर (जालोर) में हुई। दिगंबर सम्प्रदाय के आचार्यों ने तो इससे पहले भी संस्कृत व्याकरणादि सम्बन्धी ग्रंथ बनाये थे। पर कोष ग्रन्थ तो उनके भी अधिक पुराने नहीं मिलते। शायद सबसे पहले द्विसंघान-राघव पाठवीय (काव्य के रचयिता) कवि धनंजय ने 'नाममाला' नामक संस्कृत शब्दकोश की रचना की। धनंजय का समय १०-११वीं शताब्दी के आस-पास का माना जाता है^२। इसके बाद तो कई महत्वपूर्ण शब्दकोश तैयार हुए। जिनमें आचार्य हेमचन्द्र के कोष ग्रन्थ तो बहुत ही महत्वपूर्ण हैं।

धनंजय नाममाला के २ संस्करणों में २०३ और २०५ पद्य प्रकाशित हुए हैं। धनंजय ने एक शब्द पर से शब्दांतर बनाने के लिए विशेष पद्धति का उपयोग किया। जैसे पृथ्वी के नामों के आगे घर शब्द जोड़ देने से, पर्वत के नाम, मनुष्य के नामों के आगे पति शब्द जोड़ देने से राजा के नाम, वृक्ष के नामों के आगे चर शब्द जोड़ देने से बन्दरों के नामों का बन जाना। धनंजय की नाममाला पर अमरकीर्ति का भाष्य अनेकार्थ नाममाला श्वे० शब्द

कोश भी प्राप्त एवं प्रकाशित है। मूल नाममाला, गुजराती अनुवाद के साथ पं० त्रिभुवनदास अमरचन्द्र ने पाली-ताणा से सं० १९८३ में द्वितीयावृत्ति प्रकाशित की, उनमें २०५ श्लोक हैं। यद्यपि २०४ वें श्लोक में इस नाममाला का परिमाण २०० श्लोक का बताया है। अमरकीर्ति के भाष्य सहित इसका सुन्दर संस्करण भारतीय ज्ञानपीठ से सं० २००७ में प्रकाशित हुआ। इसके अन्त में धनंजय की नाममाला भी टीका सहित प्रकाशित है। प्रस्तावना में धनंजय का समय ईशा के आठवीं का उत्तरार्ध और ९वीं का पूर्वार्ध बतलाया गया है जो विचारणीय है। धनंजय दिगंबर सम्प्रदायानुयायी गृहस्थ थे उनके रचित द्विसंघान काव्य और विषापहार स्तोत्र भी प्रसिद्ध है।

श्वेतांबर विद्वानों में आचार्य हेमचन्द्र ने संस्कृत शब्द कोश संबंधी कई रचनाएं की। जिनमें से 'अभिधान चिन्तामणि' बहुत ही प्रसिद्ध है। इस नाममाला में रूढ़, योगिक, यानि व्युत्पत्ति से सिद्ध और मिश्र शब्दों को अमर कोश की तरह भिन्न-भिन्न कांडों में पर्याय वाचक शब्दों सहित दिया गया है। इसमें ६ कांड है—१. देवाधिदेव, २. देव, ३. मर्त्य, ४. त्रियक, ५. नरक, ६. सामान्य है। इन काण्डों की श्लोक संख्या क्रमशः ८६, २५०, ५९७, ४२३, ७ और १७८ तथा कुल १५४१ श्लोक हैं। इस नाममाला पर आचार्य श्री की तत्त्वभिधायिनी नामक ८५०० श्लोकों की परिमित टीका उपलब्ध है। इस पर अन्य भी कई टीकाएं प्राप्त हैं। अभिधान चिन्तामणि के दो संस्करण उल्लेखनीय हैं। पहला मंस्वरण देवचंद लाल-भाई पुस्तकोद्धार फड, सूरत से प्रकाशित हुआ है। दूसरा संस्करण गुजराती शब्दार्थ के साथ गिरधरलाल शाह, अहमदाबाद ने प्रकाशित किया है।

आचार्य हेमचन्द्र का दूसरा कोश 'अनेकार्थ संग्रह नामकोश' भी महत्वपूर्ण है। यह भी ६ कांडों में है। चौखम्बा संस्कृत सीरीज से सं० १९८५ में यह प्रकाशित हो चुका है। भूमिका में इसे २००० श्लोक परिमित बतलाया गया है। १, २, ३, ४, ५, ६ स्वरों वाले अनेकार्थ शब्दों को इसमें ६ कांडों में विभक्त किया है। अन्त में अव्यय वर्ग भी संग्रहीत हो गया है। गणना करने से समस्त श्लोकों की संख्या १९३१ होती है। प्रकाशित

१. दि० विद्वानों के रचित जैनेन्द्र व्याकरण आदि ग्रन्थ इससे पहले बने हैं। वे अनुपलब्ध हैं।

धनंजय का समय आचार्य वीरसेन की धवला टीका से पूर्व का है; क्योंकि उसमें नाममाला का एक पद्य उद्धृत है। —सम्पादक

संस्करण के अन्त में शब्दों को अकारादिक्रम से दे दिया गया है।

‘अभिधान चिंतामणि’ में जो शब्द नहीं आ पाए उनका संग्रह ‘शेष नाममाला’ के नाम से २०४ श्लोकों का आचार्य हेमचन्द्र ने एक और कोश बनाया। उनका चौथा महत्वपूर्ण कोश ‘निघण्टुशेष’ है। इसके अतिरिक्त देशी नाममाला जिसका अपर नाम ‘रयणमाला’ भी है। इसमें देशी शब्दों का बहुत ही महत्वपूर्ण संग्रह है। इसके भी दो संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं।

श्रेष्ठ देवचन्द्र लाल भाई जैन पुस्तकोद्धार ग्रंथांक १२ में अभिधान चिंतामणि कोश का प्रकाशन हुआ है। उसमें उक्त कोश के श्लोक १५४२ के बाद ‘शेष नाममाला’ श्लोक १५४३ से १७५० तक में दी गई है। फिर जिनदेव मुनीश्वर रचित ‘शिलोच्छ’ उसकी पूर्ति या परिशिष्ट के रूप में श्लोक १७५१ से १८८६ तक में छपा है। इस कोश की रचना सं० १३८३ में हुई है। तत्पश्चात् आचार्य हेमचन्द्र का ‘निघण्टुशेष’ श्लोक १८९० से २२८५ तक में दिया गया है। इसमें श्लोक १८९१ से १९०५ तक का पाठ उपलब्ध नहीं हुआ और १९०६वें श्लोक की भी प्रथम पंक्ति त्रुटित है। श्लोक २२०१ की भी अन्तिम पंक्ति त्रुटित है। इससे मालूम होता है कि इस संस्करण के सम्पादक को ‘निघण्टुशेष’ की प्रति त्रुटित रूप में ही प्राप्त हुई। इस कोश में भी ६ कांड हैं—१. वृक्षकांड, २. गुल्मकांड, ३. लताकांड, ४. शास्त्रकांड, ५. लूण, ६. धन्यकांड। अन्त में इस संस्करण में आए हुए कोशों की शब्दानुक्रमणिका ४४० पृष्ठों में दी गई है। परिशिष्ट में हेमचन्द्र का लगानुशासन तथा अन्य रचित एकाक्षर कोश, पुरुषोत्तम देव रचित शब्द भेद प्रकाश और सुधाकर मुनि प्रणीत एकाक्षर नाममाला भी दे दी गई है। इस तरह यह संस्करण बहुत ही महत्वपूर्ण है। करीब ८०० पृष्ठों के इस ग्रन्थ का मूल्य ४ रुपये बहुत ही सस्ता है।

१७वीं शताब्दी भारत का स्वर्ण युग था। साहित्य निर्माण की दृष्टि से भी वह शताब्दी बहुत उल्लेखनीय रही है। जैन विद्वानों के रचे हुए संस्कृत के कई कोश और पूर्व रचित कोश ग्रन्थों की टीकाएं इस समय की प्राप्त हैं। सम्राट अकबर के मान्य जैन विद्वान पद्म सुन्दर

ने ‘सुन्दर प्रकाश’, जिसके अन्य नाम ‘पदार्थ चिंतामणि’ और ‘शब्दार्णव’ भी है, ५ प्रकरणों में २६६ श्लोकों का संस्कृत का कोश बनाया। जिसकी एक हस्त लिखित प्रति सं० १६१९ की लिखी हुई मिली है। जो प्रायः रचना समय के आसपास की ही है। यह कोश अभी तक अप्रकाशित है।

सम्राट अकबर को प्रत्येक रविवार के दिन ‘सूर्य सहस्र नाम’ का पाठ करके मुनाने वाले उपाध्याय भानुचन्द्र गणि ने भी एक कोश बनाया। जिसका नाम नामसंग्रह, नाममाला संग्रह और ‘विविक्त नाम संग्रह’ मिलता है। सं० १६६० में लिखी प्रति प्राप्त होने से यह रचना इससे पहले ही रची जा चुकी सिद्ध होती है।

इसी समय के नागपुरी तपोगच्छ के विद्वान हर्षकीर्ति सूरि ने ‘शारदीया नाममाला’ की रचना की। यह तीन काण्डों में विभक्त है। इसका अपरनाम ‘मनोरमा नाममाला’ भी पाया जाता है। इसमें देव, व्योम, धरा, अंग, संभोगादि, सगीत पण्डितादि, ब्रह्म, राज, वैश्य, शूद्र और सकीर्ण शब्दों का संग्रह है। जामनगर के पं० हीरालाल हंसराज ने सं० १९७१ में इसे प्रकाशित किया था।

सम्राट अकबर की सभा में वादविजय करने वाले खरतरगच्छीय उपाध्याय साधुकीर्ति के शिष्य वाचनाचार्य साधुमुन्दर गणि ने ‘शब्द रत्नाकर’ नामक कोश की रचना की। यह भी ६ कांडों में विभक्त है। सुप्रसिद्ध जैन विद्वान पं० हरगोविन्द दास और पं० बेचरदास द्वारा संपादित यह कोश यशोविजय जैन ग्रन्थमाला से सं० १९६९ में प्रकाशित हुआ है। इस संस्करण में ‘शब्द रत्नाकर’ में आए हुए शब्दों की नामानुक्रमणिका १०७ पृष्ठों में छपी है। इसी से इसका महत्व विदित हो जाता है।

१७वीं शताब्दी के ही खरतरगच्छीय उपाध्याय सहज कीर्ति ने ‘सिद्ध शब्दार्णव’ कोश बनाया। यह भी छः कांडों में विभक्त है। इसकी एक पूरी हस्तलिखित प्रति हमें जिन हरि सागर सूरि ज्ञान भण्डार, लोहावट से प्राप्त हुई। वैसे एक अपूर्ण प्राप्त प्रति के आधार से इसका एक संस्करण श्री मुरलीधर पानसे द्वारा संपादित होकर डेक्कन कालेज, पूना से सन् १९६५ में प्रकाशित हो चुका है। इसमें बीच में भी कहीं-कहीं पाठ त्रुटित रह गया है।

अन्तिम भाग तो उन्हें प्राप्त ही नहीं हुआ था। पर उन्हें प्राप्त प्रति में जो राजस्थानी शब्द, टिप्पण रूप में मिले थे वे विशेष महत्व के हैं। अन्त में 'सिद्ध शब्दार्णव' में आए हुए संस्कृत शब्दों का अंग्रेजी में अर्थ भी सम्पादक ने विशेष श्रम करके दे दिया है। इसलिए अंग्रेजी जानने वाले विद्वानों के लिए भी यह संस्करण बहुत उपयोगी हो गया है। प्रारम्भ में ३६ पृष्ठों की अंग्रेजी भूमिका भी उल्लेखनीय है। लोहाबट से प्राप्त पूर्ण एवं शुद्ध प्रति हमने श्रीमुरली-धर पानसे को भेज दी है। आशा है इसका अगला संस्करण अधिक शुद्ध और अच्छे रूप में निकलेगा।

उपरोक्त 'शब्द रत्नाकर' के रचयिता साधुसुन्दर के गुरु साधुकीर्ति रचित 'शेष नाममाला' या 'शेष सग्रह नाममाला' नामक कोष भी प्राप्त है जो अभी तक अप्रकाशित है। लौका गच्छीय ऋ० गुणचन्द्र रचित मनोरमा नाममाला की प्रति मुझे कलकत्ते के जैन भवन में प्राप्त हुई है जो सं० १८१ की रचना है।

आशिक शब्दकोश के रूप में 'अपवर्ग नाममाला' नामक १३वीं शताब्दी का एक शब्दकोश प्राप्त हुआ है। जिसका दूसरा नाम पचवर्ग परिहार नाममाला भी रखा गया है। यह अभी तक अप्रकाशित है। इसके रचयिता जिनभद्र सूरि को प्रो० हीरालाल कापड़िया ने १५वीं शताब्दी के प्रसिद्ध जैसलमेर आदि ज्ञान भण्डारों के स्थापक जिनभद्र सूरि मानलिया है पर वह ठीक नहीं है। ग्रंथकार ने अपना परिचय देते हुए जिनवल्लभ सूरि का शिष्य और जिनदत्त सूरि का भक्त बतलाया है। इससे ये १३वीं शताब्दी के सिद्ध होते हैं। इनके सम्बन्ध में डा० दशरथ शर्मा का भी एक लेख छप चुका है।

१६वीं के प्रारम्भ में ही तपागच्छीय शुभशीलगणी अच्छे विद्वान हो गये हैं। इन्होंने पचवर्ग सग्रह नाममाला की रचना की। इसमें ६ काण्ड हैं। उन्हीं के रचित पचवर्ग परिहार धातु सग्रह नामक एक और रचना भी प्राप्त है। इन दोनों रचनाओं की सग्रह प्रति भडारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट पूना से प्राप्त कर हमने दोनों ग्रन्थों की प्रतिलिपि अपने अभय जैन ग्रन्थालय के

१. लेखक ने रचनाकाल सं० १८ लिखा है, जो आत्मक है, हो सकता है कि वह सं० १८०० हो।

लिए करवा ली है। इनके अतिरिक्त अपवर्ग नाममाला, निघण्टु संग्रह, बीजनिघण्टु और औषधि नाममाला आदि कोश ग्रन्थों का उल्लेख प्रो० हीरालाल कापड़िया ने अपने "जैन संस्कृत साहित्य के इतिहास" नामक ग्रन्थ में की है।

एकाक्षरी नाममाला में जैन विद्वानों के रचित अमरचन्द्र, सुधाकलश आदि की नाममालाएं उल्लेखनीय हैं। अमरचन्द्र १३वीं, १४वीं शताब्दी के विद्वान हैं। इनकी एकाक्षर नाममाला २१ श्लोकों की है। और सुधाकलश हर्षपुरीयगच्छ के राजशेखर सूरि के शिष्य थे। अतः इनका समय भी १४वीं शताब्दी का ही है। इनके रचित संगीतोपनिषद सारोद्धार नामक संगीत विषयक ग्रन्थ प्राप्त है जो कि बड़ीदा ओरियंटल सीरीज से प्रकाशित भी हो चुका है। इनकी एकाक्षर नाममाला ५० श्लोकों में है।

अमरचन्द्र और सुधाकलश की नाममालाएं अन्य अनेक ऐसी ही नाममालाओं के साथ "एकाक्षर नाम कोश संग्रह" नामक ग्रंथ में राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान जोधपुर से पन्यास मुनि रमणीक विजय जी द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हो चुकी है। इसमें अन्तिम ग्रन्थ वाचनाचार्य श्री वल्लभ रचित 'विद्वत् प्रबोध' विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

प्रो० हीरालाल कापड़िया ने कई सदिग्ध रचनाओं का उल्लेख भी अपने ग्रन्थ में किया है और कई ऐसे अन्य कोश भी मिलते हैं जिनमें रचयिता का नाम नहीं दिया गया है। ऐसी रचनाओं का उल्लेख करना यहाँ आवश्यक नहीं समझा।

२०वीं शताब्दी में प० जैन मुक्ति विजय जी ने एक बहुत महत्वपूर्ण संस्कृत शब्दों का एक कोश तैयार किया जो गुजराती अर्थों के साथ दो भागों में अहमदाबाद से प्रकाशित हो चुका है। इसका नाम "शब्द रत्न महोदधि" रखा गया है। स० १९९३ में इसका प्रथम भाग ९५४ पृष्ठों का प्रकाशित हुआ, फिर स० १९९७ में द्वितीय भाग छपा है। कुल पृष्ठों की संख्या दोनों भागों की २१५३ है। श्री विजय जीति सूरि वाचनालय गांधी रोड, अहमदाबाद से यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। मूल्य क्रमशः ८ रुपये और १० रु० है। यह कोश १२ वर्षों के श्रम का सुफल है। मूल्य भी प्रचारार्थ बहुत कम ही रखा गया है।

जैन ग्रन्थों में बहुत से ऐसे शब्दों का प्रयोग भी

दूँदाड़ी कवि ब्रह्म नाथू की रचनाएँ

डा० गंगाराम 'गंग'

अनेक जैन विद्वानों के साधना-स्थल राजस्थान के पूर्वी भाग दूँदाड़ प्रदेशकी भाषा दूँदाड़ी अपनी कोमलता, मधुरता और बोध गम्यता के कारण गद्य साहित्य के अतिरिक्त गीत काव्य की भी भाषा रही है। अज्ञात कवि 'नाथू' दूँदाड़ी भाषाके अज्ञात गीतकारों में से एक है। अपने नाम के साथ 'पाण्डे' और 'ब्रह्म' शब्दों का प्रयोग करने से 'नाथू' ब्रह्म-चारी प्रतीत होते हैं। इनका प्रमुख साधना-स्थल वर्तमान टोक जिले में स्थित 'नगर' का प्रमुख जैन मन्दिर था जहाँ श्रावक भाव सहित पूजा व दानादि करते थे। नाथू ब्रह्म की निम्नलिखित रचनाएँ मिली हैं :—

१. नेमीश्वर राजमती की व्याहृतो :—इस ग्रन्थ की रचना श्रावण सुदी ६, सवत् १७२८ में हुई। इसमें 'तलदी', 'निकासी', 'सिद्धरी', 'विद्रावनी' की ढालों में नेमिनाथ और राजमती के समस्त विवाह-प्रसंग का वर्णन किया गया है। ग्रन्थ की कथा के अनुसार राजा समुद्रविजय अपने पुत्र मिलता है जिनका संग्रह सस्कृत के कोश ग्रंथों में नहीं पाया जाता। प्रबन्ध चिन्तामणि, प्रबन्ध कोश और पुरा-तन प्रबन्ध संग्रह ये तीनों ग्रन्थ सिंधी जैन ग्रन्थमाला से मुनि जिन विजयजी द्वारा सम्पादित प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें आए हुए शब्दों का एक महत्वपूर्ण संग्रह डा० भोगी-लाल सांडेसरा और जे० पी० ठाकर ने किया है। यह ग्रन्थ लैक्सिको ग्राफिबल स्टडीज इन जैन सस्कृति (Lexicographical Studies in Jain Sanskriti) नामसे ओरि-यन्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा से प्रकाशित हो चुका है।

जैन साहित्य बृहद् इतिहास भा. ५ में इनके अतिरिक्त श्रीधरसेन रचित विश्वलोचन कोश, असग के ननार्थकोश शब्दचक्रिका आदि का उल्लेख है।

१. नगर नगीन सोमिती जी, चौबीसी ब्राजमान ।

श्रावण पूज भाव स्थों जी, सकत सहित दे दान ॥

—प्रशस्ति, "श्री नेमीश्वर राजमती की व्याहृतो"

नेमिनाथ के विवाह के लिए राजमती की मंगनी हेतु एक दूत उसके पिता के पास भेजते हैं। उससेन अपने को गौरवान्वित समझते हुए इस सम्बन्ध को विनम्रतापूर्वक स्वीकार कर लेते हैं :—

इक बेइ बेटी पाय लागी, अरज सुणिज्यो म्हाहरी ।
हू गरीब थे साहिब म्हांका, मैं बोट पकरी थाहरी ।
इक बार बारहु करौ झोनती, श्रीरो कछु जानौ नहीं ।
भूलां चूकां समझा लीज्यो इह बात जानौ सही ।

समुद्रविजय की नगरी में अब नेमिनाथ को दूल्हा वेष में सजाया जाता है। उनके शरीर पर हल्दी का उबटन करके सिर पर सेहरा बांधा जाता है। फिर उनकी आँखों में काजल लगा कर चवाने के लिए पान का बीड़ा दिया जाता है। गाना, वाद्य-ध्वनि और लोकाचार सभी से उत्सव की शोभा बढ गई है—

भूवा कुंता गावें छे मंगलचार ती,
लुण उतारें बंन्हड़ी जी ।
कोड़ि छपन जाहु सब ज्यां की नारि ती,
गावें गीत सुहावण जी ।
बाजा बाजें साढ़ी बारा कोड़ितो,
गुड़य दमामा दुड़वड़ी जी ।
भेरि नफीरी बाजें छे ताल ती,
मावल बाजें दमवमी जी ॥३॥

राजा समुद्रविजय पुत्र को व्याहृत के लिए ज्यो ही बारात लेकर चलने लगे, त्यों ही मार्ग में अनेक प्रकार के शकुन होने लगे। कवि ने उनकी बारात के वैभव में हाथी, विमान, रथों की चर्चा करते हुए घोड़ों का अधिक वर्णन किया है—

घोटक अंत न पार रे, श्रीराकी सिरदार ।

बगतर पहर्यां हो भार, नव सव सब बन्धा हो ।

श्रावबी चल्या असमान रे,

गगन न बीसै भान,
सुर तालां की हो तांन,
चमकै बीजरी हो ।

दूलह नेमिनाथ का स्वागत करने के लिए उग्रसेन के दरवाजे पर सोना, चांदी, पीतल, ताबा आदि के कलश सिर पर धारण किये जाती हुई स्त्रियां खड़ी हैं। किन्तु द्वार पर आने से पूर्व ही पशुओं की क्रन्दन-ध्वनि सुनकर और उसके मर्म को जानकर नेमिनाथ विरक्त हो गए। हलधर आदि का समझाना भी उन्हें गिरनारि जाने से न रोक सका—

हलधर कैसे बीनउ जी, ठाढ़ा जोड़्या हाथ ।
छपन कोटि जाहुभणै, फिर चालौ जगनाथ ।
नेम नगीनी बोलियो जी, थे घर जावो भ्रात ।
म्हे ससार स्यो दुरिछां जी, भव-भव मेरी भ्रात ।

नेमिनाथ के विरक्त होने का समाचार सखियों से सुनकर राजमती विलखी अवश्य, किन्तु माता-पिता के समझाने पर भी दूसरा विवाह करने को तैयार नहीं हुई। नेमिनाथ की एकनिष्ठ अनुरागिणी राजमती भी उन्हीं की अनुगामिनी बनी—

माय कहै सुणिहो राजमती, कह्यो हमारी मानि ।
नेम गयो तौ जाण दे जी, और बिहावू आनि ।
राजल मास्यों इम कहै जी, थे क्यों बोलौ पाप ।
इ भव तौ बर नेम छै जी, और म्हारं माइ बाप ।
कनककन मोती तज्या जी, तोड़्या नवसर हार ।
पाछ्यो लागी नेम कै जी, जाइ चढ़ी गिरनारि ।
संसार की स्वार्थपरता और असारता जानकर

राजमती ने समय लेना ही उचित समझा :—

मात पिता सुत सुंदरी जी, को कोई कौ नाहि ।
स्वारथ आपण सबै करै जी, विपति पड़ै जबै माहि ।
सुणि राजमति चितवै जी, यो संसार असार ।
अजिका पासि बड़ी भई जी, लीयो सजम भार ।

तपस्वी नेमिनाथ को केवलज्ञान उदित होने पर अष्टविधि से पूजा और समवशरण की रचना हुई। तदनन्तर नेमिनाथ मोक्षगामी हुए।

२. नेम जी की लूहरि :—यह १८ छन्दों की विरह-रचना है। इस रचना में सावन के महीने से आषाढ़ के

महीने तक हुई राजुल की मार्मिक विरहावस्था का चित्रण है। श्रावण माह में प्राकृतिक उपादान और तीज का त्योहार विरहणी को अधिक दुखदायी हुआ है :—

सखि सांवणड़ी अब आयी,
बो सब पुरष त्रिया मन चायो बे ।
बरसं मेघ चमकै बीजो बे,
सखिया सब मिलि खेल्हैं तीजो बे ।
हुं कंसं खेल्हू हारी बे,
नेम जाइ चढ़्यो गिरनारी बे ।
झूठी दोस पसुन सिर दीयो बे ।
वा तो अपनी जाण्यो कीयो बे ।

माह मास का शीत तो वह अकेली सद् ही नहीं पाती :—

सखी महा मास की राते बे,
एकलड़ी रही न जाते बे ।
सी लागै कोमल अंगो बे,
नहीं भाजै दूजौ संगो बे ।

३. जिन गीत :— ८ चरण के इस मार्मिक गीत में राजमती ने सखियों को नेमिनाथ को बुला लाने को कहा है। उसे पश्चाताप है कि नेमिनाथ ने पहले विवाह की सोचकर फिर वैराग्य क्यों लिया ?

सखी री नेम जी नें ल्याहो,
अरिहां प्रभु जी नें ल्याहो,
नेम जी नें ल्याव नें सखी री,
काहे कुं व्याहु नें चल्या हो नेम,
क्यों सिर बांध्यो मोड़,
क्यों छांड़ी मृगलोचनी हो,
सरस मिली थांकी जोड़ ।
कर का छालो मूढ़ा री सखी,
सिर का छाली चोर ।

४. डोरी कौ गीत :—इसमें अनेक योनियों में भटकने वाले जीव को उसके कष्टों का वर्णन करते हुए—
“डोरी थे लगावो हों नेम जी का नाव स्यो” की शिक्षा दी गई है। कवि ने देवगति को भी बन्धन का कारण मानकर शोकप्रद ही कहा है—

देवतणी गति जीवड़ा तू गयो,
हंसि हंसि कीया है। भोग सुग्यानी जीव।
करम घणाघण जीवड़ा बांधीया,
अंति सगं कीयो सोग सुग्यानी जीव ॥

५. दाई गीत :—इस गीत में मनुष्य के जन्म लेते ही बचान, यौवन और वृद्धापन की अवस्थाओं में दुःख भोगते हुए मोहग्रस्त हो जाने की चर्चा की है तथा गर्भ-वास में जिनेन्द्र को स्मरण करने की प्रतिज्ञा को भूल जाने पर प्रतारणा भी दी है। त्रिविध विषयों में ग्रस्त जीव को कवि पुण्य, पूजा और दान करने की ओर प्रेरित करता है।—

हो जीवां जोवनवतो होइ। परनारी तकी बे हां।
हो जीवां गनी गनीय तं तोहि, करी अण्णी थकी बे हां।
हो जीवां विषय तणां फल षाइ, अमृत फल छोड़ियो बे हां।
हो जीवां वृष धतूरा बाप, कंचन व्रष तोड़ियो बे हां।
हो जीवां मोह तणं बसि होइ, मेरी मेरी करती बे हां।
हो जीवा अम्यो परदेवां रोय, घरि चिन्ता पनी बे हां।
हो जीवां मुक्ति पूजा दान, कबहु नां किया बे हां।
हो जीवा मन में राखौ मान, योवन यो गयो बे हां ॥२॥

६. राग मलार :—इस गीत में राजमती द्वारा दूसरे विवाह की मना करके संयम धारण कर लेने की चर्चा है।

७. राग सोरठ :—इस गीत में रावण, पाण्डवों, नमिताय, यादवों और भविष्यवत्त के जीवन की घटनाओं के संकेत से भवितव्यता को प्रबलता प्रमाणित की है।

८. राग सोरठ :—‘राग सोरठ’ के नाम से इस दूसरे गीत में अष्ट द्रव्य से जिनेन्द्र भगवान की पूजा करने के लिए प्रेरणा दी है।

९. राग घनाश्री :—इस गीत में सुदर्शन, अजन चोर, मानतुंग, वादिराज, मेढक, श्रीपाल आदि जिन-नाम से तरे प्राणियों के उदाहरण देते हुए नाम-स्मरण की महत्ता प्रतिष्ठित की है। कवि ने स्वयं अपना उद्धार भी चाहा है—

या नै सुषि दे और भी भविजन उतरे पार।
ब्रह्म नाथू की बीनती हो, कीज्यो मो निस्तार।

१०. राग मारू :—‘सर्व सुप पाइए हो सेवा श्री जिन-राज’ की प्रतिपादना ही इस गीत का लक्ष्य है।

उक्त सभी रचनाएं बीस पथी मंदिर, पुरानी टोक में प्राप्त दो गुटकों में सगृहीत है। ★

उद्बोधक पद



मंगतराम चिलकाना वासी

अरे उड़ चला हंस सैलानी !

मानसरोवर सूना छोड़ा, छोड़ा दाना पानी ॥ देर ॥
जिनको अपनी मान रहा था, सब हो चले बिगानी।
राज पाट को तज गए राजा, कछू न ले गई रानी ॥
बैरी जीते गये अकेले, रह गई लिखी कहानी।
पंचेन्द्री गज संना मारी, जोवन सा सेनानी ॥
काल लुटेरे ने सब लूटी, काया की रजधानी।
पतझड़ हुई फूल कुम्लायें, फल की नांह निसानी ॥
सगरे पछी भए उडछी, दे गये आना कानी।
मां अरु बाप सुत सुत रोवें, नारि न मानी ॥
जग के नाते रह गए जग में, कर्म एक अगबानी।
जिसने बोया उसने काटा, रमे ये तिनकी हानी ॥
चिड़िया चुग गई खेत प्यारे, क्यों पछतावे प्राणी।
‘मंगत’ जाग भूल निद्रा में, सोता चादर तानी।
अब सुन ले फिर कौन सुनावे, ये दुर्लभ जिन-बानी ॥

राणों के आधार पर एक ऐतिहासिक कथा :

सम्राट का अधूरा सपना

श्री बाबू सुबोधकुमार

श्रेणिक के जीव ने कुणिक के जीव का, किसी एक पूर्वजन्म में, वध किया था।

उसके कई जनम-मरण के बाद यह कथा तब आरम्भ होती है जब कि श्रेणिक बिम्बसार मगध का सम्राट था और उसकी राजधानी राजगृह में थी। वैशाली के राजा चेटक की पुत्री चेलना मगधकी साम्राज्ञी थी। गर्भवती थी।

कुणिक का जन्म हुआ। श्रेणिक और चेलना की प्रसन्नता की सीमा नहीं थी। दैव वशात् बालक की अगुली में भयकर घाव हुआ। राजवैद्य थक गये। बालक को शान्ति नहीं मिली। एक रात वह मारे कष्ट के चीख रहा था। किसी उपचार से वह चुप नहीं हो रहा था। श्रेणिक ने पुत्र के दुःख-शमन के लिए मोहवश, घाव से सड़ी दुर्गन्धपूर्ण अगुली को अपने मुँह में रख लिया। इससे बालक को शान्ति मिली और वह चुप होकर सो गया।

यह घटना नगर में लोगों की जुबान पर फैल गयी। बालक के घाव और इस घटना के कारण ही बालक का नाम कुणिक (अगुली का घाव) प्रचलित हो गया। श्रेणिक और कुणिक शब्दों में साहित्यिक सौन्दर्य होने से राजघराने में भी यह नाम स्वीकृत हो गया।

कुणिक के रूप में मगध साम्राज्य का एक बुद्धिमान और शौर्यवान राजकुमार अवतरित हुआ। उसका प्रभाव दिन-दिन बढ़ता गया और उसकी सम्राट होने की आकांक्षा भी बलवती होती गई। पूर्वजन्म के बैर-भाव ने उसे पिता श्रेणिक की हत्या करने के लिए प्रेरित किया होगा। परन्तु उसकी आवश्यकता नहीं पड़ी। उसने मौके से अपने पिता सम्राट श्रेणिक बिम्बसार को राजगृह में ही उनके राजप्रासाद में कैद कर लिया और स्वयं मगध का सम्राट बन गया। इस विषय में अपनी मा चेलना के विरोध की उसने तनिक भी परवाह नहीं की। चेलना ने चाहा कि इस विपत्ति में वह अपने पिता,

वैशाली गणतंत्र के अधिनायक राजा चेटक को बीचबचाव करने के लिए कहे परन्तु उसकी हिम्मत नहीं हुई। वह जानती थी कि उन्होंने अभी तक चेलना का अपहरण करने वाले श्रेणिक को क्षमा नहीं किया है।

कुणिक बहुत ही शौर्यवान और प्रतापी नरेश सिद्ध हुआ। अनेकों दुर्जय शत्रुओं को उसने जीता। क्रमशः वह अजातशत्रु यानि "जिसका शत्रु जन्मा ही नहीं" के नाम से सुप्रसिद्ध हुआ। उसने तीन विवाह किये, जिनमें एक कौशल के नरेश प्रसेनजित की कन्या थी। श्रेणिक-चेलना से अजातशत्रु कुणिक के दो और सगे भाई थे—हल्ल और विहल्ल। इसके अनिरिक्त दूसरी माँ से कालीकुमार आदि दस अन्य भ्राता थे।

राजा श्रेणिक के पास राज्य के अतिरिक्त दो और अमूल्य निधियाँ थी। सचनक हाथी और दूसरा अठारह-सरा देवताओं द्वारा दिया गया हार। कहा जाता था कि इन दोनों निधियोंका मूल्य मगधके पूरे राज्यके बराबर था।

राजा श्रेणिक ने प्रेमवश हाथी को तो अपने पुत्र हल्ल को दे दिया था और देवप्रदत्त हारको दूसरे पुत्र विहल्ल को।

सम्राट कुणिक ने राजगृह के पचपहाड़ी दुर्ग के अन्दर राजप्रासाद में पिता श्रेणिक को कैद में रखा था; स्वयं अपने लिए उन्होंने दुर्ग के बाहर प्राकृतिक उष्ण जल-घाराओं के समीप एक विशाल राजप्रासाद निर्मित कराया।

जिस दिन सम्राट अजातशत्रु-कुणिक के घर पुत्र ने जन्म लिया, उस दिन राजगृह में खूशियों का ठिकाना नहीं था। राजघराने में पुत्र का उदय हुआ इसलिए उनका नामकरण 'उदायी' किया गया।

एक दिवस की घटना है। अजातशत्रु भोजन कर रहे थे। माँ चेलना पौत्र को गोद में लिए हुए पखा भल रही थी। यकायक बालक ने पेशाब किया जिसके छीटे सम्राट अजातशत्रु की थाली में पड़े। परन्तु इसके पूर्व कि

थाली बदली जाय, अज्ञातशत्रु कुणिक हँस कर रह गया और जान बूझ कर उसी थाली में भोजन करता रहा। चेलनाको यह बात पसन्द नहीं आई और उसने जब आपत्ति की तो अज्ञातशत्रु कुणिक हँस कर बोला—माँ ! मैं अपने पुत्र को कितना प्यार करता हूँ, इसी बात से देखो।

परन्तु इस बात पर जब चेलना रोने लगी तो उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। पूछा—‘माँ ! तुम इस बात पर रोने क्यों लगी ?’

तभी माँ चेलना ने उसे कुणिक के बचपन की वह घटना कह सुनाई जबकि उसके घाव द्वारा सड़ी हुई दुर्गन्धयुक्त अगुली को उसके पिता सम्राट बिम्बसार श्रेणिक ने अपने मूँह में रख लिया था। अन्त में वे बोली—

‘बेटे तुम्हारे पिता भी तुम्हें अत्यन्त प्यार करते थे, वरना क्या वे तुम्हारी उस दुर्गन्धपूर्ण दूषित अगुली को केवल तुम्हें शान्ति देने के लिए अपने मूँह में रख लेते ? आज उसी बात की याद आ गयी और साथ साथ यह भी कि उन्होंने पिता को तुमने कैद में बाँडिया से जकड़ कर रख छोड़ा है।’

इतना सुनना था कि कुणिक थाली छोड़ कर उठ खड़ा हुआ। बोला—‘परन्तु यह कथा तो मुझे आज तक किसी ने बनायी नहीं। हाय, मैं कितना पापी हूँ कि ऐसे प्रिय पिता के साथ मैंने ऐसा दुर्व्यवहार किया—मैं अभी उनको मुक्त करूँगा।’

इतना कह वह अपने रथ पर सवार होकर पिता के पास दोड़ा गया। उसके पिता श्रेणिक ने जब कुणिक को अपनी ओर दोड़े हुए आते देखा तो उन्हें विश्वास हो गया कि अवश्य कुणिक उनकी हत्या करने के लिए आ रहा है। उनके हाथों-पावों में वेडिया लगी हुई थी। उन्होंने भगवान महावीर को स्मरण किया और उठ खड़े होने के यत्न में गिर पड़े। लोहे की कील पर उनका माथा जा लगा। उनका वही प्राणान्त हो गया।

कुणिक के शोक का ठिकाना न था। राजगृह में अब एक क्षण भी रहना उसके लिए दुश्वार हो गया। उसने निश्चय कर लिया कि वह अपनी राजधानी और कहीं ले जाएगा।

चम्पानगरी (आजकल के भागलपुर के निकट) उन

दिनों सौन्दर्य और शोभा से सम्पन्न थी। तीर्थंकर व मु-पूज्य का निर्वाणस्थल होने के कारण मन्दारगिरि से चला तक श्रमणों का संगम सदैव हुआ करता था। चेलना ने कुणिक को प्रेरित किया और सम्राट कुणिक ने चम्पानगरी को मगध की नयी राजधानी घोषित कर दिया।

चम्पानगरी में आकर कुणिक ने कालीकुमार आदि अपने दसो भाइयों को बुलाया। राज्य सेना, धन आदि को ११ हिस्सों में बाँट कर उन्हें दिया और आनन्दभूषक वहाँ राज्य करने लगा। उसके दोनों सगे भाइयों विहल्ल और हल्ल को दो अमूल्य निधियों-सेचनक हस्ती और देवप्रदत्त हार श्रेणिक से मिल ही चुकी थी इसलिए उन्हें राज्य में हिस्सा न देकर अपने साथ प्रेम और आदर के साथ कुणिक ने रखा।

प्रतिदिन विहल्ल कुमार सेचनक हाथी पर सवार हो अपनी रानी के साथ विहार और जलक्रीड़ा के लिए गंगा तट पर जाता। उसके आनन्द और भोग देख कर नगरी में चर्चा उठी—‘राज्यश्री का उपभोग तो वास्तव में विहल्लकुमार कर रहा है। कुणिक नहीं।’

यह चर्चा धीरे-धीरे कुणिक की रानियों तक पहुँची। उसकी एक रानी पद्मावती ने सोचा यदि सेचनक हाथी मेरे पास नहीं, देवप्रदत्त हार मेरे पास नहीं तो इराज्य वैभव से मुझे क्या ?

कुणिक से उसने यह बात कही। परन्तु उसने हँस कर इस बात को टाल दिया, कहा—‘वह तो भाइयों का पिताजी ने दिया है हमारा नहीं है।’

परन्तु अनेकों बार कहे जाने पर अन्त में वह अपनी पत्नी के वश होकर हार और हाथी माँगने के लिए विवश हो गया।

उसने विहल्ल और हल्ल कुमार को बुलाकर बड़े प्रेम पूर्वक उनसे उन वस्तुओं को दे देने के लिए कहा। उस समय तो वे चिन्तायुक्त चले गये परन्तु कई बार फिर वही सूचना आने पर उन्होंने अपनी वस्तुओं को देने से इन्कार कर दिया।

कुणिक इससे रुष्ट हो गया।

हल्ल और विहल्ल कुमार को आती हुई विपत्ति का आभास मिल गया और वे एक रात्रि को चुपचाप सपरिवार

अपनी निधियों के साथ लिए हुए चम्पानगरी से चल पड़े। अपनी सुनिश्चित आयोजना के अनुसार वे अपने नाना वैशाली के अधिनायक राजा चेटक की शरण में पहुँच गये।

कुणिक को यह पता चला तो वह इस अपमान से अत्यन्त क्रोधित हुआ।

उसने अपना दूत राजा चेटक के पास भेजा और हल्ल और विहल्ल के साथ हाथी और हार लौटा देने को कहा। चेटक ने कहा—‘हार और हाथी हल्ल और विहल्ल के हैं। वे मेरी शरण में आ गये हैं, मैं उन्हें वापस नहीं लौटाता। यदि ‘श्रेणिक राजा का पुत्र, चेलना का आत्मज और मेरा नप्तक (नाती) कुणिक’, हल्ल और विहल्ल को मगध साम्राज्य का आधा हिस्सा दे दे तो मैं हार और हाथी दिलवा सकता हूँ’।

सम्राट अजातशत्रु-कुणिक ने फिर दूत भेज कर सन्देश दिया—‘हल्ल और विहल्ल बिना मेरी आज्ञा लिए हार और हाथी ले गये हैं। वे दोनों वस्तुएँ मेरे राज्य मगध की हैं, इसलिए उन्हें शीघ्र लौटा देना ही योग्य है।

चेटक ने पुनः उसकी माँग अस्वीकार कर दी और दूत को खाली हाथ वापस कर दिया।

दूत द्वारा समाचार मिलने पर कुणिक की उत्तेजना बहुत बढ़ गयी। वह आवेश में आ गया और लाल-लाल आँखों, एवं फड़कते हुए हाँठों से उसने दूत को पुनः पत्र द्वारा यह सम्वाद लिख कर प्रेषित किया—

‘हार हाथी वापस करो या युद्ध के लिए तैयार हो जाओ।’

उसने दूत को यह भी आज्ञा दी—

‘तुम चेटक की राजसभा में जाकर उसके सिंहासन पर लात का प्रहार करो। तदुपरान्त भाले की नोक पर रख कर मेरा यह पत्र उसके हाथों में देना।’

महावली अजातशत्रु एव मगध के महान सम्राट के दूत का गर्व भी कम नहीं था। उसने ठीक वैसा ही किया जैसा कि उसके सम्राट ने आदेश दिया था।

चेटक वृद्ध और दूरदर्शी राजनयिक थे। अपने शीर्ष और सुबुद्धि के द्वारा उन्होंने वैशाली गणतन्त्र की स्थापना की थी। अपने मित्रों—नवमल्लकी, नवलिच्छवी—इन १८

काशी-कौशल के अधिनायकों की शक्ति और सहयोग का उन्हें पूर्ण भरोसा था। तीर्थकर मुनि मुव्रतनाथ, पारसन थ एव वर्द्धमान महावीर के सम्यक् उपासक होने के कारण वे निर्भय थे। उन्हें जल्दी क्रोध नहीं आता था। परन्तु कुणिक के दूत के दुर्व्यवहार से वे क्रोध किये बिना नहीं रह सके।

उन्होंने गरज कर कहा—‘मैं युद्ध के लिए तैयार हूँ। कुणिक को शीघ्र भेजो, मैं प्रतीक्षा करूँगा।’ चेटक के राज्य से कुणिक के दूत को धक्के देकर बाहर निकाल दिया गया। इस प्रकार तिरस्कृत और अपमानित दूत कुणिक के पास वापस पहुँचा।

इधर राजा चेटक ने काशी, कौशल के १८ नरेशों को निर्मन्त्रित कर उनसे परामर्श माँगा—‘श्रेणिक राजा की चेलना रानी का पुत्र, मेरा नप्तक (नाती, दोहिता) कुणिक हार और हाथी के लिए युद्ध करने आ रहा है। हम सब लोगों को मिल कर युद्ध करना है कि उसके सामने समर्पित होना है?’

सभी राजाओं ने कहा—

‘युद्ध करना है, समर्पित नहीं होना है।’

इस निर्णय के उपरान्त सभी राजा अपने अपने राज्य वापस गये और युद्ध की तैयारियों में लग गए।

कुणिक ने शीघ्र से शीघ्र अपने दसो भाइयों को बुला कर एव अपने दो महामात्यों सुनिधि एवं वस्सकार, से सत्रणा की।

वस्सकार का कथन था कि लिच्छवियों से युद्ध करने के पूर्व गंगा के इस किनारे एक सुरक्षित नगर की स्थापना होनी चाहिए। सुनिधि ने भी कहा कि इसप्रकार हम लिच्छवियों से अपनी सेना को सुरक्षित रख सकते हैं, और उन्हें गंगा के इस पार अपनी ओर आने से रोक सकते हैं। युद्ध सामग्री भी गंगा के उस पार युद्धस्थलों में भेजना हमारे लिए सरल हो जायगा।

सम्राट अजातशत्रु-कुणिक इन सभी बातों से सहमत था—‘परन्तु नगर की योजना पूर्ण करने में तो वर्षों लग जाएँगे’—‘जब उसने ऐसा उतावलेपन से कहा तो सभी समझ गए कि सम्राट शीघ्रता चाहता है।

दसों भाइयों में अग्रणी कालीकुमार ने राय दी कि

वर्द्धमान महावीर और गौतम बुद्ध जैसे मनीषि जब इस पृथ्वी पर हैं और वे इस समय इन्हीं प्रदेशों में बिहार कर रहे हैं तो क्यों न उनसे भी मिलकर इस विरोध को दूर कराने का प्रयत्न किया जाए।

इस पर महामात्य वस्सकार (वर्षकार) ने हँसकर कहा—‘वर्द्धमान महावीर और चेटक का पारिवारिक सम्बन्ध तो है ही, चेटक महावीर के अनुयायी भी है। उसे श्रमणों का आशीर्वाद प्राप्त है। भला इस दशा में हम लाभ की आशा कैसे रख सकते हैं? रही गौतम बुद्ध की बात। तो क्या यह सर्वविदित नहीं है कि गौतम को लिच्छवी अत्यन्त प्रिय है।

काली कुमार ने सयत रहते हुए उत्तर दिया—महामात्य! आपने इन महापुरुषों को गलत समझा है। फिर आप क्या यह नहीं जानते कि लिच्छवी गणतंत्र है, उनके यहाँ जमी एकता है हममें नहीं है, क्या उन्हें परास्त करना सरल है?

महामात्य और काली कुमार की चर्चा में आक्रोश का पुट आ गया था। सम्राट अजातशत्रु ने उन दोनों की बातों को रखते हुए कहा—‘बुद्ध और महावीर, दोनों मनीषियों के प्रति हम सभी की श्रद्धा है परन्तु हिंसा के क्षेत्र में इनकी राय लेना अनुचित होगा।’

सम्राट की आज्ञा से गंगा के इस ओर नई महानगरी की योजना पर कार्य आरम्भ कर दिया गया परन्तु युद्ध में विलम्ब करने की अमात्य की राय नहीं मानी गई।

दोनों ओर की सेनाएं संग्राम क्षेत्र में इकट्ठी होने लगी।

प्रथम युद्ध में अजातशत्रु कुणिक की ओर से काली कुमार के सेनापतित्व में मगध की सेना डट कर खड़ी हो गई।

राजा चेटक वर्द्धमान महावीर के समक्ष श्रावक के १२ व्रत ले चुके थे। एक विशेष व्रत भी लिया था कि “मैं एक दिन में एक वाण से अधिक युद्ध में नहीं चलाऊंगा।”

परन्तु सर्वविदित था कि उनका वह एक वाण अमोघ हुआ करता था। दोनों ही ओर व्यूह रचनाएँ की गई थी और दोनों पक्ष जमकर भयंकर युद्ध करने लग गए।

हाथियों, घोड़ों और रथों पर तीर कमान, बरछो

तलवारों आदि से युद्ध चल रहा था। एव पैदल सेना भी लाखों की संख्या में लड़ रही थी। सेनापति काली कुमार बहादुरी से लड़े परन्तु राजा चेटक का अमोघ एक वाण छटा, उसने काली कुमार को धराशायी कर दिया। मगध की सेना भाग चली।

इसी समय भगवान महावीर का समवशरण चम्पा नगरी में आया हुआ था। कालीकुमार की पत्नी उनसे पूछ रही थी।

‘भगवन्, इस युद्ध में क्या मगध विजयी होगा?’

भगवान की दिव्य ध्वनि हुई—‘नहीं’।

फिर उसने प्रश्न किया—‘क्या मेरे पति लौट कर आवेंगे?’ दिव्य ध्वनि हुई—‘नहीं’।

परन्तु आश्चर्य यह कि इस विपत्ति की सूचना मिलने पर भी कालीकुमार की राजपत्नी न रोई न उसने होश खोया। वह सयत रही। केवल एक दीर्घ निःश्वास उसके मुँह से निकला। फिर उसने सयत वाणी से उच्चारण किया—

‘अरहते शरणं पव्वज्जामि,

‘सिद्धे शरणं पव्वज्जामि,’

‘साहू शरणं पव्वज्जामि’

‘केवल पणत्तं धम्मं शरणं पव्वज्जामि।’

वह वही दीक्षित होकर साध्वी हो गई।

एक-एक कर दस युद्धों में सम्राट कुणिक दस बार पराजित हुआ और उसके दसों भाई युद्ध में खेत आए।

वह हताश हो गया। तभी महामात्य वस्सकार की मन्त्रणा से उसने मन्त्र सिद्धि का योग करना आरम्भ किया। वस्सकार अपनी योजना के अनुसार गंगा के इस पार पाटलिपुत्र की सुरक्षित नगरी का निर्माण शीघ्रता पूर्वक करा रहा था।

एक दिवस गौतम बुद्ध का सघ पाटलिपुत्र (पटना) पहुँचा। राजाज्ञा के अनुसार महामात्य वस्सकार ने उनका स्वागत सम्मान किया और उन्हें भोजन कराया।

तदुपरान्त बुद्ध ने इस नगरी के ३ अन्तराय बतलाए। ‘आग, पानी और आपसी मतभेद सर्वदा इस नगरी का अन्तराय करेंगे।’ यानी इस नगरी को सदा आग पानी और आपसी मतभेदके कारण विघ्न का सामना करना पड़ेगा।

जब कुणिक को वस्सकार ने यह सूचना दी तो वह चिन्तित हुआ और उसने वस्सकार को शीघ्र गौतम बुद्ध के पास जाकर मगध-वैशाली के विषय पर गोष्ठी करने का आदेश दिया।

बुद्ध राजग्रह पहुँच चुके थे। वे गृद्धकूट पर्वत पर विराज रहे थे। वस्सकार वही पहुँचा और उनसे वैशाली गणतन्त्र की शक्ति का कारण पूछा।

भगवान् बुद्ध ने उसे वज्जियो (वैशाली वालों) के सात अपरिहानीय नियम बतलाए जिनके द्वारा उनकी शक्ति की अभिवृद्धि होती रहती है।

१. सन्निपात बहूल है, अर्थात् उनके अधिवेशन में पूर्ण उपस्थिति रहती है।
२. वज्जी एक मत से परिषद् में बैठते हैं, एक मत से उठते हैं, एक ही करणीय कर्म करते हैं। वे आपत्ति की भेरी सुनते ही खाते हुए, आभूषण पहनते हुए, या वस्त्र पहनते हुए भी ज्यों के त्यों एकत्रित हो जाते हैं।
३. वज्जी, अवैधानिक कार्य नहीं करते। विधान का उच्छेद नहीं करते।
४. वज्जी वृद्धों का सत्कार करते हैं, उन्हें मानते हैं, पूजते हैं।
५. वज्जी, कुलस्त्रियो और कुलकुमारियों के साथ बलात् विवाह नहीं करते।
६. वज्जी अपने नगर के बाहर और भीतर के चैत्यो, मन्दिरों का आदर करते हैं। उनकी मर्यादाओं का उलघन नहीं करते।
७. वज्जी अहंता की धार्मिक सुरक्षा रखते हैं इसलिए कि भविष्य में उनके यहाँ अहंता आते रहे और सुख से विहार करते रहे।

बुद्ध ने कहा कि जब तक ये सात अपरिहार्य नियम उनमें चलते रहेंगे लिच्छवियों (वज्जियों) की अभिवृद्धि होती रहेगी, अभिहानि नहीं होगी।

महामात्य वस्सकार चतुर और बुद्धिमान मन्त्री था। उसने बुद्ध की बातों के आधार पर अपनी अगली चाल पर विचार करना आरम्भ कर दिया। जब वह वापस अजातशत्रु के पास पहुँचा उस समय तक उसकी सारी योजना बन चुकी थी। उसने और अजातशत्रु ने अर्धरात्रि

तक गम्भीर मन्त्रणा की और अपनी गुप्त योजना का आकार प्रकार निश्चित कर लिया।

दूसरे दिन राज-दरबार में सभी अवाक् हो गए जब सम्राट और महामात्य वस्सकार के बीच नीचे की भाँति कटु वार्तालाप हुआ।

सम्राट ने महामात्य से प्रश्न किया—

‘अन्ततोगत्वा क्या हमारे महामात्य बिल्कुल परास्त ही हो जाएंगे या वज्जियों को परास्त करने की कोई योजना बनाई जा रही है?’

महामात्य वस्सकार ने उच्छृंखलता पूर्वक उत्तर दिया—‘सम्राट ! वज्जि (लिच्छवी) आपस में सभी एक मत हैं उनके यहाँ धर्म का आदर है। हम लोगों का उनको जीतना दुष्कर कार्य है।’

सम्राट क्रोध पूर्वक बोले—

‘मैं महामात्य से इस प्रकार के उत्तर की आशा नहीं रखता था। अब तो मुझे यह भी लगता है कि राज्य के गुप्तचर विभाग ने जो सूचना मुझे दी है वह सच्ची है।’

इसके उपरान्त अपने स्वर को और ऊँचा कर एवं किञ्चित् क्रोध में सम्राट ने पूछा—‘क्या यह सच है कि आपने लिच्छवियों को भेट स्वरूप गुप्त रूप से कुछ वस्तुएँ भेजी हैं।’

वस्सकार ने अपना सर नीचा कर लिया। उनके इस व्यवहार से सारी सभा सन्नाटे में आ गई। किसी के अनुमान में भी यह बान नहीं थी कि महामात्य वस्सकार मगध राज्य के साथ घोखा करेंगे। अब सभी उत्सुक होकर सम्राट की ओर देखने लगे।

सम्राट तीक्ष्ण दृष्टि से वस्सकार की ओर देख रहे थे। उनकी त्योरी चढ़ी हुई थी। एकाएक उन्होंने गम्भीर शब्दों में कहा—‘वस्सकार तुम महामात्य रहने लायक अब कदापि नहीं रहे। अब मैं समझ गया कि पिछले दस युद्धों में हमारी हार क्यों हुई है। मैं तुम्हें ऐसी सजा दूंगा कि मगध राज्य में यह भी एक उदाहरण स्वरूप रहे।’

यकायक उन्होंने कहा—‘हमारी आज्ञा है कि वस्सकार का सर मुड़न कराकर नगर से निकाल दिया जाय मगध साम्राज्य की कोई भी प्रजा वस्सकार को स्थान एवं भोजन न दें।’

इतना कहते हुए सम्राट कुणिक उठ खड़े हुए। सारी सभा खड़ी हो गई। जैसे ही सम्राट ओझल हुए, सभाग्रह में कोनाहल मच गया और तभी वस्सकार चिल्ला उठा—‘मगधवामी सुन लो, कान खोल कर सुन लो, मैं तुम्हारी नगरी के सभी दुर्बल स्थानों को जानता हूँ। मैंने ही तुम्हारे दुर्गों के आकार-प्रकार आदि बनवाए हैं। मैं तुम्हारा नाश कर दूंगा।’

सैन्यदल वस्सकार को बेडियों में कसकर खींचे तो जा रहा था। कुछ लोग सहमे हुए उसकी बात के ऊहा-पोह में खड़े थे। युवक उसे भुजा हिला-हिला कर मार डालने की धमकियाँ देते हुए गालियाँ दे रहे थे।

चतुर अमात्य वस्सकार की कूटनीति सफल हुई। उसके बताए हुए तरीके पर सम्राट ने सभा में सफल नाटक किया। कोई नहीं समझ सका कि लिच्छवियों को धोखा देने के लिए यह जाल बिछाया गया है।

वस्सकार निरस्कृत और अपमानित क्या हुआ कि लिच्छवियों ने उसे अपने यहाँ आश्रय दिया एवं शीघ्र ही उसे लिच्छवि गणतन्त्र का अमात्य बना दिया गया। लोगों को वहाँ भरोसा हो गया कि मगध का भूतपूर्व महामात्य अब उन्हें मगध का विनाश कराने में अत्यन्त सफलता पूर्वक मन्त्रणा देगा।

थोड़े ही दिनों में वस्सकार ने वैशाली में अपना प्रभाव डालना आरम्भ कर दिया। उसने बुद्ध की बातों से समझ लिया था कि लिच्छवियों में बिना फूट का बीज बोए उनको हराया नहीं जा सकता, और वह अपने पद का संपूर्ण लाभ उठा कर उनको आपस में लड़वाने के पूरे प्रयत्न में लग गया।

जब कभी बहुत सारे लिच्छवि एकत्र होते, वह उनमें से किसी एक को एकान्त में ले जाता और पूछता—

—खेत जोतते हो ?

—हाँ जोतते हैं।

—‘दो बैल से ?’

—हाँ, दो बैल से।

दूसरे लिच्छवि उससे पूछते कि महामात्य ने क्या कहा। जब वह सारी बात बताता, तो उन्हें विश्वास नहीं होता कि महामात्य ने ऐसी साधारण बात कही होगी।

वे कहते—

‘हमारे ऊपर तुम्हें विश्वास नहीं है, तुम सही बात नहीं बता रहे हो।’

इतना कह, सदा के लिए वे उसके दुश्मन बन जाते।

कभी किसी लिच्छवी से वस्सकार कहता ‘तुम्हारे यहाँ क्या शाक भाजी बनी है ? और वही बात फिर वहाँ होती।’

किसी एक लिच्छवी को एकान्त में ले जाकर कहता, ‘तुम बड़े गरीब हो।’

किसी को कहता—‘तुम बड़े कायर हो।’

वे पूछते—‘किसने कहा है ?’

तो वह उत्तर में किन्हीं दूसरे लिच्छवी का नाम बता देता।

इस प्रकार की कूटनीति से उसने कुछ दिनों में लिच्छवियों में परस्पर अविश्वास और मनोमानिय फँसा दिया। अब वैशाली में आपसी कलह और मतभेद एक साधारण सी बात हो गई। एक राज्य का मन्त्री अगर स्वार्थी और धोखेबाज हो जाए तो सारे राज्य और प्रजा के चरित्र को वह कितना गिरा सकता है। इसे वस्सकार ने अपने २-३ वर्ष के मन्त्रित्व काल में ही वैशाली में रह कर दिखला दिया।

इस प्रकार कपट पूर्वक उसने जब वैशाली के जन जन में कलह और घृणा का बीज बो दिया तो इस चतुर अमात्य के सकेत पर सम्राट अजातशत्रु कुणिक तीन वर्ष के उपरान्त अपनी सारी शक्ति के साथ वैशाली पर दूट पड़ा।

नियमानुसार वैशाली में सकट की भेरी बजवाई गई।

—‘सभी नागरिक चलें, शत्रुओं को गंगा के पार न होने दें।’

परन्तु कोई आया ? कोई नहीं आया।

मगध की सेना ने गंगा पार कर ली।

दूसरी बार सकट की भेरी फिर बजी।

—‘शत्रुओं को नगर में नहीं घुसने दो। द्वार बन्द कर अन्दर रहो।’

परन्तु कुछ आये, जो नहीं आए वे कहते सुने गए—

—‘हम तो गरीब हैं, हम क्यों लड़ेंगे।’

—‘हम तो कायर है हम क्या लडेगे?’

—जो श्रीमन्त है शूरवीर हैं वे लड़ें।’

—इस प्रकार वैशाली के लाखों मनुष्यों का संहार हुआ। एक विशेष प्रकार का मन्त्र चानित रथ बिना किसी सारथी के वैशाली—सेना के बीच निर्द्वन्द्व मूसल की मार करता हुआ एव लोगों को कुचलता हुआ घूम रहा था उसके द्वारा ही एक दिन में वैशाली सेना के लाखों मनुष्य कुचन दिए गए।

चेटक और नवमल्लवी, नवलिच्छवी ऐसे १८ काशी, कौशल के गणराजाओं की बहुत बड़ी ऐतिहासिक पराजय हुई।

सम्राट अजातशत्रु-कुणिक विजयी हुआ।

पराजित चेटक अपने कोट में चला गया। प्राकार के द्वार बन्द कर लिए गए। कुणिक प्राकार को घेरे बहुत दिनों तक पड़ा रहा।

अमात्य वस्मकार ने दूसरी चाल चली। मगध की नगरवधू, मागधिका वेश्या की उसने सहायता ली। वैशाली के नागरिकों में यह बात फैलाई गयी कि वैशाली में स्थित तीर्थंकर मुनि मुञ्जनाथ के मानस्तम्भ के टूट जाने पर वैशाली बच सकेगी।

फिर क्या था। लोगो ने मानस्तम्भ को तोड़ना आरम्भ कर दिया। कायरों को पता नहीं था कि इस मानस्तम्भ के अतिशय से वैशाली अजेय बनी हुई थी और महाबली अजातशत्रु की सारी शक्ति वैशाली पर पूर्ण विजय करने में समर्थ नहीं हो सकती थी।

जैसे ही मानस्तम्भ टूट कर गिरा, मगध की सेना वस्मकार का सकेंत पाकर पूरी शक्ति से टूट पड़ी।

वैशाली का सर्वनाश हो गया।

हल्ल और विहल्ल हार और हाथी शत्रु से बचाने के लिए भाग खड़े हुए।

प्राकार की खाई में भीषण आग लगी हुई थी। सेचनक हाथी इसे अपने विभङ्ग ज्ञान से जान चुका था। उसे बलात् बढ़ाया गया तो उसने उन दोनों को सूंड से पकड़ कर नीचे उतार दिया। अपने स्वामियों को अग्नि में जल मरने से उसने बचाया और स्वयं अग्नि में प्रवेश कर गया। देवप्रदत्त हार का क्या हुआ, किसी को पता नहीं।

कहते हैं देव उसे वापस ले गए।

सम्राट अजातशत्रु की विजय पताका वैशाली पर फहराने लगी। फिर तो मागधी सेना द्वारा इतना अत्याचार और अनाचार हुआ कि मागधी सेना के ही जो समझदार व्यक्ति थे कांप उठे। सम्राट तो स्वयं आमोद प्रमोद और उत्सवों में व्यस्त थे, उन्होंने भी इसे रोकने का कोई प्रयत्न नहीं किया। स्वयं राजपुत्र उदायीभद्र ने सम्राट से इस विषय में निवेदन किया परन्तु वह भी निरर्थक हुआ।

राजपुत्र उदायीभद्र को सम्राट और उसकी सेना से घृणा हो गयी। वह सैनिकों की एक टुकड़ी लेकर सम्राट के वापस जाने के पूर्व ही मगध की ओर लौट पड़ा।

कुणिक के गर्व का ठिकाना नहीं था। वह अपने को चक्रवर्ती समझने लगा था और विश्व-विजय की धुन उसके सिर पर सवार हो गई।

राजधानी वापस आकर वह भगवान महावीर के समवशरण में पहुँचा। विनय आदि क्रियाओं के उपरान्त उसने प्रश्न किया।

‘भगवान क्या मैं चक्रवर्ती हूँ?’

भगवान की दिव्य ध्वनि हुई—

‘नहीं।’

—‘क्या मैं चक्रवर्ती हो सकूँगा?’

—‘इस काल में बारह चक्रवर्ती हो चुके हैं। तेरहवाँ चक्रवर्ती नहीं होने का।’—दिव्य ध्वनि फिर हुई।

—‘पदासीन चक्रवर्ती मरने के बाद कहाँ जाता है?’

—‘सप्तम नरक में।’

—‘मैं मर कर कहाँ जाऊँगा?’

—‘तुम छठवे नरक में जाओगे।’

परन्तु उसे इन सारी बातों पर विश्वास कहाँ था? उसे तो चक्रवर्ती बनने की धुन थी। तीव्र मान के कारण वह अन्धा हो गया था।

वह दिग्विजय के लिए निकल पड़ा। तिमिस्र की गुफा में उसे किसी ने रोका। कोई कहते हैं वह देवता था। कोई कहते हैं राजपुत्र उदायीभद्र था। परन्तु उसी अन्धेरी गुफा में गर्वीले अजातशत्रु कुणिक की हत्या हो गई।

सम्राट का सपना अधूरा रह गया। ●

दिल्ली पट्ट के मूलसंघीय भट्टारक प्रभाचन्द्र

परमानन्द जैन शास्त्री

प्रभाचन्द्र नाम के अनेक विद्वान हो गए हैं। एक नाम के अनेक विद्वानों का होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। जैन साहित्य और इतिहास को देखने से इस बात का स्पष्ट पता चल जाता है कि एक नाम के अनेक आचार्य विद्वान और भट्टारक हो गए हैं। यहाँ दिल्ली पट्ट के मूलसंघीय भट्टारक प्रभाचन्द्र के सम्बन्ध में विचार करना इस लेख का प्रमुख विषय है।

पट्टे श्री रत्नकीर्तिरनुपमतपसः पूज्यपादीयशास्त्र-
व्याख्या विख्यातकीर्ति गणगणनिधिपः सत्क्रियाचार्यचंचुः ।
श्रीमानानन्द धामा प्रति वधनुत्तमानमान संदायि वादो ।
जीयादाचन्द्रतारं नरपति विदितः श्रीप्रभाचन्द्र देव ॥

(जैन सि० भा०, भा० १ किरण ४)

पट्टावली के इस पद्य में प्रकट है कि भट्टारक प्रभाचन्द्र रत्नकीर्ति भट्टारक के पट्ट पर प्रतिष्ठित हुए थे। रत्नकीर्ति अजमेर पट्ट के भट्टारक थे। दूसरी पट्टावली में दिल्ली पट्ट पर भ० प्रभाचन्द्र के प्रतिष्ठित होने का समय स० १३१० बतलाया है। और पट्टकाल स० १३१० से १३८५ तक दिया है, जो ७५ वर्ष के लगभग बैठता है। दूसरी पट्टावली में स० १३१० पौष सुदी १५ प्रभाचन्द्र जी गृहस्थ वर्ष १२ दीक्षा वर्ष १२ पट्ट वर्ष ७४ मास ११ दिवस १५ अन्तर दिवस ८ सर्व वर्ष ६८ मास ११ दिवस २३ । (भट्टारक सम्प्रदाय पृ० ६१) ।

भट्टारक प्रभाचन्द्र जब भ० रत्नकीर्ति के पट्ट पर प्रतिष्ठित हुए उस समय दिल्ली में किसका राज्य था, इसका उक्त पट्टावलियों में कोई उल्लेख नहीं है। किन्तु भ० प्रभाचन्द्र के शिष्य घनपाल के तथा दूसरे शिष्य ब्रह्म नाथूराम के सं० १४५४ और १४१६ के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि प्रभाचन्द्र ने मुहम्मद बिन तुगलक के मन को अनुरजित किया था और वादी जनों को बाद में परास्त किया था - जैसे उनके निम्न वाक्यों से प्रकट है :—

तर्हि भव्वहि सुभहोच्छव विहियउ,
सिरि रयणकित्ति पट्टेणिहियउ ।
महमंद साहि मणुरजियउ,
विज्जहि वाइयमणुभजियउ ॥

—बाहुबलि चरित प्रशस्ति

उस समय दिल्ली के भव्यजनों ने एक उत्सव किया था और भ० रत्नकीर्ति के पट्ट पर प्रभाचन्द्र को प्रतिष्ठित किया था। मुहम्मद बिन तुगलक ने सन् १३२५ (वि० स० १३८२) से सन् १३५१ (वि० स० १४०८) तक राज्य किया है। यह बादशाह बहुभाषा-विद्वान्, न्यायी, विद्वानों का समादर करने वाला और अत्यन्त कठोर शासक था। अतः प्रभाचन्द्र इसके राज्य में स० १३८५ के लगभग पट्ट पर प्रतिष्ठित हुए होंगे। इस कथन से पट्टावलियों का वह समय कुछ अनुमानिक सा जान पड़ता है। वह इतिहास की कसौटी पर ठीक नहीं बैठता। अन्य किसी प्रमाण से भी उसकी पुष्टि नहीं होती।

प्रभाचन्द्र अपने अनेक शिष्यों के साथ पट्टण, खंभात, धारानगर और देवगिरि होते हुए जोड़िणपुर (दिल्ली) पधारे थे। जैसा कि उनके शिष्य वनपाल के निम्न उल्लेख से स्पष्ट है :—

पट्टणे खंभायच्चे धारणयरि देवगिरि ।

मिच्छामयविह्वणंतु गणिपत्तउ जोयणपुरि ॥

—बाहुबलि चरित प्र०

आराधना पजिका के सं० १४१६ के उल्लेख से स्पष्ट है कि वे भ० रत्नकीर्ति के पट्ट को सजीव बना रहे थे।

१. सं० १४१६ चैत्र सुदि पचम्यां सोमवासरे सकलराज शिरोमुकुट माणिक्य मरीचि पिंजरीकृत चरणकमल पादपीठस्य श्रीपेरोजसाहेः सकल साम्राज्य धुरीविभ्राणस्व समये श्री दित्या श्रीकुदकुन्दाचार्यान्वये सरस्वती गच्छे बलात्कारगणे भ० श्रीरत्नकीर्तिदेव पट्टोदयाद्रि तरुणतरणित्वमुर्वीकुर्वाणं भट्टारक श्री प्रभाचन्द्र देव

इतना ही नहीं, किन्तु जहाँ वे अच्छे विद्वान, टीकाकार, व्याख्याता और मन्त्र-तन्त्र-वादी थे, वहाँ वे प्रभावक व्यक्तित्व के धारक भी थे। उनके अनेक शिष्य थे। उन्होंने फीरोजशाह तुगलक के अनुरोध पर रक्ताम्बर वस्त्र धारण कर अन्तःपुर में दर्शन दिये थे। उस समय दिल्ली के लोगों ने वह प्रतिज्ञा की थी कि हम आपको सवस्त्र जती मानेंगे। इस घटना का उल्लेख बखतावर शाह ने अपने बुद्धिविलास के निम्न पद्य में किया है :—

दिल्ली के पातिसाहि भये फेरोजसाहि जब,
चांदो साह प्रधान भट्टारक प्रभाचन्द्र तब,
आये दिल्ली माझि वाद जीते विद्यावर,
साहि रीझि कं कही करे दरसन अतहपुर,
तिह समे लंगोट लिवाय पुनि चांद बिनती उच्चरी।
मानि हैं जती जुत वस्त्र हम सब श्रावक सौगद करी ॥६१६॥

यह घटना फीरोजशाह के राज्यकाल की है, फीरोजशाह का राज्य सं० १४०८ से १४४५ तक रहा है। इस घटना को विद्वज्जन बोधक मे सं० १३०५ की बतलाई है जो एक स्थूल भूल का परिणाम जान पड़ता है क्योंकि उस समय तो फीरोजशाह तुगलक का राज्य ही नहीं था फिर उसकी संगति कैसे बैठ सकती है। कहा जाता है कि भ० प्रभाचन्द्र ने वस्त्र धारण करके बाद में प्रायश्चित्त लेकर उनका परित्याग कर दिया था, किन्तु फिर भी वस्त्र धारण करने की परम्परा चालू हो गई।

इसी तरह अनेक घटना क्रमों में समयादि की गड़बड़ी तथा उन्हें बढ़ा-चढ़ा कर लिखने का रिवाज भी हो गया था।

दिल्ली में अलाउद्दीन खिलजी के समय राघो चेतन के समय घटने वाली घटना को ऐतिहासिक दृष्टि से विचार किये बिना ही उसे फीरोजशाह तुगलक के समय की

तत्सिष्याणा ब्रह्म नाथूराम इत्याराधना पंजिकायां
ग्रन्थ आत्म पठनार्थे लिखापितम्।

दूसरी प्रशस्ति सं० १४१६ भादवा सुदी १३ जैन साहित्य और इतिहास गुरुवार के दिन की लिखी हुई द्रव्यसंग्रह की है जो जयपुर के ठोलियों के मन्दिर के शास्त्र भण्डार में सुरक्षित है। ग्रंथ सूची भा० ३, पृ० १८०।

घटित बतला दिया गया है। (देखो बुद्धिविलास पृ० ७६; और महावीर जयन्ती स्मारिका अप्रैल १९६२ का अंक पृ० १२८)।

राघव चेतन ऐतिहासिक व्यक्ति हैं और अलाउद्दीन खिलजी के समय हुए हैं। यह व्यास जाति के विद्वान मन्त्र, तन्त्रवादी और नास्तिक थे। धर्म पर इनकी कोई आस्था नहीं थी, इनका विवाद मुनि महासेन से हुआ था उसमें यह पराजित हुए थे।

ऐसी ही घटना जिनप्रभसूरि नामक श्वे० विद्वान के सम्बन्ध में कही जाती है—एक बार सम्राट मुहम्मदशाह तुगलक की सेवा में काशी से चतुर्दशविद्या निपुण मन्त्र तन्त्रज्ञ राघवचेतन नामक विद्वान आया। उसने अपनी चातुरी से सम्राट् को राजित कर लिया। सम्राट् पर जैन-चार्य श्री जिनप्रभ सूरि का प्रभाव उसे बहुत अखरता था। अतः उन्हें दोषी ठहरा कर उनका प्रभाव कम करने के लिए सम्राट् की मुद्रिका का अपहरण कर सूरि जी के रजोहरण में प्रच्छन्न रूप से डाल दी। (देखो जिनप्रभ सूरि चरित पृ० १२)। जब कि यह घटना अलाउद्दीन खिलजी के समय की होनी चाहिए। इसी तरह कुछ मिलती-जुलती घटना भ० प्रभाचन्द्र के साथ भी जोड़ दी गई है। विद्वानों को इन घटनाचक्रों पर खूब सावधानी से विचार कर अन्तिम निर्णय करना चाहिए।

टीका-ग्रन्थ

पट्टावली के उक्त पद्य पर से जिसमें यह लिखा गया है कि पूज्यपाद के शास्त्रों की व्याख्या से उन्हें लोक में अच्छा यश और ख्याति मिली थी। किन्तु पूज्यपाद के समाधितंत्र पर तो भ० प्रभाचन्द्र की टीका उपलब्ध है। टीका केवल शब्दार्थ मात्र को व्यक्त करती है उसमें कोई ऐसी खास विवेचना नहीं मिलती जिससे उनकी प्रसिद्धि को बल मिल सके। हो सकता है कि वह टीका इन्हीं प्रभाचन्द्र की हो, आत्मानुशासन की टीका भी इन्हीं प्रभाचन्द्र की कृति जान पड़ती है, उसमें भी कोई विशेष व्याख्या उपलब्ध नहीं होती।

रही रत्नकरण्ड श्रावकाचार की टीका की बात, सो उस टीका का उल्लेख पं० आशाधरजी ने अनगार घर्म-मृत की टीका में किया है।

“यथाहस्तत्र नगवन्तः श्रीमत्प्रभेदुपादारत्नकरण्डटीका-
यां चतुरावर्तत्रितय इत्यादि सूत्रे द्विनिषद्य इत्यभ्यव्याख्याने—
देववन्दनां कुर्वताहि प्रारम्भे समाप्तीचोपविश्य प्रणामः
कर्तव्य इति ।”

इन टीकाओं पर विचार करने से यह बात तो सहज ही ज्ञात होती है कि इन टीकाओं का आदि-अन्त, मगल और टीका की प्रारम्भिकसरणी में बहुत कुछ समानता दृष्टिगोचर होती है। इससे इन टीकाओं का कर्त्ता कोई एक ही प्रभाचन्द्र होना चाहिये। हो सकता है कि टीकाकार की पहली कृति रत्नकरण्डटीका ही हो। और शेष टीकाएँ बाद में बनी हों। पर इन टीकाओं का कर्त्ता प्रभाचन्द्र प० प्रभाचन्द्र ही है, प्रमेयकमलमार्तण्ड के कर्त्ता प्रभाचन्द्र इनके कर्त्ता नहीं हो सकते। क्योंकि इन टीकाओं में विषय का चयन और भाषा का वैसा सामान्य अथवा उसकी वह प्रौढता नहीं दिखाई देती, जो प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र में दिखाई देती है। यह प्रायः सुनिश्चित-सा है कि वे धारावासी प्रभाचन्द्राचार्य जो माणि-क्यनन्दि के शिष्य थे उक्त टीकाओं के कर्त्ता नहीं हो सकते।

समय-विचार

प्रभाचन्द्र का पट्टावलियों में जो समय दिया गया है, वह अवश्य विचारणीय है। उसमें रत्नकीर्ति के पट्ट पर बैठने का समय स० १३१० तो चिन्तनीय है ही। स० १४८१ के देवगढ़वाले शिलालेख में भी रत्नकीर्ति के पट्ट पर बैठने का उल्लेख है, पर उसके सही समय का उल्लेख नहीं है। प्रभाचन्द्र के गुरु रत्नकीर्ति का पट्टकाल पट्टावली में १२९६-१३१० बतलाया है। यह भी ठीक नहीं जचता, संभव है वे १४ वर्ष पट्टकाल में रहे हों। किन्तु वे अजमेर पट्ट पर स्थित हुए और वही उनका स्वर्गवास हुआ। ऐसी स्थिति में समय सीमा को कुछ बढ़ा कर विचार करना चाहिए, यदि वह प्रमाणों आदि के आधार से मान्य किया जाय तो उसमें १०-२५ वर्ष की वृद्धि अवश्य होनी चाहिये, जिससे समय की सगति ठीक बैठ सके। आगे पीछे का सभी समय यदि पुष्कल प्रमाणोंकी रोशनी में चर्चित होगा, वह प्रायः प्रामाणिक होगा। आशा है विद्वान् लोग भट्टारकीय पट्टावलियों में दिये हुए समय पर विचार करेंगे, अन्य कोई विशेष जानकारी उपलब्ध हो तो उससे भी मुझे सूचित करेंगे। ●

मथुरा के सेठ मनीराम

परमानन्द शास्त्री

जयपुर राज्यान्तर्गत मालपुरा ग्राम के निवासी थे। उनकी जाति खडेलवाल और धर्म जैन था। वे आर्थिक परिस्थिति वश अपने जन्म स्थान को छोड़कर ग्वालियर आ गये थे। और वहाँ पारिख जी की सेवा में रहने लगे थे। वे अपनी योग्यता और कार्य दक्षता से पारिख जी की उन्नति के साथ-साथ मनीराम की भी उन्नति होती रही। जब पारिखजी ने ग्वालियर से ब्रज में निवास किया, तब वे भी उनके साथ थे। मनीराम के तीन पुत्र थे। लक्ष्मीचन्द्र, राधाकृष्ण और गोविन्द दास।

पारिख जी ने अपनी मृत्यु से पहले ही लक्ष्मी चन्द्र को अपना उत्तराधिकारी बना दिया था। और अपनी सारी सम्पत्ति मनीराम जी को सौंप दी। पारिख जी के स्वर्ग-

वास होने पर उनके कुटुम्बियों भाई-भतीजों ने अपने अधिकार के लिए मनीराम और लक्ष्मीचन्द्र के विरुद्ध मुकदमा दायर किया था। वह मुकदमा कई वर्ष तक चला, परन्तु अन्त में उसका निर्णय मनीराम लक्ष्मीचन्द्र के ही पक्ष में हुआ था।

मनीराम जी ने पारिख जी की विपुल सम्पत्ति को धार्मिक कार्यों में लगाने के साथ ही साथ उसे कारोबार में भी लगाया। और मनीराम लक्ष्मीचन्द्र के नाम से एक प्रतिष्ठान की स्थापना की। उनके द्वारा उन्होंने लेन-देन का व्यवहार प्रारम्भ किया। जिससे सम्पत्ति में खूब वृद्धि हुई। पुण्य का उदय जो था। उनके प्रतिष्ठान की साख लोक में प्रसिद्ध हो गई। और वे ब्रज क्षेत्र के सबसे अधिक धनिक माने जाने लगे। उनकी उदार परिणति और जन-

साधारण का सेवा कार्य भी उनकी प्रसिद्धि में चार चांद लगा रहा था। वे जैसे सभ्रान्त कुल में जन्मे थे उसी के अनुसार उनका स्वभाव भी नरम और सौहार्दता को लिए हुए था। मनीराम जी स्वयं धर्मात्मा और एक प्रामाणिक व्यक्ति थे। उनकी प्रामाणिकता ही उनके कार्य की साधिका और व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा की संसूचक थी। उनकी यह सब बातें लक्ष्मीचन्द जी को विरासत में मिली थी। वे बहुत ही योग्य विचारक, सहृदयवान, दयालु और परोपकारी थे।

ग्वालियर नरेश दौलतराम जी सिन्धिया के देहावसान के बाद रानी बायजावाई ने सेठ मनीराम को ग्वालियर राज्य का खजानची नियुक्त किया था। वहाँ के सरकारी कागजों के अवलोकन से उक्त बात का पता चलता है कि उस समय ग्वालियर राज्य में उनका बड़ा प्रभाव था। वे दानी और परोपकारी होने के साथ धार्मिक कार्यों में पैसा लगाना अपना परम कर्तव्य मानते थे। परिणाम-स्वरूप चौरासी का दि० जैन मन्दिर उनकी जैन धर्म-प्रियता का अच्छा निदर्शक है। उसमें पहले इन्होंने भगवान चन्द्रप्रभ की मूर्ति प्रतिष्ठित की थी, और बाद में अजितनाथ की विराजकान की गई।

मनीराम जी विद्वानों के भक्त थे। उनका वे उचित आदर सत्कार करते थे। प० चम्पालाल जी तो प्रायः उनके गह्राँ ही रहने थे और वे उनका आदर करते थे। एक दिन सेठ मनीराम जी प० चम्पालाल जी को साथ लेकर हाथरस गए। वहाँ उन्हें प० दौलतरामजी, जो छोट्टे छापने का कार्य करते हुए भी प्रतिदिन ५० श्लोक कण्ठ करना अपना कर्तव्य मानते थे। जब सेठ सा० पहुँचे तब पण्डित दौलतराम जी गोम्मटसार की स्वाध्याय कर रहे थे। सेठजी और चम्पालाल जी भी वही बैठ गए। और परस्पर तत्त्व चर्चा करने लगे। प० दौलतराम जी तत्त्व चर्चा करने में बड़े दक्ष थे। सेठ जी उनकी सरल धार्मिक तत्त्वचर्चा से अत्यन्त प्रभावित हुए, सेठजी पर जहाँ उनकी धार्मिक चर्चा का और निश्चल प्रवृत्ति का ऐसा प्रभाव अकित हुआ कि वे पण्डित जी को छोड़कर जाना नहीं चाहते थे। किन्तु प० जी को वे अपने साथ में ले जाना चाहते थे। प्रेरणा के बाद प० जी ने स्वीकृति दे दी। और वे उन्हें मथुरा

ले आए। सेठजी ने उनकी सेवा सुश्रुषा की, परन्तु प० जी बड़े विवेकी निष्ठावान और निस्पृह वृत्ति के अनुभवी विद्वान थे, उन्हें सेठ जी के वैभव में रहना इष्ट नहीं था, वे चाहते थे कि मैं यहाँ से कब निकल पाऊँ। उनका मन एक घड़ी भी शान्त न रह सका। यद्यपि सेठजी की ओर से सब प्रकार की सुख-सुविधा उन्हें उपलब्ध थी और सेठजी स्वयं उन्हें बार-बार पूछते और आदर करते थे, परन्तु प० जी का अन्तःकरण उस वैभव की चकाचौंध से घबराता था, वे शान्त और एकान्त वातावरण में रहना पसन्द करते थे। वे उदरपूर्ति के लिए मादा भोजन उपयुक्त मानते थे। और गरिष्ठ एवं स्वादिष्ट सरस व्यंजनों से अपने को संरक्षित रखना चाहते थे। मखमली गद्दों पर बैठना उन्हें असह्य था, वे उन्हें अनन्त जीवों का पिण्ड समझते थे। इसी से उन मखमली गद्दों पर चिट्ठाई बिछाकर बैठते सामायिक करते और सोते थे। परन्तु अन्तःकरण से वे अपने को एक कंदी के अनुरूप मानते थे, वे वहाँ से शीघ्रही लौटना चाहते थे, परन्तु सेठजी का अत्यधिक आग्रह उसमें बाधक था। जब वे सेठजी से अपने वापिस जाने की बात कहते तभी सेठजी उन्हें अनेक तरह से सान्त्वना देकर रोक देते थे। और यह भी निवेदन करते थे कि पंडित जी आपको जिस वस्तु की आवश्यकता हो लीजिए, और सेवा में लाकर अशफियों के ढेर लगा देंगे, पर प० जी इतने निरीह व्यक्ति थे कि उनका स्पर्श भी उन्होंने नहीं किया। वे अपने स्वाभिमान के पक्के धनी थे। इस तरह जब ५-६ दिन बीत गए, और वापिस नहीं जा सके, तब सामायिक के समय प्रातःकाल यह विचार किया कि अब यहाँ से चला जाना चाहिए और सामायिक के बाद वे सेठजी से बिना कहे ही ग्वालियर अपने पुत्रों के पास चले गए। उसके बाद वे फिर कभी सेठजी के यहाँ नहीं गये, सेठजी को उनके बिना कहे चले जाने से बड़ा खेद हुआ, वे बहुत पछताए।

सेठ मनीरामजी एक धार्मिक श्रावक थे। लगन के पक्के और कार्य करने में अत्यन्त चतुर थे। मनीराम जी की मृत्यु सं० १८६३ में हुई थी। मनीराम और गोकुलदास पारीख की सुन्दर छतरियाँ मथुरा के जमुना बाग में बनी हुई है। ●

राजस्थानी लोककथाओं में अभिप्राय और कथानक रूढ़ियों की सीमा रेखाएं

श्री रमेश जैन

अभिप्राय, मनुष्य की आदिम काल से अब तक की ऐतिहासिक जीवन यात्रा में—जीवन को जीने व रक्षित करने के निमित्त प्रकृति से स्थापित सामंजस्य, अपनी मूल वृत्तियों भय, त्राण, हर्ष विषाद सुख-दुःख में जिए अब तक के मूल्य और उनकी परम्परा के प्रति मोह में निहित है।

अभिप्राय जीवन मूल्यों व विश्वासों की वह परम्परा है जिसे खूने आकाश के तने खड़े मानव ने जीवन की बारहखड़ी से प्रारम्भ करके, अब तक के समृद्ध व सम्पन्न जीवन को इस सुदीर्घ अवधि में पाया है। इन मूल्यों व विश्वास के निर्माण में वह सभी शामिल है जो हमने इस सुदीर्घ जीवन में सीखा, जोड़ा और छोड़ा है। इस जोड़ने व छोड़ने में हमारे अन्दर और बाहर की सभी शक्तियों ने क्रियात्मक भाग लिया है। लोक जीवन में घुले इन अभिप्रायों को दीर्घ यात्रा किसी रङ्गी, आदिम मूल्यों से लोक रूप तक का लेखा जोखा प्रस्तुत निबन्ध का प्रयोजन नहीं है।

अभिप्राय स्पष्ट रूप से कथ्य अथवा कथानक (theme) और रूढ़ि (type) से भिन्न है। थीम कथा का कथ्य या प्रयोजन होता है। कथ्य के प्रस्तुतीकरण में बुने कथा जाल में अभिप्राय स्वतः ग्रहीत है। इस विचारणा को स्पष्ट करने के लिए राजस्थानी की एक लोक कथा 'उमर का परवाना' ले ले। संक्षेप में कथा यों है—

एक बनिंग के सात बेटे थे। बनिंग ने सातों बेटों के लिए अलग-अलग हवेलियां दुकानें व बाड़े बनवा दिये थे। पर होनहार को नमस्कार ! उसके मामने किसी का वश नहीं चलता। उसी वस्ती में एक भूत का बसेरा था। वह अपनी भूख और इच्छानुसार बारी-बारी सब को गटकता गया। अन्त में छोटे बेटे की विधवा बहू बची

१. देखे लेखक के निबन्ध : मानव की ऐतिहासिक यात्रा,

मूल वृत्तियों से सम्बद्ध अभिप्रायों का लोकीकरण।

२. बाता री फुड़वाड़ी भाग १ : स० विजयदान देवा।

जिसके पेट में मात माह का बच्चा था। उसने भूत को भासा दिया। कि वह इन सूनी हवेलियों में अपने व्याहे सात भाइयों को बसाने के लिए उन्हें बुलाने पीहर जाना चाहती है। भूत ने उसे इजाजत दे दी। भूतों में शक्ति तो बहुत होती है पर उनमें अक्ल का अंश भी नहीं होता। विधवा बहू पीहर जाकर नहीं लौटी।

उसको एक बेटा हुआ। जो बारह साल की उम्र में ही बहुत शैतान हो गया था : गांव में शरारत करता फिरता था। एक दिन नाई के लडके को भुरनी खेलते समय पटक दिया तो वह ताना मारता हुआ बोला ऐसा बहादुर बनता है तो अपने घर वालों का बदला चुका, जिन्हें भूतों ने खा लिया है। बान मीची लडके के कलेजे में जाकर लगी। मा से बोला—मा मच्ची बात बता। मैं भूत, प्रेत, राक्षस, जिन्द, ख्वीस कोई हो, घर वालों का बदला लेकर छोड़ूंगा। मेरी बुद्ध पर भरोसा रख। मा ने पहले टालमटूली की फिर अन्त में सब बात बता दी। मुँह में मागलिक गुड देकर उसने अपने बेटे को घरवालों का बदला लेने के लिए विदा कर ही दिया।

उस गांव के लोगों के समझाने व रोकने के बावजूद, अपने हवेली में डेरा जमाया। उस समय भूत अपने मित्र से मिलने गया था। घूमते-घूमते वह रसोई घर में पहुँचा। वहाँ उमने घाटा, घी, गुड की सामग्री का ढेर देख कर अनुमान किया कि भूत स्वयं पाकी है। लौटने पर भूखा होगा उसे तैयार रसोई उल्लंघन करा कर प्रसन्न करने का मुअवसर है। भूत को लौटने पर हलुए और मनुष्य की गन्ध आई। वह लडके पर भपटता है पर लडके के निश्चित भाव से हंसने पर पूछता है कि मैं तुम्हें खाने वाला हूँ और तू हँसता है। मुझे इसका कारण बता। लडका निशंक होकर बोला—मैंने सारे दिन मेहनत करके अपने मामा के लिए इतनी सफाई से रसोई बनाई, जिसका मुझे यह फल मिल रहा है। पिछले जन्म

में छोटे कर्म किए जभी तो भूत योनि भुगत रहे हो। भूत पश्चाताप करता हुआ बोला—मुझसे भूल हो गई। फिर उसने पेट भर हलुआ खाया।

उस लड़के ने भूत को प्रणमन कर लिया और फिर उसके मारने का अवसर ढूँढ़ने लगा। भूत बना बनाया खाना खाकर घूमने निकल जाते। लड़के ने अकेलेपन की बात कह घर लौटने की बात कही। भूत इस बात से परेशान हुआ उसने घर पर ही रहने का वचन दिया। पर उस दिन अमावस्या थी भूत शाम को खाना खाकर चलने लगा तो लड़के ने उसके वचन को याद कराया। उसने कहा सिर्फ एक रात बाहर रहूँगा। ‘अमावस की रात हम सारे भूत, प्लीत, जिन्द, खवीस, राक्षस, दैत्य यमराज और विधाता सब इकट्ठे होकर सलाह करने—मनुष्य योनि में किसके मग्ने की बारी है, सभा करते हैं।’ इस पर लड़के ने अपनी और अपने मृत परिवार के लोगों की आयु के सम्बन्ध में पुछवाया। भूत ने विधाता से पूछकर बताया कि उसकी आयु अस्सी वर्ष तथा परिवार के लोग पुनर्जीवित होंगे। लड़के ने भूत से उसके जीवन की चिन्ता प्रकट करके उसके जीवन का रहस्य पूछ लिया। भूत ने बताया कि उसके कपाल में अमृत का कटोरा है। वह जब तक अन्दर रहेगा तब तक वह जीवित रहेगा।

लड़के ने अपनी आयु व उसकी मृत्यु के रहस्य को जानने के पश्चात् रसोईघर की भट्टी में मिर्च डाल दी। और रसोई घर का दरवाजा बन्द कर दिया। मिर्चों के धुएँ से भूत की सारी शक्ति क्षीण हो गई। लड़के ने उसका सिर काट कर अमृत का कटोरा निकाल लिया और मरे हुए कुटुम्बियों की हड्डी पर छिड़क कर उन्हें पुनर्जीवित किया।

‘कुटुम्बियों का बदला’ इस कथा की थीम है। इसमें चतुराई से जीवन रक्षा करना मूल अभिप्राय है। भूत के प्राणों का उसके कपाल में रखे अमृत कटोरे में होना सह अभिप्राय है। इसी तरह मामा का भानजे को हानि न पहुँचाने का विश्वास कथाओं में रूढ़िगत है। समाज के विकसित सम्बन्धों में वहिन रक्षणीय हुई और उसका पुत्र भी। इस प्रसंग में पं० राहुल सांकृत्यायन की मेरी जीवन यात्रा में वर्णित उस अश से है जिसमें बालक लेखक द्वारा

भूत को बाबा न कह कर ‘मामा’ जैसे ममत्वपूर्ण सम्बन्ध जोड़कर, उसके निरापद हो जाने के लोक विश्वास का निरूपण है। उसके अनुसार यदि ‘बाबा’ प्रकट हुए तो भट मामा कह बैठेंगे। फिर ‘बाबा’ भाजे पर हाथ छोड़ने का साहस थोड़ा ही करेंगे?’ इसी तरह यह विश्वास भी रूढ़िगत हो चुका था कि ‘बदले को प्रेरित करने के लिए चुनौती देना’ जिससे कथा नायक कुटुम्बियों की मृत्यु का बदला लेने का दृढ़ सकल्प करता है। यह रूढ़ि कथाओं में बहुत प्रचलित है। लोक महाकाव्य ‘आल्हा’ में आल्हा और ऊदल को इसी तरह उनके मामा ‘माहिल’ ने ‘करिया’ द्वारा मारे गये पिता के बदले के लिए चुनौती दी थी। इससे यह स्पष्ट ही है कि ‘अभिप्राय’ कथा रूढ़ि और कथा-प्रयोजन से एकदम भिन्न है।

कथा रूढ़ि या कथानक रूढ़ि से अभिप्राय को अलग समझा जाना चाहिए। जीवन के इतने बड़े ‘फंज’ में मानव ने असंख्य अनुभव किये, उसमें सशोधन और परिवर्धन भी हुए। उदाहरण के तौर पर—आदिम मानव ने जीवन की रक्षा के लिए पहले पत्थर के औजारों का प्रयोग किया और फिर धातु से परिचित होने पर कुल्हाड़े का। जीवन रक्षा के लिए जब से मानव ने कुल्हाड़े को सशक्त माध्यम पाया तब से उसने कुल्हाड़े के ‘फल’ को अपने गले में पहनना आरम्भ कर दिया और कुल्हाड़ा का फल जीवन रक्षा के साधन के रूप में रूढ़ हो गया जो आज भी हजारों वर्षों बाद का मानव अपने गले में धारण करता है, मेरा तात्पर्य कुल्हाड़े के ‘फल’ के आकार के सोने अथवा चादी के ताबीज से है। यहाँ पर यह निदिष्ट करना आवश्यक होगा कि रूढ़िगत विश्वासों और अभिप्राय दोनों की सम्बद्धता यद्यपि जीवन से ही है, पर अभिप्राय में परिवर्तन नहीं होते जबकि रूढ़ियों में काल व सन्दर्भ के अनुसार सशोधन परिवर्धन होते रहे हैं। रूढ़ियों के वाक् सवाद स्वतंत्र अस्तित्व की पृष्ठ भूमि में जीवन सन्दर्भ, संस्कृति धर्म, पुराख्यान और विश्वासों की परम्परा है। ‘अभिप्राय’ जीवन में जिए व स्थापित मूल्य हैं। एक दूसरे से सन्दर्भित होते हुए भी अलग हैं। श्री पी० सी० गोस्वामी के शब्दों में ‘अभिप्राय की महानाभि से निकलकर जो जीवन्त सन्दर्भ अपना निजी कक्ष

बना लेते हैं वे किसी उपग्रह की तरह, सौर्यमण्डल (अभिप्राय) के अंश होने पर भी अपनी सत्ता विज्ञापित करते रहते हैं।'

अभिप्राय पर कार्य करने वाले पाश्चात्य और प्रायः सभी भारतीय विद्वानों ने अभिप्राय को 'टाइप' समझ कर वर्गीकृत किया है। उन्होंने अभिप्राय और रूढ़ि में कोई भेद नहीं किया है।^१ फ्रेजर द्वारा किये वर्गीकरण के कुछ अभिप्राय दृष्टव्य हैं—

- (१) किसी स्त्री के पास उसके पति का रूप धारण करके जाना।
- (२) कुतिया और मिर्च मिला हुआ मांस खण्ड।
- (३) किसी स्त्री को प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले प्रेमियों की उस स्त्री द्वारा दुर्गति।
- (४) कुलटा स्त्रियां।

फ्रेजर ने उपरोक्त 'कामेच्छा' या 'कामवेग' अभिप्राय का वर्गीकरण कथा में आई घटना साम्य (रूढ़ियों) के 'टाइप' के आधार पर किया है इसी तरह 'टाइप' के आधार पर ब्लूमफील्ड ने 'जोसेफ एण्ड पोरिफरस वाइफ इन हिन्दू तिवसन'। एवं अन्य (१) इको वर्ड मोटिफ, (२) गिवि मोटिफ, (३) प्रोग्रेसिव मोटिफ, (४) माइनर मोटिफ, (५) प्रोग्रेसिव माइनर मोटिफ आदि उपलब्ध एक ही आधार की कथा प्रयुक्त रूढ़ियों के आधार पर वर्गीकरण किया है।

कामवेग या कामेच्छा मनुष्य की आदिम वृत्ति चाहे वह मानव प्राक् ऐतिहासिक रहा हो, प्रस्तरकालीन अथवा ताम्रकालीन या अब तक सम्य होने तक का। यमी का अपने सहोदर यम से रमण करने के लिए याचना करना, बृहस्पति पुत्र कच से शक्राचार्य पुत्री देवयानी का प्रणय निवेदन, पाराशर मुनि का सत्यवती पर कामविमोहित होकर रमण करना, इन्द्र का गौतम पत्नी अहिल्या से रमण करना, आपस्तम्भ धर्म सूत्र में गुरुपत्नी से बलात्कार का दण्ड विधान अथवा किस्सा 'रूपबसन्त' की सीतेली मां का बेटे को रमण आमन्त्रण देना इत्यादि उस

मूलवृत्ति की सहज घटित घटनाएँ हैं जिन्हें मात्र आज के नैतिक चश्मेकी पहिन कर देखना, समझना उचित न होगा।

काल, सन्दर्भ, सम्बन्धों की विभिन्नता पर दुहरायी जाने वाली घटनाओं ने इस कामेच्छा के मूल अभिप्राय को रूढ़ कर दिया और फिर ये भारतीय कथाओं की स्थायी रूढ़ियाँ बन गयी। जिनके प्रस्तुतीकरण में कथाकार ने शिल्प का सहारा अवश्य लिया है। कामेच्छा का यह अभिप्राय अपने मूल रूप में सुरक्षित रहा है।

श्री फ्रेजर, ब्लूमफील्ड के 'टाइप' के आधार पर अभिप्राय वर्गीकरण और उनके सामने दोनों की भेदक रेखा का स्पष्ट न होने से, मुझे उनकी समझ के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं है। इसके लिए यह कहा जा सकता है कि उनकी दृष्टि के मूल में स्वदेश का लोकजीवन, साहित्य व संस्कृति रही है। उस आधार पर विशाल भारतीय लोक जीवन की व्याख्या करना उनके लिए असम्भव तो नहीं पर दुष्कर अवश्य रहा है। लोकजीवन साधारणतः पत्नी का पति के पैर दाब कर, उससे पिट कर उसमें सुख पाना और पति प्रेम की उपलब्धि मानना, यह पाश्चात्य विज्ञों के लिए 'नानसेन्स' या 'फिनेटिक' ही लगेगा। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि उन्होंने भारतीय मूर्तिकला अथवा चित्र के माध्यम से इन्हें समझने का प्रयत्न किया हो। और एक ही 'टाइप' के अंकन को देखकर (घटना पाने के समान) उन्हें विभिन्न अभिप्राय मान लिया अथवा—बड़ौदा म्यूजियम में दो मूर्तियों का सदर्थ है। एक मूर्ति में स्त्री के कूल्हे पर बालक खड़ा है और वह अपनी मा का कान खींच रहा है।^१ दूसरी मूर्ति में बालक कमर में बैठे अपनी मा के स्तन छू रहा है।^२ इस पर चर्चा करते हुए लेखको ने इसे 'कान खींचने वाला बालक' और 'मा का स्तन छूने वाला बालक' अभिप्राय है जो १५वीं ६ठी शती में प्रचलित थे जब कि दोनों मूर्तियों में अभिप्राय वास्तव्य का अंकन है। दोनों के

१. ब्लूमफील्ड ने कथानक रूढ़ियों अथवा अभिप्रायों का अध्ययन करते हुए कई निबन्ध लिखे हैं।

—माध्यमयुगीन साहित्य हिन्दी का लोकतात्विक अध्ययन

—डा० सत्येन्द्र पृष्ठ ४८६

१. Journal of the Indian Socetey of Orientai Art : Editor : U. P. Shah and Kalyan K. Gangal (Special number "Western Indian Art") Page 29.

२. वही पृष्ठ ७८।

ग्रंथन में मूल विशु का मातृस्नेह है। अथवा माता का वात्सल्य।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कथा रूढ़ियो और कला रूढ़ियों से उनके अभिप्राय निश्चयन भिन्न है।

प्रसंगतः रूढ़ि और कथ्य के भेद को स्पष्ट कर लेना उचित होगा। जीवन में अनुभवों की रूढ़स्थितियों, वर्जनाएं जिन्हें जीवन हित में स्वीकार किया है। वे समाज के विकास क्रम में निश्चित हुई हैं। समाज में ऐसे लोगों की उपस्थिति जो अपनी धृतिता व चालाकी से, अन्य सीधे एवं निष्कपट व्यक्तियों को ठग लेते हैं। उनके लिए उन्हीं के ढंग से पेश आने वाला व्यक्ति ही उन्हें सबक देता है। इस तरह का जीवनानुभव रूढ़िगत रूप में लोक कथाओं में बहुत पाया जाता है। इन कथाओं में अक्सर परिवार का कोई सदस्य पिता, पुत्र, भाई ठगाये जाते हैं। और बाद में उसी परिवार का कोई चतुर सदस्य उस ठग को उसी चालाकी से ठग कर सबक देकर, न केवल पूर्व ठगी सम्पत्ति को लौटाता है वरन् कुछ नया भी ले आता है। राजस्थानी की एक कथा द्रष्टव्य है—‘बनिये का गुरू’ : एक चौधरी बाबा, अपने गांव से लकड़ियों की गाड़ी भर कर पास के नगर में बेचने गया। एक सेठ लकड़ियों खरीदने आया। पूछा—बाबा, गाड़ी का क्या मोल? चौधरी ने कहा—एक ही बात बता दो, पांच रुपये लूंगा। कमी-बेसी करना मत। सेठ ने राजी होते हुए कहा गाड़ी हवेली ले चल। जब चौधरी लकड़ी खाली कर अपनी गाड़ी बैल लेकर चलने लगा तो सेठ ने धमका कर कहा कि मैंने गाड़ी का मोल किया था। उस समय गाड़ी में बैल भी जुते थे लकड़िया भी थी। चौधरी ने बहुत कहा, पर सेठ अड़ा रहा। अन्त में चौधरी पांच रुपये में गाड़ी, बैल और लकड़ियां छोड़ कर घर आ गया। घर पर उसके पुत्रों ने पूछा। उसने सारी स्थिति बतलायी। तीन ताकतवर लड़के सेठ को मारने चले तो चौथे लड़के ने उन्हें रोक दिया और कहा मैं ही काफी हूँ।

चौधरी के लड़के ने एक गाड़ी में लकड़ी लादी और उसी नगर चला। उसने सेठ की हवेली व सेठ की हलिया

पूछ ली थी। बाजार में सेठ को देखते ही पहचान लिया। सेठ के पूछने पर गाड़ी का दाम दो मुट्ठी भर पैसा बतला दिया। सेठ ने सोचा कि यह कल वाले बाबे से ज्यादा भोला है। अतः शीघ्र ही हवेली में ले जाकर कहा—बोहनी के समय पहले दाम पल्ले में बान्ध ले फिर गाड़ी खोलना और जल्दी भीतर जाकर दोनों मुट्ठियों में एक-एक पैसा बन्द करके ले आए। चौधरी के बेटे के पास आकर बोले—ले, ये दाम हाथ में मेल। सेठ दाम देने मुट्ठी खोलने वाले ही थे कि चौधरी के बेटे ने भट लपक कर उनके हाथ पकड़ लिए। कमर में खोसा तीखा हँसिया बाहर निकाल कर बोला—सेठ जैसे मुट्ठियों से नीचे मत गिराइए। ये तो साथ रहेंगे। लकड़ियों के साथ बैल व गाड़ी विकत है तो पैसों के साथ मुट्ठियां कटेगी। तब सेठ बहुत रोया गाया और उसने पहले ली गाड़ी बैल के अतिरिक्त पांच सौ रुपये दण्ड के देकर पिड़ छुड़ाया।

उपरोक्त कथा की थीम ‘जैसे को तैसा’ है तथा इसमें यह कथानक रूढ़ि है बुरे का फल कभी न कभी अवश्य मिलता है। ‘पत्ताभर दलभत्ता’ एवं अन्य लोक कथाओं के कथ्य व रूढ़िया इसी प्रकार की हैं।

इसी प्रकार की एक और कथानक रूढ़ि है जिसका सम्बन्ध मनुष्य की दमिन इच्छाओं के अभिप्राय से है किसी न किसी माध्यम से प्रगट होता है। पर जीवन ने मानव को सिखाया कि उसे अपनी सामर्थ्य और उनकी सीमाओं का ख्याल रहना चाहिए। ‘जितनी चादर उतना पैर फैलाने’ वाला मुहावरा भी यही कहता है।

लोक कथाएँ जीवन की ही सहज अभिव्यक्ति हैं। इसलिए इनमें से अभिप्रायों, रूढ़ियों से कथा के कथ्य (जो जीवन की इन अभिव्यक्ति का ही निमित्त है) को अलग करने में प्रायः चूक हो जाती है। जैसा कि विचार कर चुके हैं कि रूढ़ि हुई सभी वर्जनाओं का अर्थ भी जीवन से ही है। सामर्थ्य व सीमा को याद दिलाने वाली अनेक लोक कथाएँ राजस्थानी में हैं।

इस कथा में अपनी स्थिति के अनुसार रहने के जीवनानुभव की रूढ़ि का प्रयोग है। थीम ‘महत्वाकांक्षा’ है। थीम तो अभिप्राय और रूढ़ियों को प्रगट करने के लिए बुने कथा जाल का संवाहक या निमित्त मात्र होता है।

[राजस्थानी भारती से साभार]

१. विजयदान देवा द्वारा सम्पादित बाता री फुलवाड़ी भाग १ से।

१३वीं शताब्दी के विद्वान हरिभद्र : एक अध्ययन

परमानन्द शास्त्री

हरिभद्र—नाम के अनेक विद्वान हो गए हैं। प्रस्तुत हरिभद्र उनसे भिन्न विद्वान है जिनका परिचय नीचे दिया जाता है—

यह श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय के विद्वान थे। जो बड़ गच्छीय जिनचन्द्रमूरि के प्रशिष्य और श्रीचन्द मूरि के शिष्य थे। प्राकृत संस्कृत और अपभ्रंश के अच्छे विद्वान थे। कवि की दो कृतियां प्राकृत भाषा में उपलब्ध हैं, मल्लिणाहचरित और चदप्पहचरित। इन दोनों चरित ग्रंथों में जैनियों के आठवे और १९वे तीर्थङ्करों का चरित दिया हुआ है। पाटण के भंडार में चदप्पहचरित की सं० १२२३ की लिखी हुई एक ताडपत्रीय प्रति विद्यमान है : कवि की तीसरी कृति नेमिणाहचरित है, जिसका एक अंश सनत्कुमार चरित के नाम से प्रकाशित हो चुका है। अर्थात् नेमिनाथ चरित के ४४३ पद्य से ७८५ पद्य तक ३४३ रइडा छन्दों में सनत्कुमार चरित मिलता है—जिसमें बतलाया गया है कि सनत्कुमार गजपुर के राजा अश्वसेन और उनकी रानी सहदेवी के पुत्र थे। वे धीरे-धीरे शिक्षा प्राप्त कर युवावस्था को प्राप्त हुए। एक दिन मदनोत्सव के अवसर पर उद्यान में एक स्त्री को देख कर मोहित हो गये। युवती भी उनके सौन्दर्य को देखकर आकृष्ट हो गई। दोनों का जब मदनायतन में मिलाप होता है तब दोनों परस्पर में अपनी-अपनी प्रेम भावना प्रकट करते हैं। बीच में भोजराज पुत्र, जलधि कल्लोल नामक एक प्रसिद्ध घोड़ा वह सनत्कुमार को भेंट करता है। एक दिन कुमार उस घोड़े पर सवार होते हैं, तब वह घोड़ा उन्हें लेकर पवन समान गति से दूर वेश ले जाता है। इधर राजधानी में कोलाहल और हाहाकार मच जाता है। सनत्कुमार का मित्र अश्वसेन उसकी खोज में निकलता है। और दूढ़ता भटकता हुआ वह मान सरोवर जा पहुँचता है, बीच मार्ग में अनेक भीषण वन आते हैं, अनेक ऋतुएं अपनी मोहकता के लिए उसके आगे आती हैं जिनका कवि ने सरस वर्णन

किया है। मानसरोवर पर अश्वसेन एक किन्नरी को मधुक्कंठ से कुमार का गुणगान करते हुए सुनता है, उसी से उसे सनत्कुमार का इतिवृत्त ज्ञात होता है। इस बीच कुमार का अनेक रमणियों से विवाह हो जाता है। मदनोत्सव पर वह जिस युवती पर मुग्ध हुए थे उसे कोई एक यक्ष हर ले गया था। उन दोनों का यहाँ मेल हो जाता है और दोनों विवाह बन्धन में बंध जाते हैं। कुमार के इन भोगमय जीवन के बाद उनके अनेक वीर और पराक्रम कार्यों का वर्णन किया है। इसी बीच मुनि अचि-माली कुमार के पूर्व जन्मों का वृत्तान्त सुनाते हैं।

इसके बाद कुमार के अनेक विवाहों का वर्णन है। इतने में कुमार का बाल्य सखा महेन्द्र वहाँ पहुँचता है। और उससे अपने मात-पिता की दुर्दशा का समाचार सुन कर दोनों गजपुर लौट पड़ते हैं।

कुमार का पिता अश्वसेन उसे राज्य देकर देह-भोगों से विरक्त हो जाता है। कुमार समस्त पृथ्वी को वश करता हुआ चक्रवर्ती पद पाता है। उसके अमित तेज और सौन्दर्य का वर्णन किया गया है। अन्त में सनत्कुमार अपने रूप को अस्थायी समझ ससार से विरक्त हो घोर तप करते हैं और परिणाम स्वरूप स्वर्ग प्राप्त करते हैं।

सनत्कुमार चक्रवर्ती का यह चरित्र सुन्दर एवं पावन है। कवि के कथानक में बहुत कुछ स्वाभाविकता है और वह वीर और शृंगार वर्णनों से युक्त है। कवि का काव्यमय वर्णन विशेष आकर्षक है।

नेमिनाथ चरित में जैनियों के बाइसवें तीर्थंकर नेमिनाथ का जीवन-परिचय अंकित किया गया है। ग्रंथ के प्रथम भाग में नेमिनाथ और राजमति के नौ भवों का विस्तार वर्णन दिया हुआ है। और दूसरे भाग में उक्त तीर्थंकर चरित के पूर्व उनके चचेरे भाई श्री कृष्ण और पाण्डवों का चरित अंकित किया गया है। पूरा ग्रंथ ८०३२ श्लोकों में पूर्ण हुआ है। हरिभद्र ने अपने इस

ग्रन्थ की रचना चालुक्यवंशीय राजा सिद्धराज के उत्तराधिकारी राजा कुमारपाल के राज्य में अणहिलपुर पाटन नामक नगर में संवत् १२१६ के कार्तिक शुक्ला त्रयोदशी सोमवार के दिन अश्विनी नक्षत्र में सम्पन्न की है।

अनहिलवाड़—भिनमाल के पतन के बाद सदियों पूर्व वि० सं० ८०२ (सन् ७४६) ईस्वी में चावड़ा वंश के वनराज द्वारा उत्तर गुजरात की सरस्वती नदी के तट पर स्थित लाखाराम नामक प्राचीन गाँव में अनहिलवाड़ बसाया गया था। इसका कोई प्राचीन अभिलेख या सिक्का उपलब्ध नहीं है। प्रबन्ध चिन्तामणि में इन्हें लुटेरा घोषित किया गया है। सन् १४२ ईस्वी में अनहिलवाड़ के आस-पास इनका राज्य समाप्त हो गया था। और मूलराज, चावड़ा शासक सामन्त सिंह के भागिनेय ने अपने मामा को मारकर राज्य हस्तगत किया था। उस समय वह छोटा-सा राज्य था; किन्तु मूलराज दीर्घदर्शी सेनानी था, उसने चावड़ों से प्राप्त इस छोटी-सी रियासत को गुजरात राज्य का रूप दे दिया था, उसीने और अनेक राजाओं को जीत कर उसे समृद्ध बनाया था और बारहवीं शताब्दी में तो अनहिलवाड़ सांस्कृतिक और साहित्यिक क्षेत्र बन गया था। सिद्धराज जयसिंह और कुमारपाल के समय वह अपनी उन्नति की चरम सीमा को पहुँच गया था। उस समय वह विशाल गुर्जर राज्य का केन्द्र बन गया था जिसे कुमारपाल ने और भी उच्च शिखर पर पहुँचाने का यत्न किया था, उसका विस्तार दक्षिण में कोकण, उत्तर में राजपूताना, पश्चिम में कच्छ और सौराष्ट्र, पश्चिमोत्तर में सिंध, एवं पूर्व में मालवा तक हो गया था। श्वेताम्बर समाज-का तो यह गढ़ था ही। वहाँ अनेक जिन मन्दिरों का निर्माण, विशाल शास्त्र भण्डार और हेमचन्द्रादि आचार्यों के साहित्य निर्माण का केन्द्र स्थल था।

ग्रन्थ की अन्तिम प्रशस्ति मंहत्वपूर्ण है। इसमें अनेक ऐतिहासिक तथ्यों का उल्लेख करते हुए राजा कुमारपाल

के अमात्य पृथ्वीपाल का परिचय कराया है।^१ पृथ्वीपाल प्राग्वट जाति के भूषण थे। सरस्वती द्वारा उन्हें वर प्राप्त था। उन्होंने अर्बुदाचल (आबू) में मंत्री बिमलशाह द्वारा बनवाये हुए मन्दिर के सामने 'मंडप' बनवाया था। और अणहिल पाटन में वीरनाथ और अरहनाथ के मन्दिर में भी 'मंडप' बनवाया, एवं त्रिजग तिलक नामक शान्तिनाथ जिन भवन का निर्माण भी कराया था। और चदप्पह चरिउ, नेमिनाह चरिउ का भी निर्माण कराया और उनकी प्रतियाँ भी लिखवाईं। इस तरह पृथ्वीपाल ने राज्य कार्य करते हुए भी अनेक धार्मिक कार्यों का निर्माण कर जीवन को सफल बनाने का यत्न किया था।

कवि परिचय—आचार्य हरिभद्र विक्रम की १३ वीं शताब्दी के विद्वान थे। वे बड़ गच्छीय जिनचन्द्र सूरि के प्रशिष्य और श्री चन्द्रसूरि के शिष्य थे। कर्ता ने अपनी रचनाओं में गुरु का आदर के साथ उल्लेख किया है। कहा जाता है कि कवि ने चतुर्विंशति तीर्थंकरों के चरित लिखे थे किन्तु वर्तमान में तीन ही चरित उपलब्ध हैं। चन्द्रप्पह चरिउ की पाटण के भंडार में संवत् १२२३ की लिखित प्रति विद्यमान है। अतएव उसका समय उसके आसपास का हो सकता है और नेमिनाह चरिउ सं० १२१३ के कार्तिक शुक्ला त्रयोदशी सोमवार के दिन अश्विनी नक्षत्र में बनाकर समाप्त किया था। इन दोनों चरित ग्रन्थों की श्लोक संख्या ८०३२ श्लोक प्रमाण बताई गई है। मल्लिणाह चरित कब रचा, यह कुछ ज्ञात नहीं हो सका। कवि का समय विक्रम की १३वीं शताब्दी है।

कवि की अपनी सभी रचनाएँ सुन्दर और मनमोहक हैं। पाठकों को उनका अध्ययन करना चाहिए। भारतीय विविध साहित्य के अध्ययन से बुद्धि परिष्कृत और तुलनात्मक साहित्य के निर्माण में सहायक होती है। ●

१. कुमार बालहनिबहरज्जम्मि अणहिलवाड़इ । नयिर अनणु सुयण बुहमणह संगमि ॥ सोलुत्तर बारसई १२१६ कत्तियम्मि तेरसि समागमि । अस्सिणि रिक्खिणसोमदिणि सुप्पवित्ति लग्गम्मि । अने० वर्ष १७ कि० ५, पृ० २३२ ।

१. जयसीह एव सिरि कुमारवाल एवा णिदं तिलयाणं ।

सिरि पुहइवालमंतः अविताह नामो इमो विहिओ ॥

× × ×

निरुवम सरस्सइवर पहाव उवलद्ध वंछियत्थस्स ।

अविताह अभिहाणस्स सिरि पुहई वाल सचिवस्स ॥

—केटेलोग पाटन भंडार, पृ० २५३, २५७ ।

जाम्भोजी विष्णोई सम्प्रदाय और उसका साहित्य

डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल एम. ए. पी. एच. डी.

राजस्थानी भाषा राजस्थान की अपनी भाषा है। उसका अपना स्वरूप एवं अपना ही विशाल भण्डार है। अपभ्रंश के पश्चात् देश में जिन भाषाओं का विकास हुआ उनमें राजस्थानी भाषा का नाम विशेषतः उल्लेखनीय है। १५ वीं शताब्दी तक यद्यपि राजस्थानी एवं गुजराती भाषाएं एक माँ की दो पुत्रियों के समान एक ही घर में विकसित होती रहीं लेकिन युवा होने पर एक ने राजस्थान एवं दूसरी ने गुजरात को अपना घर बनाया। इस प्रकार राजस्थानी भाषा का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व प्रारम्भ हुआ। लेकिन इसके बाद भी दो बहनों के समान एक दूसरे से मिलती रही और अपना प्रभाव स्थापित करती रही। राजस्थानी भाषा ने अपने प्रदेश के सांस्कृतिक, साहित्यिक एवं नैतिक धरातल को विकसित करने में अपना महत्वपूर्ण योग दिया और इस कार्य में जन साधारण का उसे अपूर्व सहयोग मिला। जनता ने उसका स्वागत किया और जन कवियों ने उसे अपने काव्य रचना का माध्यम बनाया। राजस्थानी भाषा वीर रस प्रधान रचनाओं के लिए श्रेष्ठ भाषा मानी जाने लगी। साथ ही अध्यात्म परक साहित्य भी उसमें खूब लिखा गया। वृज, अवधी, मालवी एवं मेवाती जैसी भाषाओं को उसने प्रभावित किया और अपनी लोकप्रियता एवं विशालता की इन पर गहन छाप छोड़ी। वैष्णव एवं जैन दोनों ही कवियों ने उसमें अपना विशाल साहित्य लिखा। और उसके विकास में अपना पूर्ण योग दिया।

राजस्थानी भाषा को राज्य भाषा होने का गौरव भी मिला। राजाओं द्वारा इसे अभूतपूर्व राज्याश्रय मिला। राजस्थानी भाषा के कवियों को राज दरबार में पूर्ण सम्मान मिला और उसे लोकप्रिय बनाने में सहयोग प्रदान किया गया। इस भाषा में राम सीता रास (ब्रजिनदास) ढोला मारू ग दोहा (कुशल लाल) कृष्ण रुक्मणी बेलि (पृथ्वीराज) कान्हूदे प्रबन्ध (पद्मनाभ) वीर सतसई

(सूर्यमल्ल) जैसी महत्वपूर्ण कृतियों का निर्माण हुआ जिन पर कोई भी देशवासी गर्व कर सकता है। इस साहित्य के निर्माण में सैकड़ों राजस्थानी विद्वानों ने अपने जीवन का अमूल्य समय समर्पण किया। काव्य के जितने अंगों पर राजस्थानी साहित्य लिखा गया किसी भी प्रादेशिक भाषा में नहीं लिखा जा सका। काव्य, चरित, रास आदि के अतिरिक्त फागु, वेलि, ढाल, चौढाल्या, चौपाई, दोहा, सतसई आदि के रूप में खूब साहित्य लिखा गया। वास्तव में साहित्य के विभिन्न अंगों और उपांगों को पल्लवित एवं विकसित करने का श्रेय राजस्थानी भाषा के कवियों को दिया जाना चाहिए।

लेकिन राजस्थानी भाषा का विशाल साहित्य होते हुए भी अभी तक इस साहित्य की जन साधारण को जानकारी नहीं मिलना राजस्थानियों के लिए तो कम से कम गौरव की बात नहीं है। विश्वविद्यालयों स्तर तक पढ़ने वाले प्रत्येक विद्यार्थी को राजस्थानी भाषा की प्रमुख रचनाओं का परिज्ञान होना ही चाहिए, चाहे वह विद्यार्थी किसी भी फैकल्टी में शिक्षा क्यों नहीं ले रहा हो। राजस्थानी भाषा की सैकड़ों रचनाएँ राजस्थान के जैन भट्टारों में सुरक्षित हैं। यद्यपि गत २० वर्षों से राजस्थानी साहित्य को प्रकाश में लाने का किंचित प्रयास किया गया है लेकिन इस साहित्य की विशालता को देखते हुए उसे पर्याप्त नहीं कहा जा सकता।

जैन साहित्य के समान जाम्भोजी विष्णोई सम्प्रदाय एवं उसका साहित्य भी जनसाधारण के परिचय के बाहर था। विष्णोई सम्प्रदाय में सैकड़ों कवि होने पर भी यह साहित्य अभी तक उपेक्षित रहा और राजस्थानी साहित्य के इतिहास में उसे उचित स्थान भी प्राप्त नहीं हो सका। अभी डा० हीरालाल माहेश्वरी प्राध्यापक राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर ने "जाम्भोजी, विष्णोई सम्प्रदाय एवं साहित्य" इस नाम से शोध ग्रंथ का प्रकाशन कराया

है। यह शोध ग्रंथ दो भागों में प्रकाशित हुआ है और इसके लेखन के उपलक्ष में डा० माहेस्वरी जी को डी.लिट. की सर्वोच्च साहित्यिक उपाधि प्राप्त हुई है। अपने इस शोध प्रबन्ध के माध्यम से लेखक ने एक ऐसे साहित्य को प्रकाश में लाने का भागीरथ प्रयास किया है जो अभी तक अप्रकाशित था। आज महाकवि तुलसीदास, सूरदास, कबीरदास एवं मीरा पर कितने ही शोध प्रबन्ध लिखे जा रहे हैं और घुमा फिरा कर उन्हीं तथ्यों को तोड़ा-मरोड़ा जाता है लेकिन किसी विलुप्त, अज्ञात एवं अप्रकाशित साहित्य को प्रकाश में लाना एक विशेष महत्व रखता है और डा० माहेस्वरी जी का इसी दृष्टि से यह प्रयास अत्यधिक प्रशंसनीय है।

राजस्थान में होने वाले महात्माओं में जाम्भोजी का नाम विशेषतः उल्लेखनीय है। वे विष्णोई सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे। इनके द्वारा प्रवर्तित यह सम्प्रदाय आज भी राजस्थान का विशिष्ट एवं जागरूक सम्प्रदाय है। जाम्भोजी का जन्म सन् १५०८ में पीपासर : नागौर : के प्रतिष्ठित राजपूत परिवार में हुआ था। वे आजन्म ब्रह्मचारी रहे। सन् १५४२ में इन्होंने सम्भारखल नामक एक रेत के टीले पर बैठ कर विष्णोई सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया और सन् १५६३ में ८५ वर्ष की आयु में वहीं पर स्वर्गवासी हुए। जाम्भोजी का राजस्थान ही प्रमुख कार्य-क्षेत्र रहा। वे अपना प्रवचन ठेठ मरुभाषा : मारवाडी : में देते थे। इनकी वाणी को जम्भवाणी कहा जाता है जिसका दूसरा नाम सबदवाणी भी है। इनका कहना था कि जिस प्रकार तिल के भीतर तेल रहता है तथा फूलों में सुगन्ध समाती रहती है उसी प्रकार पाच तत्वों के अन्तर्गत आत्मा का प्रकाश हुआ करता है। जैसी खेती की जाती है वैसी ही फसल पैदा होती है। उन्होंने बहुत ही स्पष्ट शब्दों में कहा है कि पहिले स्वयं करके दिखलाना चाहिए और फिर दूसरों से उसके लिए कहना चाहिए। कोरे आदर्शों की प्रशंसा में लीन रहना और उन्हें अपने आप व्यवहार में न लाना कोरा ढोंग है।

डा० माहेस्वरी जी ने 'जाम्भोजी विष्णोई सम्प्रदाय और साहित्य' शोध ग्रन्थ को तीन खण्डों में विभाजित किया है जिसमें नौ अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में कुल

४०८ सन्दर्भ ग्रन्थों का परिचय दिया गया है। दूसरे अध्याय में जाम्भोजी साहित्य पर अब तक किये गये कार्य की समीक्षा की गई है। तीसरे अध्याय में जाम्भोजी के समय विक्रम की १६वीं शताब्दी तक मरु प्रदेश की राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक गतिविधियों का परिचय दिया गया है। चौथे अध्याय में कालक्रमानुसार जाम्भोजी का जीवन वृत्त दिया गया है। यह प्रथम अवसर है जब राजस्थान के इस सत पर इतना प्रामाणिक एवं विस्तृत परिचय लिखा गया है। जाम्भोजी के समय में ही उनके द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय से अन्य धर्म वाले भी प्रभावित होने लगे थे इनमें मुहम्मदखा नागौरी, बादशाह सिकन्दर लोदी, कर्नाटक के नवाब शेख सद्दी, सुल्तान का सधारी मुल्ला, जैसलमेर का रावल जैतसी, मूला पुरोहित के नाम उल्लेखनीय हैं। पांचवे अध्याय में जाम्भोजी के दर्शन और अध्यात्म पर प्रकाश डाला गया है। जाम्भोजी न केवल एक विष्णोई सम्प्रदाय के प्रवर्तक ही थे किन्तु अपने समय के उच्च दार्शनिक भी थे। छठे अध्याय में चुनी हुई सात हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर लेखक ने जाम्भवाणी का पाठ सम्पादन किया है। सन्त साहित्य के प्रसिद्ध लेखक एवं विद्वान श्री पुरुषराम चतुर्वेदी के शब्दों में शोध ग्रन्थ का यह अध्याय सबसे महत्वपूर्ण है। सप्तम अध्याय में विष्णोई सम्प्रदाय का विस्तृत रूप में परिचय प्रस्तुत किया गया है।

आठवे अध्याय में विष्णोई सम्प्रदाय के कवियों एवं उनके साहित्य का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इसमें १२६ अज्ञात कवियों एवं उनकी २६५ रचनाओं का परिचय देकर डा० माहेस्वरी ने हिन्दी जगत को सहज ही से महत्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध करा दी है। ऐसे विद्वानों में डा०जी नैण : सन् १५०५-६४ : मेहोजी गोदरा : १६३०-१७३६ : सुरजनराय पुनिया : १६४०-१७४८ : आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। पुस्तक के अन्तिम अध्याय में विष्णोई साहित्य के महत्व एवं उसकी भारतीय साहित्य की देन पर प्रकाश डाला गया है।

इस प्रकार डा० माहेस्वरी ने 'जाम्भोजी विष्णोई सम्प्रदाय और उसके साहित्य' पर जो खोजपूर्ण प्रकाश

[शेष पृ० ४२ पर]

ब्रह्म यशोधर

परमानन्द जैन शास्त्री

ब्रह्म यशोधर—भट्टारक यशःकीर्ति के शिष्य और विजयसेन के शिष्य थे, जो गममेनान्वय में प्रसिद्ध काण्डा-सघ और नान्दि तट गच्छ के विद्वान् थे। आपकी एक मात्र कृति बलभद्रास उपलब्ध है जिसे कवि ने स० १५८५ में भ्वाण्ड नगर में बनाकर समाप्त किया था। ग्रन्थ में १८९ पद्यों में कवि ने बलभद्र का जीवन-परिचय अंकित किया है। रचना में गुजराती भाषा का प्रभाव स्पष्ट है। कृति अप्रकाशित है और वह पंचायनी मन्दिर दिल्ली के बृहत्काय गटक में लिखा हुआ है जिसमें स० १६१६ से १६६० तक की रचनाएँ लिपि बद्ध हैं।

कवि ने बलदेव और कृष्ण का जीवन परिचय अंकित करते हुए द्वीपायन द्वारा द्वारिका के विनाश का चित्रण किया है। २२वें तीर्थङ्कर नेमिनाथ द्वारा जब कृष्ण और द्वीपायन को यह ज्ञान हुआ कि १२ वर्ष में द्वीपायन द्वारा द्वारिका का विनाश होगा और कृष्ण बलभद्र शेष बचेगे। इसे सुनकर द्वीपायन दूर देश में तपस्या करने चला गया। और वहाँ तपश्चरण करते हुए उन्हें लौट मास (आधिक मास) महीने का ध्यान नहीं रहा। और यह समझ कर कि बारह वर्ष का समय बीत चुका है, द्वारावती के पास वन में आगए। यदुवशी कुमार वहाँ क्रीडा करने गये हुए थे, उन्होंने मछपान किया और मुनी देखकर उनके प्रति आशेष्ट वचनों का प्रयोग किया। जिससे साधु का मन क्षुब्ध हो गया। कुमारों ने उक्त घटना केशव से कही। तब केशव और हलधर दोनों मुनी से क्षमा कराने के लिये वन में

गए। दोनों ने साधु से प्रार्थना की, दीन वचन कहे। चरणों में लगे और क्षमा करने की प्रार्थना की किन्तु सब व्यर्थ क्योंकि मुनि का क्रोध चरम सीमा को पहुँच चुका था। भवितव्य को कौन टाल सकता है? उनके तेज से द्वारिका भस्म होने लगी, केशव और हलधर ने माता पिता और कुटुम्बियों को बचाने का प्रयत्न किया किन्तु वे किसी को भी नहीं बचा सके। अन्त में प्रयत्न कर समुद्र का पानी लाये तब उसने भी अग्नि में तेल का कार्य किया। द्वारिका भस्म होते ही वह मुनि भी भस्म हो गया। केवल कृष्ण और बलदेव बचे।

कृष्ण और बलदेव वहाँ से जंगल में जा रहे थे। किन्तु रास्ते में कृष्ण को प्यास ने सनाया और बलदेव से पानी लाने के लिये कहा, बलदेव पानी लेने गये। इतने में उस वन में जरत्कुमार आये और कृष्ण को पीताम्बर ओढ़े पड़ा हुआ देखकर वनचर जीव समझ बाण मारा जो कृष्ण के पैर में लगा। जब जरत्कुमार पास में आये और कृष्ण को वेदना से त्रिकल देख कर बड़ा दुःख प्रकट किया। तब कृष्ण ने कहा रे मूढ गमार, तूने पाप किया है हे वत्स अब तू खेद मत कर, जब तक बलदेव नहीं आवे उससे पहले ही तू यहाँ में चला जा तब जरत्कुमार दक्षिण मथुरा चले गए। जब बलभद्र पानी लेकर आये, तब कृष्ण से कहा उठो पानी पीलो, परन्तु वहाँ कृष्ण कहा, वे तो परलोक पहुँच चुके थे। उन्हें देख बड़ा विलाप किया और उनके शव को सिर पर रख कर घूमने रहे, अन्त में एक मुनि ने सत्सार की असारता का भान कराया तब उन्हें भी वैराग्य हो गया और अन्त में तपस्या करते हुए निर्वाण प्राप्त किया। उन का क्रिया कर्म किया। इस तरह यह कृति सुन्दर है, भाषा पर गुजराती का प्रभाव है।

कवि की दूसरी कृति 'नेमिनाथ गीत' है जो नणवा

१. सवत पनर पच्यासीर, स्कन्ध नगर मभारि।

भवणि अजित जिनवर तणी, ए गुण गाया सारि ॥१-८

२. पाप कर्म तै कहीकुमारा, पहुँचा द्वारिका नगर मभारि।

केशव आगे कही तेणो बात, द्वापायन अम्हे ताडि तात ॥

दूहा—कुमार जवाणी माभली, केशव घरि अणाहि।

अवहउ अक्षर जे लखा, ते किम पाछा थाग ॥

(राजस्थान) के कोटो (वधेरवालों) के शास्त्र भंडार के गुच्छक न० १०४ में १४४ पत्रात्मक है और सं० १६४४ का लिखा हुआ है। इसमें भगवान नेमिनाथ का जीवन-परिचय दिया गया है। जो २८९ पद्यों में समाप्त होता है। गीत की रचना सन् १५८१ में बसवालपुर (बास-वाडा) में हुई है। जैसा कि उसके निम्न पद्य से प्रकट है।

संवत् पनर एकासीह जी बसवालपुर सार।

गुण गाया श्री नेमिनाथ जी,

नव निधि श्री संघवार हो स्वामी ॥

गीत में राजुल की सुन्दरता का कथन करते हुए उसे मृगनयनी और हंसगामनी बतलाया है। जैसा कि उसके निम्न पद्य से प्रकट है —

रे हंस गमणीय मृगनयणीय स्तवण भाल भङ्गकती।
तप तपिय तिलक ललाट, सुन्दर वेणीय बासुडा लटकती।
ललिकय चूड़ीय मुखि वारीण नयन कज्जल सारती।
मालतीय मेगलमास आसो इम बोली राजमती ॥३

कवि की तीसरी रचना भी नेमिनाथ गीत है। गीत केवल ५ पद्यों में रचा गया है। गीत में राजुल नेमिनाथ को बुलाती हुई उनकी वाट जोह रही है। नेमजी आवृ ने घरे घरे। बाटडीया जोइ सिवयामा डली रे।

कवि की चौथी रचना भी नेमिनाथ गीत है, यह सब गीतों में बड़ी रचना है, जो ६० पद्यों में समाप्त होती है। इस में नेमिनाथ के विवाह की घटना का सुन्दर सजीव वर्णन है।

—: ० :—

[शेष पृ० ४० का]

हाला है उसके लिए उन्हे हार्दिक बधाई है। अपने शोध ग्रन्थ से लेखक ने विभिन्न सम्प्रदायों के कवियों राजस्थानी भाषा की जो अविस्मरणीय सेवाएँ की हैं उन्हें प्रकाश में लाने का मार्ग खोल दिया है।

शोध-प्रबन्ध की भाषा एवं वर्णन शैली दोनों ही प्राज्जल हैं। पुस्तक की प्रस्तावना आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने लिखी है। पुस्तक का सभी ओर से स्वागत किया

जावेगा ऐसी मुझे पूर्ण आशा है। इस पुस्तक में राजस्थानी भाषा और उसके साहित्य के प्रति हमारी जो उदासीनता है वह अवश्य दूर होगी तथा जनता और सरकारी क्षेत्रों में वह पुनः समादृत होगी, ऐसा मेरा विश्वास है। डा० माहेश्वरी ने अपने शोध ग्रन्थ को दो भागों में प्रकाशित कराया है जिसकी पृष्ठ संख्या १२०० है और उसका मूल्य १०० रु० है। इसमें ११५ चित्र हैं। ●

अनेकान्त के ग्राहक बनें

‘अनेकान्त’ पुराना ख्यातिप्राप्त शोध-पत्र है। अनेक विद्वानों और समाज के प्रतिष्ठित व्यक्तियों का अभिमत है कि यह निरन्तर प्रकाशित होता रहे। ऐसा तभी हो सकता है जब उसमें छाटा न हो और इस लिए ग्राहक संख्या का बढ़ाना अनिवार्य है। हम विद्वानों, प्रोफेसरों, विद्यार्थियों, सेठियों, शिक्षा-संस्थाओं, संस्कृत विद्यालयों कालेजों, विश्वविद्यालयों और जैन भूत की प्रभावना में अट्टा रखने वालों से निवेदन करते हैं कि वे ‘अनेकान्त’ के ग्राहक स्वयं बनें और दूसरों को बनावें। और इस तरह जैन संस्कृति के प्रचार एवं प्रसार में सहयोग प्रदान करें।

व्यवस्थापक ‘अनेकान्त’

चतुर्मास मध्य विहार : आचार्य श्री तुलसी की पृष्ठभूमि

मोहनलाल बाँठिया

अणुव्रत अनुशास्ता आचार्य श्री तुलसी का इस वर्ष का रायपुर चतुर्मास इतिहास में अनेक नये पृष्ठों का निर्माण करने वाला कहा जा सकता है। आचार्य श्री के मानिध्य में प्रायः मध्याह्न और रात्रि कालीन कार्यक्रम नियमित चल रहे थे। जनना किमी भेदभाव के लाभ ले रही थी। रायपुर की भावक जनना के अनुरोध पर आचार्य श्री ने रामायण के सन्दर्भ में रविवासरीय प्रवचन आरम्भ किये।

दिनांक १६ अगस्त १९७० को अपने प्रवचन में आप ने सीता के परित्याग की चर्चा की। यह चर्चा "अग्नि परीक्षा" के माध्यम से की गई। "अग्नि परीक्षा" आचार्य श्री का एक 'गीत काव्य' है। रामायण के उत्तरवर्ती कथा प्रसंग का उभयमें विशद विवेचन है। "अग्नि परीक्षा" की सृजना जैन रामायणों के आधार पर की गई है। आचार्य श्री ने सीता परित्याग की चर्चा में अयोध्यावासियों में फैले हुए जनापवाद का चित्रण किया। कुछ असामाजिक एवं अराजक तत्वों ने इस पहलू को अपना शस्त्र और बनाया और जनता में यह भ्रान्ति प्रसारित की कि आचार्य श्री तुलसी ने सीता के चरित्र पर आरोप और असम्मानजनक शब्दों का प्रयोग किया है। यद्यपि आचार्य श्री ने इसका स्पष्टीकरण भी दिया कि वे भगवान राम और महासती सीता को परम वदनीय मानते हैं, किन्तु इससे विरोध शान्ति नहीं हुआ। विरोधी पक्ष ने जनता में साम्प्रदायिक भावना उभारने का तीव्र प्रयत्न किया। स्थान-स्थान पर जन सभाएं आयोजित की गईं। भद्दे और अपशब्दों का खुल कर प्रयोग व प्रदर्शन हुआ। साम्प्रदायिक तनाव की स्थिति क्रमशः यहाँ तक बढ़ी कि स्थिति किस समय हिंसात्मक उपद्रव का रूप ले ले। इसके लिए कुछ भी नहीं कहा जा सकता था। प्रशासनाधिकारियों, जन नेताओं एवं शहर के वरिष्ठ नागरिकों

ने शहर की शान्ति कायम रखने के लिए प्रयत्न किए; इसके लिए वे सफल नहीं हो सके। सबने मिलकर एक मसविदा तैयार किया इसके आधार साम्प्रदायिक तनाव एवं हिंसात्मक उपद्रव रोकने की बात थी। ऐसा ज्ञात हुआ कि प्रतिपक्ष ने वह स्वीकार कर लिया था। वह मसविदा यद्यपि आचार्य श्री के लिए पूरी तौर से अनुकूल नहीं था फिर भी शान्ति स्थापना में यदि सफलता मिलती है तो आपने उसके लिए भी अपनी स्वीकृति दे दी, किन्तु प्रतिपक्ष ने बाद में उसे भी अस्वीकार कर दिया।

अन्तिम विकल्प के रूप में एक अन्य मसविदा पुनः तैयार किया गया। आचार्य श्री के समक्ष जब प्रस्तुत किया गया तो लगा कि यह सैद्धांतिक दृष्टि से भी प्रतिकूल है। आचार्य श्री ने कहा— "सैद्धांतिक दृष्टि से प्रतिकूल होने के कारण मैं इसे कैसे स्वीकार कर सकता हूँ? मैं नहीं समझ सकता कि जब पहला मसविदा मैंने स्वीकार कर लिया था तब दूसरे मसविदे की क्यों आवश्यकता हुई? नित नये मसविदों का क्या अर्थ होता है? मैं अहिंसा, समन्वय और शान्ति में विश्वास रखता हूँ। वैसे स्थिति में मेरे साथ यह मसविदों की राजनीति क्यों खेली जाती है? मेरी आत्मा साक्षी नहीं देती कि मैंने जान-बूझकर कोई भूल की है। वैसे स्थिति में मुझे बाध्य क्यों किया जाता है?"

इस प्रकरण के साथ मसविदे के प्रयत्नों का अध्याय पूरा हो गया। शहर की स्थिति खतरनाक मोड़ ले रही थी। कुछ नहीं कहा जा सकता था कि किस समय और कहाँ पर हिंसा भड़क उठे।

दिनांक २७ सितम्बर को प्रतिपक्ष की ओर से एक जुलूस का आयोजन किया गया था। यद्यपि जिलाधीश के समक्ष प्रतिपक्ष ने यह स्वीकार कर लिया था कि वे जुलूस नहीं निकालेंगे किन्तु कुछ अराजक तत्व शहर की

शान्ति में विघ्न डालने का प्रयत्न कर रहे थे। उन्होंने जुलूस निकालने का निर्णय कायम रखा। जुलूस प्रारम्भ हुआ। आयोजकों ने अधिकारियों के पूछने पर यह भी नहीं बतलाया कि वह किस मार्ग से जायेगा। अतः शहर की शान्ति को खतरा उत्पन्न होते देखकर जिलाधीश ने धारा १४४ की घोषणा कर दी। लोगो ने उसका उल्लंघन करने का प्रयत्न किया। इसके फलस्वरूप ८८ व्यक्ति गिरफ्तार हुए।

रात्रि में शहर के सभ्रात नागरिकों का एक शिष्ट-मण्डल आचार्य श्री के सान्ध्य में उपस्थित हुआ। उन्होंने कहा—आचार्य श्री। शहर में हिंसा भड़क उठी है। चिनगारी दावानल का रूप ले रही है। अब इसके शमन का उपाय न हमारे हाथ में है और न प्रशासन के हाथ में ही। अतः आप ही इसके समाधान का कोई मार्ग प्रस्तुत करें।

आचार्य श्री ने इस अवसर पर कहा—मैं आपकी सद्भावना से प्रसन्न हूँ। मेरे लिए प्रतिष्ठा और अतिष्ठा का प्रश्न मुख्य नहीं है। यदि शान्ति-स्थापना के लिए मेरा शरीर भी चला जाए तो मैं उस ज्यादा नहीं मानता। मुझे निमित्त बनाकर हिंसा का वातावरण उभर रहा है, इसका मुझे दुःख है। मेरे रहने से यदि रायपुर का वातावरण अशान्त होता है तो मैं यहाँ से विदा हो जाना चाहता हूँ। यह निर्णय मे किसी आवश्यक, दबाव, भय या आग्रह के कारण नहीं कर रहा हूँ। किन्तु शहर की शान्ति के लिए कर रहा हूँ। यद्यपि हमारी विधि है कि हम चतुर्मास में विहार नहीं करते किन्तु विग्रह और अतिशय की विशेष परिस्थिति में वैसा किया भी जा सकता है। मैं यहाँ से विदा हूँगा। हमारे धर्म शासन में शताब्दी में यह पहली घटना होगी। मैं जानता हूँ कि श्रद्धालुओं के लिए यह जीवन-मरण का प्रश्न हो सकता है किन्तु शहर की शान्ति के लिए अत्यन्त प्रसन्न मन से मैंने यहाँ से विदा होने का निर्णय लिया है।

शहर के बढ़ते हुए हिंसात्मक वातावरण को शान्त करने के लिए अहिंसा के अतिरिक्त कोई साधन नहीं था। आचार्य श्री की घोषणा ने सचमुच अहिंसा की शक्ति का साम्प्रदायिक परिचय दिया। उपस्थित सभी व्यक्तियों ने

कहा—अब हमारे लिए कहने की कोई बात ही नहीं रही। इससे अधिक और आप क्या कर सकते हैं ?

आचार्य श्री की घोषणा की सर्वत्र गहरी प्रतिक्रिया हुई। केवल रायपुर में ही नहीं अपितु सारे देश में इसका असर हुआ। रायपुर की भावुक जनता की आँखों से अतिरल आँसुओं की धारा बह चली। कई तो अपना खान-पान और होश-हवास तक भूल बैठे। बुद्धिजीवी वर्ग को भी इस निर्णय ने झकझोर दिया। शहर के वरिष्ठ नागरिकों के समूह प्रतिदिन आचार्य श्री के पास आकर निवेदन करने लगे कि आप चले जाएँगे तो रायपुर के ही नहीं अपितु सारे मध्यप्रदेश के मुँह पर कलंक लग जाएगा। सिंधी, गुजराती, पंजाबी, सतनामी, आदि विभिन्न वर्गों के लोग बड़ी संख्या में आते। उनका द्रवित हृदय देखकर दूसरे भी द्रवित हो जाते। सबकी एक ही आवाज थी कि आप रायपुर से प्रस्थान करने की घोषणा को वापस ले लें। जन समाज के लोग भी अनेक बार आए। उन्होंने श्री सघ की ओर से कहा कि सघ का निर्णय तो आपको मानना ही होगा। इस सारे प्रकरणों में आचार्य श्री का एक ही उत्तर होता कि मुझे अपने निर्णय की अब भी वैसी ही उपयोगिता महसूस होती है। जितनी की पहले थी। जब मैं अपने निर्णय की उपयोगिता महसूस करता हूँ तब उसमें परिवर्तन के लिए कैसे सोच सकता हूँ।

देश के वरिष्ठ व्यक्तियों ने भी आग्रह पूर्वक अनुरोध किया कि आप अपना चतुर्मास रायपुर में ही सम्पन्न करें। उनका आशय था कि इस प्रकार चले जाने से साम्प्रदायिक और अराजक तत्वों को खुल कर खेलने का प्रोत्साहन मिलेगा। अतः यही रह कर उनके शमन का उपाय किया जाए। अनुरोध करने वालों में गुजरात के राज्यपाल श्री श्रीमन्नारायण, राजस्थान के मुख्यमंत्री श्री मोहनलाल जी सुखाडिया, मध्यप्रदेश के मुख्यमंत्री श्री इयामाचरण शुक्ल प्रमुख थे। भारत की प्रधान मंत्री श्रीमती इंदिरा गाँधी को दिल्ली में जब मुनि श्री नगराज जी और मुनि श्री सुशील कुमार जी से सारी स्थिति की जानकारी प्राप्त हुई तो उन्होंने इसमें हस्तक्षेप किया और आचार्य श्री से रायपुर में ही चतुर्मास बिताने का निर्णय लेने को कहा। प्रधान मंत्री ने रायपुर के जिलाधीश को भी इस सम्बन्ध

में आवश्यक निर्देश देने की बात कही। पुरी के शकराचार्य और स्वामी करपात्री जी ने भी रायपुर में ही रहने का अनुरोध किया। आचार्य श्री की घोषणा से वातावरण शान्त होने लगा। स्थिति बदलने लगी। और चार दिनों में उसने अप्रत्याशित मोड़ लिया। जन नायकों ने पुनः निवेदन किया कि स्थितियाँ अनुकूल है। अतः हमारा अनुरोध स्वीकार करना ही चाहिए। जनमानस की भावना, श्रद्धा और अनुरोध का देखते हुए १ अक्टूबर को आचार्य श्री ने एक महती जन सभा में कहा, मैं सोचता

हूँ कि स्थिति में बहुत परिवर्तन आ गया है। लोगों की भावना से मैं गदगद हूँ। मुझे उसका आदर करना चाहिए। इसी आधार पर मैं अपने निर्णय को स्थगित करता हूँ। मुझे आशा है कि शहर के सभी नागरिक मिलजुल कर शान्ति एवं सद्भावना का वातावरण तैयार करेंगे।

जनता ने तुमुल हर्षध्वनि से आचार्य श्री की घोषणा का स्वागत किया। ●

वीर-सेवा-मन्दिर और "अनेकान्त" के सहायक

- १०००) श्री मिश्रीलाल जी धर्मचन्द जी जैन, कलकत्ता
- १०००) श्री देवेन्द्रकुमार जैन, ट्रस्ट
श्री साहू शीतलप्रसाद जी, कलकत्ता
- ५००) श्री रामजीवन सरावगी एण्ड संस, कलकत्ता
- ५००) श्री गजराज जी सरावगी, कलकत्ता
- ५००) श्री नथमल जी सेठी, कलकत्ता
- ५००) श्री वैजनाथ जी धर्मचन्द जी, कलकत्ता
- २५१) श्री शिखरचन्द जी भांभरी, कलकत्ता
- २५१) श्री रा० बा० हरखचन्द जी जैन, रांची
- २५१) श्री अमरचन्द जी जैन (पहाड्या), कलकत्ता
- २५१) श्री स० सि० धन्यकुमार जी जैन, कटनी
- २५१) श्री सेठ सोहनलाल जी जैन,
मंसस मुन्नालाल द्वारकादास, कलकत्ता
- २५१) श्री लाला जयप्रकाश जी जैन
स्वास्तिक मेटल वर्क्स, जगाधरी
- २५०) श्री मोतीलाल हीराचन्द गांधी, उस्मानाबाद
- २५०) श्री बन्शीधर जी जुगलकिशोर जी, कलकत्ता
- २५०) श्री जुगमन्दिरदास जी जैन, कलकत्ता
- २५०) श्री सिधई कुन्दनलाल जी, कटनी
- २५०) श्री महावीरप्रसाद जी अग्रवाल, कलकत्ता
- २५०) श्री बी० आर० सी० जैन, कलकत्ता
- २५०) श्री रामस्वरूप जी नेमिचन्द्र जी, कलकत्ता
- १५०) श्री वजरंगलाल जी चन्द्रकुमार जी, कलकत्ता

- १५०) श्री चम्पालाल जी सरावगी, कलकत्ता
- १५०) श्री जगमोहन जी सरावगी, कलकत्ता
- १५०) ,, कस्तूरचन्द जी आनन्दीलाल जी कलकत्ता
- १५०) ,, कन्हैयालाल जी सीताराम, कलकत्ता
- १५०) ,, पं० बाबूलाल जी जैन, कलकत्ता
- १५०) ,, मालीराम जी सरावगी, कलकत्ता
- १५०) ,, प्रतापमल जी मदनलाल पांड्या, कलकत्ता
- १५०) ,, भागचन्द जी पाटनी, कलकत्ता
- १५०) ,, शिखरचन्द जी सरावगी, कलकत्ता
- १५०) ,, सुरेन्द्रनाथ जी नरेन्द्रनाथ जी कलकत्ता
- १०१) ,, मारवाड़ी दि० जैन समाज, व्यावर
- १०१) ,, दिगम्बर जैन समाज, केकड़ी
- १०१) ,, सेठ चन्दूलाल कस्तूरचन्दजी, बम्बई नं० २
- १०१) ,, लाला शान्तिलाल कागजी, दरियागंज दिल्ली
- १०१) ,, सेठ भंवरीलाल जी बाकलीवाल, इम्फाल
- १०१) ,, शान्तिप्रसाद जी जैन, जैन बुक एजेंसी,
नई दिल्ली
- १०१) ,, सेठ जगन्नाथजी पाण्ड्या भूमरीतलैया
- १०१) ,, सेठ भगवानदास शोभाराम जी सागर
- १०१) ,, बाबू नृपेन्द्रकुमार जी जैन, कलकत्ता
- १०१) ,, सेठ दानमल हीरालाल जी, निवाई (राज०)
- १००) ,, बद्रीप्रसाद जी आत्माराम जी, पटना
- १००) ,, रूपचन्दजी जैन, कलकत्ता
- १००) ,, जैन रत्न सेठ गुलाबचन्द जी टोंग्या इन्दौर

पर्यषण पर्व के उपलक्ष में पीने मूल्य में

- (१) पुरातन-जैनवाक्य-सूची—प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादिग्रन्थों में उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। संपादक मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेपणापूर्ण महत्व की ७० पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए. डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये एम. ए. डी. लिट् की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोज के विद्वानों के लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, मजिन्द १५-००
- (२) आप्त परीक्षा—श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति, आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर, विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य पं. दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिन्द ८-००
- (३) स्वयम्भूस्तोत्र—समन्तभद्रभारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद, तथा महत्त्व की गवेपणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित। ... २-००
- (४) स्तुतिविद्या—स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापों के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगल किशोर मुख्तार की महत्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत सुन्दर जिल्द-सहित। १-५०
- (५) अध्यात्मकमलमार्तण्ड—पचाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिकरचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित १-५०
- (६) युक्त्यनुशासन—तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिन्द। ... १-२५
- (७) श्रीपुग्पाश्वन्नाथस्तोत्र—आचार्य विद्यानन्द रचित, महत्त्व की स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित। ७५
- (८) शासनचतुस्त्रिशिका—(तीर्थपरिचय) मुनि मदनकीर्ति की १३वीं शताब्दी की रचना, हिन्दी-अनुवाद सहित ७५
- (९) समीचीन धर्मशास्त्र—स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेपणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिन्द। ... ३-००
- (१०) जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० १ संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह. उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिन्द। ... ४-००
- (११) समाधितन्त्र और इष्टोपदेश—अध्यात्मकृति परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ४-००
- (१२) अनित्यभावना—आ० पद्मनन्दीकी महत्त्वकी रचना, मुख्तार श्री के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित २५
- (१३) तत्त्वार्थसूत्र—(प्रभाचन्द्राय)—मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या से युक्त। ... २५
- (१४) श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैनतीर्थ। १-२५
- (१५) महावीर का सर्वोदय तीर्थ १६ पैसे, १६ समन्तभद्र विचार-दीपिका १६ पैसे, (१७) महावीर पूजा १६
- (१८) अध्यात्म रहस्य—पं० आशाधर की सुन्दर कृति मुख्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित। १-००
- (१९) जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० २ अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रन्थ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं० परमानन्द शास्त्री। मजिन्द १२-००
- (२०) न्याय-दीपिका—आ. अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा सं० अनु० ७-००
- (२१) जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पृष्ठ संख्या ७४० सजिन्द (वीर-शासन-संघ प्रकाशन ५-००
- (२२) कसायपाहुड सुत्त—मूलग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं० हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पृष्ठ कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। ... २०-००
- (२३) Reality भा० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद बड़े आकार के ३०० पृ. पक्की जिल्द ६-००

प्रकाशक—प्रेमचन्द जैन, वीरसेवा मन्दिर के लिए, रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, दरियागज, दिल्ली से मुद्रित।

४ सर्गसक

अक्टूबर, १९७०

अनेकान्त

समन्तभद्राश्रम (वीर-सेवा-मन्दिर) का मुख पत्र

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
१. आदिजिन-स्तवनम् :	... १४४
२. खंभात के श्वे० भण्डार में प्राप्त तीन दि० ताडपत्रीय प्रतिमा : श्री अग्रचन्द नाहटा	... १४६
३. हिन्दी की अज्ञात जैन रचनाएँ : डा० गंगाराम गर्ग	... १४८
४. जैन कीर्तिस्तम्भ का निर्माता शाह जीजा : श्री रामवल्लभ सोमानी	... १५१
५. विलासवईकहा, एक परिचयात्मक अध्ययन : डा० ए. एन. उपाध्ये	... १५३
६. जयपुर के प्रमुख दि० जैन मन्दिर : डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल	... १६६
७. मृण्मूर्ति कला में नैगमेय : डा० सकटाप्रसाद शुक्ल	... १७२
८. नलपुर का जैन शिलालेख : श्री रतनलाल कटारिया	... १७४
९. षड्दर्शन समुच्चय का नया संस्करण : प० दल मुख मानवणिया	... १८२



सम्पादक-मण्डल

डा० आ० ने० उपाध्ये

डा० प्रेमसागर जैन

श्री यशपाल जैन

परमानन्द शास्त्री



स्वास्थ्य-कामना

अनेकान्त के सम्पादक पं० परमानन्दजी शास्त्री पिछले लगभग तीन माह से लगातार अस्वस्थ चल रहे हैं। बीर सेवा मन्दिर तथा अनेकान्त के लिए उनकी सेवाएँ सर्वविदित हैं। बीर सेवा मन्दिर तथा अनेकान्त परिवार की ओर से हमारी हार्दिक शुभकामनाएँ हैं कि पंडित जी शीघ्र स्वास्थ्य लाभ प्राप्त करें और पुनः अपना दायित्व संभालें।

बीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज
दिल्ली।

अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपया
एक किरण का मूल्य १ रुपया २५ पैसे

अनेकान्त में प्रकाशित विचारों के लिए सम्पादक
मण्डल उत्तरदायी नहीं हैं। —व्यवस्थापक अनेकान्त

प्रोम् प्रहंस

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।

सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष २३
किरण ४

}

बीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६
बीर निर्वाण मवत् २४६७, वि० सं० २०२७

{

अक्टूबर
१९७०

आदिजिन-स्तवनम्

समन्तभद्राचार्यं

विश्वमेको रजःमाऽऽको व्यापो येनार्य्य ! वर्तते ।

शश्वल्लोकोऽपि चाऽलोको द्वीपो ज्ञानार्णवस्य ते ॥८॥

अर्थ—हे आर्य्य ! यह समस्त लोक और अलोक आपके केवलज्ञान का ही ज्ञेय है—आपका केवल ज्ञान लोकवर्ति समस्त पदार्थों और अलोकाकाश को जानता है—अतः वह आपके ज्ञानरूप समुद्र का एक द्वीप है ।

भावार्थ—जिस प्रकार विस्तृत समुद्र के भीतर द्वीप होता है उसी प्रकार आपके ज्ञान के भीतर लोक-आलोक है । द्वीप की अपेक्षा समुद्र का विस्तार जंसे बहुत बड़ा होता है वैसे ही लोक-अलोक की अपेक्षा आपके ज्ञान का विस्तार बहुत अधिक है । पदार्थ अनन्त अवश्य है; परन्तु वे आपके अनन्त-ज्ञान की अपेक्षा अल्प हैं अनन्त के भी अनन्त भेद होते हैं ।

श्रितः श्रेयोऽप्युदासीनो यत्त्वप्येवाऽऽनुते परः ।

क्षतं भूयो महाहःने तत्त्वमेवाचितेश्वरः ॥९॥

अर्थ—हे प्रभो ! यद्यपि आप उदासीन हैं—राग द्वेष से रहित हैं—तथापि आपकी सेवा करने वाले—विशुद्ध चित्तसे आपका ध्यान करने वाले—पुरुष कल्याण को ही प्राप्त होते हैं और अहंकार से पूर्ण अथवा रागद्वेष से पूर्ण अन्य कुदेवादिक की सेवा करने वाले पुरुष अकल्याण को प्राप्त होते हैं । अतः आप ही पूज्य ईश्वर हैं ।

भावार्थ—जो निर्मल भावों से आपकी स्तुति करता है उसे शुभ कर्मों का आश्रय होने के कारण अनेक मंगल प्राप्त होते हैं और जो कलुषित भावों से आपकी निन्दा कर अन्य देव या राजा-महाराजा की सेवा करता है उसे अशुभाश्रय होने के कारण अनेक अमंगल प्राप्त होते हैं । जब कि आप स्तुति और निन्दा करने वाले दोनों पर ही एक समान दृष्टि रखते हैं ।

खंभात के श्वे० भण्डार में प्राप्त तीन दि० अप्राप्त ताडपत्रीय प्रतियाँ

श्री अगरचन्द नाहटा

जैन ज्ञानभण्डार अपनी बहुमूल्य और महत्त्वपूर्ण सामग्री के लिए विश्वविख्यात है। जैसलमेर, पाटण, खंभात और बडोदा के श्वेताम्बर ज्ञान भण्डार में ताडपत्रीय प्रतियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह है। दक्षिण भारत में मूडबद्री, श्रवण बेलगोला आदि अनेक दिगम्बर ताडपत्रीय भण्डार हैं। जब भारत में कागज का विशेष प्रचार नहीं था, तब ताडपत्रों पर ही ग्रन्थ लिखे जाते थे।

जैसलमेर के विख्यात जिनभद्र सूरि भण्डार में विशेषा-वश्यक भाष्य की तडपत्रीय प्रति दशवीं शताब्दी की है। इसके बाद बारहवीं शताब्दी से पन्द्रहवीं शताब्दी तक की एक हजार से अधिक ताडपत्रीय प्रतियाँ उपरोक्त चार स्थानों में हैं। कागज की भी तेरहवीं शताब्दी से प्रतियाँ मिलने लगती हैं। जैसलमेर के भण्डार में तेरहवीं की कागज की कई प्रतियाँ हैं। अन्यत्र चौदहवीं से मिलने लगती हैं।

जैन ज्ञान भण्डारों में केवल जैन ग्रंथ ही नहीं हैं, बौद्धों और वैदिक सम्प्रदायों के तथा सर्वजनोपयोगी विषयों के सैकड़ों जैनतर ग्रंथ प्राप्त हैं। उनमें कई तो ऐसे भी हैं जो अन्यत्र कहीं नहीं मिलते और कईयों की प्राचीनतम और शुद्ध प्रतियाँ जैन भण्डारों में ही मिलती हैं।

दिग० भण्डारों में श्वेताम्बर ग्रंथ और श्वेताम्बर भण्डारों में दिगम्बर ग्रंथ भी अच्छे परिमाण में प्राप्त हैं। दिगम्बर भण्डारों में कई ऐसे श्वेताम्बर ग्रन्थ हैं जो श्वेताम्बर भण्डारों में भी नहीं मिलते। इसी तरह श्वेताम्बर भण्डारों में भी कई ऐसे दिग० ग्रन्थ हैं जो दिग० भण्डारों में कहीं भी नहीं मिलते और कई दिग० ग्रन्थों की प्राचीनतम प्रतियाँ श्वे० भण्डारों में ही सुरक्षित हैं। उनकी जानकारी दिग० विद्वानों को नहीं है। इसलिए प्रस्तुत लेख में तीन ऐसी अज्ञात दिग० रचनाओं का विवरण प्रकाशित

किया जा रहा है, जिनकी पांडुपत्रीय प्राचीन प्रतियाँ खंभात के श्वे० शान्तिनाथ भंडार में सुरक्षित हैं।

आगम प्रभाकर मुनि श्री पुण्यविजय जी सम्पादित 'खंभात शान्तिनाथ भंडार की ताडपत्रीय प्रतियों की विवरणात्मक सूची' दो भागों में ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट बडोदा से सन १९६५-६६ में प्रकाशित हुआ है। उनमें से दूसरे भाग में चार दिगम्बर ग्रंथों की ताडपत्रीय प्रतियों का विवरण छपा है। जिसमें प्रति नम्बर २६५ में समय-सार आत्मख्याति व्याख्या सहित तेरहवीं शताब्दी की लिखी हुई १८९ पत्रों की प्रति है। यद्यपि समयसार और उसकी यह टीका बहुत ही प्रसिद्ध है। पर मेरे ख्याल से दिग० भण्डारों में भी इस ग्रंथ और टीका की तेरहवीं शताब्दी की लिखी हुई प्रति प्राप्त नहीं है। अतः समयसार और आत्मख्याति टीका के नये संस्करण सम्पादन में इस प्रति का उपयोग किया जाना अवाञ्छनीय है।

खंभात भंडार की अन्य तीन दिग० रचनाओं की ताडपत्रीय प्रतियाँ तो इसलिए विशेष उल्लेखनीय हैं कि ये रचनाएँ अभी तक अज्ञात-सी हैं। इनमें से एक रचना तो छोटी-सी है।

प्रति नम्बर १३४ में अन्य रचनाओं के साथ इन्द्र नन्दी रचित 'पाश्वर्नाथ स्तव' नव श्लोकों का है। इन्द्र नन्दी नाम के (९) कई विद्वानों का विवरण स्वर्गीय जुगलकिशोर जी मुख्तार ने दिया है। उनमें से ज्वाला-मासिनी कल्प के रचयिता इन्द्रनन्दी ही इस 'पाश्वर्नाथ स्तव' के कर्ता मालूम होते हैं।

दूसरा भाग बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। जो प्रति नम्बर १३९ में तेरहवीं शताब्दी का लिखा हुआ है इस ग्रन्थ का नाम 'पंचसग्रह दीपक' है इसके रचयिता (इन्द्र) वामदेव हैं। पुनः दश के श्री नेमिदेव के लिए यह ग्रंथ रचा गया

है। अन्तिम प्रशस्ति के कुछ श्लोक श्रुति रूप में प्राप्त हैं। प्रारम्भिक श्लोकों से यह स्पष्ट है कि नेमिचन्द्र मुनि के पंचसंग्रह का यह श्लोकबद्ध संस्करण है।

तीसरी रचना 'नागकुमार चरित्र' प्रति नम्बर २४६ में चौदहवीं शताब्दी का लिखा हुआ है। पत्र सख्या १४ है। इसमें पंचमी महात्म्य के रूप में नागकुमार की कथा पाँच सर्गों में रत्न योगेन्द्र रचित है। वैसे नागकुमार कथा सम्बन्धी अन्य लेखकों के कई ग्रंथ प्राप्त हैं पर 'रत्न योगेन्द्र' का ग्रंथ शायद अन्यत्र अप्राप्य हो। कम से कम इन रचनाओं की इतनी प्राचीन ताड़पत्रीय प्रतियों का दि० शास्त्र भंडारों में होना ज्ञात नहीं है।

खभात के श्वे० शांतिनाथ जैन भंडार की ताड़पत्रीय प्रतियों में से यहाँ ५ दि० ग्रंथों की प्रतियों का विवरण दिया गया है इसी तरह अन्य दिग० भंडारों में भी अन्य दिग० ग्रंथों की प्रतियाँ प्राचीनतम मिलेंगी तथा उनमें कुछ ग्रंथ ऐसे भी होंगे जिनकी प्रतियाँ दिग० भंडारों में भी नहीं हों, इसलिए दि० एव श्वे० दोनों संप्रदायों के भंडारों का एक दूसरे को ध्यान से अवलोकन करना चाहिए।

२ वर्ष पूर्व अग्रहमदावाद के श्वे० भंडार में यथा स्मरण अमृतचन्द्र सूरि का एक अन्यत्र अप्राप्त एव सर्वथा अज्ञात ग्रंथ मुनि पुण्य विजय जी को मिला था जिसकी सूचना डा० A. N. उपाध्ये के देने पर वे बहुत ही प्रसन्न हुए थे एवं इसकी सूचना दिग० पत्रों में भी प्रकाशित हुई थी।

अब खभात भंडार की दिग० ग्रंथों की ताड़पत्रीय प्रतियों का विवरण दिया जा रहा है।

(१) पंचसंग्रह दीपक श्लोक बंध

No. 139 Panchasangraha Dipaka Sloka-bandha. पंचसंग्रह दीपक श्लोक बंध।

Folios 104 Extent-Granthas 1175

Language-Sanskrit Size- 9.7 X 2.5 Inches.

Author—Bamideva Condition—good

Age M. S.—First paly of 13th exet U.S.

General Remarks—Folios 102-8 Missina.

आदि :—

॥ ॐ नमः सर्वज्ञाय ॥ ६ ॥

सिद्धं शुद्धं जिनाधीशं नेमीशं गुणभूषणम् ।

नत्वा ग्रंथं प्रवक्ष्यामि 'पंचसंग्रहदीपकम्' ॥१॥

'नेमिचन्द्रमुनीन्द्रेण यः कृतः 'पंच संग्रहः ।

स एव श्लोकबंधेन प्रव्यक्तीक्रियते मया ॥२॥

बंधको बध्यमानं च बंधभेदास्तथेसता ।

हेतवश्चेति पंचानां संग्रहोऽत्र प्रकाश्यते ॥३॥

यस्तत्र बंधको जीवः सदसत्कर्मणां स्वयम् ।

तत्स्वरूपप्रकाशाय विशातिः स्युः प्ररूपणा ॥४॥

गुणजीवाश्च पर्याप्तप्राणसंज्ञाश्च मार्गणाः ।

उपयोगसमायुक्ता भवन्त्येता प्ररूपणाः ॥५॥

मागणा-गुणभेदाभ्यां भवतो द्वे प्ररूपणे ।

मार्गणांतर्गताः शेषाः जीवमुख्याः प्ररूपणाः ॥६॥

पत्र ६५—

यद्ग्रपश्चेणि वेणी ललितपदगतिप्रोल्लसद्भूरिभाव-

प्रव्यक्ता पे सार्थं प्रकटितसहजस्फारसार...

तं वंदे योगिवंद्यं जिनपतिवदनाम्भोजनिर्यद्रहस्यं,

सम्यं त्रलोक्य कीर्त्ति पुणमणिकिचय येन विज्ञायि ॥

श्रीमानसौ जगति नंदतु भव्यवधुर्नेमिः कला-

निधिरूपतएधभाणक यत्कीर्त्ति निर्मलाकलाव .

कः साकौ बभूव भुवनेखिति सुप्रसिद्धम् ॥८२५॥छ॥

इति 'श्रीद्रवामि देव' विरचते 'पुरवाट' वंश

विशेषक श्री 'नेमिदेव' स्य यशःप्रकाशके 'पंचसंग्रह-

दीपके' बंधकस्वरूप प्र (रूपणो नाम) प्रथमो

अधिकार ॥छ॥

शुभ भवतु चतुर्विध सघस्य ॥छ॥

पत्र ७७

इत्युक्तं बध्यमानस्य कर्माष्टकस्य लक्षणम्

मूलोत्तरप्रभेदेन यथोक्तं पूर्वसूरिभः ॥१४०॥

यः 'कर्मप्रकृतिस्थितिर्व्यतिकर' व्याख्यान दीक्षा गुरु-

र्यश्चारित्रमाहाणर्णवावधिगतो रत्नत्रयालंकृतः ।

दानं यस्य मनोरथावधि यशो निःशेषलोकावधि

मैत्री सत्त्वकथावधि परिणतिस्तत्त्वावबोधावधिः ॥

भक्तिः श्रीगुरुपादपकजनिजाहंकारसारावधिः ।

नेमि जोमणनंदनो विजयतामाकल्पकल्पावधिः ॥

इति 'श्रीद्रवामि देव' विरचिते पुरवाट वंश विशेष-

षक 'श्री नेमिदेवस्य यशः प्रकाशके पंचसंग्रह

दीपके ।

पत्र १०४

तस्मादजायत जिनेन्द्र पदाब्जभृङ्गः 'श्री जोमण-
स्तदनुजाभुवि लाहिदेवः ।

.....कलाविलासै राज्ञां मनांसि महतामपि
रंजितानि ॥छः ॥२२०॥

तत्र श्री... 'जोमणस्य' दुहिता जाता गुणाग्रेसरा
धर्मारामतरोः प्रवर्द्धनसुधाकु(क?)ल्पैक पुण्योहका ।
श्री सर्वज्ञपदारविदनिरता सदानचितामणि,

श्चारित्र व्रतदेवतासुविदिता श्री वाइदे...॥२२१॥
ताभ्यामिदुमुखो विचारवसतिः सौजन्य पुण्याहलि,
नानाशास्त्र विनोदमेदुरमना.....।

.....कर्णरसायनैर्गुणगुणौविस्मापितक्षमातलः,
क्षोणी पीठ सुरद्रुमः स्थिरयशाः श्रानेसि (देवा
सुधीः).....॥२२२॥

प्रातः श्री जिन पूजनने विधिना मध्याह्नकालेअप्ययं,
दाननाद्भु कोत्तिनो मुनि जनाशीवदि.....।
.....स्य स्वयं

नित्यं पुण्यदिनः सनंदनु चिरं श्री 'नेमिदेवः'
सुधीः ॥२२३॥छ॥

तेना.....।
.....णैनाहं वशोक्त मनोरथा ॥छ॥२२४॥
ततो व्यावृत्त्य निःशेष व्यापा.....।
.....॥२२५॥

ततस्तस्य प्रसादेन वीतचित्ता भरादहम्
जिनेश्वरपदद्वंद्व स्मरणक्षालिता.....॥२२६॥
.....दरो

नाना शास्त्र विचारकोविदमतिः 'श्री वामदेव'
कृत्ती ।

चक्रे शास्त्रमिदं विनष्ट.....।
.....'द्विदक्षमातलम् ॥२२७॥

यो नित्यं पठित स्वयं गुरुजनाह ज्ञात्वा परान् पाठयेत्
यो.....

(त्रुटिताक्षर)

(२)

No. 236 Nagakumara Charitra—Pancha-
mihatmaya Padaa of Five Sargas.

नागकुमार चरित्र—पंचमी माहात्म्य पद्य पंच-
सर्गात्मक

Folios—14

Extent—Granthas 500

Language—Sanskrit Size—15.7×2.5 inche

Author—Ratnayogindra—Digambara.

Age of MS. c. 14th cent. V. S.

Condition—Fair

आदि :—

॥ ॐ नमः सिद्धेभ्यः ॥

श्रीमान व्यवहितारोऽपि वृत्ति धर्मरथस्य यः ।

चक्र चातेविनाक्रांतस्तं नेमीनं नमाम्यहम् ॥

अथ दिग्वसना भोजमंडनेन मनोमुदम् ।

प्रतन्वता प्रसादेन सहसा लब्धजन्मना ॥

युसद्दुभिनादेन नभस्तलविसर्पिणा ।

दिव्यगंधभरेणेव मंडपस्थाना(न)वायुना ॥

Santinatha Sain Bhondara Cambay

अतः—

ततोऽसौ श्रेणिकः श्रीमान् नत्वा त्रैलोक्यपूजितम् ।

देव श्रीवर्द्धमानाख्यमगमत् स्वास्पदं मुदा ॥

श्री पंचम्युपवासस्य फलोदाहरणात्कम् ।

एवं नागकुमारस्य समाप्ति चरितं ययौ ॥छ॥

इति 'श्री रत्नयोगीन्द्रणोपसंदृत्य कीर्तितम् ।

सहस्रार्द्धमितग्रन्थयेतच्चरितमुच्चकैः ॥

इति नागकुमारचरिते श्रीपंचमीमहोपवासफलो-

दाहरणे पंचमः सर्गः ॥ मंगलं महाश्रीः ॥

(३)

7 Parsvastava (७) पार्श्वस्तव

Folios—174 to 176

Extent—Kavyas 9

Language—Sanskrit

Size—13×8.7 inches

Author—Indranandi

Condition—Fair

Age of MS.—C. First of half of 14th cent.

V. S.

अन्तः—

भंकारं रांतयुक्तं शिबिपवनपुरः स्थापितं नामगर्भं,

पश्यंतं यत्प्रभावाद्विजहति पुरुषं योगिनीमुद्रया द्राक ।

रोहं प्रां हूं फुटग्नाक्षरजपितजवैस्ताडितं शास्वगंधं(?)

हिन्दी की अज्ञात जैन रचनाएं

डा० गंगाराम गर्ग

संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश आदि भाषाओं के अतिरिक्त जैन कवियों ने हिन्दी में भी अनेक रचनाएँ लिखी हैं। पिछले दस वर्षों में हिन्दी के जैन काव्य के अनुसन्धान के काफी प्रयत्न विद्वानों द्वारा हुए हैं, फिर भी बहुत सा अविदित साहित्य अनेक जिनालयों में छिपा है। प्रस्तुत निबन्ध में ढूँढाड़ प्रदेश के ऐतिहासिक नगर चाकसू और निवाई के जैन मन्दिरों में प्राप्त कुछ अज्ञात साहित्यिक रचनाओं का परिचय दिया जा रहा है।

१. स्नेह पत्रावलि—इस रचना के लेखक डालूराम, माणिकचन्द लुहाड़िया के पुत्र थे। डालूराम नामक एक अन्य कवि सवाई माधोपुर में भी हुए हैं। 'स्नेह पत्रावलि' कवि की सन् १८६० से १८६४ तक के मध्य लिखे गये कवि के विभिन्न पत्रों का संग्रह है। पत्रात्मक शैली की दृष्टि से महत्वपूर्ण रचना 'स्नेह पत्रावलि' सबैया, चौपाई, भुजंग प्रयात दोहा, छप्पय, सुन्दरी, त्रोटक आदि विभिन्न छंदों में लिखी गई है। रचना में कहीं-कहीं संस्कृत के

छंद भी लिखे हैं।

यद्यपि कवि के गाँव राहोली और उसके मित्र भवानीचंद के गाँव गुनसी में अधिक दूरी नहीं है किन्तु यातायात की सुविधा के अभाव में मिलना नहीं हो पाता, अतः कवि को मित्र के मिलन अथवा पत्र पाने की तीव्र उत्कण्ठा बनी रहती है—

तुम अंकन को वाट मन, जोवत आठू जांम ।
जब तुम कर दल जोयहै, तब पहुँ विश्राम ॥८,९॥
ज्यौ घन चातक मोर मन, जल विछुर्यौ ज्यौ मीन ।
त्यौ मो मन तब मिलन, लागी लगनि नवीन ॥८,१०॥

मित्र की पत्रिका पाने पर कवि के 'हर्ष' की कल्पना ही नहीं की जा सकती—

सो सुख कह्यो न जाय, नहीं उर आनन्द भावै ।
ज्यौ जल विछुर्यौ मीन, फेरि गगा जल पावै ।

कवि ने मित्र-धर्म के नाते अपने मित्र को कुछ लोक-व्यवहार के सदेश भी भेजे हैं—

विन उदिम मन रहे न थिर,
कोटि जतन कोउ करो ।
तातै विधि लषि धीर धरि,
उदिम को उदिम करो । ६:९ ।

निश्चै कीज्यौ रातिदिन जतन मान के आत ।
तोरथ जग मै जानिए गुरु बधू पित मात । ६:६ ।

शाकिन्यः श्रीन्द्रनन्दिः प्रथितगतिरसौ पातु मां
पार्श्वनाथः ॥ छ ॥

पार्श्वनाथस्तवः समाप्तः ॥ छ ॥

“पुगतन जैन वाक्य सूची की प्रस्तावना पृ० १०६-७ में इन्द्रनन्दी नामक ६ दि० ग्रन्थकारों का विवरण दिया है इनमें से 'ज्वाला मालिनी कल्प' के कर्ता इन्द्रनन्दी प्रस्तुत पार्श्वनाथ स्तोत्र के रचयिता होना संभव है। क्योंकि प्रस्तुत स्तोत्र में भी मन्नाक्षरों का समावेश है। मुख्तार सा० ने इनका समय वि० स० १९६६ बतलाया है।

चौथी प्रति समयसार की आत्मख्याति टीका की है। इसमें १८९ पत्र हैं प्र० ख० १४७७ × २ इंच के हैं। प्रति अच्छी स्थिति में है। इसे वि० १३वीं के उत्तरार्द्ध की बतलाई गई है। ग्रन्थ प्रसिद्ध होने से आदि अन्त के उद्धरण यहाँ नहीं दिये जा रहे हैं।

२. नव मंगल—प्रस्तुत रचना प्रसिद्ध कवि विनोदी लाल की है। डॉ० प्रेमसागर जैन ने विनोदीलाल का जीवन-परिचय लिखते हुए उनके 'नेमि-राजुलबारहमासा' 'नेमि व्याह' राजुल पञ्चोत्ती रेखता आदि कई रचनाओं का परिचय दिया है। 'नव मंगल' की दो प्रतियाँ हमें अभी कोट मन्दिर चाकसू में उपलब्ध हुई हैं। विनोदीलाल का प्रिय छंद सबैया उनकी अधिकांश रचनाओं में प्रयुक्त हुआ है। 'नव मंगल' एक प्रबन्ध गीत है। इसकी रचना

श्रावण सुदि ६ संवत् १७४२ को सहजराय पुर में हुई ।

प्रथम व द्वितीय मंगल में नेमिनाथ को विवाह के लिए राजी करने के लिए कृष्णा का प्रयत्न, द्वितीय मंगल उग्रसेन का विवाह-प्रस्ताव मुन कर समुद्रविजय का हर्षित होना, चौथे व पांचवें मंगल में समुद्रविजय के घर पर विवाह की तैयारी व उत्सव वर्णित है । 'नव मंगल' के छठवें मंगल में नेमिनाथ की बारात मथुरा आ जाती है । सातवें मंगल में नेमिनाथ पशुओं की करुण ध्वनि सुनते हुए उन्हें छोड़वा देते हैं । आठवें मंगल में वह दीक्षा धारण करते हुए तप करते हैं । नवें मंगल में मात्र कवि परिचय है ।

विनोदीलाल की अन्य रचनाओं की तरह 'नव मंगल' भी सरस और भावपूर्ण है । नेमिनाथ का दुलह-वेष कितना मनमोहक है—

अरे जादौपति का नवन करावै रे हां ।

अरे किस कंकन हाथ बंधावै रे हां ।

अरे बाजूबंद ऊपर छाजै रे हा ।

अरे पहुंचो कर सरस विराजै रे हा ।

पहुंचो विराजै पास कंकन मुदरो मजुरो बनी ।
सोस गुथा जराउ चोटी, घुघराणा कटना कनी ।
साकरी ते हार धुकधुकी, दस कीरत तम हरो ।
रतन कुंडल कण सोहै, गैर सोहै पचलरो । २४

विवाह के अवसर पर होने वाले लोकाचार में भी कवि ने बड़ी रुचि ली है—

चित्र विचित्र संवारि मंडप, गीत मंगल गावहीं ।
प्राणवार वदन छवि पर, हरद तेल चढ़ावहीं ।
अरगजा फुलेल मिलाय उपट गौ, नेमि अगलगावहीं ।
सतभामा रुक्मणि जामबन्ती, नेम कवर ननहावहीं ।

३. बत्तीस ढाला—यह रचना तेरहपथी मन्दिर चाकसू के एक गुट में उपलब्ध है । ६३ छंद की इस रचना के लेखक टेकचन्द हैं जो विभिन्न पूजाओं के लेखक टेकचंद से भिन्न प्रतीत होते हैं । बत्तीस ढाला में प्रयुक्त छप्पय, सोरठा, चोपई, वेशरी, अडिल्ल, पढ़ड़ी, चाल, गीता, भुजंगी, गाथा सबैया, कुण्डलियां आदि विविध छंद कवि की काव्य-प्रतिभा के सूचक हैं । रचना में व्यवहारिक बातों का उल्लेख है । इसकी शैली उपदेश प्रधान है ।

बत्तीस ढाला में कवि ने अपनी भक्ति-भावना भी प्रकट की है—

जिनवर तुम अधमन कूं तयारो,

मेरो कारज भी जु सुधारो ।

मैं तो नाथ दीन ससारी,

भटकि जगत पायो दुख भारी ।

पान पांन बुधि असै कीज्ये,

विषैस दै अरु बुधि न छोजे ।

राह चलत भछन नहि करनौ,

चौपथ बैठि पान परहरनौ ।

४. चौसठ रिद्धि पूजा—प्रस्तुत रचना तेरहपथी मन्दिर चाकसू में विद्यमान है । इसके रचयिता ५० स्वरूपचंद हैं । 'चौसठ रिद्धिपूजा' संवत् १९१० में लिखी गई । इसमें कवि का भक्तिभाव दृष्टिगोचर होता है । मनुष्य-योनि की तीनों अवस्थाओं के दुखों को प्रस्तुत कर कवि ने जिन आराधना के लिए मुनि बनने की प्रेरणा दी है—

बालकपणां माही जी कछु ज्ञान जु नाही जी,

पाई तरुणाई विषय चिन्ता घणी जी ।

बहु इष्ट वियोगा जी, भए असुभ सयोगा जी,

तातें दुःख भुगत्या खिण समता नहीं जी ।

तीजो पण आयो जो, बहु रोग सतायो जी,

ई विधि दुःख पायो मानुस भव में सही जी ।

सुर पदवी नाही जी, माला मुरझाई जी,

चिन्ता दुःखपाई भोगी मरण की जी ।

ई विघ संसारा जी, ताको नहीं पारा जी,

यह जाणिर त्यागिर रु सारा मुनि भया जी ।

५. चौबीस तीर्थंकरों की पूजा—तेरहपथी मन्दिर चाकसू में प्राप्त यह रचना रामचन्द्र चौधरी की है । डॉ० प्रेमसागर द्वारा 'हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि' में उल्लिखित कवि रामचंद्र खरतरगच्छ के प्रधान जिनसिंह सूरि की शिष्य परम्परा में होने के कारण श्वेताम्बरी है किन्तु रामचन्द्र चौधरी दिगम्बर सम्प्रदाय के हैं । 'राम' अथवा 'रामचन्द्र' के नाम से बड़ीत और जयपुर के जैन मन्दिरों में उपलब्ध पदों के रचयिता रामचन्द्र चौधरी के ही होने की संभावना अधिक है ।

‘चौबीस तीर्थंकरों की पूजा’ अडिल्ल, पडडी, दोहा और घत्ता छंदों में लिखी गई है। पूजा के विधि-विधान के अतिरिक्त कवि ने अपना भक्ति भाव भी प्रकट किया है—

पुष्पदंत आतंक विदार्यो,
शीतल जगत समोधि उधार्यो ।
श्रय श्रेय सिव के दातारं,
वासुपूज्य विद्रुम दुति सारं ।
विमल सकल गुण बान उचारे,
लोक अलोक अनंत निहारे ।
धर्म सुधातम गर्भ बनऱ्यो,
शान्ति जगतहित बांध सुनायो ।

६ सिरवर बिलस—तेरहपथी मन्दिर चाकसू में प्राप्त यह रचना मनमुखसागर की है। प्रस्तुत रचना का आधार लोहाचार्य विर्गचित ‘तीर्थ महात्म्य’ है। इसमें दोहा, चौपई, अडिल्ल, सर्वैया, मोतीदाम, चाल, सोरठा, कुसुमलता चामर, कुण्डलिया आदि विविध छंदों का प्रयोग हुआ है। भरत क्षेत्र में स्थित तीर्थंकरों की मुक्ति के स्थल विभिन्न कूटों को कवि ने सरल और रोचक शैली में समझाया है।

७. मन गुण तीसो—२६ छंद की यह रचना पद्मसूरि के शिष्य गुणसागर ने लिखी। मन की चंचलता की चर्चा करते हुए कवि ने मन को एकाग्र करने पर बल दिया है—
मन संकाची राख्यो आपणो, चक्रवर्ती सत कुमार ।

सहु परिवारे बलि बलि विनठ्यो, नाठ् नेह लगार ।

८. श्री स्तोत्र—चारित्र सागर के शिष्य कल्याण इस रचना के लेखक है—

बहु महीमा श्री पार्श्वनाह शासन सूरि सेवक जन साधारणी ।

बुध चारित्र सागर शिष्य, कल्याण नै जै कारणी ।

ग्रन्थ रचना का प्रारम्भ गणेश वन्दना से हुआ है। कवि ने लक्ष्मी को गौरी, गंगा, गायत्री आदि मानते हुए उसे अपना सर्वस्व कहा है—

विस हर्था मुझ बीनती, मानो मोरी मात ।

तु इष्ट अनोपम, सदा सहोपम, तु ही पिता तु मात ।

९. स्तवन तीर्थमाला—५५ छंदों की इस रचना के लेखक पद्मविजय है। इसमें ग्रन्थ तीर्थों की स्तुति के अपेक्षा कवि ने सुमेरु पर्वत के वर्णन में अधिक रुचि ली है—

गजदंति जिणवर तणां ए, बीस प्रसाद अभंगतो ।

तिहां जिन बिब नमु चौबीस ऐ नमस्यु आणी रंगतो ।

१०. कड़वो—यह छोटी सी रचना किसी मुसलमान कवि महमूद खा की है। इस महत्वपूर्ण रचना में महमूद खा ने तीर्थंकर नेमिनाथ की महिमा का गान करते हुए शरणागति चाही है—

छपन कोडी ज्यादुं श्री मुंगटमणी,

तिहुं काल तेरा करत सेवा ।

पाँन महमूद कर जोड़ि विनति करं,

रापि सीर नाथ देवाधिदेवा ।



जैन कीर्तिस्तम्भ का निर्माता शाह जीजा

श्री रामवल्लभ सोमराणी

चित्तौड़ के दिगम्बर जैन कीर्तिस्तम्भ से सम्बन्धित अप्रकाशित शिलालेख मैंने अनेकान्त के अप्रैल १९६६ में प्रकाशित कराये थे। इन लेखों का टिप्पणी सहित हिन्दी अनुवाद श्री नेमचंद घनूसा जैन ने अनेकान्त के अप्रैल सन् १९७० के अंक में प्रकाशित कराया गया है। विद्वान

लेखक की मान्यता है कि शाह जीजा के पूर्वज चित्तौड़ के निवासी नहीं थे और वे कच्छ देश के किसी भूभाग के रहने वाले थे। मैं समझता हूँ कि लेख के इस अंश का अर्थ वे ठीक नहीं कर पाये हैं। शाह जीजा के पुत्र पुण्य-सिंह के लेख के श्लोक सं० १३ में केवल कच्छ शब्द का

प्रयोग हुआ है वह मन्दिर के साथ है यथा 'विशालकच्छ के तुच्छायाछल ध्वजव्रजैः निज प्रसाद सोधाग्रनृत्य तुग करैरिव' यहा कच्छ शब्द का अर्थ देश के रूप में नहीं होता है । बल्कि कच्छ से अंकित ध्वज स अर्थ लेना चाहिए । इस शिलालेख के प्रारम्भ के २० श्लोक वाले अंश की शिला मिली नहीं है । इसलिए निश्चित रूप से इस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता है । चित्तौड़ से शाह जीजा से सम्बन्धित ३ खडित लेख और १ लेख पुण्यसिंह से सम्बन्धित मिला है । इन लेखों के उपलब्ध अंशों में कहीं भी यह वर्णित नहीं है कि ये चित्तौड़ से बाहर के रहने वाले थे ।

पुण्यसिंह वाले लेख के श्लोक सं० २८ और इसमें चित्तौड़ दुर्ग के अतिरिक्त चित्तौड़ तलहटी, खोहर आदि स्थानों पर मन्दिर बनवाने का उल्लेख है । ये सब स्थान मेवाड़ वा इसके आसपास के थे । चित्तौड़ तलहटी के जैन मन्दिरों का उल्लेख वि० सं० १३२४ के शिलालेख में है यथा—

सवत् १३२४ वर्षे इहश्री चित्रकूट महादुर्गे तलहट्टिकायाँ खोहर सज्जनपुर आदि स्थाना की मडपिकाया स हांने वाली प्राय का अंश वहाँ के जैन मन्दिरों का देने का आदेश भी वि० सं० १३३५ के शिलालेख के एक अंश में है जो इस प्रकार है :—

“अन्यच्चाय दानानि” श्री चित्रकूट मडपिकायाँ च० उ० द्रम्मा २४ तथा उत्तरायने घृत कर्ष ४ तथा तेल कर्ष ६ आधार मडपिकायाँ द्रमा. ३६, खोहर मडपिकाया द्रम्मा ३२ सज्जनपुर मडपिकाया द्र० ३४ अमून्य य दानानि दत्तानि”

इस प्रकार इन स्थानों पर मन्दिरों की विद्यमान्यता सिद्ध होती है । शाह जीजा और उसके पुत्र पुण्यसिंह द्वारा जो निर्माण कार्य करवाया गया है वह चित्तौड़ के आसपास के क्षेत्र में ही अधिक है । कीर्ति स्तम्भ के निर्माण में कई वर्ष लगे होंगे । यह पुण्यसिंह के समय तक भी चलता रहा है । अतएव इस परिवार का चित्तौड़ के आसपास या चित्तौड़ दुर्ग के ही निवासी होना उपयुक्त लगता है । परम्परा से भी यही विश्वास किया जाता रहा है कि जीजा का परिवार अलाउद्दीन खिलजी के

आक्रमण के समय यहाँ से दक्षिणी भारत को चला गया था । स्मरण रहे कि अशाघर भी इसी प्रकार मेवाड़ के माडलगढ़ से मालवा गये थे ।

इसमें सन्देह नहीं है कि चित्तौड़ में कुछ यात्रियों ने भी निर्माण कार्य मंदिर आदि बनवाये हैं किन्तु कीर्ति स्तम्भ जैसी वृत्ति सघ यात्रा करते हुए बनवाना असंगत लगता है । इसके अतिरिक्त चित्तौड़ तलहटी खोहर आदि स्थानों में जैन मन्दिर बनवाये गये हैं । इसलिए इस परिवार का दीर्घकाल तक चित्तौड़ में निवास रहना अधिक युक्ति संगत लगता है । कालान्तर में यह परिवार दक्षिण की ओर चला गया था जहाँ से मूर्ति लेख भी मिला है । उक्त लेख में भी जीजा के निर्माण कार्यों में “कीर्ति-स्तम्भ” ही मुख्य रूप से उल्लेखित है ।

पुण्यसिंह के लेख में नारसिंह और हमीर के उल्लेख विचारणीय है । नारसिंह कहीं का शासक था ? ज्ञात नहीं हो सका है । हमीर नाम के कई शासक हुए हैं । मेवाड़ का राजा हमीर वि० सं० १३६३ में चित्तौड़ का शासक बना था । जो कीर्ति स्तम्भ निर्माण के बहुत बाद की घटना है । अतएव यह कोई अन्य शासक हो सकता है । सम्भवतः यह किसी सुल्तान का प्रतीक हो क्योंकि संस्कृत में “अमीर” शब्द के लिए हमीर प्रयुक्त हुआ है ।

चित्तौड़ दुर्ग निसंदेह दीर्घ काल तक जैन धर्म का केन्द्र स्थल रहा है । दिगम्बर जैन साधु यहा बड़ी सख्या में आते थे । दक्षिण भारत से कई जैन साधु यहाँ निरन्तर आते रहे हैं । एलाचार्य वीरसेन आदि प्रसिद्ध आचार्य यहाँ से सम्बन्धित रहे हैं दक्षिणी भारत के बालगाम्बे में कन्नड के एक शिलालेख में ‘चित्रकूटान्नाय’ के एक साधु के यहां वहां निघन का उल्लेख है (एपिग्राफिया कर्नाटिका भाग iii पृ० १३४) इनका विस्तार से उल्लेख मैंने अपनी पुस्तक “वीर भूमि चित्तौड़” में किया है ।

अतएव श्रेष्ठ जीजा के कार्य क्षेत्र और चित्तौड़ में दिगम्बर जैन सम्प्रदाय की प्राचीनता को देखते हुए श्रेष्ठ जीजा को इसी क्षेत्र के आसपास का निवासी मानना चाहिये । कच्छ का निवासी मानने के लिए और सामग्री और शोध की आवश्यकता है ।



विलासवईकहा, एक परिचयात्मक अध्ययन

डा० ए. एन. उपाध्ये एम. ए. डी. लिट्

१. प्रथम परिचय—“विलासवई कहा” से मेरा प्रथम परिचय मेरे विद्यार्थी जीवन से सम्बन्ध रखता है, जबकि सन् १९२८ में सांगली में मेरे प्राध्यापक गुरु डा० पी. एल. वैद्य ने एक चित्र प्रति इस कथा की मुझे दिखाई थी। यह प्रति उन्होंने जुलाई १९२७ में संस्कृत लाइब्रेरी कोठी, बड़ोदा से प्राप्त की थी।

इसके पश्चात् सन् १९४२ से १९४६ तक जब मैं सीलावई का सम्पादन कर रहा था, मैंने जैसलमेर भंडार की हस्तलिखित प्रतियों के सूचीपत्र पत्र को कई बार देखा। श्री ओ. एस. नं० १२ बड़ोदा १९२३ के सूचीपत्र में विलासवई कहा की दो हस्तलिखित प्रतियाँ जैसलमेर भंडार में होने का उल्लेख था। प्रथम पृष्ठ १४-५ पर बड़े शास्त्र भंडार में क्रम १३१ पर एक ताड़पत्र पर लिखित प्रति का उल्लेख है। इसमें $१३\frac{१}{२} \times २\frac{१}{२}$ इन्च आकार के २०६ पृष्ठों का उल्लेख है। प्रारम्भिक भाग उद्धृत किया गया है। अन्त में २०६वें पृष्ठ पर टिप्पणी (सूचना) है कि रचयिता की प्रशस्ति अश्वरी है। दूसरी प्रति का उल्लेख पृ० १८-९ नं० १६९ पर है। इसमें २०×२ इन्च आकार के २०६ पृष्ठ हैं। अन्तिम भाग में रचयिता की प्रशस्ति उद्धृत की गई है एवं कोष्ठकों में कुछ अशुद्धियाँ सुधारी गई हैं। इसके साथ ही भूमिका के पृष्ठ ४५ पर सम्पादक श्री एल. बी. गांधी ने (रचयिता) एवं उसकी कृति के सम्बन्ध में अपने कुछ विचार संस्कृत में उपस्थित किये हैं।

जिनरत्नकोष (एच. डी. वेलंकर, पूना १९४४) में पृष्ठ ३५८ पर निम्न उल्लेख प्राप्त होता है—“१—विलासवती कथा ग्यारह अध्याययुक्त, सं० ११९३ (?) में कवि साधारण द्वारा रचित, जो बाद में सिद्धसेनसूरी के नाम से विख्यात हुए। यह अपभ्रंशभाषा में है।

बड़ोदा हस्तलिखित प्रतियों का क्रम ६६६५, १३१६६, जैसलमेर भंडार हस्तलिखित प्रतियों का क्रम (जी. ओ. एस. १९१३), पृष्ठ १४, १६ (भूमिका पृष्ठ ४५) जैसलमेर क्रम ६८०, ७२१, १६१० (तीनों ही ताड़पत्र लिखित प्रति हैं); कुण्डी नं० १७३, ३२२ (ये भी जैसलमेर भंडार से ही उपलब्ध हैं। द्वितीय—लक्ष्मीधर महर्षि द्वारा रचित विलासवती कथा, कुण्डी नं० ३२२।”

जब श्री मुनि जिनविजयजी ने मुझे जैसलमेर के भंडार से हस्तलिखित कुवलयमाला की चित्र-प्रति दी तो उसके अन्त में विलासवई कहा के चार पृष्ठ (११३ से ११६) एक तरफ लिखे हुए, पृष्ठ नम्बर न लिखे हुए, जुड़े हुए थे। ये पृष्ठ लगभग सन्धि ७ के २१ से २७ तक कड़वक को अपने में समावेशित करते थे। इसकी लम्बाई और चौड़ाई पर दृष्टिपात करते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि ये पृष्ठ जैसलमेर बड़े भंडार की हस्तलिखित प्रति १३१ से सम्बन्धित हैं, जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है।

सन् १९४७ में भारतीय विद्यापत्रिका बम्बई की जिल्द नं० ५, नं० ४-६ दिसम्बर १९४६ तथा जनवरी-फरवरी १९४७ में श्री पंडित वैचरदास जी दोशी ने “विलासवई कहा की वस्तु” शीर्षक लेख प्रकाशित कराया। उन्होंने कृपा करके इसकी एक प्रति मुझे भी भेजी। इस लेख ने “इस कविता” के प्रति मेरी रुचि को अत्यधिक प्रोत्साहित किया।

सन् १९५५ में श्री पंडित वैचरदास जी ने, जिन्हें मैं अपना आदरणीय मित्र मानता हूँ, विलासवई कहा की एक प्रतिलिपि, जो उन्होंने जैसलमेर भंडार की ताड़पत्र प्रति से प्रतिलिपि की थी और जिसका उल्लेख उन्होंने अपने पूर्वलिखित लेख में किया था, मुझे भेजी।

इसके पश्चात् रायपुर से डा० देवेन्द्र ने हिन्दी भाषा

में टाइप की हुई अपने प्रबन्ध की प्रति भारतीय ज्ञानपोठ वाराणसी की प्रकाशनार्थ भेजी। सर्व सामान्य सम्पादक के नाते मैंने उसे पठा। मैंने देखा कि उन्होंने अपने महा-निबन्ध विलासवाई के सम्बन्ध में कुछ पृष्ठ लिखे हैं, परन्तु मैंने देखा कि उनका वर्णन भिन्न प्रकार का है। उनका ध्यान विशेषतः साहित्यिक समालोचना पर केन्द्रित है। उनके विचार अहमदाबाद से प्राप्त हस्तलिखित प्रति पर आधारित हैं। यह प्रति मुझे तब उपलब्ध हुई जब मैं इस कथा विषयक वर्तमान अध्ययन को प्रायः पूर्ण कर चुका था।

वर्तमान अध्ययन की आधार सामग्री—मेरे वर्तमान विलासवाई कहा के अध्ययन आधार निम्नलिखित हस्त-लिखित प्रतियाँ हैं—

जे०—यह एक चित्र प्रति ग्रहीत प्रति है। ७६-७६ अ पृष्ठों सहित और इसका आकार १६×८.५ सेंटीमीटर है। यह प्रति श्री पं० बैचरदास जी अहमदाबाद के कथनानुसार १०.५×०.७५ इन्च आकारयुक्त ताड़पत्र पर अंकित जैसलमेर वाली कृति की प्रामाणिक प्रतिलिपि है। भाले के चित्र के पश्चात् इसका प्रारम्भ इस तरह होता है—

नमो वीतरागाय ॥ बहु रमण इत्यादि। सम्भवतः यह जैसलमेर नं० १६७ की प्रति, जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है, की प्रतिलिपि है। प्रतिलिपिकार अपने विषय में इस प्रकार लिखता है—

लिखित लेखक पुरोहित जयगोपाल शर्मा ॥ रेवासी मु० नागौर मारवाड़। हाल लिखित जैसलमेर राज-पूताना ॥ संवत् १९६६ रा मिति मिगसिर सुदी १४ सोमवार ॥

बीः—यह चित्रप्रतिग्रहीत प्रति ८६×२ शीट्स २७×११.५ सेंटीमीटर और हस्तलिखित प्रति नं० ६६६५ सेंटीमीटर लायब्रेरी डिपार्टमेंट बड़ोदा से उपलब्ध प्रति से चित्रग्रहीत है। श्री डा० पी० एल० बेंच, पूना से मुझे यह प्रति प्राप्त हुई है और उन्होंने इसे १९२७ में तैयार किया था। पृष्ठ ५१ से ५४ तक इस प्रति में अप्राप्य हैं और यह भाग ढवीं सवि के ४ से २० कड़वक को समावेशित करता है। हस्त लिखित प्रति

भाले के चित्र “बहु वयण” से प्रारम्भ होती है और “खाण” शब्द से समाप्त होती है।

इति सम्पूर्णम् ॥

हस्तलिखित प्रति की विशेषता तथा पुस्तक गठन—

दीनों ही हस्त लिपियों के अक्षर म-स, त्थु-द्ध, क-व, उ-ओ, ए-प, व-य इत्यादि परस्पर आकार सम्भ्रान्ति उत्पन्न करते हैं और प्रायः अशुद्ध रूप से प्रतिलिपि किये गये हैं। आदर्श में पड़िमात्रा प्रायः अशुद्ध रूप से समझी गई एवं अशुद्ध ही अंकित की गई है। अनेक स्थलों पर असावधानता वश लेखन की भूलें पाई जाती हैं। स्वीकृति पद्धति के अनुसार दोनों प्रतियों में पर सवर्ण के लिए अनुस्वार का प्रयोग किया गया है। परन्तु अनेक स्थलों पर “न्त” का प्रयोग देखा जाता है। कहीं-कहीं अनुनासिक उ का प्रयोग है तो कहीं यह भी रूप अ से समाप्त होता है। अनुस्वार के प्रयोग स्थान में कहीं भी समता नहीं है। य श्रुति के लेखन एवं प्रयोग में भी दोनों प्रतियों में समानता नहीं है। यद्यपि जे० प्रति इस विषय में कुछ विशेष सावधान है। तीत और तीए दोनों को समान मानकर प्रयोग किया है। सम्भवतः बाद में ई स्वर ए का या य का स्थानापन्न मान लिया गया है। न और न्न को दोनों प्रतियों में समान मानकर प्रयोग किया गया है यद्यपि जे० प्रति में ण और ण्ण का वाहुल्य है। यह निश्चिन है कि जे० और बी० प्रतियाँ एक या दूसरे की प्रतिलिपि नहीं हैं।

सम्पादन रीति के विषय में यह ज्ञातव्य है कि वर्ण-विन्यास में कुछ समानता रखी गई है। न तथान्न में समानता है परन्तु बाद में ण और ण्ण का प्रयोग परिलक्षित होता है। यदि कहीं संस्कृत भाग में भी ण है तो भी ण्ण का प्रयोग है। देसी शब्द ण का प्रारम्भिक प्रयोग है। परन्तु नम् और नावई णम् और णावइ रूप में प्रयुक्त है। उद्धृत स्वत के स्थान पर य श्रुति का प्रयोग है। अ और आ समानार्थक से हो गए हैं। पर सवर्ण तो नहीं परन्तु अनुस्वार दोनों प्रतियों में समान रूप से प्रयुक्त हैं।

ए और ओ की ध्वन्यात्मकता मिली-जुली-सी हो गई है, विशेषतः दोनों प्रति के अपभ्रंश रूपों में इसकी बहुलता है। ए और ओ की ध्वनि कुछ दीर्घता लिये हुए होती है यदि उसके बाद व्यंजन समूह का प्रयोग हो, परन्तु

उच्चारण में उनकी ध्वनि लघु है। इसीलिए उनकी जगह कहीं-कहीं इ और उ का प्रयोग परिलक्षित होता है। पेम्मइ-पिम्मइ, पणमेप्पिणु-पणमिप्पिणु, जोग्गयाइ-जुग्गयाइ, होन्ति-हुन्ति इत्यादि प्रयोग दृष्टिगोचर होते हैं। कुछ अन्य प्रकार के ऐसे ही दैकल्पिक प्रयोग दृष्टव्य हैं—जैसे कि चिन्तेवि-चिन्तिव, जे-जि, जे-जिन, देउलेही-दिउल-लिही, दुहियहे-दुहियहि, घरे-घरि, महमाहां महमासु इत्यादि। जब ऐसे वैकल्पिक रूप प्राप्त होते हैं तो यह स्पष्ट है कि ई और ऊ वास्तव में ए और ओ है और इ और उ भी उनका प्रतिनिधित्व करते। हिन्दी में लघु ए और ओ के लिखने के सकेत चिह्न हैं ही नहीं। केवल छन्द के नियमाधार से ही उनकी ह्रस्वता या दीर्घता का परिज्ञान होता है। जैसे कि जैन अनुनासिक है परन्तु जि अनुवर है।

श्रीहेमचन्द्र (iv ४१०-१) ने परिज्ञात किया था कि ई और ऊ अपभ्रंश में प्रायः ह्रस्व रूप में प्रयुक्त होते हैं। इसी तरह उ, हि, हं, हु सभी अनुनासिक समझे जाने चाहिए जबकि वे किसी छन्द के चरण के अन्त में प्रयुक्त हों। इन पठन-विकल्पों को कम करने के लिए और ई और ऊ का उच्चारण सुविधा एवं मूल्यांकन कुछ विशेष रीतियों की आवश्यकता है। निश्चय ही अपभ्रंश पाठ्य पुस्तकों के पाठकों ने इसके लिए कुछ प्रयत्न किए भी हैं। मैंने भी प्रथम संधि का सार उपस्थित करते समय निश्चित सकेतों के अभाव में शुद्ध उच्चारण की सुविधा के लिए प्रचलित सकेतों का प्रयोग किया है।

४. ग्रन्थकर्ता—कथाकृति के कर्ता साधारण ने कृति की अन्त की प्रशस्ति में प्राकृत गाथाओं में कुछ अपना जीवन परिचय दिया है। उसका प्राचीन वंशानुक्रम अति प्राचीन कोई व्यापारियों का कुल है—वणिज्जं जिसे थनिज्जं भी पढ़ा जा सकता है। उसका गण कोटिक है, उसकी शाखा वज्ज है, उसका वंश चन्द्रकुल है, जिसमें काव्य एवं कला की निपुणता परम्परागत निधि है। बप्पभट्टसूरी एक राज्य दरबार के सर्वप्रधान पूज्य गुरु थे। वे यशोभद्रसूरि गच्छ से सम्बन्धित थे। उसी गच्छ में श्री शान्तिसूरी जी मथुरा प्रदेश के मुख्य आचार्य (सरोहा थे। उनके पाठ पर यशोदेवसूरि विराजित हुए। उन्हीं के

शिष्य श्री सिद्धसेनसूरी थे, जो विलासवई कहाके कर्ता हैं। जिन्होंने विनयवश स्वयं को अति प्रतिभाहीन वर्णित किया है। वे साधुदीक्षा से पूर्व श्रावकाश्रम में साधारण नाम से संबोधित थे अतः पश्चात् भी वे जनता में इस नामसे प्रख्यात रहे। उन्होंने बहुत से मन्त्र एवं प्रार्थनाएँ रचीं, जो कि देश के विभिन्न भागों में बोलो जाती हैं। उन्होंने यह कथा साहू लक्ष्मीधर के आग्रह से रची। लक्ष्मीधर ग्वालियर दुर्ग के (गोपगिरिशिखर) के निवासी थे और अपने श्री भिल्लमाल कुल में चन्द्रमा के समान थे। प्रस्तुत विलासवई जहां सुन्दर भावाभिव्यक्ति एवं सुन्दर सन्धियों (कथाविभाग) के गठन पूर्वक रची गई है और इसकी कथावस्तु समराइच्चकहा से ग्रहण की गई है। इस रचना की समाप्ति घण्डुवकाय नगरी में सोमवार, संवत् ११२३ (सन् १०६६) की पौष मास चतुर्दशी को हुई। कर्ता ने, मूलकथा में पाठकों के हित की दृष्टि से जो अल्प परिवर्तन किया है, उसके लिए क्षमाप्रार्थना की है। कृति का रचना परिणाम लगभग ३६२० अनुष्टुप छन्द है। अन्त में उन्होंने सरस्वती की विजय की कामना की है और सरस्वती की कीर्तिगाथाएँ स्वर्ग की अप्सराएँ भी गाती हैं, इस तरह सरस्वती की प्रशंसा की है। सरस्वती कमल के सिंहासन पर विराजित है, जो वाणी की देवता है और आनन्द की जननी है। ऊपर वर्णन निम्न कथन पर आधारीत है :—

वाणिज्जे मूलकुले कोडियगण-विउल-वइर-साहाए ।

विमलम्मिअ चन्वकुले वंसम्मि य कव्व-कलाण संताणे ॥

रायसहा-सेहर-सिरिवप्पभट्टिसूरिस्स ।

जसभट्टसूरि-गच्छे महुरा-वेसे सिरोहाए ॥

आसि सिरिसंतिसूरी तस्स पये आसि सूरि-जसदेवो ।

सिरि सिद्धसेणसूरी तस्सवि सोसो जडमई सो ॥

साहारणो त्ति नामं सुपसिद्धो अत्थि पुब्बनामेणं ।

युद्धथोत्था बह्व-भेया जस्स पट्टिज्जन्ति वेसेसु ॥

सिरिभिल्लमाल कुलगयण-चन्द-गोवगिरि-सिहरनिसयस्स ॥

वयणेण साहु लच्छीहरस्स रइया कहा तेण ॥

समराइच्चकहाओ उद्धरिया सुद्ध-संधि-बंधेण ।

कोऊहलेण एसा पसणवयणा विलासवई ॥

एककारस सएँहि गएँहि तेबीस-बारिस-अहिएँहि ।
 पोस-चउडस सोमे सिद्धा धंधुकयपुरम्मि ॥
 एसा थ गणिज्जन्ती, पायेणाणुट्ठभेण छंदेण ।
 सं पुण्णइं जाया छत्तीस-सयाइं वीसाइं ॥
 जं चरियाओ अहियं किं पि इहं कप्पियं मए रइयं ।
 पडिबोह-कारणेणं लमियव्वं मज्झ सुयणोहि ॥
 जयइ तिर्यसिद-सुंदरि-बांदिय-पय-पकयाकयारूढा ।
 बुह्यणविदिम्वानो सरस्सईं सयलसुहस्राणी ॥

इस तरह से साधारण, जो साधु पर्याय में सिद्धसेन-सूरि कहलाये, इस विलासवईकहा के रचयिता हैं। उन्होंने यह कथा हरिभद्र सूरि विरचित समराइच्चकहा से ग्रहण की है और यत्र तत्र कुछ परिवर्तन एवं संवर्धन किया है। उन्होंने यह कथा ग्वालियर निवासी साहू लक्ष्मीधर मिश्र की वीनती को मान देकर रची है और सन् १०६६ में धंधुका नगरी में यह रचना पूर्ण हुई है। यह जानना आह्लादकारक है कि धंधुका नगरी श्री हेमचन्द्राचार्य की जन्मभूमि है। साधारण ने श्री हेमचन्द्र के जन्म से बाईस वर्ष पूर्व यह रचना पूर्ण की। श्री हेमचन्द्र का काल सन् १०८८-११७२ है।

५. सन्धियाँ और उनके शीर्षक—विलासवईकहा ग्यारह सन्धियों में विभक्त है। प्रथम और ग्यारहवीं सन्धि का कोई विशेष शीर्षक (नाम) नहीं है। श्री पं० बंजरदास जी ने संस्कृत में नाम प्रस्तावित किये थे, वे ही प्राकृत रूपान्तरण कोष्ठकों में नामरूप से कल्पित किये गये हैं। प्रत्येक सन्धि के कड़वक के नम्बर कोष्ठक में निर्देशित हैं :—

१. [सणकुमार विलासवई-समागमो नाम...संधी] ... (२७)

२. विणयंधर-संधी..... (२२)

३. भिन्न-वहण-संधी..... (२३)

४. विज्जाहरी-संधी..... (२४)

५. विवाह-वियोय-संधी... (३२)

६. विज्जा-सिद्धि-संधी... (३३)

७. दुम्मुह-वहो नाम...संधी (२६)

८. अणंगरइ-विजय-रज्जाइसेय-संधी (३८)

९. विणयंधर-संजोगो नाम...संधी (३४)

१०. जणय-समागमो नाम.....संधी (२७)

११. [सणकुमार-विलासवई-निव्वाण-गमणो नाम संधी] (३६)

६. हरिभद्र और साधारण—समराइच्चकहा एवं उसके रचयिता श्री हरिभद्रसूरि के प्रति कृतज्ञताज्ञापन करते समय साधारण ने उनकी प्रशस्ति में दो गाथाएँ प्रस्तुत की हैं।

समराइच्च कहाओ उद्धरिया सुद्ध संधि-बन्धेण ।

कोऊहलेण एसा पसण-वयणा विलासवई ॥

जं चरियाओ अहियं किं पि इहं कप्पियं मएरइयं ।

पडिबोह कारणेणं लमियव्वं मज्झ सुयणोहि ॥

उपर्युक्त गाथाओंसे स्पष्ट प्रमाणित है कि साधारण ने यह कथा—“समराइच्चकहा” से ग्रहण की है (सम्पादक हर्मन जेकोबी बी. आई. कलकत्ता १९२६ तथा समरादित्य सक्षेप में अहमदाबाद १९०६)। बाद में साधारण ने कथा में स्वयं कुछ परिवर्द्धन किया है (अहियं कप्पियम्)। उसने अपने को क्षमितव्यरूप में उपस्थित किया है, क्योंकि उसने यह परिवर्द्धन पाठकों के आनन्दवर्धन के लिए किया है। श्री हरिभद्र (७वीं शताब्दी ईस्वी) ने अपनी रचना को भावों में विभक्त किया है और गद्य, पद्य मिश्रित प्राकृत में लिखी है। जबकि साधारण ने अपभ्रंश भाषा का आश्रय ग्रहण किया और उसकी कृति सन्धियों में विभक्त है। श्री हरिभद्र द्वारा वर्णित सनत्कुमार की कथा एक वृहद्वक्या समराइच्चकहा का पंचमभाव है तथा सनत्कुमार की कथावर्णन द्वारा यह दिखाया गया है कि निदान करने का (किसी तप आदि के बदले संसारमुख की कोई निश्चित कामना कर लेना) क्या फल होता है। जबकि साधारण की कथा एक स्वतंत्र कथा है और इस रचना का प्रयोजन यह प्रदर्शित करना है कि जरा सा भी प्रमाद करने का अगले जन्म में क्या फल प्राप्त होता है।

“थेवो वि हु कीरइ जो पमाउ,

सो परभवे होउ महा विबाउ ।”

इह भाँति से हरिभद्र तथा साधारण ने क्रमशः निदान एवं प्रमाद के परिणामों को प्रदर्शित किया है।

निस्सन्देह साधारण ने सामग्रीरूप से समराइच्चकहा के पंचमभाव को अपने समक्ष रखा है। परन्तु तुलनात्मक

गम्भीर अध्ययन करने पर कई भावपूर्ण तथ्य प्रत्यक्ष उपस्थित होते हैं। यद्यपि साधारण अपभ्रंश भाषा में अपनी रचना कर रहे हैं परन्तु वे समराइच्च कहा के शब्द एवं कथन ज्यों के त्यों कई स्थानों पर ग्रहण कर रहे हैं। कई स्थानों पर शब्द तादात्म्य इतना अधिक है कि प्राकृत-पाठ्य कई नवीन तथ्यों का पता देनी है। यहाँ तक कि अपभ्रंश रचना की अशुद्धियाँ सुधारने में भी प्राकृत पाठ्य की सहायता प्राप्त होती है। कई स्थानों पर वर्णनक्रम की भी सदृशता है। हरिभद्र की कई पंक्तियाँ (पृ० ३७२) साधारण ने ज्यों की त्यों उद्धृत कर दी हैं (सन्धि ६३२)।

इतना होने पर भी कुछ निश्चित बातें हैं जो मन को विशेषरूप से आकर्षित करती हैं और साधारण की काव्य-प्रतिभा का निदर्शन उपस्थित करती है। साधारण एक स्वतंत्र कथा की रचना कर रहे हैं और इसके लिए उन्होंने अपना पृथक् मंगलाचरण किया है। उन्होंने अपनी रचना का नैतिक शिक्षा-प्रयोजन भी स्पष्टतः पृथक् निर्देशित किया है। श्री हरिभद्र का घटना क्रम का वर्णन त्वरित-गतिवाला है जबकि श्री साधारण ने अनेक स्थानों पर विश्रमित गति का आश्रय लेकर घटनाक्रमों को विस्तृत बनाया है। विशेषतः साहित्यप्रथागत तथा वर्णनात्मक कथन उनके पर्याप्त विस्तृत हैं। हरिभद्र के कथन संक्षिप्त है, इसके विपरीत साधारण के कथन अति विस्तृत एवं परिवर्धित हैं। विभिन्न अपभ्रंश बोलियों के प्रयोग तुकान्त एवं ध्वनिसमरसता में सहायक होकर साधारण की काव्य-रचना में प्रवीणता एवं प्रेरणा के कारण बन गये हैं। इन प्रयोगों के मूलरूप अन्य अपभ्रंश रचनाओं में देखे जा सकते हैं। कतिपय भाव और रस जो हरिभद्र द्वारा केवल संकेतित है, साधारण ने उनका पर्याप्त विस्तार किया है। साधारण यत्र तत्र काव्य-वर्णनानुकूलता के प्रतिपादनार्थ का प्रकरण में परिवर्तन तथा परिवर्धन कर लेते हैं। साधारण अपनी स्वतंत्र रचना की सिद्धि के लिए कथानक में यत्किञ्चित् परिवर्तन एवं परिवर्धन को उचित मानते हैं : विशेषतः अपनी रचना के अन्तिम प्रसंगों में उन्होंने ऐसा परिवर्तन अधिक किया है। नवम सन्धि का कथा-विषय चन्द्रलेखा की उपकथा साधारण की अपनी नवीन

संयोजना है और इसका प्रयोजन भी स्पष्ट है। समराइच्च कहा में, इस प्रसंग में इसका अभाव है। एकादश सन्धि में मधुबिन्दु के दृष्टान्त को साधारण ने विस्तृतरूप में उपस्थित किया है, जबकि हरिभद्र ने केवल इसका संक्षिप्त संकेत दिया है, क्योंकि समराइच्चकहा में इसका विस्तार कहीं अन्य स्थल पर किया गया है। धार्मिक उपदेश, शिक्षा एवं रुढ़िगत भावनाओं का साधारण ने विस्तृत वर्णन किया है। ये संवर्धन एवं परिवर्धन विलासवईकहा की अपभ्रंश भाषा की स्वतंत्र कथा-रचना एवं अध्ययनाहं प्रमाणित करते हैं।

७. छन्द एवं शैली इत्यादि—यह ज्ञात होता है कि विलासवईकहा एकादश सन्धियों में विभक्त है और प्रत्येक सन्धि कड़वक में विभक्त है, जिनकी सख्या २२ से ३६ तक है। रचना के प्रारम्भ में दो पंक्तिबद्ध गाथा है, प्रत्येक पंक्ति में १०+८+१३=३१ मात्राएँ हैं। प्रथम दो चरण तुकान्तयुक्त हैं। प्रत्येक कड़वक की पंक्तियाँ विभिन्न छन्द गठन शैली से युक्त हैं। प्रथमसन्धि के विश्लेषण से यह परिज्ञात होता है कि प्रत्येक कड़वक गाथा से समाप्त होता है। किन्तु छन्दगठनविधि वही है जैसी पहले कही गई है। सप्तम कड़वक की पंक्तियाँ सकुलक पंक्तियाँ हैं (६, ४, ४, २)। क्रम ८ और २३ की पंक्तियाँ मदना-वतार की पंक्तियाँ हैं। (५+४), तथा शेष पद्धतीय पंक्तियाँ हैं (४×४)। सम्पूर्ण कृति का सम्पादन होने पर ही रचना का छन्द विषयक पूर्ण विश्लेषण हो सकता है।

यद्यपि साधारण ने कथा सामग्री हरिभद्र कृत सम-राइच्चकहा से ग्रहण की है परन्तु प्रत्येक उचित घटना को अपनी काव्य प्रतिभा से शब्द चित्रात्मकता प्रदान करने का, रसात्मकता या भावात्मकता, विस्तारयुक्तता प्रदान करने का अवसर चूके नहीं हैं। रचना में सर्वत्र काव्य-रसात्मकता एवं विशिष्टता विद्यमान है। वसन्तादि ऋतुवर्णन, नारी सौन्दर्य का वर्णन, वन आदि का प्रकृति चित्रण, समुद्रतट, दिव्यदृश्यों का तथा विद्याधरों का वर्णन, युद्ध, विमान, राजधानियों का वर्णन, मन्दिर महल, राज-प्रासाद, शोभायात्रा आदि का मनोहारी एवं विस्तृत वर्णन साधारण के काव्य-कौशल को प्रगट कर रहे हैं। अनेक

स्थानों पर धार्मिक उपदेश, करुणापूर्ण वर्णन तथा अनेक सुभाषित कृति को अलंकृत कर रहे हैं।

८. विषय-विश्लेषण—प्रस्तुत विषय-विश्लेषण दोनों हस्तलिखित प्रतियों के अध्ययन के पश्चात् उपस्थित किया जा रहा है। यह तो स्पष्ट है कि विषय कडवक में विभाजित किया गया है और ये विभाग निश्चित विषय-वर्णन के आधार पर स्थित हैं। प्रत्येक सन्धि का विषय यहाँ इसलिए प्रस्तुत किया जा रहा है कि मेधावी छात्र या जिज्ञासु समराइच्छक और विलासवईकहा का तुलनात्मक अध्ययन कर सकें। योग्यसन्दर्भ में तुलनात्मक सकें भी कर दिए हैं। जहाँ स्पष्टविधान नहीं है, वहाँ तारांकित चिह्नों आदि से निर्देशित कर दिया गया है।

संधि प्रथम—रचनाकर प्रथम चौबीस तीर्थकरो को क्रमशः नाम लेकर नमस्कार करता है। (१) अहिंसा, कर्मपरवशता, प्रमाद का बुरा परिणाम आदि का प्रतिपादन कर दृष्टान्त रूप में विलासवईकहा का प्रस्तुतीकरण करता है। (२).....(तारांकित)। भारत में सेयाविया (स्वेतावी) नामक एक नगरी है। राजा यशोवर्मन उस नगरी पर शासन करते थे। उसकी पटरानी का नाम कीर्तिमती था। वह बहुगुणमती थी। उनका सनत्कुमार नामक सुपुत्र था। उसके जन्म के समय ही ज्योतिषियों ने भविष्यवाणी की थी कि यह विद्याधरो का स्वामी होगा। (३) एक बार सनत्कुमार अश्वारोहण के आनन्द के पश्चात् अपने भवन की लौट रहा था तो उसने देखा कि कुछ डाकू फौजी देने के लिए ले जाये जा रहे हैं। डाकूओं ने पश्चाताप करते हुए कुमार से अपनी रक्षा की प्रार्थना की और कुमार ने उन्हें मुक्त कर दिया, इस घटना ने उन नागरिकों को क्रुद्ध कर दिया जिनके द्वारा अभियोग करने पर राजा ने उन्हें गुप्तरूप में प्राणदण्ड दिया था। राजकुमार ने इसे अपना अपमान समझा और उस नगरी को छोड़कर कहीं अन्यत्र चला गया। (४) अनुचरों द्वारा मनाया जाने पर भी वह न माना और अपने कुछ विश्वस्त साथियों के साथ ताम्रलिप्ति नगरी में पहुँच गया। वहाँ के राजा ईशानचन्द्र ने उसका हार्दिक स्वागत किया और भोजन तथा निवास की समुचित सुविधा प्रदान की। (५) वहाँ जीविकानिर्वाहार्थ उसने कोई वृत्ति

स्वीकार नहीं की। [श्लोक पृ० ३०२४-३०३२] एक दिन वसन्त ऋतु में अपने कुछ मित्रों के साथ वह मदनमहोत्सव में भाग लेने के लिये अनगनन्दन नामक उद्यान में गया। (६-७) ज्यों ही वह राजमार्ग के पास से होकर जा रहा था राजा ईशानचन्द्र की पुत्री राजकुमारी विलासवती ने उसे ऊपर राजमहल की खिड़की से देख लिया। वह उसे कामदेव के समान सुन्दर प्रतीत हुआ और उसने अपने हाथों से गूथा हुआ बकुल-पुष्पो का हार उसके ऊपर डाल दिया और वह हार उसके गले में जा गिरा। जब उसने ऊपर देखा तो यह राजकुमारी के सुन्दर रूप से मोहित हो गया। उसका मित्र वसुभूति उनके पारस्परिक प्रेम को पहचान गया। (८) राजकुमार ने मदनमहोत्सव की श्रीढाँघो में भाग तो लिया परन्तु उसका हृदय विलासवती के रूप के प्रति ही आसक्त था। उस दिन की रात उसे वियोग के कारण अति दीर्घ प्रतीत हुई। (९-१०) दूसरे दिन प्रातःकाल उसे उसके मित्र वसुभूति ने संभाला और अनुभव किया कि उसके प्रत्येक क्रियाकलाप में अन्तर आ गया है और वह कामदेव के वश में हो गया है। वसुभूति ने उसे विश्वास दिलाया कि विलासवती भी तुम्हारे प्रेमपाश में आबद्ध है, बकुल पुष्पों की माला गैरना इसी की ज्ञापकता का प्रमाण है कि वह भी तुम्हारे प्रति प्रेमाकुल है। (११) मैं तुम्हारे सयोग का कुछ उपाय करूँगा, यह विश्वास दिलाकर वसुभूति उसके पास से चला गया। उसने विलासवती की सेविका की पुत्री अनंगसुन्दरी से अपना परिचय बढ़ाया। राजकुमार बड़ा व्याकुल एवं सन्तापित था। (१२) वसुभूति राजकुमार के पास आया और राजकुमार से धैर्य एवं साहस धारण करने को कहा। उसने अनंगसुन्दरी से परिचय प्राप्त करने की सब बात राजकुमारी को बतलाई और कहा कि अनंगसुन्दरी भी तुम्हारे दुख से उदास और दुखी थी। (१३) वसुभूति ने बतलाया कि अनंगसुन्दरी राजकुमारी के अति निकट सम्पर्क में है और राजकुमारी भी तुम्हारी ही तरह प्रेम से व्याकुल एवं सन्तापित है। एक अज्ञात युवक के गले में हार डालकर अपने हृदय को लुटा बैठी है। अनंगसुन्दरी ने उसे सान्त्वना देकर समझाया है कि वह उस युवक को खोजकर शीघ्र ही मिलन करायेगी।

(१४-१५) विलासवती की प्रेम-पीड़ा बड़ती ही चली गई, यहाँ तक कि वह मूर्च्छित हो गई। वसुभूति से यह सब जानकर राजकुमार ने राजकुमारी की प्राणरक्षा के निमित्त उसके पास जाना चाहा। (१६) वसुभूति ने राजकुमार को बतलाया कि किम प्रकार राजकुमारी की सखी ने उसे समझाया और धीरज बघाया है। जब वह मूर्छा से मुक्त हुई तो उसने एक युवक के प्रेम-पास में आवद्ध होने की बात सखियों के समक्ष प्रगट कर दी। अनंगसुन्दरी ने उसे विदवास-पूर्ण समाचार देकर इनाम प्राप्त किया। (१७) उसी समय विलासवती की माता (रानी) वहाँ आई और कहा कि राजा विलासवती का वीणावादन देखना चाहते हैं। विलासवती ने अपनी माता का स्वागत किया और उसके साथ चली गई। अनंगसुन्दरी पूर्ण हताश एवं किकर्तव्य विमूढ थी। वसुभूति ने उसे चिन्ता न करने के लिये समझाया और कहा कि उस नवयुवक राजकुमार से मेरी घनिष्टता है और वह भी प्रेम से व्याकुल है। दोनों ने उन दोनों के मिलन के अनेक उपाय सोचे। राजप्रासाद के उपवन में दोनों को मिलाने का विचार किया। यह जानकर राजकुमार ने वसुभूति को इनाम दिया। (१८-२०) वे राजप्रासाद के उद्यान में गये। वहाँ सब ऋतुओं की शोभा उपस्थित थी। कवि ने इसका बहुत सुन्दरता से चित्रण किया है। (२१) अनंगसुन्दरी ने नन्दन वृक्ष के नीचे आसन ग्रहण करने की वीनती की। विलासवती के अनुपम सौन्दर्य को राजकुमार एवं वसुभूति ने देखा। कवि ने इसका विस्तृत वर्णन किया है। राजकुमारी के सौन्दर्य से राजकुमार आश्चर्यचकित हो गया और राजकुमारी ने उसे प्रेम का प्रतीक ताम्बूल अर्पण किया। जब वे दोनों इकट्ठा बैठे थे, उसी समय मित्रभूति के द्वारा राजा ने विलासवती को वीणावादन के लिए बुलाया, क्योंकि गतदिवस भूल से वीणावादनका कार्यक्रम न हो सका था। वह प्रेमपूर्ण दृष्टि से राजकुमार को देखती हुई चली गई। राजकुमार और उसका मित्र भी अपने घर चले गए। रानी अनंगवती राजकुमार को देख कर कुछ मोहित सी हो गई। (२२-२५) रानी भी काम-देव की परवशता को प्राप्त हुई। विलासवती ने कई प्रेम

के उपहार सनत्कुमार को भेज और बदले में उसने भी अनेक उपहार भेजे। इस प्रकार कुछ दिन कुशलक्षेमपूर्वक व्यतीत हुए। (२६-२७) [श्लोक पृ० ३०३.२—३१५.१६]।

सन्धि द्वितीय—एक दिन रानी अनंगवती ने अपनी मेविका के द्वारा सनत्कुमार को अपने कमरे में आमन्त्रित किया। माता के समान आदर करता हुआ वह उसके समीप गया। वहाँ रानी ने अपना प्रेमभाव प्रकट किया। और कहा कि वह उसकी पहली बार देखने के बाद कैसे वियोग की पीड़ा सह रही है। सनत्कुमार उसकी इस तुच्छ भावना से बड़ा दुःखित हुआ। (१-२) राजकुमार ने रानी को समझाया कि उसकी यह भावना प्रति पाप-पूर्ण है। इस तरह सनत्कुमार अपने चरित्र पर दृढ़ रहा। (३) रानी ने सनत्कुमार की भावना की प्रशंसा की और कहा कि मेरी प्रेम की भावना कौतुकरूप से थी, इसे गम्भीरता से न ग्रहण करना। इस तरह वह राजकुमार के पास से चली गई। राजकुमार भी रानी को प्रणाम करके घर लौट आया और वसुभूति के साथ प्रसन्नता के साथ समय बिताने लगा। (४) [श्लोक पृष्ठ ३१६.१—३१८.३]

इसके पश्चात् विनयधर, राजा का मित्र और नगर-रक्षक सनत्कुमार के पास आया और एकान्त में बोला कि “तुम्हारे पिता के राज्य में स्वस्तिमती नगरी में एक महान उदारोशय और पराक्रमी वीरसेन नामक एक वीर व्यक्ति रहता था। एक बार वह अपनी पत्नी और बड़े पुत्र के साथ अपने पिता के निवास-स्थल-जयस्थल की तरफ जा रहा था। मार्ग में स्वतावी नगरी के बाहर उसने डेरा डाला। वहाँ एक चोर की प्राणरक्षा की प्रार्थना पर उसने ध्यान देकर अपने डेरे पर ठहरा लिया। राजा के सिपाहियों ने उस चोर को खोजते हुए वीरसेन डेरे को घेर लिया और वीरसेन से चोर के अपराध का वर्णन किया। (५-८) वीरसेन ने चोर को लौटाने से इंकार कर दिया। तब राजा यशोवर्मन ने वीरसेन से युद्ध करने की आज्ञा दी। युद्ध में सनत्कुमार ने वीरसेन की सहायता की। (९-१०) वीरसेन जयस्थल चला गया और श्वसुरालय में ठहरा। नगररक्षक ने कहा कि जय-

स्थल मे ही मेरा जन्म हुआ था । इसलिए हे सनत्कुमार ! तुम्हारे पिता मेरे पिता के निकटवर्ती और उपकारक हैं । इस समय मेरे आने का प्रयोजन यह है कि आज राजा जब अश्वारोहण मनोरंजन के कक्ष में गये और देखा कि रानी ने अपना मुख नाखून आदि से नोच कर कुरूप बना लिया है । भूमि पर लेटी हुई आंसू बहा रही है । उसको कहा कि सनत्कुमार ने मुझसे प्रेम प्रस्ताव किया था । मैंने अपने शील की रक्षा की । उसी रक्षा-प्रयत्न में मेरी यह दुर्दशा हुई है । राजा ने तुम्हें चुपचाप मारने की आज्ञा दी है और मैं चाहता कि तुम न मारे जाओ । (१२-१३) मैं इस दुविधा में हूँ कि तुम्हें मारा जाय या राजा की आज्ञा भग की जाय । मैं तुम्हारी निर्दोषता के लक्षण स्पष्ट देख रहा हूँ । तुम्हीं बताओ कि मैं क्या करूँ ? [श्लोक पृ० ३१८.३-३२३.१२] . राजकुमार उस दुष्ट स्त्री के व्यवहार से बहुत उदास हुआ । (१५) . एक दुष्ट व्यक्ति कुछ भी करने का साहस कर सकता है । (१६) . यह राजा की कमजोरी है कि उसने रानी के वचनों का विश्वास किया । यदि सत्यता प्रगट हो गई तो राजा रानी को मार डालेगा । क्योंकि सभी तरफ से राजकुमार की निर्दोषता सिद्ध हो रही है । (१७-१८) विनयधर सब रहस्य राजा पर प्रगट करने को सन्नद्ध था । परन्तु राजकुमार ने कहा “यह सब मेरे कर्मों का फल है ।” (१९-२०) राजकुमार ने राजा के आदेश को पालने के लिए विनयधर से कहा । परन्तु विनयधर ने अपने और राजकुमार के लिए सुरक्षित मार्ग अपनाया चाहा । राजकुमार उस स्थान से चले जाने के लिए सहमत हो गया । वह पोताध्यक्ष समुद्रगुप्त के जलयान द्वारा वसुभूतिके साथ सुवर्णद्वीप जानेको प्रस्तुत हुआ । विनयधर ने क्षमा चाहेते हुए उन्हें विदा दी । (२०) [श्लोक पृ० ३२३.१३-३७२.१२] .

सन्धि तृतीय—जलयान समुद्र में सतरण करते हुए दो मास में सुवर्णभूमि में पहुँच गये । मार्ग में सनत्कुमार ने रानी का पाखण्ड और अपने कार्य की कहानी सबसे कह सुनाई और रानी का भेद वहाँ प्रकट न करने का औचित्य सिद्ध किया । (१-२) वहाँ से श्रीपुर गये । वहाँ उनका एक मित्र मनोहरदत्त मिला । वह भी सेयाविया

नगरी से वहाँ व्यापाराथ आया था । सनत्कुमार एवं वसुभूति उसी के आतिथ्य में रहे । (३) सनत्कुमार ने अपने पिता से पृथक् होने का कारण उसे बताया और कहा कि अब मैं अपने मामा से मिलने लंका जाऊंगा । उसके मित्र के आतिथ्य के कारण पर्याप्त विलम्ब हो गया था । (४) चलते समय उसे एक नयनमोहन कम्बल भेंट दिया गया, जिसे ओढ़ने से उसे कोई न देख सकेगा । [तारांकित पृ० ३१७.१३-३२६.७] . उसके मित्र ने कहा कि मंत्रशक्ति के द्वारा सिद्धसेन ने एक देवता को बुलाया उसी यक्षगिरि देव ने यह कम्बल प्रदान किया है । (५-६) सनत्कुमार ने कम्बल सघन्यवाद स्वीकार किया । समुद्र-तट पर ईश्वरदत्त का सुन्दर जहाज तैयार था । ईश्वरदत्त ने मनोहरदत्त से कुशलक्षेम पूछा । (१०) राजकुमार तथा वसुभूति उसी जहाज पर चढ़ कर लंका की ओर प्रस्थान कर गये । [श्लोक पृ० ३२६.८-३३१.१३] . प्रस्थान से तेरहवें दिन समुद्र में भारी तूफान आया । मल्लाहों ने महान् प्रयत्न किया परन्तु कर्मवश कोई उपाय सफल न हुआ । एक काठ का फलक पर तैर कर सनत्कुमार तीन दिन बाद किनारे पर पहुँचा । (११-१२) वह कर्मों की लीला पर विचार करने लगा । अपने प्रिय से वियोग आदि सभी बातें मन में विचरण करने लगीं । (१३-१४) वह जंगल में घूमते हुए एक आश्रवृक्ष के नीचे बैठा । उस वृक्ष पर एक सारस पक्षी का जोड़ा बैठा था उसकी मधुर ध्वनि सुनकर राजकुमार को विलासवती की स्मृति आ गई । उसका वियोग उसे अति व्यथित कर रहा था । (१५) विलासवती की स्मृति के विचारों में डूबा हुआ सनत्कुमार एक शिला पर पत्तों का बिस्तर बना कर सो गया । प्रातःकाल पक्षियों के कलरव से वह जागा । एक नदी के किनारे चलते हुए उसने रेत में किसी स्त्री के पदचिह्नों को देखा । उस चिह्नों का अनुसरण करता हुआ वह आगे बढ़ा । (१६-१७) एकान्त प्रदेश में उसने एक तापस-बाला को देखा । उसके सुन्दर अंगों का कवि ने विस्तार से वर्णन किया है । वह पुष्पगुच्छ से शोभित थी । झाड़ी के पीछे छिपकर राजकुमार ने उसे आकर्षित दृष्टि से देखा । (१८) उसके तापस वेष के अतिरिक्त उसे सर्व प्रकार वह रूप विलासवती का प्रतीत

हुआ। उसका सोया प्रेमभाव जाग उठा। अपने भाव को छिपाकर हाथ जोड़कर उसने उसे प्रणाम किया। अपना परिचय देकर परिभ्रमण का कारण बताकर उससे अपना नाम, आश्रम का नाम और तपस्या का कारण पूछा। उस बाला ने ससन्भ्रम से उसे देखा और नीचा मुह कर लिया। (१६). बिना कुछ उत्तर दिये वह वहाँ से चली गई [श्लोक पृष्ठ ३३१.१४-३३५.११] राजकुमार ने किसी अन्य व्यक्ति से उस बाला का परिचय प्राप्त करने का विचार किया। उसे उसने पुनः आश्रम में लौटते हुए देखा। उसने अनुभव किया कि वह प्रेम से आसक्त है। उसने अधिक उत्सुक होना अयोग्य समझा। (२०). वह नदी के किनारे पर पुनः वापिस लौट आया परन्तु वहाँ किसी व्यक्ति को न देखा। उसी रात को प्रातःकाल उसने स्वप्न में उस बाला द्वारा उसके गले में पवित्र पुष्पों का हार डालने का दृश्य देखा। सारसों की मधुर ध्वनि ने उसे प्रातःकाल जगाया। स्वप्न एवं अन्य शुभ लक्षणों से राजकुमार जान गया कि किसी कन्या से उसका मिलाप होने वाला है। वह तापसबाला जिसका रूपसाम्य विलासवती से है, कहीं विलासवती ही तो नहीं है। जगल में ढूँढते हुए उसने कुछ दिन बड़े कष्ट से बिताए, परन्तु सब प्रयत्न निष्फल हुआ। (२१-२३). श्लोक [३३५.१२-३३७-१२].

चतुर्थ सन्धि—माधवीलता से वेष्टित एक आश्रतरु के नीचे सनत्कुमार विलासवती की स्मृति में तल्लीन था, तभी एक प्रौढ़ वय की तापसी वहाँ आई। कवि ने तापसी (तपस्विनी) का अच्छा वर्णन किया है। राजकुमार ने उसे प्रणाम किया, तापसी ने उसे आशीर्वाद दिया और कार्यसिद्धयर्थ उसके सिर पर कमण्डल का पानी छिड़का। (१) [श्लोक पृ० ३३७.१३-३३८.८-७]. तपस्विनी ने राजकुमार को अपने समीप बिठाया और उसकी बात सुनने को कहा। तापसी बोली—मैं वैताड्य पर्वत पर गन्धसमृद्ध प्रदेश के स्वामी सहस्रबल की रानी सुप्रभा की कुक्षि से जन्म लेने वाली मदनमंजरी नाम की पुत्री हूँ। मैं पवनगति नामक विद्याघर से विवाहित हुई थी और पर्याप्त काल सानन्द व्यतीत हुआ। (२-३) एक बार मैं आकाश मार्ग से मनोरंजनार्थ नन्दनवन को गये। तब

मेरे पति सहसा स्वर्ण सिंहासन से गिरकर मृत्यु को प्राप्त हुए। मैं शोक में डूब गई। शीघ्र ही मुझे प्रतीत हुआ कि मेरी नभ गामिनी शक्ति का भी नाश हो गया है। (४). निःसहाय होकर मैं अपने भाग्य पर दुःखी हुई। मैंने दृश्य, अदृश्य सभी शक्तियों से सहायतार्थ प्रार्थना की। तब मेरे पिता का मित्र एक तापस विद्याघर देवनन्दी वहाँ आया। (५). उसने मुझे सान्त्वना प्रदान की और उपाय हानि पर शोक न करने को समझाया। (६). मनुष्य जन्म को सफल बनाने के लिए मैंने उसमें तपस्वी का व्रत घाटन किया। (७). विदित हुआ कि सिद्धकूट पर्वत को पार करते हुए मेरा हार गिर पड़ा था, उसी के परिणाम-स्वरूप मेरी नभगामिनी विद्या की भी समाप्ति हो गई थी। मेरे पिता की आज्ञा से देवनन्दि मुझे स्वतद्वीप में ले आया और अपनी तपस्वी श्रृंखला में समाविष्ट कर मुझे कुछ कार्य में नियुक्त कर दिया। एकदिन पुष्प और समिधा की खोज में मैं समुद्र की तरंगप्रवाह के समीप पहुँच गई। (८). समुद्रतट पर तरंगप्रवाह में सन्तरित एक काष्ठ फलक के पास मूर्च्छित पड़ी एक सुन्दर स्त्री को देखा। (९). मैंने कमण्डल का पानी छिड़का तो वह प्रबुद्ध हुई। मैंने उसे धीरज बघाया। आश्रम में साथ लाकर कुलपति को सौंप दी। (१०). पूछे जाने पर उसने कहा कि मैं ताम्रलपि से आई हूँ, इससे अधिक मैं कुछ नहीं कहूँगी (वयोंकि सम्भवतः वह किसी उच्च कुल से आई है)। मैंने कुलगति से खबर प्राप्त की (११). [श्लोक पृ० ३३८.८-३४१-१२] कुलगति ने अपने दैवीय ज्ञान से परिज्ञान कर कहा कि यह राजकुमारी विलासवती है, यह राजकुमार सनत्कुमार के प्रति प्रेमासक्त है विवाह से पूर्व ही दोनों प्रेमासक्त थे। इसे मालूम हुआ कि निर्दोष सनत्कुमार राजा की आज्ञा से मार दिया गया है। (१२) राजा की आज्ञा से उसे अर्धरात्रि के समय राजमहल छोड़ना पड़ा और वह सनत्कुमार के शव को ढूँढने निकल पड़ी। जिससे कि एकबार उसके दर्शन करके फिर स्वयं मृत्यु को वरण कर ले। परन्तु मार्ग में वह डाकुओं द्वारा पकड़ी गई उन्होंने उसकी सब सम्पत्ति छीन ली और अचल नामक एक व्यापारी को बेच दी, जो बरबराकूना जा रहा था समुद्र में जहाज टूट गया

परन्तु वह एक लकड़ी के तख्ते के सहारे तैरती हुई तीन दिन में किनारे पहुँच गई। यह शीघ्र ही अपने प्रेमी से मिलेगी और उसका जीवन सफल होगा। (१३). उसका प्रेमी निश्चित रूप से मारा नहीं गया है। दूसरे दिन शाम को मैंने यह सब कुछ उसे बता दिया है। संसार की दशा का वर्णन कर समझाया है कि इसमें आसक्त होने वालों की क्या दशा होती है। (१४). तब मैंने कोई दीक्षा आदिक ग्रहण न करने के लिए उसे समझाया। क्योंकि उसका पति अभी जीवित है, जैसा कि कुलपति के कथन से सिद्ध है। वह उसे शीघ्र ही मिलेगा इस तरह मैंने उसे धैर्य दिया। (१५). कुछ दिन उसने तापस बना जैसे वस्त्र धारण किये। एक बार वह कुछ फूल और समिधा लेने के लिये गई, परन्तु वापस आने के बाद उसकी दशा कुछ परिवर्तित और प्रतिदिन अधिक दुःखी होती हुई दिखाई दी (१६). कुलपति के आने की प्रतीक्षा है। उसके कार्य एवं लक्षण स्पष्ट प्रकट करते हैं कि वह कामदेव से ग्रस्त है। (१७) [श्लोक पृ० ३४१.१३-३४५.२] दूसरे दिन मैंने उसकी कामासक्त दशा का अनुभव किया। वह मज्जा लेकर पुष्प सग्रहाय एक स्थल पर गई। मैं भी चुपचाप उसके पीछे-पीछे गई। वह केले के वृक्ष समूह के पीछे बैठकर अपने भाग्य को धिक्कारने लगी और रोने लगी। (१८) हाथ जोड़कर आँसू बहाती हुई वह वन देवता को पुकारने लगी। यही तो वह स्थान है जहाँ मुझे मेरा प्रेमी मिला था, उसने अपना पता बताया था, परन्तु लज्जा ने मेरा मुख बन्द कर दिया था और मैंने उसके प्रश्न का कोई उत्तर न दिया था। (१९) वह जंगल में दृष्टि से परे हो गया। मुझे आश्चर्य है कि मेरा केवल भ्रम था या वह कोई विद्याधर था और कोई उस प्रेमी का भेष बनाकर मुझे ठगने आया था। इस वियोग को मैं अब और अधिक सहन नहीं कर सकती।” तब एक वृक्ष से फाँसी लगाकर मरने को तैयार हुई और वन देवता से प्रार्थना करने लगी कि मेरा सब वृत्तान्त मेरे प्रेमी को सुना देना। (२०) मैं ठीक समय पर उसे बचाने पहुँच गई। उसे धर्माचरण विरुद्ध कार्य न करने के लिए समझाया। (२१) माता के समान मुझमें विश्वास न रखने के लिए डाटा तब उसने अनुचित कार्य के लिए

क्षमा मांगी। मैंने उसे समझाया कि कुलपति के कथनानुसार तुम्हारा प्रेमी जीवित है वह यही कहो है, उसे लेकर मैं आश्रम में लौट आई। तुम्हें खोजने के लिए कुछ तपस्वी बालक इधर-उधर भेजे गये। अन्त में मैं स्वयं तुम्हें ढूँढ़ने निकली। तुम यहाँ मिले हो, अब कृपा करके आश्रम में चलो और उस बाला के प्राण बचाओ। (२२) [श्लोक पृ० ३४५.३—३४७.१७]।

पंचम सन्धि—वह राजकुमार तपस्विनी का अनुगमन करते हुए विनय पूर्वक आश्रम में पहुँचा। विलासवती यह जानकर कि उसका प्रेमी आश्रम द्वार पर उपस्थित है, कुछ शरमा कर, बिस्तर से उठ कर कुटी के अन्दर चली गई। (१) तापसी ने योग्य सत्कार करके विलासवती को संकेत दिया, तदनुसार विलासवती ने सनत्कुमार के चरण प्रक्षालित किए। वन में प्राप्त अन्न और फलों द्वारा भोजन तैयार किया गया। तदनन्तर विधिपूर्वक विलासवती का परिणय सनत्कुमार से सम्पन्न हुआ। वे दोनों सुन्दर वन नामक उद्यान में चले गये। (२-३) वह उद्यान अनेक फल वृक्षों एवं पुष्पित लताओं से सुसज्जित था। (४) उद्यान के दृश्य प्रति मनोहारी थे। (५) वहाँ उन दोनों ने प्रथमरात्रि सानन्द समाप्त की। (६) [श्लोक पृ० ३४७.१८—३४९.१२]।

तदनुसार कुछ दिन उन्होंने आश्रम के भव्य वातावरण में व्यतीत किए। एक बार जब वे पुष्प और समिधा संचय के लिए गए थे, विलासवती को पुष्पचयन में व्यस्त देखकर, उसके प्रेम की परीक्षा लेने के लिए एवं कुछ मनोविनोद करने के लिए सनत्कुमार ने पूर्वोक्त चमत्कारी कम्बल ओढ़ लिया और अदृश्य हो गया। उसे वहाँ न पाकर विलासवती डर गई और मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ी। सनत्कुमार ने प्रकट होकर धैर्य बँधाया और कम्बल विषयक समस्त रहस्य उस पर प्रकट कर दिया। (७-९) वह कम्बल उसे सुरक्षित रखने के लिए सौंप दिया। [श्लोक पृ० ३४९.१३—३५०.१५]। उन दोनों ने स्वदेश लौटने की सलाह की। समुद्रतट पर खडित जलयान का संकेतक एक झण्डा लगाया गया। यह संकेत पट पोताध्यक्ष सानुदेव के जलयान ने देखा जो महाकटाक्ष स्थान से मलयदेश की तरफ जाने वाला था। सानुदेव

ने मल्लाहों द्वारा उन्हें आमंत्रित कर जहाज पर उचित स्थान दिया। उन दोनों ने आश्रमवासियों से विदा प्राप्त की। (१०-११) विदा होते समय विलासवती ने आश्रम निवासियों से वियुक्त होने के दुख को बहुत अनुभव किया। (१२) एक दिन पूर्व प्रातःकाल में सार्यवाह पुत्र (सम्भवतः सानुदेव स्वयं) ने धक्का देकर सनत्कुमार को समुद्र में गिरा दिया। एक काष्ठफलक के सहारे तैरता हुआ वह पाँच दिन में मलय पहुँच गया। वह विलासवती के प्रति विषयासक्त था और विलासवती के शुद्ध चरित्र से अनभिज्ञ था। विलासवती मेरे वियोग में जीवित नहीं रहेगी, इसलिए सनत्कुमार एक नीम के वृक्ष में फन्दा डाल कर एकांत में फासी लगा कर मरना चाहता था। (१४) उसी समय एक हंस पक्षी दृष्टिगत हुआ। उसने विलासवती के पुनर्मिलन की भविष्यवाणी कर मरने से रोका। (इस वर्णन प्रसंग में हंस पक्षी का अति सुन्दर वर्णन किया गया है)। (१५-१८) [श्लोक पृ० ३५०.१६—३५४.१२]। इन्हीं विचारों में व्यस्त सनत्कुमार समुद्रतट के समीप पहुँचे। उसने देखा कि एक काष्ठफलक तैरता हुआ आ रहा है और विलासवती उस पर तैरती हुई दृष्टिगोचर हुई। विलासवती ने सनत्कुमार को विगत घटना बताई कि सार्यवाह बाद में कितना पछताया और स्वयं समुद्र में डूबने का विचार किया। रात्रि को जहाज मध्य भँवर में फँस गया। भाग्य से मैं काष्ठफलक के सहारे जीवित रही। सत्य है “जो जाको खोदे कुआँ वाको कूप तैयार।” परन्तु सब कर्म की बलिहारी है, दूसरों को दोष देना व्यर्थ है। (१६-२१) विलासवती बहुत प्यासी थी। सनत्कुमार उसे पार्श्ववर्ती भील के समीप परन्तु वह बहुत थका हुआ था अतः वह अधिक चल न सका। तब वह अर्जुन वृक्ष के नीचे विश्राम कर पत्रपुट में पानी लेने गया तथा विलासवती को चमत्कृत कम्बल ओढ़ा गया। [श्लोक ३५३.१३—३५६.१४]। वह पानी और कुछ सन्तरे लेकर वापिस लौटा। सनत्कुमार ने इससे प्रकट होने एवं पानी पीने को कहा। (२२-२३) उसने देखा कि वह वहाँ उपस्थित नहीं थी। एक अजगर कम्बल सहित उसे निगल गया था। अजगर के पैर के निशान रेत पर पड़े हुए थे। उन चिह्नों का अनु-

सरण कर राजकुमार वहाँ पहुँचा। परन्तु विलासवती को न पाकर मूर्च्छित हो गया। (२४-२५) मूर्च्छा दूर होने पर वह अजगर के पास इस हेतु गया कि उसे भी निगल ले और अजगर के उदर में वह विलासवती से मिल सके। अजगर अपराधी की तरह काँप गया। राजकुमार ने क्रोधपूर्वक उसके सिर पर यष्टिका प्रहार किया। वह आघात से उलटा हुआ तो कम्बल उसके उदर से बाहर आ गया। (२६) उसने कम्बल अपने वक्षस्थल पर रखा और अर्जुनवृक्ष की शाखा में फन्दा लगाकर मरना चाहा। (श्लोक पृ० ३३६.१५—३५८.१३)। राजकुमार मरा नहीं, केवल एक निद्रा सी आ गई। स्वप्न में एक ऋषि ने पुण्य करने का उपदेश दिया। (२७-२९) जिससे कि वह अगले जन्म में विलासवती को प्राप्त कर सके। उसे मलय पर्वत शृङ्खला में स्थित मनोरथपूर्ण गिरि शिखर पर जाने को और शिखर से गिरकर मर जाने को कहा। क्योंकि इस प्रकार की मृत्यु निश्चित ही अगले जन्म में अभीष्ट फलदायक होती है। वह ऋषि के द्वारा सकेतित दिशा को प्रस्थान कर गया। (३०-३१) [श्लोक पृ० ३५८.१४—३६०.१०]।

षष्ठ सन्धि—तीसरे दिन वह वृक्षों और जंगली पशुओं से परिपूर्ण मलय पर्वत पर पहुँच गया। शिखर से अग्रिम जन्म में अपनी प्रेमिका से मिल सकूँ, ऐसा निदान करके वह पर्वत से कूद पड़ा, परन्तु मध्य में ही एक विद्याघर ने ग्रहीत कर उसे बचा लिया। विद्याघर ने उससे सर्व वृत्तान्त पूछा। (१-२) राजकुमार ने सर्व वृत्तान्त विस्तार से कहा और जीवित रहने पर अपने को अभाग्यशाली माना। (३) विद्याघर ने ऐसे स्नह (मोह) को सब दुःखों का कारण बतलाया। (४) उसने कहा—दान, शील, तप आदि से ही ऐसे मनोरथ सफल हो सकते हैं। (५) उसने दृष्टान्तरूप में एक प्रार्थना कथा सुनाई। [श्लोक ३६०.११—३६२.४१]। इस मलय-मण्डल प्रदेश में एक सिंहा नाम की कुरूप स्त्री रहती थी, वह अपने पति से बहुत प्रेम करती थी परन्तु वह उसे नहीं चाहता था। पति उससे कभी न मिलने के इरादे से इस शिखर से कूदा और मरा। अतः पर्वत शिखर स आगामी भव में पति से पुनः मिलने के लिए कूद पड़ी

(६) परन्तु दोनों का ही अभीष्ट सिद्ध नहीं हुआ। [पृ० ३६२.५—३६२.१६]।

विद्याधर ने राजकुमार से वह समय पूछा जब विलासवती को अजगर ने निगला था। विगत तीन दिवस पूर्व समय जानकर उसने कहा—विलासवती अभी जीवित है। क्योंकि विद्याधरों का राजा चक्रसेन यहाँ से दस योजन दूर अतिहतचक्रविद्या की सिद्धि एक वर्ष से कर रहा है। सात दिवस से अड़तालीस योजन तक विद्याधर का आदेश है कि कोई भी किसी जीव को नहीं मार सकता। इसी कारण तुम भी बचे थे और विलासवती भी अवश्य जीवित है। शीघ्र ही उसकी खबर तुम प्राप्त करोगे। (७-१०) वह रात्रि व्यतीत हुई। कठिन साधन द्वारा चक्रसेन को विद्या सिद्ध हो गई। दूसरे दिन प्रातःकाल राजकुमार विद्याधर के साथ चक्रसेन को बघाई देने गये। विद्याधर ने राजकुमार का वृत्तान्त चक्रसेन से कहा। इतने में ही दो युवक विद्याधर आए और उन्होंने कहा कि—हमने अपने प्रिय से वियुक्त एक स्त्री को अजगर के निगलने से बचाया है। (११-१३) निर्देशानुसार स्थान पर राजकुमार गया, अति व्यथित राजकुमारी के मिलाप में दोनों प्रमुदित हुए। (१४) राजकुमार अति प्रसन्न था। चक्रसेन ने उसे अतिबल नामक अति उपयोगी साधना के साधन का उपहार बतलाया। (१५) [श्लोक पृ० ३६२.१७—३६६.१३]। राजकुमार ने अतिबल साधन का निश्चय किया परन्तु उसे कुछ सहायता की आवश्यकता थी। उसे अपने पूर्वमित्र वसुभूति का स्मरण किया। उसी समय तापसभेष में एक व्यक्ति आया। पहचानने पर ज्ञात हुआ कि वही वसुभूति है। इनने दिनों के मकट के पश्चात् दोनों मिलकर बड़े प्रसन्न हुए। (१६) क्लृप्तक्षेम के पूछने तथा किञ्चित् विश्राम के बाद वियुक्त काल के सब समाचार पूछे। वसुभूति ने जहाज के ध्वस्त होने और काष्ठफलक के सहारे पाँच दिवस में मलय के समुद्रतट पर पहुँचने की बात सुनाई। वहाँ एक तपस्वी मिला और मुझे धर्माचरण की शिक्षा दी एवं संसार के क्षणभंगुर स्वभाव का वर्णन किया। (१७-१८) परन्तु तपस्वी के समझाने पर भी मैं दीक्षा लेने को तैयार न हुआ। (२०) तपस्वी ने राजकुमार और विलासवती से तुम्हारा मिलना

होगा, यह भी कहा था। यही कारण है कि मैं तपस्वी भेष में तुम्हारे सामने उपस्थित हूँ। (२१) [श्लोक पृ० ३६६.१४—३६६.२]। सनत्कुमार ने छह मास तक विद्यासाधन की प्रारम्भिक तैयारी की। उसने विलासवती को साहसी और धैर्यवती होने की शिक्षा दी। जब मंत्र का एक लाख जाप हुआ, प्रकृति में हलचल सी मच गई। ज्यों ज्यों आप की मात्रा (संख्या) बढ़ी, सनत्कुमार के समक्ष प्रेतनिर्या, पिशाचनिर्या हाथी के वेष में, सिंह के भेष में, साँप के रूप, राक्षसी के रूप में प्रगट हुई। (इस दृश्य का कवि ने पर्याप्तरूप से वर्णन किया है)। विलासवती और सनत्कुमार के धैर्य की यह परीक्षा थी। (२२-३०) अन्त में भव्य-वातावरण के मध्य विद्या, सनत्कुमार के पास आई और उसके धैर्य की प्रशंसा की। (३१) वहाँ अति प्रसन्नमुद्रा में विद्याधरों का समूह आया और उसकी विद्यासिद्धि पर बघाई दी। (३२) सनत्कुमार ने विद्याधरों का स्वामी बनना स्वीकार किया यदि उसे विलासवती और वसुभूति के साथ रहने दिया जाये। [श्लोक पृ० ३६६.३—३७२.१५]।

सप्तम संधि—जिस गुफा में सनत्कुमार विद्यासिद्ध कर रहा था, उसके द्वार पर से न वसुभूति का स्वर सुनाई दिया, न उस गुफा में विलासवती दिखाई दी। विद्याधरों की सहायता से उसने समस्त मलय के जंगल में उन दोनों की खोज की। एक वृक्ष-समूह के मध्य में उन्होंने वसुभूति को देखा। वसुभूति ने समझा कि यह वही विद्याधरों का समूह है, जो विलासवती को हरण कर ले गया है और जिसके शोक में वह रो रहा था। उसने विद्याधरों से युद्ध करना प्रारम्भ किया। परन्तु शीघ्र ही एक दूसरे को पहचान गये। वसुभूति ने विद्याधरों के एक दल द्वारा वसुभूति का हरण, स्वयं द्वारा विमान का अनुसरण करने एवं उसमें प्राप्त असफलता का सर्व वृत्तान्त सुना दिया। राजकुमार ने अतिबल विद्या के द्वारा विलासवती की प्राप्ति के प्रति उसे विश्वस्त किया। (१-३) विद्या वहाँ आई और उन्हें वहीं ठहरने की आज्ञा देकर पवनगति को विलासवती की खोज के लिए भेजा। तीन दिन बाद पवनगति ने उसका पता लगाया और कहा कि वह रथनूपुर चक्रवाल नगर में है।

यह नगरी बंताद्वय पर्वत पर है। वहाँ का दुष्ट राजा अनंगरति उसे ले गया है और उससे बलात् विवाह करना चाहता है। यह सुनकर सनत्कुमार क्रुद्ध होकर उससे युद्ध करने को उद्यत हुआ परन्तु पवनगति ने उसे धैर्य दिया। पवनगति ने यह भी बताया कि तभी से उस नगरी पर महान संकट आ रहे हैं। महाकाली देवी ने उस राजा को चेतावनी दी है कि यदि इस पवित्र नगरी का सतीत्व हरण करोगे तो तुम्हारा सर्वथा विनाश हो जावेगा। विलासवती इस समय सख्त पहरे में एक उद्यान में स्थित है। [श्लोक पृ० ३७२, १६-३७६-२]। अनंगरति को समझाने के लिए दाम, दण्ड, भेद की उपेक्षा कर एक दूत भेजकर साम का ही आश्रय लिया। (४-६), उसे सदेश भेजा कि शीघ्र ही विलासवती को वापिस करे और अपने अयोग्य कार्य का पश्चात्ताप करे (१०-१३) पवनगति ने वह सन्देश अनंगरति को दिया। अनंगरति ने कहा—मैं किसी पाथिव प्राणी (पृथ्वी के मानव) का अग्निमैथुन स्वीकार नहीं करता। मैं विलासवती का लोटाऊंगा। वह अज्ञानवश मुझे युद्ध के लिए ललकार रहा है। पवनगति ने उसे समझाया कि तेरे राज्य पर विपत्ति आने वाली है, तेरा हाल रावण जैसा होगा। अनंगरति पवनगति पर आघात करना चाहता था और पवनगति भी प्रत्याक्रमण के लिए तैयार था। परन्तु बड़ों ने उसे दूत के प्रति नम्र होने के लिए कहा। पवनगति ने वापिस आकर राजकुमार से शीघ्र प्रतिरोध करने के लिए कहा। (१४-१७), यह सुनकर सभी विद्याधर अति क्रोधित हुए (१८), राजकुमार से अकेले ही युद्ध करने का प्रस्ताव किया। विद्याधरो ने ऐसा न करके समस्त सेना सहित शत्रु से युद्ध करने को कहा। [श्लोक पृ० ३७६-६—३७८-७] उसकी समस्त सेना एकत्रित हुई। अजिनवल देवता ने राजकुमार को एक विमान दिया। वसुभूति सहित वह विमान पर आरोहण हुआ। कवि ने इसका वर्णन विस्तार से किया है। (२०) युद्ध के ढोल और शखों की ध्वनि से आकाश परिपूरित हो गया। (२१) शुभ शकुनों के साथ भव्य वातावरण में विमान आकाश मार्ग से चला। युद्ध के नारे लगाती हुई सेना आगे बढ़ी। वे सेना सहित मार्ग में ग्राम, नगर, झील आदि को पार करते हुए

बंताद्वयपर्वत पर पहुँचे। पर्वत की तलहटी में सेना ने शिविर स्थापित किया। (२२) राजकुमार ने समस्त विद्याधरो और विद्याधरो को स्मृति किया। अनंगरति के प्रति सेना में जोश भरा हुआ था। अनंगरति ने दुर्मुख नामक सेनापति के संरक्षण में अपनी सेना युद्धार्थ भेजी। राजकुमार की सेना भी युद्धार्थ सन्नद्ध थी। (२३) दूत द्वारा समाचार प्राप्त हुआ कि दुर्मुख की सेना आ रही है, राजकुमार सेनापति चण्डसिंह उसकी ललकार का सामना करने को तैयार था। दोनों की सेना एक दूसरे के आमने सामने खड़ी हो गई। (२४) सब व्यूहों पर युद्ध होने लगा। (२६) उस भयंकर युद्ध में दुर्मुख की सेना ने चण्डसिंह की सेना का विनाश कर दिया। (२७) चण्डसिंह और दुर्मुख में तुमुल संग्राम हुआ। चण्डसिंह के द्वारा दुर्मुख का वध देखकर शत्रु की सेना भाग खड़ी हुई। राजकुमार की विजय से देवताओं को बड़ी प्रसन्नता हुई। (२८-२९) [श्लोक पृ० ३७८-८—३८०-९]।

अष्टम सन्धि—राजकुमार विद्याधरो सहित बंताद्वय-पर्वत पर चढ़ा, रथनूपुर के दृश्यो का अवलोकन किया और अनंगरति को सन्देश भेजा कि या तो वह राज्य छोड़कर अन्यत्र चला जावे या युद्ध के लिए तैयार हो जाये। कवि ने नगर एवं पर्वतप्रदेश अति भव्य वर्णन किया है। दो विद्याधर राजकुमार का सन्देश ले गये थे। उनके लौटने पर मालम हुआ कि अनंगरति ने राजकुमार के सन्देश को कोई मान नहीं दिया और अपना सेना को युद्धार्थ शकटव्यूह के रूप में अवस्थित होने की आज्ञा दी है। युद्ध के वादित्र बज उठे। (१-२) इस युद्ध घोषणा को नगर निवासियों ने बड़े विस्मयपूर्वक ग्रहण किया और राजा के चारित्र्य-विरुद्ध कार्य को बड़ी घृणा की दृष्टि से देखा। प्रजा राजा को विचकारने लगी। उभयपक्ष की सेनाएं तैयार हो गईं। (३) विविध वीरता के भावों तथा शस्त्रों में युक्त दोनों सेनाएं तैयार थी। (४-५) राजा अनंगरति युद्धार्थ चला तो उसे अति अशुभ शकुन हुए। इधर राजकुमार की सेना भी युद्धार्थ सन्नद्ध हो गई। अति भव्य दृश्य उपस्थित करती हुई वह सेना पद्यव्यूह के रूप में खड़ी हुई। (६) [श्लोक पृ० ३८०-६—३८२ १६] चण्डसिंह और समरसेन दोनों सेनापतियों की रक्षा कर

रहे थे। अनंगरति आक्रमण करना हुआ सेना के मध्य भाव में आया। (१०) दोनों सेनाओं में भयंकर युद्ध प्रारम्भ हो गया। सैनिक परस्पर जूझ पड़े। युद्ध का रचनाकार ने विस्तृत वर्णन किया है। (११-१३) चण्डसिंह ने कंचनदण्ड के विमान को नष्ट कर दिया। (१४) परन्तु मल्लयुद्ध करते हुए मृत्यु को प्राप्त हुआ। (१५) सनत्कुमार ने अपनी सेना में वीररस का संचार किया, व्यूह के समक्ष स्वयं उपस्थित हुआ, आकाश को अपनी वाण वर्षा में परिपूरित कर दिया। (१६) कुमार के भयंकर पराक्रम से युद्ध स्थल में भगदड़ मच गई। तब अनंगरति और कुमार का भयंकर युद्ध हुआ। देवता इस दृश्य को देखने के लिए आकाश में उपस्थित हो गये। (१८-१९) अजितबल देवता के प्रभाव से अनंगरति के वाण व्यर्थ हो गये। (२०) विविध आयुधा द्वारा युद्ध होने के पश्चात् दोनों का मल्लयुद्ध हुआ। अनंगरति ने हार मान ली और उसने राज्य त्याग करना स्वीकार किया। राजकुमार ने यह बात अभी अप्रगट ही रखी कि वह केवल विलासवती को चाहता है। राजकुमार ने सबको शरण प्रदान की, घायल सैनिकों का उपचार कराया, इस तरह राजकुमार वहाँ तीन दिन ठहरा और सभी की प्रमन्नता का कारण बना। (२४) उसने अपने सहायकों सहित नगर में प्रवेश किया, नागरिकों द्वारा हार्दिक स्वागत तथा विविध भेटे प्रदान की गईं। (२७) राजकुमार के स्वागत में नगर विविध भाँति से सजाया गया, स्वागत एवं उपहार अनेक भाँति से प्राप्त हुए। नगर की नारियो ने विविध प्रकार मंगलाचार किये। (२९) स्त्रियाँ नव-नव शृंगार सजाकर उसके दर्शनार्थ आईं। (३०) स्त्रियाँ ने राजकुमार के रूप आदि की प्रशंसा की एवं उसके सहायकों के विषय में वार्ताएँ की। इसके बाद राजकुमार राम के मन्दिर में गये। तदनन्तर राजमहल में प्रवेश किया, वहाँ सभी व्यक्ति उदास से खड़े थे। राजकुमार राजा के उपवन में गया, वहाँ विलास-वती से मिला, दोनों अति प्रसन्न हुए। विद्याधरों ने विलासवती को नमस्कार किया, उसका आशीर्वाद प्राप्त किया। राजकुमार एवं विलासवती दोनों दैनिक कार्यों से निवृत्त हुए, समस्त दिन उत्तम खान-पान एवं आनन्द में

व्यतीत हुआ। यहाँ कवि ने स्वागत एवं मन्दिर के दृश्यों का अच्छा वर्णन किया है। (३२-३४) सनत्कुमार रथनूपुर चक्रवालपुर के राजा घोषित किये गये और विलास-वती रानी घोषित की गई, वसुभूति मन्त्री घोषित हुआ। राजकुमार के चक्रवर्ती बनने पर प्रजा बहुत प्रसन्न हुई। (३६) [श्लोक पृ० ६८२-१९—३८६-१०]।

नवम सन्धि—सनत्कुमार को सफलतापूर्वक राज्य करते हुए पर्याप्त दिवस आनन्द व्यतीत हुए। एक दिन जब वह अपने मित्रों एवं अनुचरों से परिवेष्टित अपने अन्तःपुर में उपस्थित था तो विद्याधर के भेष में एक युवक किन्नरगीत प्रदेश से वज्रवाहु का पुत्र अनिलवेग आया और सनत्कुमार से निवेदन किया कि विद्याधर ने जैसी भविष्यवाणी की थी (१) तथा विशदरूप से धर्मोपदेश दिया था (४-८) उसकी बहन चन्द्रलेखा तुम्हारी पत्नी बनेगी, जब कि वह अनंगरति को जीतकर राज्य प्राप्त करेगा। (९) उसी समय दुष्ट विद्याधर चित्रवेग चन्द्रलेखा द्वारा अनादृत होने पर उसे हर कर ले गया। युद्ध में अनिलवेग घायल होने पर एक औषधि से एक तापस द्वारा क्षतरहित कर दिया गया। उस औषधि का विस्तृत वर्णन है। (१२) राजा ईशानचन्द्र ने मुझे तुम्हारी (सनत्कुमार) की खोज के लिए भेजा था, मैं खोज में असफल होने पर अग्नि में प्रवेश कर रहा था, तभी वनदेवता ने मुझे मलयपर्वत पर के समीप प्रदेश से सजीवनी बूटी ले जाने के लिए तथा उसके द्वारा समुद्रतट पर राजकुमार को जीवित करने के लिए कहा और कहा कि वह तुम्हारी सहायता करेगा। मैं तापस बनकर तभी से तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा हूँ। (१३) मैंने उस प्रदेश में रोती हुई राजकुमारी को देखा, उसने कहा—मेरा वाग्दान सनत्कुमार से हुआ था तथा उसने अपना समस्त विस्तृत परिचय दिया। मैंने उसे अपेक्षित सर्व कार्य करने का विश्वास दिलाया और आज तुमसे गहाँ मिलना हुआ है (१५) अनिलवेग तापस से चन्द्रलेखा को सान्त्वना प्रदान करने के लिए कहा और स्वयं चित्रवेग से युद्ध करने गया एवं उसे मार डाला। वह चन्द्रलेखा को विमान पर बिठा कर अपने नगर में ले गया और समस्त प्रजा के हर्ष का कारण बना। अनिलवेग विनयधर के साथ आप

से मिलने आया है। सनत्कुमार ने विनयधर का आदर स्तुकार कर सर्व वृत्तान्त पूछे। (१८) विनयधर ने सर्व वृत्तान्त बतलाये कि "तुम्हारे भारे जाने के समाचार से सारी प्रजा दुःखी थी। (२२) सभी मनुष्य कानाफूसी करते थे कि रानी ने राजा को असत्य वचनों से भ्रमित कर दिया है। (२३) नगर की नारियाँ कुमार के अशुभ भाग्य पर और अन्नगवती के दुर्गाचरण पर शोक मना रही थी। (२४) जब राजा को मालूम हुआ कि राजकुमारी विलासवती अपहृत हो गई है तो राजा मूर्च्छित हो गया। उद्बुद्ध होने पर उसने राजकुमारी को बूढ़ लाने की आज्ञा दी। (२५-२६) अन्तःपुर में महान शोक था। राजा तुम्हारे वध की आज्ञा देकर बहुत पछता रहा था। (२७-२८) वह रानी सहित अग्नि प्रवेशार्थ उद्यत था कि किसी निमित्तज्ञ ने सिद्धादेश दिया कि सनत्कुमार अभी जीवित है। विलासवती उसकी रानी बनेगी और तुम सब की सनत्कुमार से कालान्तर में किसी प्रकार भेंट होगी। तब मैंने (विनयधर ने) सब सत्य बात प्रगट कर दी और राजा ने मुझे तुम्हारी खोज करने की आज्ञा दी। (३०) मैंने कहा कि मैं एक वर्ष में सनत्कुमार का पता लगा दूंगा अन्यथा अग्नि में प्रवेश करूंगा। मेरा प्रयत्न व्यर्थ होने पर मैं अग्नि प्रवेश कर गया। (३१-३२) परन्तु मैंने अनुभव किया कि अग्नि ज्वाला के मध्य में कमल सिंहासन पर बैठा था और एक देवी मुझे सवाधत कर रही थी। (३३) देवी ने मुझे सजीवनी दी, जिसमें मैं राजकुमार को जीवित कर सकूँ और कहा कि तदनन्तर सभी अभिलाषाएँ पूर्ण होंगी। (३४) इस सन्धि के सदर्भ में श्लोक संख्या उल्लिखित नहीं है।

दशमसंधि—सनत्कुमार ने विनयधर के साहसिक कृत्यों की बड़ी सराहना की। विलासवती ने उनके प्रयत्नों की सफलता चाही। प्रत्येक दशा में माता-पिता का आदर तो होना ही चाहिए। सनत्कुमार का समस्त दल माता-पिता के दर्शनार्थ ताम्रलिप्ति और खेनाबी नगरी जाने को तैयार हो गए। अनिलवेग ने आग्रह किया कि सर्व-प्रथम चन्द्रलेखा का विवाह सनत्कुमार से हो जाना चाहिए। इसलिए वह समस्त दल सनत्कुमार के नेतृत्व में किष्करपुर गए। वज्रबाहु ने अनुपम स्वागत किया एवं

योग्य विधि-विधान सहित वह विवाह सम्पादित हुआ। (१-५). इस अवसर पर ईशानचन्द्र महा प्रसन्न था। उसने विनयधर को उसके साहसिक कार्यों के उपलक्ष में बहुमूल्य उपहार दिया। राजकुमार से क्षमा याचना की। राजकुमार ने कहा—यह सब कर्मों के कारण था। (६-८). अन्नगवती ने भी अपने अयोग्य कार्य के लिए क्षमा प्रार्थना की एवं खेद प्रकट किया। (८). राजकुमार ने सहर्ष क्षमा करते हुए कहा कि कर्मों के फल को कोई नहीं रोक सकता। माता-पिता के लिए पुत्र मिलाप का अवसर अति हर्षप्रद था। राज्य भर में यह दिवस पर्व के समान मनाया गया (१०-१२). ये सब समाचार सेयाविया नगरी में भी पहुँचे। राजकुमार को बुलाने के लिए विशेष दूत ताम्रलिप्ति भेजे गए। (१३). वहाँ उनका विशेष स्वागत हुआ, माता-पिता के कुशल समाचार पूछे। मालूम हुआ कि सनत्कुमार के चले जाने पर माता-पिता ने बहुत खोज की थी, परन्तु कोई फल न हुआ। (१४). उस खबर ने सबका उदाम बना दिया था। (१५-१६). तब ज्योति-पियो ने भविष्यवाणी की थी कि राजकुमार जीवित है और यह भविष्यवाणी झूठी नहीं हो सकती। (१७). विलासवती ने राजकुमार से माता-पिता के दर्शनार्थ चलने को कहा और वह अनुचरों सहित प्रस्थानित हुआ। (१८). विलासवती ने बड़े दुःख भरे हृदय से अपने माता-पिता से विदा ली। (१९). सेयावी में राजा यशोवर्मन ने उनका स्वागत किया। राजकुमार को माता ने हृदय से लगा लिया। विलासवती और चन्द्रलेखा का अति स्वागत हुआ। नगर में हर्षपूर्ण उत्सव मनाया जा रहा था। नगर के मध्य में से होकर राजप्रासाद के द्वार तक उनका प्रस्थान अति हर्षजनक था। (२०-२१) [श्लोक पृ० ३८८-५]. एक दिन राजा ने सनत्कुमार को राज्य सिंहासन सभालने के लिए कहा। राजकुमार ने कहा—मेरे पास तो ग्धतूरपुर चक्रवालपुर का राज है। जहाँ उसे शीघ्र वापिस जाना है। माता-पिता को अब पुत्र का वियोग अमह्य था अतः माता-पिता को भी राजकुमार ने अपने साथ चलने को कहा। माता-पिता की सेवा से राजकुमार का जीवन सफल हो सकेगा। लघुप्राता कार्तिकमन राज्य सिंहासन पर बिठाया गया और माता-पिता राजकुमार

के साथ चले गए । (२२-२३). विनयधर एवं अन्य सहायकों को योग्य पदों पर नियुक्त किया गया । सनत्कुमार अपनी रानियों सहित मधुरालापों एवं वनविहारों में अपना समय मुख से यापन कर रहा था [श्लोक सख्या उल्लिखित नहीं है]। काल पाकर रानी विलासवती ने पुत्र रत्न को जन्म दिया । उसका नाम अजितपाल रखा गया । [श्लोक ३८६.१८-३८७.१२]. अन्य रानियों ने भी पुत्ररत्नों को जन्म दिया । सनत्कुमार उस विद्याधर राज्य में हर्षपूर्वक होकर समय यापन करता था । (२४-२७).

एकादश संधि—एक अति ज्ञानवान साधु श्री चित्रा-गद रथतूरपर चक्रवान के उद्यान में पधारे । सनत्कुमार अपने समस्त परिवार सहित उनके दर्शनाय गया । (१) साधुमहाराज का व्यक्तित्व अनुपम था । सनत्कुमार ने धर्मलाभ प्राप्त किया । (२) साधुमहाराज ने ससार की अस्थिरता का, धर्म की आवश्यकता का, मनुष्यभवं की दुर्लभता का, सुख के दुर्लभत्व का धर्मोपदेश दिया । इसके समर्थन में मधुविन्दु की कथा का दृष्टान्त दिया । (३-१०) गुरु महाराज ने मविस्तार वर्णन किया । (११-१२). इसी अवसर पर सनत्कुमार ने साधु महाराज से पूछा, हे मुनि-राज ! मैंने पूर्वजन्म में क्या कर्म किए थे जो विभिन्न दशाओं में मुझे अनेक कष्ट भोगने पड़े ? [श्लोक पृ० ३८६.३-३८६.१५] । साधु महाराज ने फरमाया— भागीरथी की तट पर कामित्य नामक नगर में चन्द्रगुप्त राजा के घर रानी कुवलयश्री के पुत्र तुम रामगुप्त नाम से प्रसिद्ध थे । और विलासवती पूर्वजन्म में तारापीड राजा की पुत्री हरिप्रभा थी । तुम दोनों विवाहित होकर सानन्द समय यापन करते थे । एक दिन वसन्तऋतु में विहार करते हुए तुम हंसों के जोड़े को केसर के रंग से लाल (पीत) रंग में रंग दिया था । (१३-१४) वे हंस रंग परिवर्तन के कारण परस्पर एक दूसरे को न पहचानते परन्तु रंग के कारण पुनः वियुक्त हो जाते । वे दोनों मरने के लिए गंगा में डूबने चले । वहाँ उन दोनों का रंग धुल गया, वे एक दूसरे को देख कर प्रसन्न हुए । इसी पाप के कारण तुम्हें भी इस जन्म में वियोग के सन्ताप से सन्तापित होना पड़ा है । अन्तरायकर्म के कारण तुम्हें वियोग का दुःख सहना पड़ा है । (१५-१६)]श्लोक

३८६.१६-३८७.१७] । सन्ताप एवं कष्ट के पश्चात् तुम्हें इतना उच्च पद प्राप्त हुआ । इसका कारण यह है कि एक धार्मिक श्रावक चन्दन धर्मगुरु धर्मघोष जी के पास ले गया और तुम्हें सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई । (१७) तुम्हें धर्म का स्वरूप विस्तार से समझाया गया । (१८-२१) तुमने साधु धर्म, श्रावकधर्म का यथेष्ट पालन किया । उसी पुण्य से आज तुम अनेक कष्टों को पार करते हुए श्रेष्ठ सुख के अधिकारी बने हो । (२२-२५) गुरु मुख से यह सब सुनकर उन दोनों को पूर्व जन्म का स्मरण हो आया । विलासवती को कर्मों की लीला पर बड़ा आश्चर्य हुआ और उसकी इच्छा संयोग-वियोग, दुःख-शोक से रहित स्थान को (मोक्ष को) प्राप्त करने की तीव्र इच्छा हुई । गुरु महाराजने मोक्षका स्वरूप भली भाँति समझाया । सनत्कुमार के पिता ने दीक्षा लेना अंगीकार किया । (२६-२८) सनत्कुमार भी पिता के साथ दीक्षित होना चाहता था । उसने अजितबल को विद्याधर राज्य का स्वामी बनाया । अन्य प्रदेश अन्य पुत्रों को सौंप दिए । उसने विलासवती से अतिघोर तपश्चर्या न करने को कहा । प्रातःकाल उसने पंचपरमेष्ठी का ध्यान किया । (३१) पंचपरमेष्ठी के गुणों का एव स्वरूप का ध्यान किया । (३२) इस तरह वह अपनी पत्नी सहित प्रातः उठा और अनुचरों को आज्ञा दी कि व्रत ग्रहण करने की पूर्व तैयारी करे । उन्होंने स्नान किया, व स्नानालंकार धारण किए और समस्त प्रजा को कष्ट में डूबा कर नगरी का त्याग कर गए । (३३) सब मनुष्यों को आश्चर्य था कि वे ससार का त्याग क्यों कर रहे हैं ? (३४) कुछ ने सन्देह किया कुछ ने अभि-नन्दन किया । अपने परिजनों सहित उसने दीक्षा धारण की । उसने अनेक शास्त्रों का अभ्यास किया और विविध तपश्चर्या की । (३६) इस तरह उन्हें दिव्यज्ञान की प्राप्ति हुई, अनेक प्रदेशों में धर्मप्रचार करते हुए वे सो-राष्ट्र में शत्रुंजय पर्वत पर पधारे । उनकी आत्मभावना (ध्यान) क्षपकश्रेणी तक पहुँच गई । (३८) सनत्कुमार ने सभी कर्मों का क्षय करके मोक्ष पद प्राप्त किया । अन्य सभी ने विभिन्न स्वर्ग के पद प्राप्त किये ।

रचयिता ने अपने जीवन के विषय में भी कुछ परिचय-तथ्य दिये हैं । (वे अन्यत्र उद्धृत किये गये हैं ।)

अनुवाक—रामकुमार जैन एम. 'स्नातक'

साहित्यिक एवं सामाजिक गतिविधियों के केन्द्र :

जयपुर के प्रमुख दि० जैन मन्दिर

डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल एम. ए., पी-एच. डी.

जयपुर नगर की स्थापना संवत् १७८४ में हुई थी। उस समय देहली पर मुगलों का शासन था। लेकिन वह इतना शक्तिशाली नहीं था कि महाराजा सवाई जयसिंह जैन वीर, पराक्रमी एवं राजभक्त शासक को नवीन नगर बसाने से मना करता। इसलिए महाराजा सवाई जयसिंह ने बड़े उत्साह एवं शास्त्र विधि से नवीन नगर की नींव रखी। नगर का मानचित्र पहिले ही तत्कालीन इंजीनियरों के परामर्श से तैयार कर लिया गया था। नगर का पूरा निर्माण योजनाबद्ध रीति से हुआ इसलिए कुछ समय पश्चात् ही नगर की कीर्ति चारों ओर फैल गयी। विद्याधर नामक नगर शास्त्री ने इस नगर के बसाने में सबसे अधिक योग दिया था। विद्याधर के सम्बन्ध में कुछ विद्वानों का मत है कि वह जैन था और कुछ उसे वैष्णव मानते हैं। राजस्थान इतिहास के प्रसिद्ध विद्वान् कर्मठ जेम्स टाड ने विद्याधर को जैन माना है।

जैन कवि बखतराम साह ने अपने बुद्धि विलास (स० १८२७) में जयपुर नगर के बसावट का पूरा वर्णन दिया है। उनके वर्णन से ऐसा मालूम पड़ता है कि नगर का निर्माण कार्य स्वयं कवि ने अपनी आंखों से देखा था। जयपुर नगर का इस तरह का वर्णन बहुत कम विद्वानों ने किया है। आमेर और सांगानेर के मध्य में बसा हुआ यह नगर देश के ही नहीं किन्तु विश्व के सुन्दरतम नगरों में गिना जाता है। कविवर बखतराम के द्वारा वर्णित ६ पक्तियां निम्न प्रकार हैं—

नगर बसायो यक नयी, जयस्यध सवाई।

जाकी सोभा जगत में, दसही दिसि छाई।
सोहै अंबावती की दक्षिण दिसि सागानेरि,

दोऊ बीचि सहर अनोपम बसायो है।
नाम ताकी धरयौ है सवाई जयपुर

मानौ सुरनि मिलि सूरपुर सौ रचायौ है ॥
नगर निर्माण के साथ ही यहां तेजी से जैन मन्दिरों का निर्माण होने लगा। जैनो के लिए दो चौकडियां निश्चित की गयीं। एक मोदीखाना दूसरा घाट दरवाजा। इसलिए सबसे अधिक मन्दिरों की संख्या इन्हीं चौकडियों में मिलती है। यद्यपि यह कहना कठिन है कि कौन-सा मन्दिर प्रथम बना और कौन-सा बाद में लेकिन उपलब्ध तथ्यों के अनुसार चौकड़ी मोदीखाना, मे पाटोदी का मन्दिर, लश्कर का मन्दिर, संघोजी का मन्दिर, तथा चौकड़ी घाट दरवाजा में तेरहपथी बड़ा मन्दिर, गोधो का मन्दिर, बधीचन्द जी का मन्दिर, नगर के उन प्राचीन मन्दिरों में से हैं जिनका निर्माण नगर स्थापना के १०-१५ वर्षों में ही हो गया था। ये सभी मन्दिर गत २-२॥ शताब्दियों से समस्त जैन समाज की गतिविधियों के केन्द्र बने हुए हैं।

जयपुर विशाल मन्दिरों का नगर है। मन्दिरों एवं चैत्यालयों की संख्या यहाँ १५० से भी अधिक है। इनमें ५० जैन मन्दिर तो ऐसे हैं जो विशाल होने के साथ-साथ कलापूर्ण भी हैं। जैन श्रावकों ने इनके निर्माण में जिस श्रद्धा एवं उदारता के साथ अपने द्रव्य का सदुपयोग किया है वह आज के समाज के लिए तो आश्चर्य की बात है। उन्होंने इन मन्दिरों को सभी दृष्टियों से आकर्षक एवं प्रभावक बनाने का प्रयास किया तथा समय-समय पर उनमें उत्सवादि करके उनकी लोकप्रियता में कमी नहीं होने दी। यहाँ यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि एक ही नगर में दिगम्बर जैन मन्दिरों की जितनी संख्या जयपुर में है उतनी संख्या देश के किसी नगर में भी नहीं है। हो सकता है कि देहली जैसे नगर में दिगम्बर जैन समाज की अधिक संख्या हो लेकिन मन्दिरों की संख्या की दृष्टि से जयपुर नगर का प्रथम स्थान है। और इसी-

लिए जयपुर को देश के इतर प्रदेशों में जैनपुरी कहते हैं। उनके कहने में सचाई भी है क्योंकि जयपुर नगर में होने वाले विद्वानों ने प्रत्येक क्षेत्र में सारे देश की जैन समाज का नेतृत्व किया और साहित्य, संस्कृति एवं समाज सुधार में उनका पथ प्रदर्शन किया।

जयपुर के ये जैन मन्दिर साहित्य एवं साहित्यकारों के लिए वरदान सिद्ध हुए। वे इनमें बैठकर अपनी ज्ञान पिपासा को ही शान्त नहीं किया करते थे किन्तु वहाँ नये-नये ग्रंथों की रचना करके विलुप्त, अज्ञात तथा महत्वपूर्ण ग्रंथों को नष्ट होने से बचा लिया। वह युग भाषा टीका का युग था इसलिए जयपुर के इन विद्वानों ने पचासों ग्रंथों की भाषा टीका करके देश में स्वाध्याय के प्रति अपूर्व जाग्रति पैदा कर दी थी। इस जाग्रति की हवा सारे देश में अत्यधिक शीघ्रता से फैली और समाज के सभी वर्गों में अध्ययन एवं अध्यापन का प्रचार बढ़ता ही गया। नगर के विद्वानों की प्रशंसा सारे देश में फैल गयी और देश के विभिन्न भागों से लोग इनके दर्शनार्थ आने लगे।

नगर के प्रथम विद्वान् पं० दौलतराम जी कासलीवाल का किसी विशिष्ट मन्दिर का संपर्क नहीं रहा। उन्होंने अपनी किसी भी रचना में वहाँ के किसी एक मन्दिर का नामोल्लेख नहीं किया। इनके पदमपुराण में केवल इतना ही उल्लेख मिलता है कि नगर में स्थान-स्थान पर मन्दिर बने हुए हैं और उनमें प्रतिदिन सैकड़ों श्रावक पूजा पाठ करते रहते हैं।

और और जिन मन्दिर बनें।

पूजें तिनकू भविजन धने।

वैसे तेरहपंथी का बड़ा मन्दिर इनका प्रमुख मन्दिर होना चाहिए। महापंडित टोडरमल्ल की साहित्यिक एवं सामाजिक गतिविधियों के प्रमुख मन्दिर थे वधीचन्द जी का मन्दिर एवं तेरहपंथी बड़ा मन्दिर। मोक्षमार्ग प्रकाशक की रचना वधीचन्दजी के मन्दिर में बैठ कर की गयी थी। लेकिन ये शास्त्र प्रवचन करते थे बड़े मन्दिर में। इसी तेरहपंथी मन्दिर में सामाजिक क्रान्ति की योजनाएँ बनती थी तथा भाई रायमल्ल एवं तत्कालीन विद्वानों से एवं दीवान रतनचन्द्र जी से इसी मन्दिर में तत्वचर्चा होती

थी। उनके प्रमुख श्रोताओं में अजवराय जी, तिलोकचन्द जी पाटनी, महाराम जी ओसवाल, त्रिलोकचन्द जी सोगानी, मोती राम जी पाटनी, हरिचन्द जी, चोखचन्द जी, नेमचन्द जी पाटनी के नाम उल्लेखनीय हैं। पंडितजी के कारण जयपुर नगर के श्रावकों में एक अद्भुत जोश फैल गया था और वे अपने धर्म एवं साहित्य के लिए सब कुछ करने को तैयार थे। उनके युग में एक बार इन विशाल जैन मन्दिरों को राज्य सरकार की ओर से नष्ट करने की योजना ही नहीं बनी किन्तु अनेक जैन मन्दिरों को नष्ट भी कर दिया गया। इस जघन्य कृत्य में तत्कालीन राजगुरु दयाम तिवारी का प्रमुख हाथ था। बुद्धि विलास में इस घटना का संक्षिप्त वर्णन किया गया है। लेकिन दो वर्ष पश्चात् ही जब महाराजा को वास्तविक तथ्य का पता लगा तो राजगुरु को ही देश निकाला दे दिया गया और जैन मन्दिरों का राज्य सरकार के खर्च से निर्माण करवाया गया।

फुनि मत वरप डचौड मैं थप्पौ,

मिलि सबही फिरि अग्रहंत जप्पौ।

लिये देहुरा फेरि चिनाय,

दे अ कोड प्रतिमा पधराय ॥१३०१

नाचन कूदन फिर बहु लगे,

धर्म मांझि फिरि अधिके पगे।

पूजत फुनि हाथी सुखपाल,

प्रभु चढाय रथ नचत विसाल ॥१३०२

—बुद्धि विलास

लूणकरण जी पांडया का मन्दिर पांडे लूणकरण जी का प्रमुख मन्दिर था। ये जैन सन्त थे तथा साहित्य सेवा में अत्यधिक रुचि रखते थे। इन्होंने अपने मन्दिर में एक शास्त्र भण्डार की स्थापना की थी जिसमें ८०० से अधिक हस्तलिखित ग्रंथों का अच्छा संग्रह है। आयुर्वेद, ज्योतिष एवं मंत्र शास्त्र के ग्रंथों का भी यहाँ उल्लेखनीय संग्रह है। इसी तरह लक्ष्कर का मन्दिर भी विद्वानों का केंद्र रहा है। हिन्दी के प्रसिद्ध कवि बखतराम साहू ने अपने बुद्धिविलास की रचना इसी मन्दिर में बैठ कर की थी। कवि ने लक्ष्कर के मन्दिर का निम्न प्रकार वर्णन किया है—

अब सुनिये भविजन बात ऐक,

देउरे वनें पुर मैं अनेक ।
 सोहत सुन्दर शिव विष्णु जैन ।
 तिनकी उपमा कहते न बने ।
 परमत के नर नारी प्रवान ।
 निज धर्म माहि निति रहै लीन ।
 तिन माहि देहुरा इक विसाल ।
 तह राजत नेम मन्नू दयाल ।
 लसकरी नाम कहियत महान ।
 मनु रच्यौ विरंचि जु करि समान ।
 मधि चौरी प्रभु को प्रमान ।
 अति बनी फटिक सम लखि पखान ।
 ता माहि जटित है स्याम संग ।
 मनु लसत नील मनि अति मुरंग ।
 चित्राम बन्यौ तामैं अनूप ।
 लखि भविजन पावत निज सरूप ।
 पंडित तह राजत है कल्यान ।
 बहु तरक न्याय बांचत पुरान ।
 निज धर्म कर्म मैं सावधान ।
 विन धर्म बात जिनकै न आन ।
 गुन कीरति इक मुनिवर महान ।
 तप करत अधिक जिनमत पुरान ॥

यह तो केवल एक मन्दिर का वर्णन है इसी तरह और भी मन्दिरों का वर्णन मिलता है। पाटोदी का मन्दिर भट्टारको का प्रमुख मन्दिर रहा है। इसका निर्माण जोधराज पाटोदी ने करवाया था। इसलिए धीरे-धीरे यह केवल पाटोदी के मन्दिर के नाम से ही जाना जाने लगा। वैसे आरम्भ में इसका नाम आदिनाथ चैत्यालय था। ग्रामेर से भट्टारक गादी का जब जयपुर में स्थानान्तरण हुआ तो उन्होंने इसी मन्दिर को अपना केन्द्र बनाया। उनके आने के पश्चात् दिगम्बर समाज की बीस पथ आम्नाय की गतिविधियों का यह मन्दिर प्रमुख केन्द्र बन गया। वैसे यह एक पचायनी मन्दिर भी है। यहाँ भट्टारक गादी आने के पश्चात् क्षमेन्द्रकीर्ति (स० १८१५) सुरेन्द्रकीर्ति (सवत् १८२३), सुखेन्द्रकीर्ति (स० १८६३) तथा नरेन्द्रकीर्ति स० १९७६) का भट्टारक गादी पर पट्टाभिषेक हुआ। इस प्रकार करीब १०० वर्ष तक भट्टा-

रको का इस मन्दिर से सीधा सम्पर्क रहा। बखतराम साह ने बुद्धि विलास में निम्न दो भट्टारकों का उल्लेख किया है—

पट्ट दीय पाये मुनिराय, नगर सवाई जयपुर आय ।
 इक खेमेन्द्रकीर्ति गुनपाल, अठारहमें पन्द्रह के साल ।
 तिनकै पटिराजै बुधिवान, सुरेन्द्रकीर्ति तम हर भान ।
 साल अठारह सै तेईस, भये भट्टारक महामुनीस ॥

पाटोदी के मन्दिर में इन भट्टारकों द्वारा सस्थापित एक अत्यधिक महत्वपूर्ण ग्रंथ संग्रहालय है। इसमें ढाई हजार से भी अधिक हस्तलिखित ग्रन्थों का संग्रह है। यहाँ के ग्रन्थों की पूरी सूची एवं विवरण राजस्थान के शास्त्र भण्डारों की ग्रंथ सूची चतुर्थ भाग में प्रकाशित हो चुका है। हिन्दी की आदि कालिक रचना जिणदत्त चरित की पाटुलिपि इसी भण्डार में लेखक को उपलब्ध हुई थी। इन भण्डारों की सैकड़ों कृतियाँ अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं जिनका प्रकाशित होना आवश्यक है।

इसी तरह छोटे दीवान का मन्दिर प० जयचन्द जी छावड़ा एवं उनके पुत्र नन्दलाल छावड़ा की साहित्यिक गतिविधियों का केन्द्र रहा। उस समय के विद्वानों में नवलराम, डालूराम, मन्नालाल सांगाना के नाम उल्लेखनीय हैं। मन्दिर की प्रतिष्ठा सवत् १८६१ में हुई थी। जिसका वर्णन स्वयं जयचन्द छावड़ा ने अपनी सर्वार्थसिद्धि वचनिका में निम्न प्रकार किया है।

करी प्रतिष्ठा मन्दिर नयौ, चन्द्रप्रभ जिन थापन थयौ ।
 ताकरि पुण्य बढौ यश भयौ,

सब जैननि को मन हरखयौ ॥

प० जयचन्द जी छावड़ा के पुत्र नन्दलाल छावड़ा भी विद्वान् थे। अमरचन्द दीवान उनकी विद्वत्ता से काफी प्रभावित थे इन्हीं की प्रेरणा पाकर नन्दलाल जी ने मूलाचार की भाषा टीका की थी। स्वयं प० जयचन्द जी को साहित्यिक क्षेत्र में प्रविष्ट कराने का श्रेय इन्हीं को है जिसका साभार उल्लेख पंडित जी ने इस प्रकार किया है :—

नंदलाल प्ररो सुत गुनी, बालपनैं तैं विद्या सुनी ।
 पंडित भयौ बडौ परवीन, ताहू नै यह प्रेरणा दीन ॥

पिता द्वारा अपने पुत्र की विद्वत्ता की प्रशंसा करना

यह बतलाता है कि नन्दलाल छावडा अपने पिता से भी अधिक विद्वान् थे।

निगोत्याँ का मन्दिर चौकड़ी घाट दरवाजा में स्थित है। इस मन्दिर का निर्माण एक विद्वान् श्रावक ऋषभदास निगोत्या द्वारा कराया गया था, जो प्राकृत, संस्कृत एवं हिन्दी के अच्छे विद्वान् थे। मूलाचार की भाषा टीका इन्होंने इसी मन्दिर में बैठ कर समाप्त की थी। इनके तीन पुत्र थे मानजीराम जी, दीलतराम जी एवं पारसदास जी। ये तीनों ही भजना-नन्दी थे। पारसदास विशेष पंडित थे। तथा इनकी तत्कालीन विद्वानों में अच्छी धाक थी। इन्होंने अपने पिता के अतिरिक्त ५० सदासुख जी कासलीवाल से भी अध्ययन किया था। तेरहपंथी बड़ा मन्दिर में ये प्रतिदिन शास्त्र पढ़ा करते थे। पारसदास जी ने ज्ञानसूर्योदय नाटक की भाषा के अतिरिक्त कितने ही पदों की भी रचना की थी। पारस विलास में इनकी लघु रचनाओं एवं पदों का संग्रह है। सार चौबीसी इनकी एक बृहद् रचना है। जिसका रचनाकाल संवत् १६१८ ई। बड़ी प्रमत्तता की बात है कि हमारे परम मित्र डा० गगाराम गर्ग पारसदास के पदों को लेकर डी. लिट् उपाधि के लिए हिन्दी के

अन्य भक्ति परक पदों का तुलनात्मक अध्ययन कर रहे हैं।

मन्दिरों को केन्द्र बनाकर जिन विद्वानों ने साहित्य की महती सेवा की थी उस कड़ी के अन्तिम विद्वान् थे पं० सदासुख जी कासलीवाल। ये जैन ग्रन्थों के अपार ज्ञाता थे तथा साहित्य निर्माता भी थे। तत्त्वार्थसूत्र की अर्थप्रकाशिका टीका एवं रत्नकरणश्रावकाचार की भाषा टीका इनकी प्रमुख रचनाओं में से है। साहित्य निर्माता के साथ-साथ ये वक्ता भी अच्छे थे। इनके प्रवचनों को सुनने के लिए श्रोताओं की अपार भीड़ लगती, इसलिए इन्हे प्रातः और साय तीन मन्दिरों में शास्त्र प्रवचन करना पड़ता था। पंडित जी ने जो अपना परिचय दिया है वह निम्न प्रकार है—

डेडराज के वंश मांहि इक किञ्चित ज्ञाता।

दुलोचन्द का पुत्र कासलीवाल विख्याता।

नाम सदासुख कहै, आत्म सुख का बहु इच्छुक।

सो सुख वानि प्रसाद विषय तै भयै निरिच्छुक ॥

इसी तरह नगर के और भी मन्दिर हैं जो विद्वानों एवं पंडितों के केन्द्र रहे—इनमें होबियों का मन्दिर, जो वनेट का मन्दिर, पारदर्शनाथ का मन्दिर आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

मृगमूर्ति-कला में नैगमेष

डा० संकटा प्रसाद शुक्ल, एम. ए., पी-एच. डी.

नैगमेष शिशु-जन्म से संबंधित देवता माने जाते हैं। एक श्वेताम्बर जैन कथा के अनुसार इन्द्र की आज्ञा से नैगमेष ने ब्राह्मणी देवनन्दा के गर्भ से भगवान् महावीर को हटाकर क्षत्राणी त्रिशला के गर्भ में स्थापना भी की थी। इस कथानक का चित्रण एक कुपाण कालीन मथुरा से उपलब्ध पाषाणरट्ट पर प्राप्त है जिसमें अजमुखी नैगमेष एक आसन पर बैठे हैं। साथ ही अकित

अभिलेख में उन्हें भगवा न कहा गया है।

नैगमेष की उपासना का प्रचलन भारत में प्राचीन काल से है। इसका सर्वप्रथम उल्लेख ऋग्वेद^१ के खिल भाग में आया है। यह स्थलीपाक आदि से विधिपूर्वक पूजित होने पर शिशुओं के प्रति दयालु हो जाते हैं। नैगमेष शब्द ('नैज' का अर्थ स्नान कराना तथा मेष का मेढा से है) का अर्थ उस मेष से लिया जाता है जिस पर शिशु

१. स्मिथ, वी० ए० दि० जैन स्तूप एण्ड अदर एन्टी क्वेटरीज आफ मथुरा पृ० २५, न प्ले० १८।

२. ऋग्वेद, ३०.१।

को बिठलाकर स्नान करायी जाती है।^१ आज भी कर्ण-वेध-संस्कार के अवसर कुछ स्थानों पर ऐसी ही प्रथा मनायी जाती है।

गृह्यसूत्रों में नैगमेष—पूजा का विशेष विवरण उपलब्ध है। आश्वलायन गृह्यसूत्र^२ के अनुसार सीमान्तोन्नयन संस्कार के चतुर्थ मास नैगमेष की पूजा अन्य देवताओं के साथ की जानी चाहिए। नैगमेष अथवा नैगमेष देवता स्कन्द का ही रूप है जिन्हें शिव-पार्वती का पुत्र माना जाता है। महाभारत^३ में स्कन्द का संबंध दुष्ट ग्रहों के साथ मिलता है जो शिशुओं के प्रति अनुकूल नहीं होते हैं। एक प्रसंग^४ में स्कन्द द्वारा मातृदेवियों को १६ वर्ष तक की आयु के बच्चों के हरण (विनाश) की अनुमति प्रदान करने का उल्लेख है। सुश्रुत संहिता में भी नैगमेष का बालग्रहों तथा स्कन्द, अपस्मार और विशाख के साथ उल्लेख है। प्राचीन काल में नैगमेष देवता की पर्याप्त लोकप्रियता थी। महामयूरी^५ में तो नैगमेष को पाचाल-राज्य की राजधानी अहिच्छत्रा का यक्ष माना गया है।

नैगमेष-उपासना का शनैः शनैः विकास हुआ। सर्वप्रथम शिशु के स्नान के संबंध में, फिर नैगमेष अथवा नैगमेष अर्थात् वणिजों के देवता के रूप में और अन्ततः हरिराँगमेषी अथवा इन्द्र देव के प्रमुख सहायक के रूप में मान्यता मिली।^६

प्राचीन काल में नैगमेष देवता की आकृतियाँ बकरी के सिर से युक्त मिलती हैं। मथुरा की कुपाण-कला में

३. अग्रवाल, पृ० कु०, स्कन्द-कार्तिकेय, वाराणसी पृ० ५२।
४. आश्व० गृ०, (मे० आनन्द शास्त्री,) कलकत्ता, १९४३, पृ० ६३-६४।
५. महाभारत, आदि० ६६.२४; आरण्य० २३७.१३।
६. वही, आरण्य० २२७.१३।
७. सुश्रुत संहिता (स० नारायण राम आचार्य) बंबई, १९४५, अ० २७.४.५, पृ० ८२२।
८. दृष्टव्यः कुमारस्वामी, यक्षाज पृ० १२।
९. अग्रवाल पृ० १ कु०, स्कन्द कार्तिकेय, पृ० ५२।

उनकी अनेक मूर्तियाँ उपलब्ध हैं।^७ प्रायः अक में शिशु बैठाये दिखलाया गया है।

प्राचीन मृण्मूर्ति कला में नैगमेष की अपेक्षा नैगमेषी की आकृतियों का बाहुल्य है। उत्तरी भारत के कई प्राचीन स्थानों से इनकी मृण्मूर्तियाँ पायी गई हैं। अहिच्छत्रा से प्राप्त नैगमेष के नेत्र बकरी जैसे हैं और उनका मुख छोटा है तथा गँग मेहराब की आकृति जैसे है।^८ राज्य-संग्रहालय, लखनऊ के संग्रह में नैगमेषी की कई मृण्मूर्तियाँ संगृहीत हैं।^९ इनमें से कुछ की आकृति स्त्री के मुख से बहुत कुछ समानता रखती है किन्तु कान अत्यधिक लम्बे दिखलाये गये हैं। मथुरा से प्राप्त एक उदाहरण में नैगमेषी की आकृति बकरी जैसी ही है।^{१०} डॉ० अग्रवाल^{११} ने इन स्त्री आकृतियों की पहिचान षष्ठी देवी से की है। षष्ठी देवी को स्कन्द की पत्नी माना जाता है और नैगमेष, जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, स्कन्द का ही एक रूप है।

उत्तरी भारत के अनेक स्थानों यथा—मथुरा, अहिच्छत्रा, भीटा और राजघाट इत्यादि स्थानों से नैगमेष। नैगमेषी की मृण्मूर्तियों की उपलब्धि इस देवता की लोकप्रियता की परिचायक है। अहिच्छत्रा के उत्खननों से इस प्रकार की मृण्मूर्तियों की तिथि प्रायः ४५०—६५० ईसवी निर्धारित की गई है।^{१२} किन्तु कुमराहर (पटना) के पुरातात्विक स्तरीकरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि नैगमेष/नैगमेषी की मृण्मूर्तियों का निर्माण ईसा की प्रागम्भिक शक्तियों से प्रारंभ हो गया था क्योंकि वहाँ से १००—३०० ईसवी के स्तर से वह पर्याप्त मात्रा में पायी गई है।^{१३}

१०. अग्रवाल, वा० श० मथुरा म्यूजियम कंटेलाग भाग २, पृ० ३२ तथा आगे।
११. राज्य-संग्रहालय, लखनऊ, स० ४२.२।
१२. उपयुक्त, स० ४६८, ०.३२०।
१३. उपयुक्त, स० ०.३२१।
१४. गेन्सेन्ट इंडिया स० ४, १९४८, पृ० १३५।
१५. वही, पृ० १३४।
१६. ग्रन्टेकर तथा अन्य, रिपोर्ट आन कुमराहर एक्स-केवेंजन्स १९५१-५५, पटना, १९५६, पृ० ११०।

नलपुर का जैन शिलालेख

श्री रतनलाल कटारिया

गतांक मे २० श्लोक तक का हिन्दी अनुवाद दिया गया है शेष ५० श्लोको का हिन्दी अनुवाद नीचे प्रस्तुत है :—

गतांक मे मुद्रण की कुछ गलतिया हो गई है जिन्हे पाठक इस प्रकार संशोधित कर ले :—

श्लोक नं०	अशुद्ध	शुद्ध
१	ससेविवितु	ससेवितु
६	सर्वतः	सर्वतः
८	पयोष	प्लोष
१२	किन्तु	किन्तु

(मदाक्रांता छद)

नानादानावसरविसरत्कल्पनावारिभिस्ते

भूयः पंकां यदियमवनि त्वदयशः श्रीभ्रमिन्त्वा ।

भजे देवप्रवरभवन चन्द्रपीयूषकुण्डे

धौताङ्गिः सन्मृगमिषमहापकि तज्जैत्रसिह ! ॥२१॥

अर्थ :—हे जैत्रसिह ! आपकी यह कीर्ति-लक्ष्मी, आपके अनेक दानो के अवसर पर फैलने वाले सकल्प के कारण अत्यधिक कीचड़ से युक्त इस पृथ्वी पर भ्रमण कर, चन्द्रमा रूपी अमृत कुण्ड मे पैर धोकर जिन-मन्दिर को प्राप्त हुई इसी से वह चन्द्रकुण्ड विद्यमान मृग के बहाने बहुत भारी कीचड़ से युक्त है ।

(विशेष :—जैत्रसिह की कीर्ति पृथ्वी से गगन मंडल तक दिग्दग्ध मे फैलकर फिर जिन मन्दिर मे आकर स्थिर हुई । जिन मन्दिर मे बिना पैर धोये प्रवेश नहीं किया जाता, अतः यशः श्री ने चन्द्र रूपी अमृत कुण्ड मे पैर धोये इससे पैर की कीचड़ कुण्ड मे रह गई । चन्द्रमा मे जो मृग-चिह्न (कालिमा) है वह मानो वही कीचड़ है । अमृत कुण्ड में पैर धोने से यशोलक्ष्मी का अमरत्व भी द्योतित किया गया है ।

पहिले दानी, जल की धारा छोड़ते हुए दान का

सकल्प करते थे यह पद्धति “कल्पना वारिभिः” से व्यक्त की गई है ।)

(उपजाति)

नाकेशवत्केशवदेवनामा, नित्यं सुधर्माश्रयवर्धितश्रीः ।

यस्याः पिता सा कुलधर्महर्म्यं, विराजति श्रीदेयिता

तदीया ॥ २२ ॥

अर्थ—देवतुल्य और सदा सद्धर्म (अथवा सुधर्मा=दवसभा) के आश्रय से बढ़ी है शोभा जिनकी ऐसे केशव देव नाम के जिसके पिता है ऐसी कुलधर्म की महल श्री=लक्ष्मी देवी उन जैत्रसिह की धर्मपत्नी है ।

सा सप्तगोत्रस्थिति सप्तभौमा, साध्वाकृतोन्सप्तमुतानसूत ।
महारथे श्रीजिनधर्मभानोराभिभूतः सप्ततुरंगभंगी ॥२३॥

अर्थ—सातवंशो की स्थिति के लिए सात भूमिका का रूप उस लक्ष्मी देवी ने सुरुपवान् सात पुत्रों को जन्म दिया जो मानों श्री जिनधर्म रूपी सूर्य के महान् रथ मे जुते हुए सात भग रूपी सात तुरंग-घोड़े ही है ।

(अनुष्टुप्)

तेषामुदयसिंहाख्यो, मुख्यः सिह इवंधते ।

निभिदत्र कलिकालेभं, कीर्तिमुक्ताबलीः किरन् ॥२४॥

अर्थ :—उनमे सबसे बड़ा उदयसिह है जो कलिकाल रूपी हाथी को चीरकर कीर्ति रूपी गज मुक्ताग्रा को बिखेरने वाला उदयत सिंह ही है ।

(वसततिलका)

अवद्यापि किं दहति दूरवरिद्रमुद्रा,

विश्वं विभाति मयि दोष्यवनकदावे ।

किं दक्षिणस्तुवनपाणिरितीव,

कोपादुज्जाज्वलीत्युदयसिह सशोणशोचिः ॥२५॥

अर्थ :—दरिद्रता रूपी वन को भस्म करने के लिए दावानल स्वरूप मेरे विराजमान रहते हुए क्या अब भी अत्यन्त दारिद्र्य मुद्रा संसार को जला रही है ? तो

उदार स्वभाव (दान वीरता) से क्या ! इस प्रकार वह तेजस्वी उदयसिंह (दान का सकल करने के लिए) जल हाथ में लिए हुए मानो क्रोध से तमतमा रहा है ।

(विशेष :—विभाति सति, सप्तम्यन्त प्रयोगः । संशोणशोचिः=लाल प्रभा से युक्त अर्थात् तेजस्वी । दक्षिणः= उदार स्वभाव ;—देखो 'पदचन्द्र कोष')

(शार्दूलविक्रीडित)

त्यक्त्वा सागरमिन्दुभालगरल नित्य ज्वलत्कौस्तुभ-
स्वाहावल्लभमाविहाय भुजयोर्मध्यं मुरारेरपि ।
शश्वदधाति शिलीमुखालि विषमादम्भोरुहाद्विभ्यती
धावात्यौदयसिंहमस्तदुरित धाम प्रति श्रोध्रवम् ॥२६॥

अर्थ :—समुद्र में कालकूट विष होने के कारण और विष्णु का वक्षःस्थल कौस्तुभमणि रूपी अग्नि से नित्य प्रज्वलित रहने के कारण तथा कमल भ्रमर समूह से छेड़े जाने के कारण इन तीनों को छोड़कर वास्तव में लक्ष्मी सब आपत्तियों से रहित ऐसे उदयसिंह के घर की ओर ही बाँध रही है ।

(विशेष :—लक्ष्मी का निवास, समुद्र, विष्णु का वक्षःस्थल और कमल इन तीन में प्रसिद्ध है । इन्दुभाल= शिव । पौराणिक कथा है कि—शिवजी ने सागर-मथन से निकले काल कूट विष को पिया था) ।

(उपजाति)

शृंगारसिंहस्तदनुजिहीते, शृंगाररत्नं सुविवेकभाजां ।
ततोऽनुभूराजित राजसिंहः, कलानिधानं सुकृतकतानः ॥२७॥

अर्थ :—उदयसिंह के बाद (दूसरा पुत्र) शृंगार सिंह हुआ जो विद्वद् शिरोमणि था उसके बाद पृथ्वी की शोभा-स्वरूप राजसिंह (तीसरा पुत्र) हुआ जो कलाओं में पार-गत और सत्कार्य में सदा लवलीन रहने वाला था ।

तस्यानुजन्मा सुकृतार्थजन्मा, सन्मानसः खिलति वीरसिंहः ।
यशः पराभूतमुधांशुधामा, तस्यानुजो लक्षणसिंह नामा ॥२८॥

अर्थ :—उसके बाद कृतकृत्य जन्मवाला और निर्मम हृदय वाला वीरसिंह (चौथा पुत्र) हुआ । यश से पराजित कर दिया है चन्द्रमण्डल को भी जिसने अर्थात् धवलकीर्ति वाला लक्षण (लक्खा) सिंह नाम का (पाचवा पुत्र) हुआ ।

(विशेष :—सन्मानसः सुमनः=पुष्प, खिलति=

खिलता है 'यह भी भावगर्भित है')

(अनुष्टुप्)

आस्ते विपश्चितां रत्नं, रत्नसिंहस्तद्वान्तिमः ।

लघुर्नयनसिंहाख्यस्तस्मादप्यलघुगुणैः ॥२९॥

अर्थ :—तदन्तिम—उसके बाद (छठा पुत्र) विद्वद्-रत्न रत्नसिंह हुआ और (मानवा पुत्र) नयनसिंह हुआ जो सबसे छोटा हाते हुए भी गुणों से बड़ा था ।

साधोरुदयसिंहस्य, सारिष्ठाब्जगुणिवंधूः ?

चतुरश्चतुरम्भोधिबिश्रुतानुषुवे सुतान् ॥३०॥

अर्थ—साहू उदयसिंह की पत्नी ने चारसागर विख्यात चार पुत्रों को जन्म दिया ।

कर्मसिंहः पुरस्तेषां देहसिंहस्ततोऽनुजः ।

तृतीयः पदमसिंहाख्यो धर्मसिंहश्चतुर्थकः ॥३१॥

अर्थ :—उनमें पहला कर्मसिंह दूसरा देहसिंह तीसरा पदमसिंह और चौथा धर्मसिंह था ।

भार्ये शृंगारसिंहस्य शोभालदुग्धडाभिधे ।

प्रेयसी राजसिंहस्य पदमा पदमालयाकृतिः ॥३२॥

अर्थ :—शृंगार सिंह के शोभाल और दुग्धडा नाम की दो पत्नियाँ थी और राजसिंह के लक्ष्मी स्वरूपा पदमा नाम की पत्नी थी ।

नाम्ना विजयदेवीति वीरसिंहस्य गेहिनी ।

पवित्रचरितस्तस्याः क्षेमसिंहस्तनूरुहः ॥३३॥

अर्थ :—वीरसिंह के विजयदेवी नाम की गृहिणी थी जिसके क्षेमसिंह नाम का सदाचारी पुत्र था ।

अन्यदा धन्यघोः स्वान्ते जैनसिद्धान्तपारिते ।

जैत्रसिंहः प्रबुद्धात्मा चिन्तयामासिवानिति ॥३४॥

अर्थ :—किसी दिन धन्यबुद्धि-प्रबुद्धात्मा जैत्रसिंह ने जैन सिद्धान्त में पारगत अपने हृदय में इस प्रकार विचार किया ।

(इन्द्रवज्रा)

नित्येक जनेन्द्रकृत प्रतिष्ठो, वित्तस्ततोऽभूवणमोगुणजः ।

साकंभरी नाथकृत प्रसिद्ध, क्षेमकराख्यः पुरुषोत्तमः प्राक् ॥३५॥

(उपजाति)

अस्मत्कुलालंकृतये बभूवुरन्येऽपि धन्या इति जैत्रसिंहः ।

विमृश्य तन्नाम नवीचकार पलासकुंडे कृतजैनसौधः ॥३६॥

अर्थ :—नित्य ही एक जिन प्रतिमा की प्रतिष्ठा कराने वाले बिल्ह हुए उनके बाद गुणज्ञ अणग हुए तथा साभर के नृपति से प्रसिद्धि की प्राप्त (अथवा साभर-राज को प्रसिद्ध करने वाले) नरपुंगव क्षेमकर हुए। हमारे कुल को सुशोभित करने वाले पहिल और भी बहुत से धन्य पुरुष हुए। इस प्रकार बार-बार विचार कर जैत्रसिंह ने पलास कुण्ड के पास जैन मन्दिर बना कर उक्त पूर्वजों के नाम को उजागर किया।

(मदाक्राता छंद)

द्योमाभोगात्किमयमरद्वीपिनीवारिपूरः

पृथ्वीपीठे पतति यदि वा तुंगमीशाद्रिशृंगं ।

वेलाशूलः किमुत धवलःक्षीरसिधूमि धौतम्

नो न श्रीमज्जिनवरगृहं राजते जैत्रसिंहं ॥३७॥

अर्थ :—आकाश मार्ग से क्या यह सुरगंगा का जल-प्रवाह ही पृथ्वी पर गिर रहा है अथवा समुन्नत हिमालय कंशाल का शिखर ही है या—क्षीरसागर की कल्लोलों से धोया हुआ धवल वेलाचल ही है ? नहीं, नहीं यह तो जैत्रसिंह के द्वारा बनाया हुआ श्री जिनमन्दिर सुशोभित हो रहा है।

(विशेष :—चतुर्थ चरण में नो और न दोनों अव्यय हैं जिनका अर्थ “नहीं” है। न+ऊन=नोन=कम नहीं अर्थात् विशिष्ट इस अर्थ में श्रीमान् का भी विशेषण हो सकता है।

(उपजाति)

श्रीपौरपाटान्वयजैनवर्गधुरंधरः श्रीधरबधुसूनुः ।

अखंडधीः पंडितपुंडरीकखंडश्रिये हसति नागदेवः ॥३८॥

अर्थ :—पौरवाट जाति के जैनो के नेता, श्रीधर के भाई के पुत्र, अखंड बुद्धि, पंडित रूपी कमल समुदाय की शोभा के लिए हंस के समान नागदेव हुए।

(विशेष :—खंड=समूह। हसति=हस इव आचरति (नामधातु)।

तस्यानुजौ चाहडगांगदेवौ, स्वकीर्तिवाचालितनागदेवौ ।

सुताबुभावादिस आभ्रदेवः, कआकृतिस्तल्लघु सोमदेवः ॥३९॥

अर्थ :—उनके दो छोटे भाई थे—चाहड और गांग-देव जिन्होंने अपनी कीर्ति से नागदेव को भी वाचालित कर दिया था। नागदेव के दो पुत्र थे पहिला आभ्रदेव

और उससे छोटा सुदर आकृति वाला सोमदेव।

(अनुष्टुप्)

श्वितमाहेन्द्रमुद्रेण, नागदेवमनीषिणा ।

प्रतिष्ठात्र कृता चैत्ये, निधीन्द्रनीन्दुवत्सरे ॥४०॥

अर्थ :—महेन्द्र बनकर विद्वान् नागदेव ने १३१६ सवत् में इस चैत्यालय में प्रतिष्ठा की।

(विशेष :—निधि का अर्थ ६ इन्दु का १ अग्नि का ३ और इन्दु का १ है। ‘अकाना वामतो गतिः’ इस नियम से १३१६ सवत् होता है)

(वसततिलका)

दुर्वादिगुर्व्वगुरुपर्वतवज्रवण्डः ।

श्रीखडकीतिमहिमामरकीतिदेवः ।

बोधामृतार्णवविधुश्च वसंतदेवः ।

प्रातिष्ठ कृत्य विषयेऽत्र गुरुर्बभूव ॥४१॥

अर्थ :—कुवादि रूपी छोटे-बड़े सभी पर्वतों के लिए वज्रदण्ड रूप, धवल कीर्ति वाले, महिमाशाली अमरकीर्ति देव तथा ज्ञानामृत रूपी सागर के लिए चन्द्रस्वरूप वसंत देव इस प्रतिष्ठा विषयक कार्य में गुरु बने।

(उपजाति)

श्री जैसवालान्वयपारिजात-बाल प्रवालश्चरितार्थनामा ।

प्रफुल्लयन्नुल्वणकीर्तिवल्ली, श्रेष्ठीधनी राजति माधवाह्वः,

अर्थ :—जैसवाल वंश रूपी कल्पवृक्ष की छोटी सी कोपल, यथा नाम तथा गुण, उच्चकीर्तिवेल को विकसित करने वाले, धनीसेठ माधवराज हुए।

(अनुष्टुप्)

तत्सूनुर्वैवसिहाख्यः, श्रोणां लीलानिकेतनम् ।

गुणकैरवपर्वेन्दुः, श्रद्धावल्लिनवाम्बुदः ॥४३॥

अर्थ :—उनका पुत्र वैवसिह हुआ जो लक्ष्मी शोभा की लीला-भूमि था एवं गुण रूपी समुद्र के लिए पूर्णिमा का चांद था तथा श्रद्धा रूपी वेल के लिए नवीन मेघ था।

वीराख्या गृहिणी तस्य, धीरो तत्तनयावुभौ ।

प्राक् सलक्षणसिहाह्वः, कृत्यसिहस्ततः परः ॥४४॥

अर्थ :—उन देव-सिंह के धैर्यशालिनी वीरा नाम की पत्नी थी, उनके दो पुत्र थे पहला सलक्षणसिंह, दूसरा कृत्यसिंह।

जसे साधुतनूजन्मा, साधुविजयदेवकः ।

शृंगारदेवी तज्जाया, निर्माया धर्मकर्मसु ॥४५॥

अर्थ—जस्सा साहू का पुत्र विजय देव साहू था जिसकी पत्नी शृंगार देवी थी जो धर्म-कर्म में छल-प्रपच रहित थी ।

तद्गर्भसंभवो शोभावंभवध्वस्तमन्यथो ।

सनाथो तनयौ भातः सहदेवाभ्रदेवकौ ॥४६॥

अर्थ—उन शृंगारदेवी के गर्भ से उत्पन्न सहदेव और आभ्रदेव दो पुत्र थे जो युगल थे (साथ-साथ पैदा हुए थे) और जिन्होंने अपने शोभावंभव से कामदेव को भी तिरस्कृत कर दिया था ।

जाजे श्रेष्ठी सतां श्रेष्ठः, परवाटकुलाग्रणीः ।

कलिसंतापितलोणी चन्दनीकृतकीर्तिकः ॥४७॥

अर्थ—परवाड वंश के नेता, सज्जनोत्तम जाजे नाम के सेठ थे जिन्होंने कलिकाल से सतप्त पृथ्वी को सुशात कर कीर्ति पाई थी ।

सहदेवः समाधुर्य-वाचावर्यः कलाविदां ।

अनध्यायः कुकृत्यानामसत्यानामनास्पदम् ॥४८॥

अर्थ—सहदेव कलावंतों के लिए मधुर वाणी की वर्षा करने वाले थे । दुराचार का जिन्होंने कभी पाठ ही नहीं पढ़ा था और झूठ से जो कोसों दूर रहते थे ।

(वसंततिलका)

सद्येतरप्रवरपाणिसरोजबन्ध-

निस्यंदमानधनदानजलेन जामे

जंबालभूमिनि यशःसितपंकजालो

मेनाकसाधुरनुवर्धयते धरित्र्याम् ॥४९॥

अर्थ—बाये तथा दायें दोनों हस्त कमलों के बन्ध अर्थात् अजलि से चूने वाले विपुल दान जल के द्वारा उत्पन्न बहुत भारी कीचड़ में मेनाक साहू के यशरूपी मफेद कमलों की पक्ति पृथ्वी पर ज्यों-ज्यों मेनाक सा वढ़ने लगें त्यों-त्यों वह भी बढ़ने लगी ।

(स्वागता)

आहडः स्फटिकशैल इवास्ते, शकरं शिरसि धारयमाणः ।

मानसेन विमलेन पवित्रश्चित्रमेष न तु कूटसमेतः ॥५०॥

अर्थ—आहड़ साहू हिमालय पर्वत के समान थे, हिमालय शकर यानी शिवजी को धारण करने वाला है

जबकि ये आहड़ साहू शिर पर भाल पर शकर यानी चन्दन को धारण करने वाले थे । अथवा शिर पर शकर यानी जिनन्द को धारण करने वाले थे । हिमालय निर्मल मानसरोवर से पवित्र है जबकि आहड़ साहू निर्मल मानस-हृदय से पवित्र थे फिर भी आश्चर्य है कि—हिमालय तो कूट=शिखर समेत है किन्तु आहड़ साहू कूट=कुटिलता युक्त नहीं थे ।

(अनुष्टुप्)

सुवर्णं चरित यस्य कलिकालकषोपले ।

शुद्धिं दधाति साधूनां चाहडः संघ शेखरः ॥५१॥

अर्थ—कलिकाल रूपी कसौटी पर जिनका चरित्र सुवर्ण की तरह निर्दोष=खरा उतरता है ऐसे वे साधुओं के मुकुट चाहड़ थे ।

(शालिनी)

.....मानि ज्वालावीचिसाधुः

सर्वज्ञाह्नि स्मेरस्वभोजभृङ्गः ।

दानी मानी कीर्तिकान्त्या हिमानी

जेता नेता धीमतां धौतचेताः ॥५२॥

अर्थ—वीच साहू थे जो मानियों के लिए ज्वाला स्वरूप थे तथा सर्वज्ञ के चरण रूपी विकसित सुन्दर कमलों के मानों भ्रमर थे । एव दानी, स्वाभिमानी और कीर्ति की कांति से हिम श्रेणी थे, विजेता और विद्वानों के नेता एव पवित्र चित्त थे ।

(इन्द्रवज्रा)

गंभीरतापः कृतनीरनाथः स्थैर्येण संतजितसानुचूलः ।

दानावादानेर्बलिराजकल्पस्तत्पश्रिया नंदति माधुवीचिः ॥५३॥

अर्थ—गंभीरता से तिरस्कृत कर दिया है समुद्र को भी जिन्होंने तथा स्थिरता से पराजित कर दिया है पर्वत को भी जिन्होंने एव दान कार्यों में राजा बलि के तुल्य ऐसे वीच साहू सुन्दर-सुन्दर स्त्रियों से आनदित थे ।

(अनुष्टुप्)

साधुराभः पराभूतकुतोर्थपथसंकथः ।

हृदि सर्वज्ञरक्तेऽपि धत्ते धर्मस्य सद्भुतम् ॥५४॥

अर्थ—आभ नाम के साहू थे जिन्होंने कुधर्म मार्गों की चर्चा को समाप्त कर दिया था और जिनका हृदय सर्वज्ञ में रक्त=लवलीन रहने पर भी अद्भुत विमलता

को धारण करता था अर्थात् रक्त=लाल (मैला) नहीं हुआ था ।

माढचाहडनामानी, गाढरक्ती जिनाध्वनि ।

गुणकेतकविस्मेरभाववर्षागमोपमौ ॥५५॥

अर्थ—माढ और चाहड नाम के साहू थे जो जिन-मार्ग में प्रगाढ़ भक्ति रखते थे । और जो गुणरूपी केतकी के विकसित करने में (खिलाने में) वर्षाऋतु के समान थे ।

(विशेष—विस्मेर भाव=विस्मेरता (भावे क्तः) विकाशिता ।)

शक्रः श्रावकचक्रस्य, ग्रामणीः गुणशालिनां ।

पंडितः खंडिताशेषविपथः श्रीहृलाभिधः ॥५६॥

अर्थ—श्री हल नाम के साहू थे जो श्रावकसंघ के इन्द्र थे और गुणियों के नायक थे तथा पंडित थे जिन्होंने सम्पूर्ण कुमार्गों को खंडित कर दिया था ।

तमश्छेदविधिच्छेकमाबिभ्राणः सुदर्शनम् ।

सत्यो नारायणः श्रीमान् भाति माथुरवंशजः ॥५७॥

अर्थ—श्रीमान् माथुरवंशी सत्यनारायण थे जो मिथ्या-न्धकार को छेदन करने की विधि में कुशल ऐसे सम्यक् दर्शन को धारण करने वाले थे ।

(विशेष—सत्यनारायण=श्रीकृष्ण के साथ इस प्रकार अर्थ होगा—श्रीमान्=लक्ष्मीपति । माथुरवंशज=मथुरा में उत्पन्न मथुरा वासी । सुदर्शन आबिभ्राणः=सुदर्शनचक्र को धारण करने वाले । तमश्छेदविधिच्छेक=जयद्रथ वध में सुदर्शनचक्र को सूर्य पर से हटा कर दिन कर दिया था—यह सुदर्शनचक्र का विशेषण है ।)

साधुः कुलधरः शम्भु बुधश्च भृगुनन्दनः ।

सौजन्यवत्सिलपर्जन्यः, संन्यस्ताखिलवृषणः ॥५८॥

अर्थ—सज्जनता रूपी बेल के लिए मेघ स्वरूप, समस्त बुराइयों से रहित कुल के रक्षक, भृगु के पुत्र=नार्गववंशी विद्वान् शम्भु साहू थे ।

जीणपालः कृपालूनां घुरि धर्मसुधासुधिः ।

प्रह्वस्तिष्ठणपालाह्वः श्रीजिनाराधने धनी ॥५९॥

अर्थ—दयालुओं में मुख्य और धर्मामृत के सागर जीणपाल सेठ थे तथा श्री जितेन्द्र की भक्ति में आसक्त तिष्ठणपाल सेठ थे ।

(विशेष—प्रह्व=आसक्त ।)

सप्तव्यसनसप्ताचिः संतापशमनाम्बुदौ ।

धर्मकर्मणि धौरेयो, साधू, माधव राशलः ॥६०॥

अर्थ—सात व्यसन रूपी आग के संताप को शांत करने के लिए मेघ स्वरूप, धर्म कर्म में अग्रणी माधव और राशल नाम के दो साहू थे ।

कृपाव्रततिजोमृतः पूतधोः साधु...विधः ॥

तेजू नामा सुधीः पात्रं यशसां शशितेजसां ॥६१॥

अर्थ—कृपा रूपी बेल के लिए मेघ स्वरूप, पवित्र बुद्धि, तेजू नाम के विद्वान् साहू थे जो चन्द्रतेज के समान (श्चेत्) यश के पात्र थे ।

(विशेष—व्रतति=बेल ।)

साधुमालुसुतो सत्यशीलो छीहलवीहलौ ।

प्रणीतविबुधानंदो, गीर्वाणभिषजाविध ॥६२॥

अर्थ—साहू मालू के पुत्र सत्यवादी छीहल और वीहल थे जो विद्वानों को आनंद पहुँचाने वाले एवं अश्विनी-कुमारों के तुर्य थे ।

विशेष—अश्विनीकुमारों के साथ “प्रणीत विबुधानंदो” का अर्थ है विबुध=देवों को आनन्द पहुँचाने वाले । क्योंकि अश्विनीकुमार सुरवंध हैं ।)

(रथोद्धता)

पौरपाटकुलविन्ध्यभूधरे भद्रजातिमहिमन्युदीयते ।

उद्यशः कुसुमसौरभ विशामर्पयन्नवितथोऽयमद्भुत ॥६३॥

अर्थ—श्रेष्ठ जातियों से महिमाशाली पौरवाड वंश रूपी विन्ध्याचल में उदीयमान यशरूपी फूलों की मुग्ध को चारों ओर फैलाते हुए ये ‘अद्भुत’ नाम के साहू उदित हुए ।

(विशेष—विन्ध्याचल के पक्ष में “भद्रजाति महिमनि” का अर्थ इस प्रकार है । भद्र=चंदन, सोना आदि की उत्पत्ति से महिमाशाली । भद्रजाति=उत्तम जायफल, मालती चमेली आदि से महिमा शाली ।)

(अनुष्टुप्)

एतेऽस्मिन्नाहते व्यक्ताः, जैनार्चालयकारिणः ।

वर्द्धन्तां गोष्ठिकाः पुण्यवनकन्दलानां बुदाः ॥६४॥

अर्थ—इस उत्कीर्ण शिलालेख में वर्णित, पुण्य रूपी वन के नवान्कुरों के लिए मेघरूप, एक गोठ के, ये सब

जिनमन्दिर बनाने वाले सेठ साहूकार खूब बड़े—वैभव-सम्पन्न हों ।

(उपजाति)

चंद्रांशुमत्कुण्डलमंडितेयं, तारालिमुक्ताफलहारयष्टिः ।

चक्रास्ति यावद् गगनस्य लक्ष्मीर्जैनालय नन्दतु तावदेतत् ॥६५॥

अर्थ—जब तक यह आकाशलक्ष्मी चन्द्र सूर्य रूपी कुण्डल से मंडित और तारागण रूपी मोतियों के हार से सुशोभित है तब तक यह जिनालय शोभायमान रहे ।

(शार्दूलविक्रीडित)

आस्ते केशगणारविन्दतरणिः श्रीदेवगुप्तप्रभुः ।

व्याख्यानक्षणतोषितक्षितिपतिः श्वेतांबरव्याकुलः ।

आसीदुप्रसमप्रवादिकरटिश्रीदेवकंपंचानन-

स्तत्पादाम्बुजराजहसमहिमा श्रीवीरचन्द्रः कविः ॥६६॥

अर्थ—केशगण रूपी कमलों के लिए सूर्य, व्याख्यान के अवसर पर राजाओं को सन्तुष्ट करने वाले, जिनसे श्वेतांबर व्याकुल रहते थे और जो समस्त उग्रवादी रूपी हाथियों के लिए कालरूप एक ही सिंह थे ऐसे श्री देव-गुप्त स्वामी थे उनके चरण कमलों की शोभा के लिए राजहंस रूप श्री वीरचन्द्र कवि थे ।

तस्माज्जगमभारतीति जगति ख्याताभिधानाद्गुरो-

वीरेन्दोरधिगत्य सत्यमहिमभ्राजिष्णुः सारस्वतम् ।

संसिद्धांबरसिधुबंधुरगिरां शुद्धिः सुधानीरधीः

श्रांतः प्रोतपदां प्रशस्तिमकृत श्रीदेवचन्द्रः कृती ॥६७॥

अर्थ—उन “जगम भारती” (चलती-फिरती सरस्वती) इस प्रकार विख्यात नाम वाले गुरु वीरचन्द्र से साहित्यिक ज्ञान प्राप्त कर (सिद्ध सारस्वत होकर) सत्य महिमा से देदीप्यमान विद्वान् श्री देवचन्द्र ने परिश्रम से गूँथे गये हैं पदवाक्य जिसमें ऐसी इस प्रशस्ति को बनाया ।

(अनुष्टुप्)

वास्तव्यान्वयकायस्थः शेखरः शरदात्मजः ।

प्रशस्तिमलिखद्वेदेरिमां सोमासमुद्भवः ॥६८॥

अर्थ—वास्तव्य गोत्री कायस्थ, शरद् (पिता) के पुत्र और सोमा (माना) से उत्पन्न शेखर ने इस वेदी की प्रशस्ति को लिखा ।

(विशेष—यह प्रशस्ति मंदिर की वेदी पर सामने की तरफ उत्कीर्ण की गई थी ।)

भूतः काश्यपगोत्रेऽसौ पायिकः सूत्रधारकः ।

वामदेवो सुतस्तस्य प्रशस्तिं प्रोचकार सः ॥६९॥

अर्थ—काश्यप गोत्र में पायिक नामा शिल्पी (मन्दिर-निर्माता-कागीर) हुए जिनके पुत्र वामदेव थे उन्होंने इस प्रशस्ति को उत्कीर्ण किया । (शिलालेख पर टाकी से उकेरा) ।

(वसततिलका)

श्री माथुरान्वयमहार्णवराजहसः, लोकोपकारकरणे...

.....कलानां । सद्धर्मकर्म..... ॥७०॥ संवत् १३१६

अर्थ—श्री माथुर वंश रूपी मानसरोवर के राजहंस, लोकोपकार करने में..... ॥संवत् १३१६॥

—इति शुभम्—

नोट—इस शिलालेख (प्रशस्ति पत्थर) का माप इस प्रकार है—लम्बाई २ फुट ३ इंच तथा चौड़ाई २ फुट १० $\frac{1}{2}$ इंच (२'३" × २'१० $\frac{1}{2}$ ") ।

“शिलालेख की हूबहू छाप लेने की विधि”

जितना बड़ा शिलालेख हो उतने ही नाप का (देशी) सफेद कागज लें अगर उतना बड़ा कागज न मिले तो कागज को गोंद से जोड़ कर शिलालेख के नाप के अनुसार काट लें । फिर उस कागज को पानी से तर करके शिलालेख पर चिपका दें और अक्षरों के गड्ढों में सावधानी से दाब दें । इसके बाद कोयले के पिसे चूर्ण को भीने कपड़े में लेकर उस गीले कागज पर सर्वत्र पोत दें । सूखने पर कागज को उतार लें । बस हूबहू छाप तैयार है । गड्ढों का हिस्सा कोयले से न पुते जाने के कारण सफेद अक्षरों के रूप में निकल आयेगा ।

नलपुर-शिलालेख का श्लोकानुसार संक्षिप्त हिन्दी अनुवाद (मंगलाचरण)

१. आदिनाथ प्रभु तुम्हारा कल्याण करें ।
२. पार्श्व प्रभु तुम्हें विभूति प्रदान करें ।
३. वीर प्रभु तुम्हें प्रसन्नता दें ।
४. देवी सरस्वती मेरे हृदय में सदा कल्लोल करें ।
५. मूलसंघ के दि० मुनिवर तुम्हें पवित्र करें ।

(प्रशस्ति)

६. यज्वपाल नामा एक प्रसिद्ध राजवंश था ।

७. इस वंश में वीर चूड़ामणि परमादिराज उत्पन्न हुए ।

८. उनके स्वर्गवासी होने पर चाहड राजा हुए ।
९. चाहड के भी स्वर्गगामी होने पर शत्रुहता नृवर्मा हुए ।
१०. इन न्यायी नृवर्मा के राज में प्रजा अत्यंत सुखी थी ।
११. नृवर्मा के स्वर्गवासी होने पर आसल राजेन्द्र हुए ।
१२. विजय श्री इन आसलनरेन्द्र के सदा चरण चूमती थी ।
१३. इन्होंने अनेक शत्रुओं को पराजित कर विपुल पृथ्वी को अधिष्ठित किया था ।
१४. इनके राज्य में पौनलख देश में नलपुर नाम का नगर था ।
१५. यहा जैसवाल वंश जयवंत था ।
१६. इस वंश में पहिले विवेकी साटदेव हुए ।
१७. उनके श्रीकुमार नाम का पुत्र था ।
१८. श्रीकुमार के नागण नाम का पुत्र था ।
१९. नागण की धर्मपत्नी राजल्लदेवी थी ।
२०. उनके राज्यभूषण प्रसिद्ध जैत्रसिंह पुत्र हुआ ।
२१. जैत्रसिंह महादानी थे उन्होंने एक भव्य जिनमन्दिर बनवाया था ।
२२. उनकी धर्मपत्नी श्रीलक्ष्मी थी जो केशवदेव की पुत्री थी ।
२३. श्री (लक्ष्मी) ने सात पुत्रों को जन्म दिया ।
२४. प्रथम उदयसिंह था जो महान् यशस्वी था ।
२५. साथ ही वह महा धनसंपन्न और दानवीर था ।
२६. वह सब प्रकार के वैभवों से परिपूर्ण था ।
२७. दूसरा पुत्र शृगार सिंह और तीसरा राजसिंह था ।
२८. चौथा वीरसिंह और पाँचवा लक्षणसिंह था ।
२९. छठा रत्नसिंह और सबसे छोटा किन्तु गुणों में बड़ा सातवा नयनसिंह था ।
३०. साहू उदयसिंह (प्रथम पुत्र) की पत्नी ने चार पुत्रों को जन्म दिया ।
३१. उनके नाम क्रमशः कर्मसिंह, देहसिंह, पद्मसिंह और धर्मसिंह थे ।
३२. शृगार सिंह (द्वितीय पुत्र) के दो पत्नियाँ थी शोभाल और दुमडा । तथा राजसिंह (तृतीयपुत्र) के एक पद्मा नाम की स्त्री थी ।
३३. वीरसिंह (चतुर्थपुत्र) के विजयदेवी थी । जिससे

क्षेमसिंह हुआ ।

३४. एक दिन जैत्रसिंह ने इस प्रकार विचार किया ।
३५. नित्य एक प्रतिमा की प्रतिष्ठा कराने वाले विल्ह और गुणवान् अणग तथा साँभर राज के कृपापात्र क्षेमकर ये नरपुंगव हुए ।
३६. हमारे कुल में श्रीग भी बहुत से धन्यपुरुष हुए इस प्रकार विचार कर पलामकुण्ड के पास भव्य जिनमन्दिर बनाकर जैत्रसिंह ने पूर्वजों के नाम को रोगन किया ।
३७. वह जिनमंदिर महान् सुन्दर और बड़ाही लाजवाब था ।
३८. पौरवाड वंश में श्रीधर के भाई के पुत्र बुद्धिमान् नागदेव हुए ।
३९. नागदेव के दो छोटे भाई चाहड और गांगदेव थे तथा दो पुत्र आम्नदेव और सोमदेव थे ।
४०. विद्वान् नागदेव ने महेन्द्र बनकर संवत् १३१९ में इस चैत्यालय में प्रतिष्ठा की ।
४१. कुवादि-जेता अमरकीर्तिदेव और ज्ञानी वसंतदेव इस प्रतिष्ठा में गुरु बने ।
४२. जैसवाल वंश में धनी सेठ माधवराज हुए ।
४३. उनके पुत्र गुणवान् देवसिंह हुए ।
४४. उनके वीरा नाम की पत्नी थी जिनमें सलक्षणसिंह और कृत्यसिंह ये दो पुत्र हुए ।
४५. जस्सा साहू के पुत्र विजयदेव साहू थे जिनकी पत्नी शृगार देवी थी ।
४६. उनसे सहदेव और आम्नदेव ये दो जुगल पुत्र हुए ।
४७. परवाड़ वंश में जाजे सेठ थे ।
४८. गुणों के भंडार सहदेव थे ।
४९. दानवीर मैनाक साहू थे ।
५०. निर्मल हृदय वाले आहड साहू थे ।
५१. साहूओं के मुकुट चाहड साहू थे ।
५२. अनेक गुणों से युक्त बीचि साहू थे ।
५३. वे गभीरता में समुद्र और स्थिरता में पर्वत तथा दान में राजा बलि के तुल्य थे ।
५४. कुधामिक बातों से दूर रहने वाले आभ साहू थे ।
५५. जिनधर्म में दृढ़ माड और चाहड साहू थे ।

५६. श्रावक शिरोमणि, पंडित श्रीहुल साहू थे ।
 ५७. माथुरवंशी सम्यग्दृष्टि सत्यनारायण थे ।
 ५८. भार्गववंशी विद्वान् शम्भु साहू थे ।
 ५९. दयालु जौणपाल और जिनभक्त निहुणपाल थे ।
 ६०. सात व्यसनो के त्यागी घमतिमा माधव और राशल साहू थे ।
 ६१. विद्वान् यशस्वी तेजू साहू थे ।
 ६२. शाह मालू के पुत्र छीहुल और विहुल साहू थे ।
 ६३. गौरवाड वंश में अद्भुत साहू थे ।
 ६४. ये सब जिनमंदिर बनवाने वाले एक ही गोठ के सेठ साहूकार खूब वैभवशाली हों ।
 ६५. जब तक आकाश में चन्द्र सूर्य तारे हैं तब तक जिनमन्दिर सुशोभित रहे ।
 ६६. केशगण में देवगुण स्वामी हुए उनके शिष्य वीरचंद्र कवि हुए ।
 ६७. उनसे ज्ञान प्राप्त कर विद्वान् देवचन्द्र ने यह प्रशस्ति बनाई ।
 ६८. शरद्-मोमा के पुत्र वास्तव्यगोत्री कायस्थ शेखर ने वेदी की यह प्रशस्ति लिखी ।

विशेष—अगर कोई मज्जन या सस्था इस कृति को अलग ट्रेवट रूप से छपाना चाहे तो छपा सकते हैं ।
 हमारी अनुमति है ।

— १० —

६९. काश्यपगोत्री पायिक शिल्पी के पुत्र वामदेव ने यह प्रशस्ति उत्कीर्ण की ।

७०. माथुरवंशी लोकोपकारी..... मवन् १३३६

—आभार प्रदर्शन—

(१) श्लोक नं० २१, २५, २६ और ४९ इन चार श्लोकों के अनुवाद में मान्यवर पं० पन्नालाल जी साहि-
 त्याचार्य सागर से सहयोग लिया गया है । उन्होंने यह भी सूचित किया है कि—“श्लोक नं० ५ और २० में रोह-
 णाद्रि का अर्थ उदयाचल नहीं है, कवि संप्रदाय में रोहण गिरि का अर्थ—‘जिसमें मेघों की गर्जना से रत्न उत्पन्न होते हैं’ लिया गया है । इस सबके लिए मैं उनका आभारी हूँ ।

(२) पंडित दीपचन्द्र जी पाड्या का तो इस महान् कार्य में आद्यत पूर्ण सहयोग रहा है अतः उनका क्या आभार स्वीकार करूँ—जो कुछ इसमें ‘सत्य शिवं सुंदर’ है वह सब उनकी का प्रसाद है ।

(३) अगर विशेषज्ञ विद्वानों को कोई गलती दृष्टि-
 गत हो तो अवश्य सूचित करें मैं उनका आभारी हूँ ।

सन् १९७१ की जनगणना के समय धर्म के
 खाना नं० १० में “जैन” लिखाकर सही आँकड़े
 इकट्ठा करने में सरकार की मदद करें ॥

षड्दर्शन समुच्चय का नया संस्करण

पं० दलसुख मालवणिया

डायरेक्टर ला० व० भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर अहमदाबाद

प्रास्ताविक

षड्दर्शनसमुच्चय मूल' और गुणरत्नकृत टीकाका अनुवाद श्री पं० महेन्द्रकुमारजी ने ता० २५-६-४० चार बजे पूरा किया था, ऐसी सूचना उनकी पांडुलिपि से मिलती है। और टिप्पण लिखने वाला कार्य उन्होंने ई० १९५६ में अपनी मृत्यु (ई० १९५६ जून) के कुछ मास पूर्व पूर्ण किया ऐसा डॉ० गोकुलचन्द्रजी की सूचना से प्रतीत होता है। टिप्पणी के लिखने में डॉ० गोकुलचन्द्र जैन ने सहायता की थी ऐसा भी उनसे मालूम मालूम हुआ है। अनुवाद करके उन्होंने छोड़ रखा था और प्रकाशक की तलाश थी यह तो मैं जानता हूँ। किन्तु खेद इस बात का है कि उनके जीवनकाल में इस ग्रंथ को वे मुद्रित रूप से देख नहीं सके। और इस कार्य को मित्रकृत्य के रूप में करने में दुःखमिश्रित सन्तोष का अनुभव मैं कर रहा हूँ।

उनकी जो सामग्री मुझे मिली उसे ठीक करके, यत्र-तत्र सशोधित करके मैंने प्रेस योग्य बना दी थी। कुछ पृष्ठों के प्रूफ भी मैंने देखे और पूरे ग्रंथ के प्रूफ मुद्रण-कार्य शीघ्र हो इस दृष्टि से मेरे पास भेजे नहीं गये। आनन्द इस बात का है कि मेरे परम मित्र का यह कार्य पूरा हो गया।

यह भी आनन्द का विषय है कि इसका प्रकाशन भारतीय ज्ञानपीठ ने किया है। ज्ञानपीठ के आरम्भ काल से ही उनका सम्बन्ध ज्ञानपीठ से एक या दूसरे रूप में रहा है। अकलक के कई ग्रन्थों का उद्धार पं० महेन्द्रकुमार

जीने किया और ज्ञानपीठ ने उनका प्रकाशन किया—उससे दोनों की प्रतिष्ठा बढ़ी। इतने उत्तम रूप से भारतीय दर्शनों के ग्रन्थ प्रायः नहीं मुद्रित होते। तुलनात्मक टिप्पणी देकर दर्शन ग्रंथों का संपादन पूज्य पं० सुखलाल जी ने शुरू किया था। उसी पद्धति का अनुसरण करके पं० महेन्द्रकुमार जी ने जिस उत्तम रीति से उन ग्रंथों का संपादन किया और ज्ञानपीठ ने उन्हें सुन्दर रूप में छापा यह तो भारतीय दर्शन ग्रन्थ के प्रकाशन के इतिहास में सुवर्ण पृष्ठ है। उन ग्रंथों के जरिये भारतीय दर्शनों के तुलनात्मक अध्ययन की प्रगति मिली है—यह निःसंशय है। पं० महेन्द्रकुमार जी जीवित होते तो प्रस्तुत षड्-दर्शनसमुच्चय की प्रस्तावना कंसी लिखते यह नहीं कहा जा सकता किन्तु यहाँ जो लिखा जा रहा है उससे तो बढ़कर होनी—इसमें सन्देह नहीं है।

षड्दर्शनसमुच्चय और उसकी वृत्ति के संशोधन में उपयुक्त हस्तप्रतियों के विषय में मेरे समक्ष पं० महेन्द्रकुमारजी के द्वारा लिखित कोई सामग्री नहीं आयी अतएव यह कहना कठिन है कि उन्होंने तत्-तत् संज्ञाओं के द्वारा निर्दिष्ट कौन-सी प्रतियों का उपयोग किया है। किन्तु इतना तो निश्चित है कि उन्होंने अच्छी हस्तप्रतियों का उपयोग प्रस्तुत ग्रंथ के संशोधन में किया है और उसे शुद्ध करने का पूरा प्रयत्न किया है।

उनके द्वारा सम्पादित अन्य ग्रन्थों की तरह इसमें भी उन्होंने महत्त्वपूर्ण तुलनात्मक टिप्पण अन्य ग्रन्थों से उद्धृत किये हैं। सकेत सूची के आधारपर-से एक तालिका तैयार की गयी है जिससे वाचक को पता लगेगा कि प्रस्तुत ग्रंथ के संशोधन के लिए उन्होंने कितना परिश्रम किया है। उन्होंने विविध ग्रंथों के कौन से संस्करणों का टिप्पणी में उपयोग किया है—यह भी पता लगाकर निर्दिष्ट किया गया है।

१. 'षड्दर्शन समुच्चय' गुजराती अनुवादक : श्री चन्द्र-सिंह सूरि, प्रकाशक-जैन तत्त्वादर्थ सभा, अहमदाबाद, ई० १८९२; अष्टकप्रकरण के साथ, प्रकाशक : क्षेमचन्द्रात्मजो नारायणः सुरत, ई० १९१८; हरि-भद्रसूरिग्रन्थमाला में प्र० जैन धर्मप्रसारक सभा, भावनगर, विक्रम सं० १९६४ (ई० १९०७)।

प्रस्तुत ग्रंथ में परिशिष्ट रूप से मणिभद्रकृत सक्षिप्त टीका और अज्ञातकर्तृक अवचूरि भी मुद्रित की गयी है। उनका संशोधन भी प० महेन्द्रकुमारजी ने किया था। मणिभद्रकृत टीका वस्तुतः सोमतिलकसूरि की रचना है यह स्पष्टीकरण करना जरूरी है। इसकी चर्चा आगे की गयी है।

उन्होंने इस ग्रंथ की प्रस्तावना लिखी थी कि नहीं यह पता नहीं लगता। जो सामग्री मेरे समक्ष आयी उसमें तो उसकी कोई सूचना है नहीं। अतएव मैंने प्रस्तावना के रूप में थोड़ा लिख देना उचित समझा है।

ज्ञानपीठ के संचालको ने मित्रकृत्य करने का यह शुभ अवसर दिया एतदर्थ मैं ग्रंथमाला के सम्पादको का और ज्ञानपीठ के संचालकों का आभारी हूँ।

षड्दर्शन

दर्शनों की छह संख्या कब निश्चित हुई उसका इतिहास के पक्का पता नहीं लगता। विद्यास्थानों की गिनती के प्रसंग में दर्शनों या तर्कों की संख्या की चर्चा होने लगी थी, इतना ही कहा जा सकता है। छान्दोग्य उपनिषद् (७-१-२) में अध्ययन के अनेक विषयों की गिनती में वाकोवाक्य का उल्लेख मिलता है। उसका अर्थ है वाद-प्रतिवाद। परन्तु^१ अर्थशास्त्र में आन्वीक्षिकी विद्या में भी सांख्य, योग और लोकायतों का उल्लेख है तथा आन्वीक्षिकी के विषय में कहा है—

प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।

आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता ॥

स्मृतियों में याज्ञवल्क्यस्मृति (१-३) में १४ विद्यास्थानों को गिनाया है, उनमें केवल न्याय और मीमांसा का उल्लेख है। पुराणों में भी जहाँ विद्याओं का उल्लेख है वहाँ भी प्रायः याज्ञवल्क्यस्मृति का अनुसरण है^२। किन्तु न्यायभाष्यकार वात्स्यायन ने तो न्यायशास्त्र को ही आन्वीक्षिकी विद्या माना है। उनका कहना है कि “सैन्यान्वीक्षिकी प्रमाणादिभिः पदार्थैर्विभज्यमाना—

१. कौटिलीय अर्थशास्त्र—१-२ (कांगले)।

२. हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र भा० ५, पृ० ८२०, ६२६, ११५२।

प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।

आश्रयः सर्वधर्माणां विद्योद्देशे प्रकीर्तिता ॥”

—न्यायभाष्य १. १. १.

वात्स्यायन ने ठीक ही कहा है क्योंकि त्रयी हो या वार्ता या दण्डनीति—इन सभी विद्याओं के विषय में आन्वीक्षिकी ही निर्णायक है—ऐसा कौटिल्य का मत है—क्योंकि आन्वीक्षिकी ही के द्वारा अर्थात् हेतुप्रयोग द्वारा तीनों विद्याओं का अन्तिम ध्येय सिद्ध होता है। सुख के अवसर पर या आपत्ति के अवसर में बुद्धि को स्थिर रखनेवाली आन्वीक्षिकी ही है। प्रज्ञा में, वचन में और क्रिया में वैशारद्य आन्वीक्षिकी के कारण ही आता है। अतएव आन्वीक्षिकी सर्व विद्याओं की विद्या है। सब विद्याओं के लिए प्रदीप है।^३ सांख्य हो या योग या लोकायत—ये सभी आन्वीक्षिकी का आश्रय लेकर ही अपनी बात को सिद्ध करते थे अतएव कौटिल्य ने भले उन तीनों का नाम आन्वीक्षिकी में गिनाया किन्तु उन तीनों का आधार आन्वीक्षिकी अर्थात् न्यायविद्या ही है। वे प्रमाण, न्याय या तर्क का आश्रय लेकर ही अपनी बात को सिद्ध कर सकते हैं ऐसा अभिमत न्यायभाष्यकारका है। इस पर से हम कह सकते हैं कि कौटिल्य के समय तक भले ही न्यायशास्त्र को पृथक् दर्शन के रूप में स्थान मिला नहीं था किन्तु आन्वीक्षिकी के रूप में उसकी सत्ता माननी चाहिए। न्यायशास्त्र में जब वैशेषिक दर्शन को समान तन्त्र माना जाने लगा तब वह सब विद्याओं का आधार रूप न रहकर एक स्वतंत्र दर्शन बन गया। यही कारण है कि पुराणों और स्मृतियों में न्याय और मीमांसा को पृथक् गिनाया गया। इस प्रकार पुराण काल में न्याय, सांख्य, योग, मीमांसा और लोकायत—ये दर्शन पृथक् सिद्ध होते हैं। स्मृति और पुराणों में विद्यास्थानों में सांख्य-योग लोकायत को स्थान मिलना सम्भव नहीं

३. सांख्य योगो लोकायत चेत्यान्वीक्षिकी। १०। धर्माधर्मौ त्रय्यामर्थानर्थौ वार्ताया नयापनयो दण्डनीत्या बलाबलौ चैतासा हेतुभिरन्वीक्षमाणा लोकस्योपकरोति व्यसनेऽभ्युदये च बुद्धिमवस्थापयति प्रज्ञावाक्यक्रिया-वैशारद्य च करोति। ११।—कौटिलीय अर्थशास्त्र १।२।

था, क्योंकि उनका आधार वेद नहीं था। किन्तु महाभारत और गीता से स्पष्ट है कि दर्शनों में सांख्य-योग का स्थान पूरी तरह से जम चुका था। और वे अवैदिक नहीं, किन्तु वैदिक दर्शन में शामिल कर लिए गये थे। इस प्रकार ईसा की प्रारम्भ की शताब्दियों में न्यायवैशेषिक, सांख्य-योग, मीमांसा—ये दर्शन वैदिकों में पृथक्-पृथक् रूप से अपना स्थान जमा चुके थे। उनके विरोध में जैन, बौद्ध और चार्वाक—ये तीन अवैदिक दर्शन भी ईसा पूर्व काल से वैदिक दार्शनिकों के लिए समस्या रूप बने हुए थे। मीमांसा में कर्म और ज्ञान के प्राधान्य को लेकर दो भेद हो गये थे। अतएव वैदिकों में षट्दर्शन या षड्दर्शन की स्थापना हो गयी थी जिसमें न्याय-वैशेषिक, सांख्य योग पूर्व और उत्तर मीमांसा—ये प्राधान्य रखते थे।

प्रस्तुत ग्रंथ में षड्दर्शनों का विवरण है किन्तु दर्शनों की छह सख्या और उस छह सख्या में भी किन-किन दर्शनों का समावेश है—इस विषय में ऐकमत्य नहीं दीखता। वैदिक दर्शनों के अनुयायी जब छह दर्शनों की चर्चा करते हैं तब वे छह दर्शनों में केवल वैदिक दर्शन का ही समावेश करते हैं। किन्तु प्रस्तुत षड्दर्शनसमुच्चय में वैदिक-अवैदिक सब मिला कर छह सख्या है। यह भी ध्यान देने की बात है कि दर्शनों की छह गिनने की प्रक्रिया भी ईसवी सन् के प्रारम्भ की कई शताब्दियों के बाद ही शुरू हुई है। वाचस्पति मिश्र ने एक वैशेषिकदर्शन को छोड़ कर न्याय, मीमांसा—पूर्व और उत्तर, सांख्य और योग—इन पाँचों की व्याख्या की। इससे यह तो पता लगता है कि उनके समय तक छह वैदिक दर्शन प्रतिष्ठित हो चुके थे। वैशेषिक दर्शन पर पृथक् लिखना इसलिए जरूरी नहीं समझा कि उन दर्शन के तत्त्वों का विवेचन न्याय में हो ही जाता है। वाचस्पति एक अपवाद रूप वैदिक लेखक हैं। इनके पहले किसी एक वैदिक लेखक ने तत्तद्दर्शनों के ग्रंथों का समर्थन तत्तद्दर्शनों की मान्यता के अनुसार नहीं किया केवल वाचस्पति ने यह नया मार्ग अपनाया और जिस दर्शन पर लिखने बैठे तो उसी दर्शन के होकर लिखा। आचार्य हरिभद्र और वाचस्पति में यह अन्तर है कि वाचस्पति ने टांकाकार के रूप में या स्वतंत्र रूप से विरोधी दर्शन का निराकरण करके तत्

तद्दर्शनों का समर्थन किया है। जब कि हरिभद्र ने मात्र परिचय दिया है। यह भी अन्तर है कि वाचस्पति ने दर्शनों पर पृथक्-पृथक् ग्रंथ लिखे किन्तु हरिभद्र ने एक ही ग्रंथ में छह दर्शनों का परिचय दिया। यह भी ध्यान देने की बात है कि वाचस्पति के दर्शनों में चार्वाक दर्शन का समर्थन नहीं है और न अन्य अवैदिक जैन बौद्ध का। जब कि हरिभद्र ने वैदिक-अवैदिक सभी दर्शनों का अपने ग्रंथ में समावेश परिचय के लिए कर लिया है। आचार्य हरिभद्र ने बौद्ध नैयायिक, सांख्य, जैन, वैशेषिक और जैमिनीय इन छह दर्शनों का समावेश षड्दर्शनसमुच्चय में किया है।

दार्शनिकों में प्रथम तो यह प्रवृत्ति शुरू हुई कि अपने विरोधी मतों का निराकरण करना। किन्तु आगे चलकर वैदिकों में यह प्रवृत्ति भी देखी जाती है कि सच्चे अर्थ में वेद के अनुयायी केवल वे स्वयं हैं और उनका दर्शन वेद का अनुयायी है, अन्य दर्शन वेद की दुहाई तो देते हैं किन्तु वस्तुतः वेद और उसके मत से उनका कोई सम्बन्ध नहीं। जब स्वयं वैदिक दर्शनों में ही पारस्परिक ऐसा विचार हो तब अवैदिक दर्शनों का तो ये वैदिक दर्शन तिरस्कार ही करें यह स्वाभाविक है। इस भूमिका में हम देखते हैं कि न्यायमंजरीकार जयन्त केवल वैदिक दर्शनों को ही तर्क में या न्याय में समाविष्ट करते हैं और बौद्धादि अन्य दर्शनों का बहिष्कार घोषित करते हैं। यह प्रवृत्ति उनके पहले के कुमारिल में भी स्पष्ट रूप से विद्यमान है। और शंकराचार्य भी उसका अनुकरण करते हैं। विशेषता यह कि वे सांख्य-योग-बौद्ध, वैशेषिक, जैन और न्यायदर्शन को तथा शैव और वैष्णव दर्शनों को भी वेद विरोधी मानते हैं।

१. न्यायमंजरी पृ० ४।

२. तन्त्रवातिक १, ३, ४। हिस्ट्री ऑफ़ धर्मशास्त्र भाग ५, पृ० ६२६ में उद्धरण है। अन्य उद्धरण उसी में, पृ० १००६, १२६२ में है।

३. ब्रह्मसूत्र शंकरभाष्य २, १, १; २, १, ३; २, १, ३; २, १, ११-१२; २, २, १-४४

सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक ये दर्शन अपनी प्रारम्भिक अवस्था में वैदिक थे नहीं किन्तु उनकी व्याख्या और व्यवस्था जैसे-जैसे होने लगी वे अपने को वैदिक दर्शनों में शामिल करने लगे और अपने आगमरूप से वेद को स्थान देने लगे। एक ही वेद परस्पर विरोधी दर्शन का मूल कैसे हो सकता है—इस विचार के विकास के साथ ही ये दर्शन एक-दूसरे को अवैदिक घोषित करने लगे थे। और केवल अपने को ही वैदिक दर्शन गिनने लगे थे। किन्तु वेद की नाना व्याख्याएँ हुई हैं और हो सकती हैं—इस विचार के विकास के साथ ये ही दर्शन अन्य दर्शनों को भी वैदिक दर्शन मानने लगे थे—ऐसा भी हम कह सकते हैं। इस विचार के मूल में बौद्धों के अनेक दर्शनों की उपस्थिति भी एक कारण हो सकता है। क्योंकि बौद्ध दर्शनों के विविध भेद हुए। उसके बाद ही परस्पर विरोधी होकर भी वे वैदिक दर्शन हैं ऐसे विचार की भूमिका वैदिकों में हम देखते हैं। और वैदिक दर्शनों की गिनती भी इस भूमिका के बाद देखते हैं। वैदिक दर्शन छह हैं—इस बात का उल्लेख जयन्त में हम पाते हैं किन्तु उनके पूर्व भी पदार्थ या षड्दर्शन की प्रसिद्धि हो चुकी थी। आगे चलकर बौद्धों के दर्शन भेद के विषय में बौद्ध टीकाकार ने यह स्पष्टीकरण करना शुरू किया कि ये दर्शनभेद अधिकारी भेद से हैं। स्वयं बुद्ध के उपदेश को लेकर जब ये विविध विरोधी व्याख्याएँ होने लगी तो प्रश्न होना स्वाभाविक ही था कि एक ही भगवान् बुद्ध परस्पर विरोधी बातों का उपदेश कैसे दे सकते हैं? इसके उत्तर में यह भी कहना शुरू हुआ कि ये उपदेश अधिकारी भेद से भिन्न थे अतएव इन उपदेशों में विरोधी नहीं। अतएव बौद्धों के दर्शनभेदों में भी परस्पर विरोध नहीं। किन्तु अधिकार भेद से ही उन दर्शनों की प्रवृत्ति हुई है ऐसा समझना चाहिए। दर्शन भेद का यही स्पष्टीकरण परस्पर विरोधी वैदिक दर्शनों के विषय में भी होने लगा—यह हम सर्वदर्शनसंग्रह जैसे ग्रंथों से जान सकते हैं।

षड्दर्शनसमुच्चय की रचनाभूमिका

वेद से लेकर उपनिषदों तक भारतीय चिन्तनघाग उन्मूलित रूप से बह रही थी। अनेक आश्रमों और प्रतिष्ठानों में अनेक ऋषि मुनि और चिन्तक अपने-अपने

विचार शिष्यों और जिज्ञासु के समक्ष रख रहे थे। उन विचारों की व्यवस्था थी नहीं। भगवान् बुद्ध और भगवान् महावीर के बाद यह स्पष्ट हुआ कि वैदिक और अवैदिक ऐसी दो धाराएँ मुख्य हैं। अवैदिक में भी गोशालक आदि कई विचारक थे उनमें से बौद्ध, जैन और चार्वाक आगे चलकर स्वतन्त्र दर्शनरूप से स्थिर हुए। वैदिकों में भी कई शाखाएँ स्पष्ट हुईं। और सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक और मीमांसा (कर्ममीमांसा, ज्ञानमीमांसा अथवा पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा) आदि दर्शन स्थिर हुए। इनमें से सांख्य-योग और न्याय-वैशेषिक प्रारम्भ में अवैदिक दर्शन थे किन्तु बाद में वैदिक हो गये।

वस्तुतः देखा जाय तो विविध दर्शन एक तत्त्व को अनेक रूप से निरूपित करते थे। अतएव जैसा भी तत्त्व हो किन्तु उसके निरूपण के ये अनेक दृष्टिबिन्दु थे—यह स्पष्ट है। किन्तु ये दार्शनिक अपने ही मत को दृढ़ करने में लगे हुए थे और अन्य मतों के निराकरण में तत्पर थे। अतः उन दार्शनिकों से यह आशा नहीं की जा सकती थी कि वे अनेक दृष्टियों से एक ही तत्त्व का निरूपण करें। नैयायिकादि सभी दर्शन वस्तु तत्त्व की एक निश्चित प्ररूपणा लेकर चले थे और उसी और उनका आग्रह होने से तत्-तत् दर्शन की मृष्टि हो गयी थी। तत्-तत् दर्शन के उस परिष्कृत रूप से बाहर जाना उनके लिए सम्भव नहीं था।

जैन दार्शनिकों के विषय में ऐसी बात नहीं है। वे तो दार्शनिक विवाद के क्षेत्र में नैयायिकादि सभी दर्शनों के परिष्कार के बाद अर्थात् तीसरी शती के बाद आए। अतएव वे अपना मार्ग निश्चित करने में स्वतन्त्र थे और उनके लिए यह भी सुविधा थी कि जैनागम ग्रन्थों में वस्तु-विचार नयों के द्वारा अर्थात् अनेक दृष्टियों से हुआ था। जैन आगमों में मुख्यरूप से द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन चार दृष्टियों से तथा द्रव्याधिक और पर्यायाधिक नयों के द्वारा विचारणा करने की पद्धति अपनायी गयी है। इसके अलावा व्यवहार और निश्चय इन दो नयों से भी विचारणा देखी जाती है। इन आगम ग्रन्थों की जब व्याख्या होने लगी तब सात

नयों का सिद्धान्त विकसित हुआ। यही समय है जबसे लेकर जैनदार्शनिक भारतीय दर्शन क्षेत्र में जो वाद विवाद चल रहा था उसमें क्रम से शामिल होते गए। परिणाम स्वरूप विविध मतों के बीच अपने मत का सामंजस्य कैसा है और कैसा होना चाहिए—इस विषय की ओर उनकी दृष्टि गयी। यह तो स्पष्ट हो गया कि वे जब द्रव्याधिक दृष्टि से वस्तुविचार करते हैं तब वस्तु को नित्य मानने वाले दार्शनिकों से उनका ऐकमत्य होता है और जब पर्यायदृष्टि से विचार करते हैं तब वस्तु को अनित्य मानने वाले बौद्धों से ऐकमत्य होता है। अतएव इस बात को लेकर वे दर्शनों के अन्य विचारों से भी परिचित होने की आवश्यकता को महसूस करने लगे और अन्य दर्शनों से जैनदर्शन का किन-किन बातों में मतभेद और विभेद है—इसकी तलाश में प्रवृत्त हुए। उस प्रवृत्ति के फलस्वरूप जैन आचार्यों में अपने नयसिद्धान्त का पुनरविक्षण करना जरूरी हो गया तथा अन्य मतों का सही-सही ज्ञान भी आवश्यक हो गया। इस अनिवार्य आवश्यकता की पूर्ति नयसिद्धान्त की समयानुकूल व्याख्या करके की गयी और अन्य दर्शनों के विषय में सही ज्ञान देने वाले प्रकरण लिख कर और अन्य दर्शनों का नयसिद्धान्त से सम्बन्ध जोड़कर भी की गयी। इसी प्रवृत्ति के फल आचार्य हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय और शास्त्रवातसमुच्चय में हम विभिन्न रूप में देखते हैं। इन दोनों ग्रन्थों की अपनी-अपनी क्या विशेषता है यह हम आगे कहेंगे। किन्तु उसकी पूर्वभूमिका किस प्रकार बनी यह प्रथम बताना जरूरी है। अतएव इसी की चर्चा यहाँ की जाती है।

नयों के विषय में सर्वप्रथम आचार्य उमास्वाति ने प्रश्न उठाया है कि एक ही वस्तु का विविध रूप से निरूपण करने वाले ये नय क्या तन्त्रान्तरीय मत हैं या अपने ही मत में प्रश्न कर्ताओं ने अपनी-अपनी समझ के अनुसार कुछ मतभेद खड़े किए हैं? उत्तर दिया है कि न तो ये नय तन्त्रान्तरीय मत हैं और न ये अपने ही मत के लोगों ने मतभेद खड़े किए हैं। किन्तु एक ही वस्तु के जानने के नाना तरीके हैं। पुनः प्रश्न किया कि तो फिर एक ही वस्तु के विषय में नाना प्रकार के निरूपण करने वाले नयों में परस्पर विरोध क्यों नहीं? उत्तर में स्पष्ट किया है कि

एक ही वस्तु को अनेक दृष्टि से देखा जा सकता है अतएव इनमें विरोध की अवकाश नहीं है। जैसे एक ही वस्तु नाना प्रकार के जानों से अनेक रूप देखी जा सकती है वैसे ही नाना नयों से उसे अनेक प्रकार से जाना जा सकता है—उसमें कोई विरोध नहीं।^१

स्पष्ट है कि विविध नयों के द्वारा किया गया दर्शन एक ही मत के अनुयायी द्वारा—अर्थात् जैनधर्म के अनुयायी द्वारा नाना प्रकार के अध्यवसाय=निर्णय हैं। उनका सम्बन्ध परवादी के मतों से नहीं है—ऐसा स्पष्ट अभिप्राय आचार्य उमास्वाति का है। किन्तु चिन्तनशील व्यक्ति को आचार्य उमास्वातिके हम उत्तरसे सन्तोष हो नहीं सकता। क्योंकि दार्शनिक वाद विवाद के क्षेत्र में परस्पर ऐसे कई विरोधी मत वह देखना है और उनका साम्य जैनों के द्वारा विविध रूप से किये गये निर्णयों के साथ भी वह देखता है, तब नयों का जनेतर मतों से सामंजस्य या संयोजन बिठाने का प्रयत्न वह न करे यह हो नहीं सकता। इसी प्रक्रिया में से प्रथम तो सर्वदर्शनों का अभ्यास बढ़ाने की ओर जैनाचार्य प्रवृत्त हुए। और उसके फलस्वरूप नय और जनेतर विविध मतों का किस प्रकार का सम्बन्ध हो सकता है इस विचारणा की प्रक्रिया शुरू हुई।

इस विचारणा में अग्रसर आचार्य मिद्धसेन दिवाकर हुए ऐसा जान पड़ता है। विक्रम चौथी-पाँचवीं शती में होने वाले आचार्य सिद्धसेन ने ३२ द्वात्रिंशिकाएँ लिखी हैं उनमें से ८वीं में जल्पकथा, ७वीं में वाद, ६वीं में वेदवाद, १२वीं में न्यायदर्शन, १३वीं में सांख्यदर्शन, १४वीं में वंशेषिकदर्शन, १५वीं में बौद्धदर्शन, १०वीं में योगविद्या, १६वीं में नियतिवाद आदि जनेतर दर्शनों की चर्चा की है। और सन्मतितर्क में नय और नयाभास सुतय-दुर्नय का भी स्पष्टीकरण करके नयों में नयी विचारणा का सूत्रपात कर दिया है। द्रव्याधिक और पर्यायाधिक ये दोनों नय अपने दृष्टिबिन्दु से विचार करें यह ठीक है किन्तु अपनी मर्यादा से बाहर जाकर ऐसा आग्रह रखे कि वस्तु का यही एक रूप है तो प्रत्येक मिथ्यादृष्टि होंगे (१, १३), किन्तु यदि दोनों नय अपने विषय का विभाग करके चलें तो दोनों एकान्त मिलकर अनेकान्त बन जाता है (१, १४)। प्रत्येक

नय दुर्नय बन जाता है यदि अपनी दृष्टि का ही अग्रह हो (१,१५)। सभी नय मिथ्यादृष्टि होते हैं यदि वे स्वरूप के साथ ही प्रतिबद्ध हैं किन्तु यदि वे परस्पर की अपेक्षा रखते हैं तो सम्यक् हो जाते हैं (१,२१), दोनों नय माने जायें तब ही संसार-मोक्षकी व्यवस्था बन सकती है अन्यथा नहीं (१,१७,२०)। आचार्य सिद्धसेन ने अपने इस मत की पुष्टि के लिए सुन्दर उदाहरण दिया है। उसका निर्देश भी जरूरी है। उन्होंने कहा है कि कितने ही मूल्यवान् वैडूर्य आदि मणि हों किन्तु जब तक वे पृथक्-पृथक् हैं 'रत्नावलि' के नाम से वंचित हो रहेगे। उसी प्रकार अपने-अपने मतों के विषय में ये नय कितने ही सुनिश्चित हो किन्तु जबतक वे अन्य-अन्य पक्षों से निरपेक्ष हैं वे 'सम्यग्दर्शन' नाम से वंचित ही रहेगे। जिस प्रकार वे ही मणि जब अपने-अपने योग्य स्थान में एक डोर में बंध जाते हैं तब अपने-अपने नामों को छोड़कर एक 'रत्नावलि' नामको धारण करते हैं, उसी प्रकार ये सभी नयवाद भी सब मिलकर अपने अपने वक्तव्य के अनुरूप वस्तुदर्शन में योग्य स्थान प्राप्त करके 'सम्यग्दर्शन' नाम को प्राप्त कर लेते हैं और अपनी विशेष संज्ञा का परित्याग करते हैं। (१,२२-२५)। यही अनेकान्तवाद है।

स्पष्ट है कि सन्मतिकार सिद्धसेन के मत से नयों का सुनय और दुर्नय ऐसा विभाग जरूरी है। तात्पर्य इतना ही है कि अन्य दर्शनों के जो मत हैं यदि वे अनेकान्तवाद के एक अंश रूप से हैं तब तो सुनय हैं, अन्यथा दुर्नय। यहीं से नयवाद के साथ अन्य दार्शनिक मतों के संयोजन की प्रक्रिया शुरू हुई है। स्वयं सिद्धसेन ने इस प्रक्रिया का सूत्रपात भी इन शब्दों में कर दिया है—जितने वचनमार्ग हैं उतने ही नयवाद हैं। और जितने नयवाद हैं उतने ही परसमय=परमत हैं। कपिलदर्शन द्रव्याधिक नय का वक्तव्य है, और शुद्धोदयननय का वाद परिशुद्ध पर्यायाधिक नय का वक्तव्य है। तथा उलूक (वैशेषिक) मत में दोनों नय स्वीकृत हैं फिर भी ये सभी 'मिथ्यात्व' है क्योंकि अपने-अपने विषय को प्राधान्य देते हैं और परस्पर निरपेक्ष हैं। सारांश कि यदि वे अन्य मतसापेक्ष हो तब ही 'सम्यग्दर्शन' संज्ञा के योग्य हैं, अन्यथा नहीं (३,४७-४९)।

सिद्धसेन की इस सूचना को लेकर तत्कालीन सभी

मतों का संग्रह विन्नम पांचवीं शती के पूर्वार्ध में आचार्य मल्लवादी ने अपने नयचक्र में कर दिया है^१। मल्लवादी का यह ग्रन्थ अपने कालकी अद्वितीय कृति कही जा सकती है। वर्तमान में अनुपलब्ध ग्रन्थ और मतों का परिचय केवल इस नयचक्र से इसलिए मिलता है कि आचार्य मल्लवादी ने अपने काल तक विकसित एक भी प्रधान मत को छोड़ा नहीं। अतएव अपने-अपने मत को प्रदर्शित करने वाले तत्-तत् दर्शनों के ग्रन्थों की अपेक्षा सर्वसंग्राहक यह ग्रन्थ षड्दर्शन समुच्चय जैसे ग्रन्थों की पूर्वभूमिका रूप बन जाता है। नयचक्र की रचना की जो विशेषता है वह उसके नाम से ही सूचित हो जाती है। नयों का अर्थात् तत्कालीन नानावादों का यह चक्र है। चक्र की कल्पना के पीछे आचार्य का आशय यह है कि कोई भी मत अपने-आप में पूर्ण नहीं है। जिस प्रकार उस मत की स्थापना दलीलों से हो सकती है उसी प्रकार उसका उत्थापन भी विरुद्ध मत की दलीलों से हो सकता है। स्थापना-उत्थापना का यह चक्र चलता रहता है। अतएव अनेकान्तवाद में ये मत यदि अपना उचित स्थान प्राप्त करें तब ही उनका ओचित्य है, अन्यथा नहीं। इसी आशय को सिद्ध करने के लिए आचार्य ने क्रमशः एक-एक मत लेकर उसकी स्थापना की है और अन्य मत से उसका निराकरण करके अन्य मत की स्थापना की गई है। तब तीसरा मत उसकी, भी उत्थापना करके अपनी स्थापना करता है—इस प्रकार अन्तिम मत जब अपनी स्थापना करता है तब प्रथम मत उसीका निराकरण करके अपनी स्थापना करता है—इस प्रकार चक्र का एक परिवर्तन पूरा हुआ किन्तु चक्र का चलना यही समाप्त नहीं होता, पूर्वोक्त प्रक्रिया का पुनरावर्तन होता है।

अपने काल के जिन मतों का संग्रह नयचक्र में है वे ये हैं—अज्ञानवाद, पुरुषाद्वैत, नियतिवाद, कालवाद, स्वभाववाद, भाववाद, प्रकृति-पुरुषवाद, ईश्वरवाद, कर्मवाद, द्रव्य-क्रियावाद, षड्पदार्थवाद, स्याद्वाद, शब्दाद्वैत, ज्ञानवाद, सामान्यवाद, अपोहवाद, अवक्तव्यवाद, रूपादिसमुदायवाद, क्षणिकवाद, शून्यवाद—इन मुख्यवादों के अलावा गौण

१. इसके विशेष परिचय के लिए देखो, आगमयुग क जैनदर्शन (आगरा) पृ० २६६।

भी अनेकवादों की चर्चा देखी जा सकती है जैसे कि प्रत्यक्ष लक्षण, सत्कार्य असत्कार्य वाद आदि ।

नयचक्र के नयविषयक मत का सारांश यह है कि अंश से किया हुआ दर्शन नय है अतएव वही एकमात्र दर्शन नहीं हो सकता । उसका विरोधी दर्शन भी है और उसको भी वस्तुदर्शन में स्थान मिलना चाहिए । उन्होंने उस समय प्रचलित विविध मतों को अर्थात् विविध जैनैतर मतों को ही नय माना और उन्हीं के समूह को जैनदर्शन या अनेकान्तवाद माना । ये ही जैनैतर मत पृथक्-पृथक् नयाभास है और अनेकान्तवाद के चक्रमे यथास्थान सन्निहित होकर नय है ।

स्पष्ट है कि आचार्य उमास्वाति की नय की समझ और आचार्य मल्लवादी की नय की समझ में अन्तर है । उमास्वाति नयों को परमतो से पृथक् ही रखना चाहते हैं वही मल्लवादी परवादों—परमतो को ही नयचक्र में स्थान देकर अनेकान्तवाद की स्थापना का प्रयत्न करते हैं । नयचक्र का यह प्रयत्न उन्हीं तक सीमित रहा । केवल नयाभासों के वर्णन में परमतों को स्थान दिलाने में वे निमित्त अवश्य हुए । अकलक से लेकर अन्य सभी जैनआचार्यों ने नयाभास के दृष्टान्तरूप से विविध दर्शनों को स्थान दिया है किन्तु नयों के वर्णन में केवल जैनदृष्टि ही रखी है । उसे किसी अन्यदीय मत के साथ जोड़ा नहीं है ।

यहाँ यह भी प्रासंगिक कह देना चाहिए कि विशेषावश्यक के कर्ता आचार्य जिनभद्र नयचक्र के इस मत से सहमत हैं कि विविध नयों का समूह ही जैनदर्शन है (गा० ७२) । किन्तु उन्होंने भी नयवर्णन के प्रसंग में नय-रूप से अन्यदीय मत का निरूपण नहीं किया किन्तु जैन-सम्मत नयों का निरूपण किया । इस अर्थ में वे उमास्वाति का अनुसरण करते हैं, नयचक्र का नहीं । सारांश कि इतना तो सिद्ध हुआ कि सर्वनयों का समूह ही जैनदर्शन या सम्यग्दर्शन हो सकता है । यही मत सिद्धसेन ने भी स्पष्ट रूप से स्वीकृत किया था ।

षड्दर्शनसमुच्चय और शास्त्रवार्तासमुच्चय

आचार्य हरिभद्र ने ये दो ग्रन्थ लिखे । उन दोनों में उनकी रचना की दृष्टि भिन्न-भिन्न रही है । षड्दर्शनसमुच्चय में तो छह दर्शनों का सामान्य परिचय करा देना

ही उद्दिष्ट है । इसके विपरीत शास्त्रवार्तासमुच्चय में जैनदृष्टि से विविध दर्शनों का निराकरण करके जैनदर्शन और अन्य दर्शनों में भेद मिटाना हो तो तद्दर्शन में किस प्रकार का संशोधन होना जरूरी है यह निर्दिष्ट किया है । अर्थात् जैनदर्शन के साथ अन्य-अन्य दर्शनों का समन्वय उन दर्शनों में कुछ संशोधन किया जाय तो हो सकता है—इस और इशारा आचार्य हरिभद्र ने किया है । नयचक्र की पद्धति और शास्त्रवार्ता की पद्धति में यह भेद है कि नयचक्र में प्रथम एक दर्शन की स्थापना होने के बाद उसके विरोध में अन्य दर्शन खड़ा होता है और उसके भी विरोध में क्रमशः अन्य दर्शन—इस प्रकार तत्काल के विविध दर्शनों का बलाबल देखकर मल्लवादी ने एक दर्शन के विरोध में अन्य दर्शन खड़ा किया है । और दर्शनचक्र की रचना की है । कोई दर्शन सर्वथा प्रबल नहीं और कोई दर्शन सर्वथा निर्बल नहीं । यह चित्र नयचक्र में है । तब शास्त्रवार्तासमुच्चय में अन्य सभी दर्शन निर्बल ही हैं और केवल जैनदर्शन ही सयुक्तिक है—यही स्थापना है । दोनों ग्रन्थों में समग्रभाव से भारतीय दर्शनों का संग्रह है । नयचक्र में गौण-मुख्य सभी सिद्धान्तों का और शास्त्रवार्ता में मुख्य-मुख्य दर्शनों का और उनमें भी उनके मुख्य सिद्धान्तों का ही संग्रह है ।

जिस रूप में आचार्य हरिभद्र ने दर्शनों की छह संख्या मान्य रखी है वह उनकी ही सूझ है । सामान्य रूप से छह दर्शनों में छह वैदिक दर्शन ही गिने जाते हैं किन्तु आचार्य हरिभद्र को छह दर्शनों में जैनदर्शन और बौद्ध दर्शन भी शामिल करना था अतएव उन्होंने १ सांख्य, २ याग, ३ नैयायिक, ४ वैशेषिक, ५ पूर्वमीमांसा और ६ उत्तरमीमांसा इन छह वैदिक दर्शनों के स्थान में छह संख्या की पूर्ति इस प्रकार की—१ बौद्ध, २ नैयायिक, ३ सांख्य, ४ जैन, ५ वैशेषिक और ६ जैमिनीय । और ये ही दर्शन हैं और इन्हीं में सब दर्शनों का संग्रह भी हो जाता है—ऐसा स्पष्टीकरण किया है (का० १-३) और इन छह दर्शनों को आस्तिकवाद की सजा दी है । (का० ७७) ।

यह भी निर्दिष्ट है कि कुछ के मत से नैयायिक से वैशेषिकों के मत को भिन्न माना नहीं जाता अतएव उनके मतानुसार पाँच आस्तिक दर्शन हुए (का० ७८) और

छह संस्था की पूर्ति वे लोकायत दर्शन को जोड़कर करते हैं। अतएव हम यहां लोकायत दर्शन का भी निरूपण करेंगे (का० ७६)। सारांश यह हुआ कि आ० हरिभद्र ने छह आस्तिकदर्शन और एक नास्तिकदर्शन—लोकायत दर्शन का प्रस्तुत षड्दर्शनसमुच्चय में निरूपण किया है। इससे स्पष्ट है कि हरिभद्र ने वेदान्तदर्शन या उत्तरमीमांसा को इसमें स्थान दिया नहीं। इसका कारण यह हो सकता है कि उस काल में अन्य दर्शनों के समान वेदान्त ने पृथक् दर्शन के रूप में स्थान पाया नहीं था। वेदान्तदर्शन का दर्शन में स्थान आ० शंकर के भाष्य और उसकी टीका भाष्यी के बाद जिस प्रकार से प्रतिष्ठित हुआ सम्भवतः उसके पूर्व उतनी प्रतिष्ठा उसकी न भी हो। यह भी कारण हो सकता है कि गुजरात राजस्थान में उस काल तक वेदान्त की उतनी प्रतिष्ठा न भी हो।

शास्त्रवार्तासमुच्चय की रचना तत्त्वसंग्रह को समक्ष रखकर हुई है। दोनों में अपनी अपनी दृष्टि से ज्ञातदर्शनों का निराकरण मुख्य है। शास्त्रवार्तासमुच्चय में जिन दर्शनों का निराकरण है उनका दर्शनविभाग क्रम से नहीं किन्तु विषय-विभाग को लेकर है। प्रसिद्ध दर्शनों में चार्वाकों के भौतिकवाद का सर्वप्रथम निराकरण किया गया है तदनन्तर ईश्वरवाद जो न्याय-वैशेषिक समत है, प्रकृति-पुरुष-वाद (सांख्यसमत), क्षणिकवाद (बौद्ध), विज्ञानाद्वैत (योगाचार बौद्ध), पुनः क्षणिकवाद (बौद्ध), और शून्यवाद (बौद्ध) का निराकरण किया गया है। तदनन्तर निर्या-नित्यवाद (जैन) की स्थापना करके अद्वैतवाद (वेदान्त) का निराकरण किया है। तदनन्तर जैनों के मुक्तिवाद की स्थापना और सर्वज्ञताप्रतिषेधवाद (मीमांसक) और शब्दार्थसम्बन्धप्रतिषेधवाद का निराकरण है। इससे स्पष्ट है कि षड्दर्शनसमुच्चय में जिस वेदान्त को स्थान नहीं मिला था उसे शास्त्रवार्तासमुच्चय में (का० ५३४-५५२) मिला है इसका कारण सम्भवतः यह है कि आचार्य हरिभद्र ने शान्तिरक्षित का तत्त्व-संग्रह देखा और उसमें से प्रस्तुत वाद के विषय में उन्होंने जाना तब उस विषय की उनकी जिज्ञासा बलवती हुई और अन्य सामग्री को भी उपलब्ध किया। तत्त्व-संग्रह की टीका में उस औपनिष-दिक अद्वैतावलम्बी कहा गया है (का० ३२८)। यह भी

ध्यान देने की बात है कि तत्त्वसंग्रह में भी आत्म-परीक्षा प्रकरण में औपनिषदात्मपरीक्षा—यह एक अवान्तर प्रकरण है। वेदान्त के विषय में उसमें कोई स्वतंत्र 'परीक्षा' नहीं है। तत्त्व-संग्रह के पूर्व में भी समन्तभद्राचार्य की आप्तमीमांसा में अद्वैतवाद का निराकरण था ही। वह आचार्य हरिभद्र ने षड्दर्शन की रचना के पूर्व न देखा हो यह सम्भव नहीं लगता। अतएव षड्दर्शन में वेदान्त को स्वतंत्र दर्शन का स्थान देने में यही कारण हो सकता है कि उस दर्शन की प्रमुख दर्शन के रूप में प्रतिष्ठा जम पायी न थी।

दर्शनसंग्राहक अन्य ग्रन्थ

प्रस्तुत षड्दर्शनसमुच्चय का अनुसरण करके अन्य जैनाचार्यों ने दर्शनसंग्राहक ग्रन्थ लिखे। और उनमें भी उन्होंने आचार्य हरिभद्र जैसा ही दर्शनों का परिचय मात्र देने का उद्देश्य रखा है।

आचार्य हरिभद्र के बाद किसी जैन मुनि ने "सर्व-सिद्धान्तप्रवेशकः" ग्रन्थ लिखा था। उसकी तालपत्र में वि० १२०१ में लिखी गयी प्रति उपलब्ध है—इससे पता चलता है कि वह राजशेखर से भी पूर्व की रचना है। मुनिश्री-जंबूविजय जी ने इस पुस्तिका का सम्पादन किया है और जैन साहित्य विकास मण्डल, बम्बई से वह ई० १९६४ में प्रकाशित है। इसमें क्रमशः नैयायिक, वैशेषिक, जैन, सांख्य, बौद्ध, मीमांसक और लोकायत दर्शनों का परिचय है। आचार्य हरिभद्र का षड्दर्शन पद्यों में है तब यह गद्य में है। वही दर्शन इसमें भी है जो आचार्य हरिभद्र के षड्दर्शन में है। इस ग्रन्थ में दर्शनों के प्रमाण और प्रमेय का परिचय कराना लेखक को अभिप्रेत है।

वायडगच्छ के जीवदेवसूरि के शिष्य आचार्य जिन-दत्तसूरि (वि० १२६५) ने 'विवेकावलास' की रचना की है (प्रकाशक, सरस्वती ग्रन्थमाला कार्यालय, आगरा, वि० १९७६) उसके अष्टम उल्लास में 'षड्दर्शनविचार' नाम का प्रकरण है—उसमें जैन, मीमांसक, बौद्ध, सांख्य, शैव (नैयायिक और वैशेषिक) और नास्तिक—इन छहों

१. इसी ग्रन्थ में से सर्वदर्शनसंग्रह में 'बौद्धदर्शन' के श्लोक उद्धृत हैं—सर्वदर्शनसंग्रह पृ० ४६ (पूना)।

दर्शनों का संक्षेप में परिचय दिया गया है। प्रस्तुत ग्रंथ में शीघ्र में न्याय-वैशेषिक का समावेश है—यह ध्यान देने योग्य है। यह भी आचार्य हरिभद्र के समान केवल परिचयात्मक प्रकरण है। अन्त में जो उपदेश दिया है वह ध्यान देने योग्य है—

सन्तु शास्त्राणि सर्वाणि सरहस्यानि कूरतः ।

एकमप्यक्षरं सम्यक् शिक्षितं निष्फलं नहि ॥ ८.३११

यह प्रकरण ६६ श्लोक प्रमाण है।

आचार्य शंकरकृत माना जानेवाला 'सर्वमिद्वान्त-संग्रह' अथवा सर्वदर्शनसिद्धान्तसंग्रह' मद्रास सरकार के प्रेम से ई० १९०६ में श्री रंगाचार्य-द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हुआ है। श्री पं० सुखलाल जी को यह प्रसिद्ध अद्वैत वेदान्त के आद्यशंकराचार्य की कृति होने में सन्देह है (समदर्शी आचार्य हरिभद्र, पृ० ४२)। किन्तु इतना तो कहा ही जा सकता है कि यह कृति सर्वदर्शनसंग्रह (माधवाचार्य) से प्राचीन है। इस ग्रंथकार के मत से भी वैदिक और अवैदिक ऐसा दर्शन विभाग है। वैदिकों में इनके मत से जैन, बौद्ध और बृहस्पति के मतों का समावेश नहीं है। इस ग्रंथ में भी माधवाचार्य के सर्वदर्शनसंग्रह की तरह पूर्व-पूर्व दर्शन का उत्तर-उत्तर दर्शन के द्वारा निराकरण है। दर्शनों का इस प्रकार निराकरण करके अन्त में अद्वैत वेदान्त की प्रतिष्ठा की गयी है। दर्शनों का क्रम इस ग्रंथ में इस प्रकार है—

१. लोकायतिक पक्ष, २. आर्हतपक्ष, ३. माध्यमिक, ४. योगाचार, ५. सौत्रान्तिक ६. वैमाषिक, ७. वैशेषिक, ८. नैयायिक, ९. प्रभाकर, १०. भट्टाचार्य, (कुमारांश= कुमारिल), ११. सांख्य, १२. पतञ्जलि, १३. वेदव्यास, १४. वेदान्त। इन दर्शनों में से वेदव्यास के दर्शन के नाम से जो पक्ष उपस्थित किया गया है वह महाभारत का दर्शन है। जैनदर्शन को आर्हतपक्ष में उपस्थित किया गया है किन्तु लेखक ने भ्रमपूर्ण बातों का उल्लेख किया है। पता नहीं उनके समक्ष जैनदर्शन का कौन-सा ग्रंथ था। लेखक जैनों के मात्र दिगम्बर सम्प्रदाय से परिचित है। बौद्धों के चार पक्षों को अधिकारी भेद से स्वीकृत किया है। इतना ही नहीं किन्तु बृहस्पति, आर्हत और बौद्धों के

मतों को भी अधिकारी के भेद से भिन्न माने हैं। अन्य वैदिक मतों के विषय में भी इनका कहना है कि ये सभी वेदान्त शास्त्र के अर्थ का प्रतिपादन करने के लिए ही तत्पर हैं —

वेदान्तशास्त्रसिद्धान्तः संक्षेपावय कथ्यते ।

तदर्थप्रवणः प्रायः सिद्धान्ताः परवादिनाम् ॥ १२.१

वेदबाह्य दर्शनों को लेखक नास्तिक की उपाधि देता है—

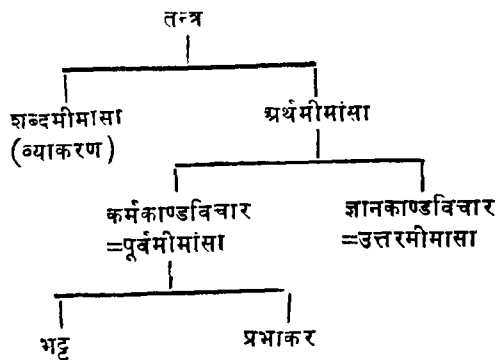
“नास्तिकान् वेदबाह्यास्तान् बौद्धलोकायताहंतान् ॥ ५.१

सायण माधवाचार्य (ई० १३००) ने 'सर्वदर्शन-संग्रह' नामक ग्रंथ की रचना की—उसकी पद्धति नयचक्र से मिलती है। भेद यह है कि उन्होंने कमश नयचक्र की तरह, पूर्व-पूर्व दर्शन का उत्तर-उत्तर दर्शन से खण्डन करा कर भी अन्त में अद्वैतवेदान्त की प्रतिष्ठा की है। उस अन्तिम दर्शन का खण्डन किसी दर्शन से नहीं कराया। जब कि नयचक्रगत अन्तिम मत का निराकरण सर्वप्रथम उपस्थित मत के द्वारा किया गया है और खण्डन-मण्डन का चक्र प्रवर्तित है। 'नयचक्र' के मत से उपस्थित सभी मत सम्मिलित हो तो सम्यग्दर्शन या अनेकान्त होता है। जब कि 'सर्वदर्शनसंग्रह' के मत से अन्तिम अद्वैतदर्शन ही सम्यक् है। सायण माधवाचार्य ने क्रमशः जिन दर्शनों का निराकरण किया है और अन्त में अद्वैतवाद उपस्थित किया है—वे ये हैं—१. चार्वाकदर्शन, २. बौद्धदर्शन (चारों भेद), ३. दिगम्बर (आर्हतदर्शन), ४. रामानुज, ५. पूर्णप्रज्ञदर्शन, ६. नकुलीशपाशुपनदर्शन, ७. माहेश्वर (शैव दर्शन), ८. प्रत्यभिज्ञादर्शन ९. रसेश्वरदर्शन, १०. झीलूक्यदर्शन (वैशेषिक) ११. अक्षपाददर्शन (नैयायिक), १२. जैमिनिदर्शन (मीमांसा), १३. पाणिनिदर्शन, १४. सांख्यदर्शन, १५. पातंजलदर्शन, १६. शंकरदर्शन (वेदान्तशास्त्र)।

'प्रस्थानभेद' के लेखक ने जिस उदारता का परिचय दिया है वह भी इस सर्वदर्शनसंग्रह में नहीं। वह तो अद्वैत को ही अन्तिम सत्य मानता है। नयचक्र में सर्वदर्शनों के समूह को अनेकान्तवाद कहा है और प्रत्येक दर्शन को एकान्त कहा है। उनके अनुसार अद्वैत मत भी एक

एकान्त ही ठहरता है अन्तिम सत्य नहीं। जब कि 'सर्व-दर्शन संग्रह' के मत से अद्वैत ही अन्तिम सत्य है। बाकी सब मिथ्या है। वस्तुतः नयचक्र और सर्वदर्शनसंग्रह इन दोनों का एक ही ध्येय है और वह यह कि अपने-अपने दर्शन को सर्वोपरि सिद्ध करना।

माधवसरस्वती (? ई० १३५०) ने 'सर्वदर्शनकोमुदी' नामक ग्रंथ लिखा है जो त्रिवेन्द्रम् संस्कृत ग्रंथमाला में ई० १६३८ में प्रकाशित है। इस ग्रंथकार ने भी वैदिक-अवैदिक—इस प्रकार का दर्शनविभाग स्थिर किया है। वेद को प्रमाण मानने वालों को वह शिष्ट मानता है और वेद के प्रमाण को स्वीकार नहीं करनेवाले बौद्ध को अशिष्ट^१। माधव सरस्वती ने वैदिक और अवैदिक ऐसे दो भेद दर्शनों के किये हैं। वैदिक दर्शनों में इनके अनुसार तर्क, तन्त्र और सांख्य ये तीन दर्शन हैं। तर्क के दो भेद हैं—वैशेषिक और नैयायिक। तन्त्र का विभाजन इस प्रकार है—



सांख्यदर्शन के दो भेदों का निर्देश है—शेखरसांख्य योगदर्शन और निरीश्वरसांख्य=प्रकृतिपुरुष के भेद का प्रतिपादक। इस प्रकार वैदिक दर्शनों के छह भेद हैं—योग, सांख्य पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा, नैयायिक, और वैशेषिक।

अवैदिकदर्शन के तीन भाग हैं—बौद्ध, चार्वाक और आर्हत। तथा बौद्धदर्शन के चार भेद हैं—माध्यमिक,

१. वेदप्रामाण्याभ्युपगन्ता शिष्टः। तदनभ्युपगन्ता बौद्धो-
ऽशिष्टः।—पृ० ३।

योगाचार, सौत्रान्तिक, वैभाषिक^२।

इस ग्रंथ की विशेषता यह है कि वह इस क्रम से दर्शनों का निरूपण करता है—वैशेषिकदर्शन का सर्व-प्रथम निरूपण है। किन्तु वैशेषिकों के ही विपर्यय के निरूपण प्रसंग में ख्यातिवाद की चर्चा की गयी है—उसी में सदसत्ख्याति को मानने वाले जैनो का दर्शन पूर्वपक्ष में निरूपित है। और वैशेषिकों द्वारा विपरीतख्याति की स्थापना के लिए उसका निराकरण किया गया है। अतएव जैनदर्शन का निरूपण पृथक् करने की आवश्यकता लेखक ने मानी नहीं है^३।

वैशेषिक के अनन्तर नैयायिक दर्शन का निरूपण है (पृ० ६३) और क्रमशः मीमांसा, सांख्य और योगदर्शन का निरूपण है।

राजशेखर का 'षड्दर्शनसमुच्चय' आचार्य हरिभद्र के 'षड्दर्शनसमुच्चय का अनुकरण होते हुए भी सामग्री की दृष्टि से विस्तृत है। इसमें तत्तत् दर्शनों के आचार्यों और वेशभूषा का भी निरूपण है। इस ग्रंथ में दर्शनों का परिचय इस क्रम से है—

१ जैन, २ सांख्य, ३ जैमिनीय, ४ योग, ५ वैशेषिक और ६ सौगत। योगदर्शन का परिचय, अष्टांगयोग, जो कि सर्वदर्शन साधारण आचार है, उसका परिचय देकर सम्पन्न किया है। तथा उक्त सभी दर्शन जीव को मानते हैं जब कि नास्तिक उसे भी नहीं मानते यह कहकर चार्वाकों की इलीलों का संग्रह करके उस दर्शन का भी परिचय अन्त में दे दिया है। ये राजशेखर वि० १४०५ में विद्यमान थे ऐसा उनके द्वारा रचित प्रबन्ध कोश की प्रशस्ति से ज्ञात होता है। यह षड्दर्शनसमुच्चय यशो-विजय जैन ग्रन्थमाला में वाराणसी से बी० सं० २४३८ में प्रकाशित है।

आचार्य मेरुतुंगकृत (ई० १४वीं का उत्तरार्ध) 'षड्-

२. सर्वदर्शनकोमुदी पृ० ४।

३. सर्वदर्शनकोमुदी पृ० ३४ और पृ० १०८। लेखक ने जैनदर्शन का पूर्वपक्ष जो उपस्थित किया है वह अभ्रान्त नहीं है।

दर्शननिर्णय' नामक ग्रंथ की हस्तप्रति नं० १६६६ बाम्बे ब्रांच, रायल एशियाटिक सोसायटी में विद्यमान है। उसकी फोटो कापी लालभाई द० विद्यामन्दिर, अहमदाबाद में हैं। उसकी प्रतिलिपि डॉ० नगीन शाह की है। उसे पढ़ने से ज्ञात होता है कि उसमें आचार्य मेरुतुंग ने क्रमशः बौद्ध, मीमांसा (वेदान्त के साथ), सांख्य, नैयायिक, वैशेषिक और जैनदर्शन—इन छह दर्शनों-सम्बन्धी मीमांसा की है। इस ग्रंथ में तत्तत् दर्शन-सम्बन्धी खासकर देव, गुरु और धर्म के स्वरूप का निरूपण करके जैनमतानुसार उसकी समीक्षा की गयी है और अन्त में जैनमत देव-गुरु-धर्म का स्वरूप निरूपित करके, वैसा ही स्वरूप महाभारत, पुराण, स्मृति आदि भी समर्थित होता है ऐसा दिखाने का प्रयत्न किया गया है। आ० मेरुतुंग की यह रचना वि० १४४४ और वि० १४४६ के बीच हुई है ऐसा श्री देसाई कृत 'जैन साहित्यको संक्षिप्त इतिहास' (पृ० ४४२) से प्रतीत होता है।

मधुसूदन सरस्वती (ई० १५४०-१६४७) द्वारा रचित 'प्रस्थानभेद' भी सर्वदर्शनसंग्राहक ग्रंथ कहा जा सकता है। उसमें सभी प्रधान शास्त्रों का परिगणन किया है। तदनुसार वेद के उपागो में पुराण, न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्र का संग्रह किया गया है। और उनके मतानुसार वैशेषिक दर्शन का न्याय, वेदान्त का मीमांसा में तथा सांख्य और पानञ्जन, पाशुपत और वैष्णव आदि का धर्मशास्त्र में समावेश है।^१ और इन सभी को उन्होंने 'आस्तिक' माना है।^२

मधुसूदन सरस्वती ने नास्तिकों के भी छह प्रस्थानों का उल्लेख किया है। वे ये हैं—माध्यमिक, योगाचार, सोत्रान्त्रिक और वैभाषिक—ये चार सौगत प्रस्थान तथा चाविक और दिगम्बर।^३ मधुसूदन का कहना है कि शास्त्रों में इन प्रस्थानों का समावेश उचित नहीं क्योंकि

वेदबाह्य होने से पुरुषार्थ में परम्परा से भी भ्लेच्छ आदि प्रस्थानों की तरह उनका कोई उपयोग नहीं है।^४ सारांश यह है कि उनके मत में न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्व और उत्तर मीमांसा—इन छह प्रसिद्ध वैदिक दर्शनों के अलावा पाशुपत और वैष्णव=पाचरातो का भी वैदिक आस्तिक दर्शनों में समावेश है। और नास्तिक अर्वादि दर्शनों में भी छह दर्शन उनको अभिप्रेत है।

वैदिक दर्शनों के पारस्परिक विरोध का समाधान उन्होंने यह कहकर किया है कि ये सभी मुनि भ्रान्त तो हो नहीं सकते क्योंकि वे सर्वज्ञ थे। किन्तु बाह्य विषय में लगे हुए लोगों को परमपुरुषार्थ में प्रविष्ट होना कठिन होता है अतएव नास्तिकों का निराकरण करने के लिए इन मुनियों ने प्रकार भेद किये हैं। लोगो ने इन मुनियों का आशय समझा नहीं और कल्पना करने लगे कि वेद से विरोधी अर्थ में भी इन मुनियों का तात्पर्य है और उसी का अनुसरण करने लगे हैं।^५

षड्दर्शनसमुच्चय की सोमतिलककृत 'वृत्ति के अन्त में 'लघुषड्दर्शनसमुच्चय' के नाम से अज्ञातकर्तृक एक कृति मुद्रित है उसके प्रारम्भ में—

जैनं नैयायिक बौद्धं काणादं जैनमन्यकम् ।

सांख्यं षड्दर्शनीय [च] नास्तिकीयं तु सप्तमम् ॥

यह कारिका देकर क्रमशः उक्त दर्शनों का परिचय अति संक्षेप में दिया गया है। अन्त में अन्य दर्शनों को दुर्नयकोटि में रख कर जैन दर्शनों को 'प्रमाण बताया गया है। इससे सिद्ध है कि इसका कर्ता कोई जैन लेखक है।

[षड्दर्शन समुच्चय की भूमिका से साभार]

१. प्रस्थानभेद (पुस्तकालय स० स० मंडल, बरोडा,

ई० १६३५) पृ० १।

२. वही पृ० १। ३. पृ० ५।

४. पृ० ५।

५. प्रस्थानभेद पृ० ५७।

६. मुक्ताएाई ज्ञानमन्दिर, उमोई द्वारा प्रकाशित।

अनेकान्त का अगला अंक

अनेकान्त का अगला अंक संयुक्तांक होगा तथा फरवरी के अन्तिम सप्ताह में प्रकाशित होगा। अनेकान्त के तेईसवें वर्ष के इस पूर्णांक में महत्त्वपूर्ण शोध सामग्री तथा तेईसवें वर्ष के अर्थों में प्रकाशित शोध निबन्धों की अनुक्रमणिका भी रहेगी। चौबीसवें वर्ष के प्रथम अंक से ही अनेकान्त की अधिक उपयोगी तथा महत्त्वपूर्ण बनाने के विभिन्न प्रयत्न किये जा रहे हैं।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

वीर सेवा-मन्दिर २१, दरियागंज

दिल्ली।

वीर-सेवा-मन्दिर और "अनेकान्त" के सहायक

- | | |
|--|--|
| १०००) श्री मिश्रीलाल जी धर्मचन्द जी जैन, कलकत्ता | ११०) श्री चम्पालाल जी सरावगी, कलकत्ता |
| १०००) श्री देवेन्द्रकुमार जैन, ट्रस्ट | १५०) श्री जगमोहन जी सरावगी, कलकत्ता |
| श्री साहू शीतलप्रसाद जी, कलकत्ता | १५०) ,, कस्तूरचन्द जी आनन्दीलाल जी कलकत्ता |
| ५००) श्री रामजीवन सरावगी एण्ड संम, कलकत्ता | १५०) ,, कन्हैयालाल जी सीताराम, कलकत्ता |
| ५००) श्री गजराज जी सरावगी, कलकत्ता | १५०) ,, पं० बाबूलाल जी जैन, कलकत्ता |
| ५००) श्री नथमल जी सेठी, कलकत्ता | १५०) ,, मालीराम जी सरावगी, कलकत्ता |
| ५००) श्री वैजनाथ जी धर्मचन्द जी, कलकत्ता | १५०) ,, प्रतापमल जी मदन लाल पांड्या, कलकत्ता |
| २५१) श्री शिखरचन्द जी भाभरी, कलकत्ता | १५०) ,, भागचन्द जी पाटनी, कलकत्ता |
| २५१) श्री रा० बा० हरखचन्द जी जैन, रांची | १५०) ,, शिखरचन्द जी सरावगी, कलकत्ता |
| २५१) श्री अमरचन्द जी जैन (पहाड्या), कलकत्ता | १५०) ,, सुरेन्द्रनाथ जी नरेन्द्रनाथ जी कलकत्ता |
| २५१) श्री स० सि० धन्यकुमार जी जैन, कटनी | १०१) ,, भारवाड़ी वि० जैन समाज, व्यावर |
| २५१) श्री सेठ सोहनलाल जी जैन, | १०१) ,, दिगम्बर जैन समाज, केकड़ी |
| मैसर्स मुन्नालाल द्वारकादास, कलकत्ता | १०१) ,, सेठ चन्दूलाल कस्तूरचन्दजी, बम्बई न० २ |
| २५१) श्री लाला जयप्रकाश जी जैन | १०१) ,, लाला शान्तिप्रसाद कामजी, दरियागंज दिल्ली |
| स्वस्तिक मेटल वर्क्स, जगाधरी | १०१) ,, सेठ भंवरीलाल जी बाकलीवाल, इम्फाल |
| २५०) श्री मोतीलाल हीराचन्द गांधी, उस्मानाबाद | १०१) ,, शान्तिप्रसाद जी जैन, जैन बुक एजेंसी, नई दिल्ली |
| २५०) श्री बन्नीधर जी जुगलकिशोर जी, कलकत्ता | १०१) ,, सेठ जगन्नाथजी पाण्ड्या भूमरीतलवा |
| २५०) श्री जुगमन्दिरदास जी जैन, कलकत्ता | १०१) ,, सेठ भगवानदास शोभाराम जी राय |
| २५०) श्री सिधई कुन्दनलाल जी, कटनी | १०१) ,, बाबू नृपेन्द्रकुमार जी जैन, कलकत्ता |
| २५०) श्री महावीरप्रसाद जी अग्रवाल, कलकत्ता | १०१) ,, सेठ दानमल हीरालाल जी, १०, बाई (राज०) |
| २५०) श्री बी० आर० सी० जैन, कलकत्ता | १००) ,, बहोप्रसाद जी आत्माराम जी, पटना |
| २५०) श्री रामस्वरूप जी नेमिचन्द जी, कलकत्ता | १००) ,, रूपचन्दजी जैन, कलकत्ता |
| १५०) श्री वजरंगलाल जी चन्द्रकुमार जी, कलकत्ता | १००) ,, जैन रत्न सेठ गुलाबचन्द जी टोंगा इन्दौर |

- (१) पुरातन-जैनवाक्य-सूची—प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादि ग्रन्थों में उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। संपादक मुस्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्व की ७० पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए., डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये एम. ए., डी. लिट् की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोज के विद्वानोंके लिए अनीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द १५-००
- (२) प्राप्त परीक्षा—श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति, आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर, विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य पं. दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द। ८-००
- (३) स्वयम्भूस्तोत्र—समन्तभद्रभारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुस्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद, तथा महत्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित। ... २-००
- (४) स्तुतिविद्या—स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापों के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगल किशोर मुस्तार की महत्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत सुन्दर जिल्द-सहित। १-५०
- (५) ग्रन्थात्मकमलमातङ्ग—पञ्चाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिकरचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित १-५०
- (६) युक्त्यनुशासन—तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुस्तार श्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। ... १-२५
- (७) श्रीपुरपाद्वर्णनायस्तोत्र—आचार्य विद्यानन्द रचित, महत्व की स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित। ७५
- (८) शासनचतुस्त्रिंशिका—(तीर्थपरिचय) मुनि मदनकीर्ति की १३वीं शताब्दी की रचना, हिन्दी-अनुवाद सहित ७५
- (९) समीचीन धर्मशास्त्र—स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुस्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ३-००
- (१०) जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० १ संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना में अलंकृत, सजिल्द। ... ४-००
- (११) समाधितन्त्र और इष्टोपदेश—ग्रन्थात्मक कृति परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ४-००
- (१२) अनित्यभावना—आ० पद्मनन्दीकी महत्वकी रचना, मुस्तार श्री के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित २५
- (१३) तत्त्वार्थसूत्र—(प्रभाचन्द्राय)—मुस्तार श्री के हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या से युक्त। ... २५
- (१४) श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैनतीर्थ। १-२५
- (१५) महावीर का सर्वोदय तीर्थ १९ पैसे, १६ समन्तभद्र विचार-दीपिका १९ पैसे, (१७) महावीर पूजा १९
- (१८) ग्रन्थात्म रहस्य—पं० आशाधर की सुन्दर कृति मुस्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित। १-००
- (१९) जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० २ अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थोंकी प्रशस्तियों का महत्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं० परमानन्द शास्त्री। सजिल्द १२-००
- (२०) न्याय-दीपिका—आ. अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा सं० अनु० ७-००
- (२१) जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पृष्ठ संख्या ७४० सजिल्द (वीर-शासन-संघ प्रकाशन ५-००
- (२२) कसायपाहुड सुत्त—मूलग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं. हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। ... २०-००
- (२३) Reality भा० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद बड़े आकार के ३०० पृ. पक्की जिल्द ६-००

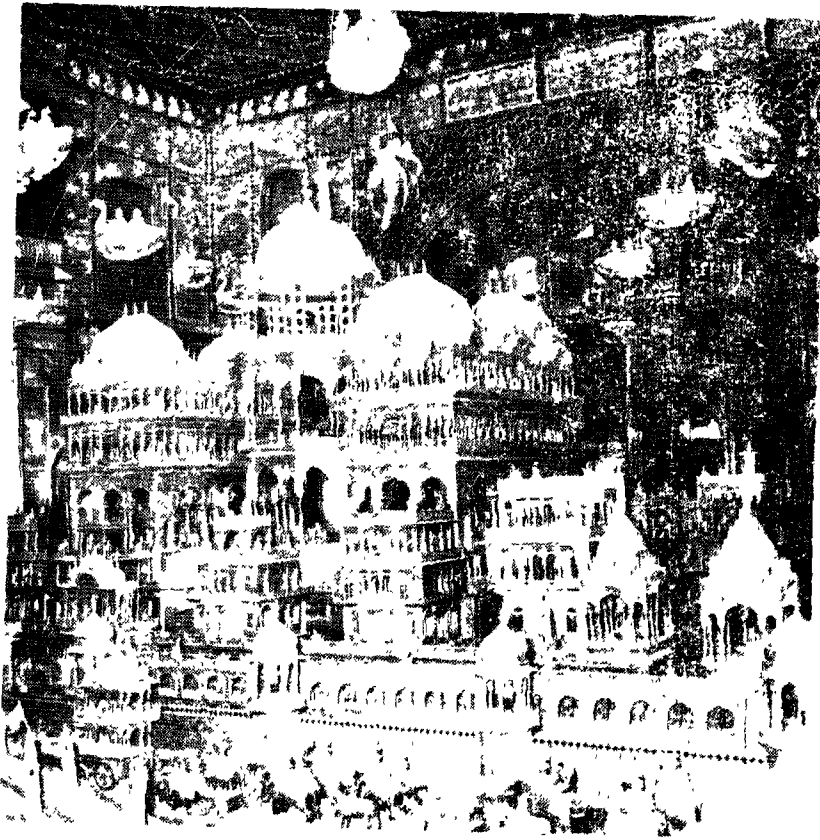
द्वै मासिक

दिसम्बर १९७०

फरवरी १९७१

अनेकान्त

वर्ष २३ : किरण ५-६



सोनी जी का मन्दिर, अजमेर. दूसरा खण्ड, भीतरी दृश्य

समन्तभद्राश्रम (वीर सेवा मन्दिर) का मुख-पत्र

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
१. श्रीअरिष्टनेमिजिनस्तवनम्—आचार्य समन्तभद्र	१६३
२. धनंजयकृत द्विसन्धान महाकाव्य	
—डा० आ० ने० उपाध्ये	१६४
३. भारतीय अनुमान को जैन तार्किकों की देन	
—डा० दरबारीलाल कोठिया	२०७
४. अपभ्रंश शब्दों का अर्थ-विचार	
—डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री	२१२
५. कुलवलयमाला में उल्लिखित राजा अवन्ति	
—प्रो० प्रेमसुमन जैन	२२१
६. शान्तिवर्णीकृत प्रमेयकण्ठिका	
—डा० गोकुलचन्द्र जैन	२२५
७. आराधनासमुच्चय का रचना-स्थल	
—पं० के० भुजबली शास्त्री	२३४
८. तिलकमंजरी : एक प्राचीन कथा	
—डा० वीरेन्द्रकुमार जैन	२३५
९. ज्ञात कवियों की कतिपय अज्ञात हिन्दी रचनाएँ	
डा० गंगाराम गर्ग	२४०
१०. दक्षिण भारत से प्राप्त महावीर प्रतिमाएँ	
—श्री मारुतिनन्दन तिवारी	२४२
११. वत्स जनपद का राजनैतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास	
—डा० शशिकान्त	२४६
१२. जैन दर्शन में आत्मद्रव्य विचार	
—श्री मुक्ताप्रसाद जैनदर्शनाचार्य	२५१
१३. राजस्थान सेमिनार—	
—प्रो० प्रेमसुमन, प्रकाश परिमल	२५८
१४. साहित्य-समीक्षा	
१. भरत और भारत	
२. मुसल्लौत जैन पत्रिका	
३. दिल्ली जैन डायरेक्टरी	
—पं० बालचन्द्र सिद्धांतशास्त्री	२६१

सम्पादक-मण्डल

डा० आ० ने० उपाध्ये
डा० प्रेमसागर जैन
श्री यशपाल जैन
परमानन्द शास्त्री

आगामी अंक के कुछ विशेष लेख

१. जैन विद्याओं के अध्ययन-अनुसन्धान की प्रगति के बढ़ते चरण ।
२. कौशल जनपद के प्राचीन जैन तीर्थ ।
३. जैन शिल्प में सरस्वती की मूर्तियाँ ।
४. भगवान महावीर के पच्चीस सौवे निर्माण महोत्सव की अखिल भारतीय योजनाएँ ।

वीर सेवा मन्दिर के सदस्यों को अनेकान्त भेंट :

वीर सेवा मन्दिर के द्वारा संचालित विभिन्न साहित्यिक और सांस्कृतिक प्रवृत्तियों को गति देने और उनमें सक्रिय सहयोग देने के लिए आप भी इसके सदस्य बन सकते हैं । सदस्यों को संस्थान का मुखपत्र अनेकान्त भेंट स्वरूप तथा प्रकाशित ग्रन्थ निर्धारित कम मूल्य में उपलब्ध होते हैं । जिन सदस्यों का वार्षिक सदस्यता शुल्क अभी तक नहीं आया है, उनसे अनुरोध है कि यथाशीघ्र भेजने का कष्ट करें ।

व्याख्यानमाला

श्रमण संस्कृति तथा जैन धर्म के विषय में जिज्ञासा दिनों-दिन बढ़ रही है । इस विषय में प्रामाणिक एवं पर्याप्त जानकारी दी जा सके, इस उद्देश्य में श्रमण संस्कृति तथा जैन धर्म के विभिन्न अंगों—धर्म, दर्शन, साहित्य, इतिहास, कला, पुरातत्त्व आदि विषयों पर एक व्याख्यानमाला आयोजित की गई है । इसके अन्तर्गत क्रमशः एक-एक विषय पर उस विषय के विशेषज्ञ एवं ख्याति प्राप्त विशिष्ट विद्वानों के गवेषणापूर्ण तथा म्थायी महत्त्व के व्याख्यान होंगे । व्याख्यानमाला की शुभारंभ ७ मार्च को मध्याह्न २ बजे, वीर सेवा मन्दिर में मुनि श्री विद्यानन्द जी महाराज के मंगल प्रवचन द्वारा होगा ।

संयोजक : डा० गोकुलचन्द्र जैन

अनेकान्त में प्रकाशित विचारों के लिए सम्पादक मण्डल उत्तरदायी नहीं है । —ध्यवस्थापक अनेकान्त

अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपये
एक किरण का मूल्य १ रुपया २५ पैसे

प्रीति ग्रंथ

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष २३ }
किरण ५-६ }

वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६
वीर निर्वाण मयन् २४६७, वि० म० २०२७

{ दिसम्बर १९७०
{ फरवरी १९७१

श्रीअरिष्टनेमिजिनस्तवनम्

भगवानृषिः परमयोगदहनहुतकल्मषेन्धनः ।

ज्ञानविपुलकिरणैः सकलं प्रतिबुध्य बुद्धकमलायतेक्षणः ॥

हरिवंशकेतुरनवद्यविनयदमतीर्थनायकः ।

शीलजलधिरभवो विभवस्त्वमरिष्टनेमिजिनकुञ्जरोऽजरः ॥

अर्थ—विकसित कमलदल के समान दीर्घ नेत्रों के धारक और हरिवंश में ध्वजरूप हे अरिष्टनेमि जिनेन्द्र, आप भगवान् ऋषि और शील-समुद्र हुए हैं; आपने परमयोग रूप शुक्ल ध्यानाग्नि से कल्मषेन्धन को भस्म किया है और ज्ञान की विपुल किरणों से सम्पूर्ण जगत अथवा लोकालोक को जानकर आप निर्दोष विनय तथा दम रूप तीर्थ के नायक हुए हैं, आप जरा से रहित और भव से विमुक्त हुए हैं ।

—समन्तभद्र : स्वयम्भू स्तोत्र

धनञ्जयकृत द्विसन्धान महाकाव्य

डा० आ० ने० उपाध्ये

संस्कृत भाषा का अर्थ-सामर्थ्य

संस्कृत भाषा में ऐसी उर्बरा सामर्थ्य है कि उसमें एक उक्ति एक से अधिक अर्थों को व्यक्त करती है। सर्व-प्रथम एक ही शब्द, चाहे वह क्रिया हो या सज्ञा, विभिन्न अर्थ रखता है जिसका मही निश्चय सन्दर्भ के अनुसार किया जा सकता है। इस प्रकार के पद संस्कृत कोशों में, जिन्हें अनेकार्थ या नानार्थ कोश कहा जाता है संगृहीत हैं। दूसरे एक दीर्घ समस्त पद अक्षरों के विभिन्न प्रकार से वर्गीकृत वियोजित होने पर भिन्न शब्दों और भिन्न अर्थों को प्रकट करते हैं। तीसरे, एक-एक सयुक्त पद की विभिन्न प्रकार से व्याख्या की जा सकती है और संयोजित शब्दों के सम्बन्ध के अनुसार उसका अर्थ बदल जाता है।

संस्कृत कवियों के निर्माण में यह अनिवार्य उपस्करण था कि उन्हें शब्दकोश तथा व्याकरण के सूत्र कण्ठस्थ होने चाहिए। इस प्रकार से दक्ष कवि (विदग्ध कवि) संस्कृत की इस प्रकृति का लाभ सहज ही ले सकता था। यह प्रवृत्ति उतनी ही पुरानी है जितना संस्कृत का उपयोग। जैसे 'इन्द्रशत्रु' इस समस्त पद में स्वरचित्त कैसे और क्यों सही सम्बन्ध अभिव्यक्त करते हैं। संस्कृत के इस पक्ष ने दोहरी अर्थवत्ता या श्लेष को तथा घुमावदार कथन या वक्रोक्ति को जन्म दिया जो काव्यालंकरण माने जाते थे, जब मितव्ययिता और प्रभावकारी दंग से सुबन्धु और बाण जैसे नैसर्गिक प्रभावशाली कवियों द्वारा उपयोग किये गये।

सविशेष रूप से दक्षता प्राप्त प्रतिभा तथा कतिपय कवियों के श्रमपूर्ण प्रयत्नों ने संस्कृत के इस लचीलेपन को बेहिसाब हद तक विकृत किया है जिसका परिणाम सन्धान काव्यों में स्पष्ट रूप से देखा जाता है। राघव-पाण्डवीय (१-३७-८, काव्यमाला, ६२; बम्बई १८९७)

में कविराज ने ठीक ही कहा है—

प्रायः प्रकरणैश्चैन विशोषण-विशोष्ययोः ।

परिवृत्त्या क्वचित्तद्वुपमानोपमानयोः ॥

क्वचित्पदैश्च नानार्थैः क्वचित्प्रोक्तभङ्गिभिः ।

विधास्यते मया काव्यं श्रीरामायणभारतम् ॥

प्राप्त विवरण से पता चलता है कि जब अकबर १५६२ ई० में कश्मीर जाते हुए लाहौर रुके तो उनके आमन्त्रण पर जिनचन्द्र सूरि उनकी विद्वत्सभा में गये। वहाँ उनके शिष्य समयमुन्दर ने उनके द्वारा बनायी गयी एक कृति (अष्टलक्षार्थी ग्रन्थ) को बादशाह के सामने पढ़ा। यह अष्टलक्षी थी। उन्होंने बादशाह को स्पष्ट किया कि इसमें तीन साधारण संस्कृत शब्दों का एक वाक्य है—'राजानो ददते सौख्यम्' जिसकी व्याख्या आठ लाख प्रकार से की जा सकती है। यह कृति प्राप्य हे तथा मुद्रित और प्रकाशित हो चुकी है। (देखें भानुचन्द्रचरित, प्रस्तावना, पृष्ठ १३, सम्पा० एम० डी० देमाई, सिन्धी जैन सीरीज, सख्या १५, बम्बई १९४१)। सौ अर्थ देने वाले पद्य, जिन्हें शतार्थी कहा जाता है, के उदाहरण उपलब्ध हैं, उदाहरण के रूप में सीमप्रभ चरित को लिया जा सकता है (ई० ११७७-७९, एम० विन्टरनिट्ज, हिस्टरी ऑफ इण्डियन लिटरेचर, भाग दो पृष्ठ ५७३, तथा एच० डी० वेलणकर, जिनरत्नकोश, पूना १९४४, पृष्ठ ३७१)।

सन्धान काव्य

१—हेमचन्द्र (१०८९-११७२ ई०), जिनके द्रघाश्रय काव्य संस्कृत तथा प्राकृत दोनों में सुविदित हैं, ने एक सप्तसन्धान काव्य रचा बताया है (देखें जि० को० पृष्ठ ४१६), किन्तु अभी तक यह प्रकाश में नहीं आया। इसी नाम का एक और काव्य मेघनिजयगणि (१७०३ ई०) द्वारा लिखित है। यह नौ सर्गों का एक संक्षिप्त काव्य है।

इसके प्रत्येक श्लोक से सात अर्थ निकलते हैं पाँच तीर्थ-
करों के तथा राम और कृष्ण विषयक। यह जैन विविध
साहित्य शास्त्रमाला ३, बनारस १९१७ में प्रकाशित है।
२—कवि शान्तिराज कृत स्वोपज्ञ टीका सहित पंचसधान
काव्य उपलब्ध है। जैन मठ कारकल (सा० क०) में
इसकी दो पाण्डुलिपियाँ उपलब्ध बतायी जाती हैं। अब
तक यह प्रकाशित नहीं हुआ है (देखें, कन्नड प्रान्तीय
ताडपत्रीय ग्रन्थ सूची, बनारस १९४८, पृष्ठ २६१)।
३—चिदम्बर कृत राघव-पाण्डवीय-यादवीय (विन्टरनित्ज
हि० इ० लि० भाग ३, आई, पृष्ठ ८३) त्रिसन्धान काव्य
है, प्रत्येक पद्य से तीन अर्थ निकलते हैं—एक रामायण
से सम्बन्धित, दूसरा महाभारत तथा तीसरा भागवतपुराण
से सम्बन्धित।

द्विसन्धान की विशेष लोकप्रियता

द्विसन्धान पद्धति अपेक्षाकृत अधिक प्रचलित है और
उसके कुछ नमूने हमारे समक्ष हैं। (१) नेमिनाथचरित
एक साथ ऋषभ और नेमि जिन की जीवनी को व्यक्त
करने वाला एक संस्कृत द्विसन्धानकाव्य है। धार नरेश
भोज के समय १०३३ में द्रोणाचार्य के शिष्य सूर्याचार्य ने
इसकी रचना की थी (देखें जि० को० पृ० २१६)। (२)
रामपालचरित काव्य सन्ध्याकरनन्दि ने रचा है। इसके
प्रत्येक पद्य के दो अर्थ हैं एक नायक नाम से सम्बन्धित,
दूसरा राजा रामपाल से सम्बन्धित, जो ग्यारहवीं शताब्दी
में बगाल के शासक थे (विन्टरनित्ज, हि० इ० लि० भाग
तीन, खण्ड १, पृ० ८२)। (३) नाभेय-नेमिकाव्य (ईसवी
बारहवीं शती का प्रारम्भ अनुमानित) स्वोपज्ञ टीका युक्त
एक द्विसन्धान काव्य है। इसके लेखक मुनि चन्द्रसूरि के
प्रशिष्य तथा अजितदेव सूरि के शिष्य हेमचन्द्र सूरि हैं।
कवि श्रीपाल ने, जो सिद्धराज तथा कुमारपाल राजाओं के
समकालीन थे, इस रचना को सशोधित किया था। इसमें
ऋषभ तथा नेमि जिन के चरित्र का वर्णन है। (४) सूरि
या पंडित नाभ से ज्ञात कविराज, जिनका सही नाम
सम्भवतया माधव भट्ट था, कृत राघवपाण्डवीय एक द्वि-
सन्धान काव्य है। यह एक साथ रामायण तथा महाभारत
की कथा कहता है। जयन्तीपुर के कदम्बवंशीय नरेश काम-
देव (११८३-६७ ई०) उनके आश्रयदाता थे, जिनकी

उन्होंने खुलकर प्रशंसा की (१.१३)। उन्होंने उनकी
तुलना धारा के मुंज (६७३-६५ ई०) से की है। उनका
समय ईसा की बारहवीं शती का अन्तिम चरण माना जा
सकता है। (५) हरदत्त जिनका समय निश्चित नहीं है,
ने राघव-नैषधीय की इस प्रकार की पद्य रचना की है कि
प्रत्येक पद्य के दो अर्थ हैं—एक राम से सम्बन्धित, दूसरा
नल से सम्बन्धित। इस प्रकार की कुछ और भी रचनाएँ
हैं। (६) वेंकटाध्वरिन् कृत यादवराघवीय राम की कथा
कहती है, किन्तु उलटा कहने पर कृष्ण कथा कहती है।
(७) पार्वतीरुक्मिणीय में दो विवाहों की कहानी है—
एक शिव और पार्वती की तथा दूसरी कृष्ण और रुक्मिणी
की (विन्टरनित्ज, हि० इ० लि० भाग ३, आई, पृ० ८३)।

धनञ्जय कृत द्विसन्धान

१—पाण्डुलिपियाँ तथा टीकाएँ—धनञ्जयकृत द्वि-
सन्धानम् (द्विसं०) द्विसन्धानकाव्य अथवा राघवपाण्डवीय
(रा० पा०) यदि उपलब्ध सर्वाधिक प्राचीन द्विसन्धान न
भी माना जाए तो भी प्राचीनों में से एक अवश्य है।
धनञ्जय के समय तक यह (द्विसन्धान) नाम पर्याप्त प्रच-
लित हो चुका होगा। इसकी पाण्डुलिपियाँ पर्याप्त मात्रा
में उपलब्ध हैं। (जि० को० पृ० १८५, क० ता० ग्र० पृ०
१२१-२) इसकी कतिपय टीकाओं का भी पता चलता है।

१. विनयचन्द्र के प्रशिष्य देवनन्दि के शिष्य नेमि-
चन्द्र कृत पदकीमुदी।

२. पुष्पसेनशिष्य कृत टीका।

३. कवि देवर कृत टीका। वे रामघाट (परवादि
धरटि के नाम से ख्यात) के पुत्र थे। यह उन्होंने अपने
आश्रयदाता अरलु श्रेष्ठिन् के लिए लिखी थी। कहा जाता
है कि इस टीका का नाम राघवपाण्डवीयपरीक्षा है।
अरलु श्रेष्ठिन् कीर्ति कर्नाटक के एक बड़े व्यापारी तथा
जैन धर्म के प्रति तीव्र आस्थावान् तथा जया के पुत्र थे।
उनमें नैसर्गिक अच्छे गुण थे तथा वे कवियों के आश्रय-
दाता (संरक्षक) थे। देवर ने प्रारम्भ में अमरकीर्ति, सिंह-
नन्दि, धर्मभूषण, श्री वर्धदेव तथा भट्टारक मुनि को नम-
स्कार किया है (जि० को० पृ० १८५ तथा क० ता० ग्र०
पृ० १३१-२)। देवर की टीका की एक प्रति ताडपत्र पर
कन्नड लिपि में जैन सिद्धान्त भवन, आरा में है, (देखें,

जैन हितैषी १५, पृ० १५३-५४)।

पूर्वप्रकाशन तथा यह संस्करण

धनंजय कृत द्विसन्धान सन् १८६५ में निर्णयसागर प्रेस, बम्बई से काव्यमाला संख्या ४६ में बद्रीनाथ की टीका जो कि विनयचन्द्र के प्रशिष्य तथा देवनन्द के शिष्य नेमिचन्द्र की टीका का संक्षिप्तीकरण है, के साथ प्रकाशित हुआ था। प्रस्तुत संस्करण में विनयचन्द्र के प्रशिष्य तथा देवनन्द के शिष्य नेमिचन्द्र कृत पदकोमुदी टीका शामिल की गयी है। प्रत्यक्ष ही काव्यमाला संस्करण में दी गयी बद्रीनाथ की टीका इस टीका पर आधारित है। सूक्ष्म रूप से तुलना करने पर पता चलता है कि बद्रीनाथ ने कतिपय विस्तार को छोड़ दिया तथा संक्षिप्त किया और अपना ध्यान मूल की व्याख्या करने में अधिक रखा।

धनंजय की कृतियाँ

परम्परानुसार धनंजय की तीन कृतियाँ मानी जाती है : (१) विषापहार स्तोत्र (२) नाममाला तथा (३) द्विसन्धान या राघव-पाण्डवीय।

विषापहारस्तोत्र (काव्यमाला ७, बम्बई १६२६) ऋषभजिन की स्तुतिरूप लिखित एक ४० पद्यों (३६ उपजाति तथा अन्तिम पुष्पिताग्रा) की धार्मिक स्तुति है। यह पूर्ण रूप से सरल शब्दावली में प्रभावकारी कल्पना और उपमाओं में रची गयी है। अन्तिम पद्य श्लेष से धनंजय का नामोल्लेख करता हुआ इस प्रकार है :

वितरति विहिता यथाकथञ्चि-

जिनविनताय मनोषितानि भवितः।

त्वयि नुतविषया पुनर्विशेषाद् विशति

सुखानि यशो धनं जयं च ॥४०॥

दक्षिण कर्नाटक में मूडबिद्री के जैन मठ में इसकी एक संस्कृत टीका उपलब्ध है। (देखें, क० ता० ग्र० पृष्ठ १६२-३)। सम्भवतया इसका नाम इसके १४वें श्लोक के प्रथम शब्द से पड़ा और इस पद्य के साथ एक अनुश्रुति सम्बद्ध हो गयी कि इसका पाठ विष का नाश करता है। इसके कुछ विचार सकेत जो कि अपनी संचेतना में पर्याप्त रूप से परम्परागत है, आदिपुराण में जिनसेन ने तथा सोमदेव ने यशस्तिलक में ग्रहण किए हैं (देखें प्रेमी कृत जैन साहित्य और इतिहास, पृष्ठ १०६, fii बम्बई १६५६)।

नाममाला (भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, १६५०)

जिसे कुछ पाण्डुलिपियों में धनंजय निघण्टु भी कहा गया है, पर्यायवाची शब्दों का एक संस्कृत शब्दकोश है। इन्हीं के नाम से एक अनेकार्थ नाममाला भी मानी जाती है। नाममाला के अन्त में निम्नलिखित तीन पद्य हैं—

प्रमाणमकलङ्कस्य पूज्यपादस्य लक्षणम्।

द्विसन्धानकवेः काव्यं रत्नत्रयमपदिचमम् ॥२०१॥

कवेर्धनंजयस्येयं सत्कवीर्ना शिरोमणेः।

प्रमाणं नाममालेति श्लोकानां हि शतद्वयम् ॥२०२॥

ब्रह्माणं समुपेत्य वेदनिन्दध्याजात् तुषाराचल-

स्थानस्थावरमोद्वरं सुरनदीध्याजात्तथा केशवम्।

अप्यम्भोनिधिशायिनं जलनिधिध्वानोपवेशादहो,

फूत्कुर्वन्ति धनंजनस्य च भिया शब्दाः समुत्पीडिताः ॥२०३॥

कुछ हस्तलिखित प्रतियों में निम्नलिखित दो श्लोक सम्भवतया २०१ प्रमाण इत्यादि के बाद प्राप्त होते हैं :—

जाते जगति वाल्मीकी शब्दः कविरिति स्मृतः।

कवी इति ततो व्यासे कवयश्चेति दण्डिनि ॥

कवयः कवयश्चेति बहुत्व वृत्तमागतम्।

विनिवृत्तं चिरादेतत् कलौ जाते धनंजये ॥

ये पद्य श्री एस० वी० वी० वीर राघवाचेरियर ने अपने निबन्ध, जिसकी नीचे समीक्षा की गयी है, में पुनरुद्धृत किये हैं। यह एक मजे की बात है कि पहला पद्य (तीसरे पाद में किञ्चित् अन्तर के साथ—व्यासे जाते कवी चेति) जल्हण ने अपनी सूचित मुक्तावलि (बड़ौदा १६३८) में कालिदास का बताया है। इसमें दण्डिका सन्दर्भ है इसलिए यह कालिदास का बनाया नहीं हो सकता है।

द्विसन्धान की रचना से धनंजय की कवि-योग्यताएँ प्रमाणशास्त्र में अकलंक तथा व्याकरण में पूज्यपाद के समकक्ष सिद्ध होती हैं, एक वास्तविक रत्नत्रय, सभी विशिष्ट तथा अप्रतिम। इन पद्यों में तनिक भी सन्देह नहीं रहता कि द्विसन्धान तथा नाममाला का लेखक एक ही व्यक्ति है। यह स्वाभाविक है कि एक कवि जिसका संस्कृत शब्दों के समुद्र पर अधिकार हो, वह द्विसन्धान काव्य सहज ही लिख सकता है।

धनंजय का व्यक्तिगत परिचय

धनंजय ने अपने को अकलंक तथा पूज्यपाद के सम-

कक्ष बताने के अतिरिक्त अन्य कोई परिचयात्मक जानकारी नहीं दी। द्विसन्धान सर्ग १८, श्लोक १४६ जिसमें अत्यधिक श्लेष है, के आधार पर निम्नलिखित परिचयात्मक विवरण निकाला है। धनञ्जय वासुदेव तथा श्रीदेवी के पुत्र थे। उनके गुरु का नाम दशरथ था। वे दशरूपक के लेखक से भिन्न हैं।

धनञ्जय तथा उनकी कृतियों के विषय में सन्दर्भ

धनञ्जय तथा उनके काव्य की पर्याप्त प्रशंसा प्राप्त हुई है और उनकी कविता को यह वैशिष्ट्य प्राप्त हुआ है कि वह द्विसन्धान कवि कहलाने लगे। द्विसन्धान शब्द या नाम दण्डि (७वीं शताब्दी अनुमानित) जितना प्राचीन तो प्रतीत होता ही है, तथा भोज के निम्नलिखित उद्धरण स्पष्ट बताते हैं कि धनञ्जय की तरह दण्डि ने भी द्विसन्धान प्रबन्ध रचा था, जो यद्यपि हमें उपलब्ध नहीं हुआ। सम्भवतया काव्यादर्श और दशकुमारचरित के अतिरिक्त यह उनका तीसरा ग्रन्थ था।

जैसा कि आर० जी० भण्डारकर (नीचे देखें) ने स्पष्ट किया है कि वर्धमान (११४१-११४६ ई०) ने अपने गुणरत्नमहोदधि पृष्ठ ४३५, ४०६ तथा ६७ एग्लिंग एडीशन में धनञ्जय कृत द्विसन्धान के पद्य ४।६, ६।५१ तथा १८।२२ उद्धृत किए हैं।

भोज (११वीं शती ईसवी का मध्य) के अनुसार द्विसन्धान उभयालंकार के कारण होता है। यह तीन प्रकार का है—वाक्य, प्रकरण तथा प्रबन्ध। प्रथम वाक्यगत श्लेष है, द्वितीय अनेकार्थक स्थिति है तथा तीसरा राघवपाण्डवीय की तरह पूरा काव्य दो कथाओं को कहने वाला है। भोज ने यहाँ एक महत्त्वपूर्ण सूचना दी है कि दण्डि ने रामायण तथा भारत की कथा पर द्विसन्धान काव्य की रचना की थी।

“तृतीयस्य यथा दण्डिनो धनञ्जयस्य वा द्विसन्धान-प्रबन्धो रामायणमहाभारतार्थाविबुधनाति।” जिल्द २, पृष्ठ ४४४ (वी० राघवन्, भोजकृत—शृंगारप्रकाश, पृ० ४०६, मद्रास १९६३) हमारे लिए सर्वाधिक रुचिकर यह है कि भोज ने धनञ्जय और उनके द्विसन्धान का उल्लेख किया है। साथ-साथ दण्डि के द्विसन्धानप्रबन्ध का उल्लेख है।

प्रभाचन्द्र (११वीं शती ईसवी) ने अपने प्रमेयकमल-

मार्तण्ड (निर्णयसागर संस्करण, बम्बई १९१२, पृष्ठ ११६, पक्ति एक बम्बई १९४१ पृष्ठ ४०२) में द्विसन्धान का उल्लेख किया है।

ननु व्याकरणाद्यभ्यासात्लौकिकपदवाक्यार्थप्रतिपत्ती तद्विशिष्टवैदिकपदवाक्यार्थप्रतिपत्तिरपि प्रसिद्धेश्रुत-काव्यादिवत्। तन्न प्रतिपत्तावतीन्द्रियार्थदर्शना किञ्चित्प्रयो-जनमित्यप्यसारम्। लौकिकवैदिकपदानामेकत्वेऽप्यनेकार्थत्व-व्यवस्थितेरन्यपरिहारेण व्याचिख्यासितार्थस्य नियमयितुम-शक्तेः। न च प्रकरणादिभ्यस्तन्मियमस्तेषामप्यनेकप्रवृत्ति-द्विसन्धानादिवत्।

वादिराज ने १०२५ ई० में लिखे अपने पार्श्वनाथ-चरित (बम्बई, १९२६) में धनञ्जय तथा एकसे अधिक सन्धान में उनकी प्रवीणता का उल्लेख किया है (१।२६)।

अनेकभेदसन्धाना खनन्तो हवये मुहुः।

बाणा धनञ्जयोन्मुक्ताः कर्णस्येव प्रिया कथम्॥

जैसा कि के० बी० पाठक ने स्पष्ट किया है, दुर्गसिंह (१०२५ ई० अनुमानित) ने अपने कन्नड़ पद्यतन्त्र (मैसूर १८६८) में धनञ्जय के राघवपाण्डवीय का इन शब्दों में उल्लेख किया है—

अनुपमकविमूर्तं जी-

येने राघवपाण्डवीय पेलदु यशो-

वनिताषोडशरनावं

धनञ्जयं वागधूप्रियं केवलने ॥८॥

डॉक्टर बी० एस० कुलकर्णी, धारवाड़, ने सूचित किया है कि आरा स्थित पद्यतन्त्र की ताडपत्रीय प्रति में पूर्ववर्ती कवियों का उल्लेख करने वाले ये सब पद्य नहीं हैं।

विद्वानों में इस विषय में मतभेद है कि एक ही नाग-वर्मा हुए अथवा विभिन्न समयों में दो नागवर्मा (९८० तथा ११४५ ई० अनुमानित)। उनके बताये जाने वाले इस या उस ग्रन्थों के नाम से (कर्नाटक कविचरित, बेगलूर, १९६१, पृ० ५३, १५४ इ०) कन्नड़ में छन्द-शास्त्र पर लिखित उनके छन्दोम्बुधि ग्रंथ में निम्नलिखित पद्य मिलते हैं—

जितबाणं हरियंतधःकृतमयूरं तारकारातियंततिमाघं
शिशिरास्पदंते सुरपप्रोच्यंङ्कोरुद्वं-।

ते तिरोभूतगुणाद्यनञजनवंताधिर्भट्टिभारतवंतात्-
घनंजयेकविभवं वागुफडोलनाकिं ॥

यहाँ पूर्वकवियों में घनंजय का उल्लेख किया गया है। आर० नरसिंहाचार्य का मत है कि यह द्विसन्धान के रचयिता घनंजय का उल्लेख है, किन्तु ए० वेंकट सुब्बय्या का मत है कि दशरूपककार घनजय का उल्लेख अभिप्रेत^१।

जल्हण (१२५७ ई० अनुमानित) ने अग्रणी सूक्ति-मुक्तावली में राजशेखर (१०० ई० अनुमानित) के मुंह से घनंजय के विषय में निम्नलिखित पद्य कहा है (गा० प्रो० सी० स०, ८२, बडोदा १९३८, पृष्ठ ४८)

द्विसन्धाः निपुणतां स तां चक्रे घनंजय ।

यथा जातं फलं तस्य सतां चक्रे धनं जयः ॥

यह लेखक के नाम का घन तथा जय रूप पृथक्करण ठीक वैसा ही है जैसा स्वयं घनजय ने अपने काव्य में किया है।

जैसा कि डॉ० हीरालाल जैन ने षड्खण्डागम धवला-टीका सहित, जिल्द १, अमरावती १९३८, प्रस्तावना पृ० ६२, वीरसेन (वही जिल्द ६, पृ० १४) ने इति की व्याख्या में उपयोगी एक पद्य उद्धृत किया है। यह ठीक वैसा ही है जैसा घनंजयकृत नाममाला का ३९वां पद्य।

घनंजय का समय

उपर्युक्त संदर्भ हमें घनंजय का समय निर्धारित करने में मदद करते हैं। अकलंक (७-८वीं शती ईसवी) तथा वीरसेन जिन्होंने ८१६ ईसवी में धवला टीका पूर्ण की थी के मध्य में हुए। घनंजय का समय ८०० ईसवी अनुमानित निर्धारित किया जा सकता है। किसी भी प्रकार वह भोज (११वीं शती का मध्य) जिन्होंने स्पष्ट रूप से उनका तथा उनके द्विसन्धान का उल्लेख किया है, से बाद के नहीं हो सकते।

द्विसन्धानकाव्य

घनजयकृत द्विसन्धान में १८ सर्ग हैं तथा कुल श्लोक संख्या ११०५ जो कि विभिन्न उन्दो में लिखे गये हैं (सूची अन्त में)। प्रारम्भिक मंगल पद्य में मुनिसुव्रत या

नेमिका स्मरण किया है, उसके बाद सरस्वती की प्रशंसा की गयी है। दिगम्बर जैन लेखकों की यह सामान्य प्रवृत्ति है कि कथा राजा श्रेणिक के लिए गौतम द्वारा कही गयी बतायी जाती है। लेखक ने घटनाओं के वर्णन की अपेक्षा विशिष्ट वर्णनों पर अधिक बल दिया है। अधिकांश श्लोक अलंकारयुक्त हैं और टीकाकार ने उनको पूरी तरह अंकित किया है। अन्तिम अध्याय (विशेष रूप से श्लोक संख्या ४३ से आगे) में लेखक ने अनेक शब्दालंकारों का चित्रांकन किया है, जैसा कि भारवि, माघ तथा अन्य कवियों में समान रूप से मिलता है, श्लोक संख्या १४३ सर्वगत प्रत्यागत का उदाहरण है यह मानकर कि सर्गों के अन्त में दिए हुए पुष्पिकावाक्य (१, २, १६वे सर्गों में उपलब्ध नहीं हैं) लेखक के स्वयं के हैं, यह स्पष्ट है कि उन्होंने अपना नाम घनजय, या धनजय कवि, अथवा द्विसन्धान-कवि दिया है तथा अपनी कृति को द्विसन्धान काव्य अथवा अपर नाम राघवपाण्डवीय महाकाव्य कहा है। प्रत्येक सर्ग के अन्त में अन्तिम पद्य में श्लेष से अपना नाम घनजय दिया है जैसा कि विषाणहार स्तोत्र में। इसका अनुकरण राजशेखर के नाम से अभिहित पद्य में जल्हण ने किया है।

यदि द्विसन्धान नाम रचना पद्धति को व्यक्त करता है, जैसे प्रत्येक श्लोक के दो अर्थ या व्याख्या की जा सकती है, तो दूसरा नाम राघवपाण्डवीय काव्य की विषयवस्तु का आभास देता है कि यह एक साथ राम तथा पाण्डवों की कथा कहता है। इन दोनों से सम्बद्ध कथा-परम्परा भारतीय सांस्कृतिक विरासत का ऐसा अपरिहार्य अंग है कि कोई भी कवि जो एक साथ दो विषय लेना चाहता है, उस और अभिमुख होता है विशेषतया इसलिए कि उन दोनों का वर्णन करने वाले तथा वैकल्पिक चुनाव प्रस्तुतिकरण के लिए बड़ी संख्या में विस्तृत विवरण प्रदान करने वाले महाकाव्य उपलब्ध हैं। राघवपाण्डवीय नाम पर्याप्त प्रचलित है। घनंजय के अतिरिक्त कविराज, श्रुतकीर्ति आदि कवियों ने इसे चुना है तथा इसी तरह के शीर्षक राघव-यादवीय, राघव-पाण्डव-यादवीय उपलब्ध हैं।

घनंजय के काव्य का प्रथम शीर्षक द्विसन्धान है और

दण्ड के बाद वह इस विधा के पुरस्कर्ता प्रतीत होते हैं :
राघव-पाण्डवीय मात्र दूसरा शीर्षक है ।

धनञ्जय तथा कविराज कृत राघव-पाण्डवीय

धनञ्जय तथा कविराज के काव्य की तुलना रुचिकर है । धनञ्जय के काव्य का एक नाम राघव-पाण्डवीय है जो कि कविराज के काव्य का मूल शीर्षक है । धनञ्जय के काव्य में अठारह सर्ग तथा ११०५ पद्य हैं, जब कि कविराज के काव्य में तेरह सर्ग तथा ६६४ पद्य हैं । धनञ्जय ने श्लेष से अपने नाम का उल्लेख किया है जबकि कविराज ने प्रत्येक सर्ग के अन्तिम पद्य में अपने आश्रय-दाता कामदेव का नामोल्लेख किया है । वास्तव में उनका काव्य कामदेवाक है । इन दोनों काव्यों की विषयवस्तु की पूर्ण तुलना एक प्रबन्ध का विषय है । साधारणतया पढ़ने पर लगता है कि इन दोनों काव्यों में कोई बहुत बड़ी समानता नहीं है । धनञ्जय के वर्णन अधिक हैं जब कि कविराज ने श्लेष की बाध्यता के बावजूद अपनी कथा के विवरणों को सफलतापूर्वक अभिव्यक्त किया है (देखें १.५४, ६६ आदि) । जहाँ तक श्लेष का सम्बन्ध है कविराज भाषा पर अधिक योग्यता तथा अधिकार व्यक्त करते हैं । धनञ्जय का काव्य सर्वोच्च काव्य का प्रतीक स्मारक कहा जाता है । निःसन्देह उनका पाण्डित्य विशाल है, विशेषरूप से नीतिशास्त्र का और उनके कनिष्ठ अर्थान्तरन्यास वास्तव में गम्भीर एवं प्रभावकारी हैं । कविराज की शैली सहज तथा साक्षिप्त है जबकि धनञ्जय ने प्रायः कठिन संस्कृत लिखी है, जिसे समझने के लिए प्रायः प्रयत्न की अपेक्षा होती है । उनके वर्णनों की प्रस्तुति में द्व्यर्थक श्लोक बहुत कम हैं जब कि कविराज की रचना में यह सामान्य बात है । जहाँ तक हमने देखा है इन दोनों काव्यों में किंचित् ही ऐसा होगा जिसे एक दूसरे का अनुकरण कहा जा सके ।

श्रुतिकीर्ति और उनका राघव-पाण्डवीय

एक और कवि है श्रुतिकीर्ति त्रैविद्य जिन्होंने गत-प्रत्यागत पद्धति से राघव-पाण्डवीय की रचना की, जो विद्वानों के लिए आश्चर्य और आश्चर्य की वस्तु है, जैसा कि नागचन्द्र या अभिनव पम्प ने अपने कन्नड में लिखित रामचन्द्रचरित पुराण (पाण्डुलिपि) या पम्परामायण

(१.२४-५, बंगलोर, १९२१) में लिखा है—
‘‘आदौ वादिकथात्रयप्रवणदोलु विद्वज्जनं मेच्छे’’
विद्यावष्टभमनपुकेन्दु परवाविभोगिभूत्पक्षभ ।
देवेन्द्रं कडितंविदेवं कडिदं स्याद्वाविद्यास्त्रवि
त्रैविद्यश्रुतकीर्ति विद्यमनुविद्यो विद्यातिथं तादृदं ॥२४॥
श्रुतकीर्तित्रैविद्यव्रति राघवपाण्डवीयं विबुधचमत्-
कृतियेनिसि गतप्रत्या-
गतवितेल्दमलकीर्तियं प्रकटिसिवं ॥२५॥

ये दो पद्य श्रवणबेलगोल के एक शिलालेख संख्या ४० सी ६४ सन् ११६३ ई० में उद्धृत हैं । इन श्रुतिकीर्ति त्रैविद्य का उल्लेख तेरदाल के १२२३ ईसवी के एक शिलालेख में है—

‘‘नतु पग्वादीभपचाननर सधर्मरु । श्रुतकीर्तित्रैविद्य-
व्रतिपरु षटुतवकंकवकंशरु पग्वादिप्रतिभाप्रदीपपवनरु जत-
दोषरु नेगलूदरखिलभुवनान्तरदोलु ।

राजा गोकने कोल्हागिरि या कोल्हापुर के माघनन्दि संद्धान्तिक के (निम्न सामन्त गुरु) के लिए भेजा था तथा उनके साथी कनकनन्दी तथा श्रुतकीर्ति त्रैविद्य थे । कोल्हापुर से प्राप्त ११३५ ईसवी के एक अन्य शिलालेख (एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द १६, पृष्ठ ३०, जैन शिलालेख संग्रह भाग ४, बनारस १९६४, पृष्ठ १६२-६६) में श्रुतकीर्ति का उल्लेख कोल्हापुर की रूपनारायण वसदि के आचार्य रूप में हुआ है—

‘‘शकवर्षं मासिरदयवत्तेनेय राक्षसवत्सरद कातिक-
वहुलपचमिसोमवारददु श्रीमूलसघदेसीयगण पुस्तकगच्छद
कोल्हापुरद श्रीरूपनारायणवसदियाचार्यरूप श्रीश्रुतकीर्ति
त्रैविद्यदेवर कालं कचि—इत्यादि ।

नागचन्द्र ने उन्हें व्रती कहा है । उसी तरह तेरदाल शिलालेख में भी । अर्थात् ११२३ ईसवी में वे व्रती थे किन्तु ११३५ ईसवी में एक आचार्य की प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके थे । विद्वानों की राय में (आर. नरसिहाचार्य कर्नाटक कविचरित भाग १, बंगलोर १९६१, पृष्ठ १२० ई०) नागचन्द्र ११०० ईसवी के लगभग हुए । इसका तात्पर्य यह हुआ कि श्रुतिकीर्ति का समय ११०० से ११५० ईसवी के मध्य अनुमानित किया जा सकता है । अभी तक

उनके राघव-पाण्डवीय की कोई पाण्डुलिपि उपलब्ध नहीं हुई ।

के. बी. पाठक धनंजय तथा श्रुतकीर्ति की एकता श्रुतकीर्ति के राघवपाण्डवीय से निश्चित करने वाले प्रथम व्यक्ति थे । आर. जी. भण्डारकर ने इसे स्वीकार करने में संकोच ठीक ही व्यक्त किया है । किन्तु इस समानता के आधार पर प्रस्तावित धनजय के समय की बात में पर्याप्त बजन है ।

धनजय तथा उनका द्विसन्धान या राघव-पाण्डवीय श्रुतकीर्ति और उनके राघव-पाण्डवीय से भिन्न है : सर्व-प्रथम क्योंकि धनजय एक गृहस्थ थे जब कि श्रुतकीर्ति एक व्रतित्थ तथा बाद में एक आचार्य । दूसरे, न तो धनजय ही न अन्य स्रोत जो श्रुतकीर्ति का उल्लेख करते हैं, ऐसा प्रमाण देते हैं कि दोनों नाम एक ही कवि के हैं । तीसरे धनजय की नाममाला से वीरसेन (८१६ ईसवी) ने एक पद्य उद्धृत किया है तथा उसके द्विसन्धान का विशेष रूप से धनजय के नामोल्लेख के साथ भोज ने (१०१०-६२ ईसवी अनुमानित) उल्लेख किया है, जब कि श्रुतकीर्ति का समय ११०० से ११५० ठहरता है । अन्ततः, यदि धनजय का द्विसन्धान दण्ड की समकक्षता के लिए प्रसिद्ध है और भोज (ग्यारहवीं शती का मध्य) के द्वारा उल्लेख किया जा सकता है तो निश्चय ही यह श्रुतकीर्ति, जो ११२५ ईसवी में आचार्य थे, की रचना नहीं हो सकती । इसलिए इस एकता का कोई आधार नहीं है, और इसलिए इस एकता के आधार पर धनजय का समय ११२३-४० ईसवी निर्धारित नहीं किया जा सकता ।

धनंजय के अध्येतः।

धनंजय तथा उनके द्विसन्धान ने बहुत पहले से ही विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया है । यह आवश्यक है कि विस्तार से उनके मन्तव्यों को यहाँ प्रस्तुत किया जाए तथा उपर्युक्त प्रमाण सामग्री के सन्दर्भ में जाँचा-परखा जाए ।

पाठक द्वारा श्रुतकीर्ति तथा धनंजय की एकता

के. बी. पाठक ने इडियन एन्टीक्वेरी जिल्द १४, पृष्ठ १४-२६ में तेरदाल के एक कनडी शिलालेख का सम्पादन किया है । पैंतीसवीं पंक्ति में उन्हें श्रुतकीर्ति त्रैविद्य का

नाम मिला । अभिनव पम्प ने श्रुतकीर्ति त्रैविद्य का उल्लेख राघवपाण्डवीय के लेखक के रूप में किया है । मेघचन्द्र ने समाधिशतक पर कन्नड भाषा में पम्प के सुपुत्र के निमित्त एक टीका लिखी और मेघचन्द्र के पुत्र (१) वीरनन्दि ने शक सं० १०७६ में अपने आचारसार की रचना समाप्त की । इस उल्लेख के आधार पर पाठक पम्प का समय शक सवत् १०७६ के कुछ पूर्व का स्वीकार करते हैं । तेरदाल शिलालेख, जिसमें श्रुतकीर्ति त्रैविद्य का नाम उल्लिखित है, का समय शक सं. १०४१ है । "इसमें और आचारसार के रचनाकाल में इक्कीस वर्ष का अन्तर है । श्रुतकीर्ति त्रैविद्य ने शक सं. १०४५ के बाद ही अपने ग्रन्थ का निर्माण अवश्य कर लिया होगा ।" परन्तु चूँकि कवि ने अपना वास्तविक नाम रचना में सम्बद्ध नहीं किया, राघवपाण्डवीय का लेखक अज्ञात रहा होगा, यहाँ तक कि अपने समकालीनों को भी इस बात से परिचित नहीं कराया । और पम्प, जो जैन और कवि के रूप में उससे अवश्य परिचित रहा होगा, ने उसके रचयिता के विषय में यह महत्वपूर्ण तथ्य सुरक्षित रखा । यहाँ फुट-नोट में के. बी. पाठक ने लिखा है कि राघवपाण्डवीय नाम के दो संस्कृत काव्य उपलब्ध हैं एक ब्राह्मण और दूसरा जैन । परन्तु उपर्युक्त जैन संस्कृत काव्य, जिसका रचयिता पम्प ने श्रुतकीर्ति त्रैविद्य को बनाया, ब्राह्मण संस्कृत काव्य की अपेक्षा लम्बा है । और वह धनंजय की रचना के रूप में प्रसिद्ध है यहाँ आठवे अध्याय की पुष्पिका और प्रथम अध्याय का अन्तिम पद प्रस्तुत किया गया है ।" इससे स्पष्ट है कि श्रुतकीर्ति त्रैविद्य और धनजय एक ही व्यक्तित्व और कृतित्व के दिग्दर्शक हैं । यहाँ यह उल्लेख करना आवश्यक नहीं कि धनंजय कोश के रचयिता कर्णाटक के दिगम्बर जैन हैं ।

पाठक का निष्कर्ष तथ्य संगत दिखाई नहीं देता । उनसे निर्णय में कुछ त्रुटियाँ प्रतीत होती हैं । लगता है कि वे धनजय को तो रचयिता मानते हैं और श्रुतकीर्ति को धनजय की उपाधि स्वीकार करते हैं । परन्तु द्विसन्धान काव्य में उन्होंने कही भी इस श्रुतकीर्ति त्रैविद्य जैसी उपाधि का उल्लेख नहीं किया है । यहाँ तक कि नाम-माला में भी इसका कोई जिक्र नहीं जिसे पाठक धनंजय

की रचना मानते हैं। दूसरे त्रैविद्य एक उपाधि है जो आगम, तर्क और व्याकरण में दक्षता पाने की सूचिका है परन्तु श्रुतकीर्ति इस प्रकार की कोई उपाधि नहीं, उसे तो अनेक जैनाचार्यों ने अपने नियमित नाम के रूप में स्वीकारा है। अतएव धनञ्जय और श्रुतकीर्ति को एक मानना युक्ति-युक्त नहीं। कविराज के समान श्रुतकीर्ति त्रैविद्य ने भी सम्भवतः राघवपाण्डवीय लिखा होगा। वह हमें उपलब्ध नहीं। परन्तु उसे धनञ्जय के राघवपाण्डवीय से पृथक् ही मानना होगा। क्योंकि धनञ्जय और श्रुतकीर्ति को एक व्यक्तित्व मानने के लिए कोई प्रमाण हमारे पास नहीं है। तीसरे, श्रुतकीर्ति तेरदाल शिलालेख और पम्प के कथनानुसार वृत्ती या और बाद में कोल्हापुर शिलालेख में इन्हे आचार्य के रूप में स्मरण किया है। परन्तु उपलब्ध प्रमाणों से यह हमें जानने है कि धनञ्जय गृहस्थ थे, मुनि नहीं। उन्होंने अपनी ऐसी किसी परम्परा का भी उल्लेख नहीं किया और श्रुतकीर्ति के राघवपाण्डवीय के सन्दर्भ में अभिनव पम्प द्वारा प्रस्तुत वर्णन धनञ्जय के द्विसन्धान काव्य से मेल नहीं खाता। श्रुतकीर्ति का राघवपाण्डवीय, गत-प्रत्यागत प्रकार का है जब कि धनञ्जय का द्विसन्धान इस प्रकार का नहीं, उसमें तो गत-प्रत्यागत प्रकार के एक दो पद्य ही प्राप्त हैं। इस प्रकार, जैसा स्पष्ट है, वीरसेन ने नाममाला से एक पद्य उद्धृत किया है और भाज ने धनञ्जय और द्विसन्धान का उल्लेख किया है श्रुतकीर्ति और धनञ्जय एक सिद्ध नहीं होते।

भण्डारकर द्वारा मान्य धनञ्जय का काल

आर. जी. भण्डारकर (रिपोर्ट ग्रान्द सच फार मॅनुस्क्रिप्ट्स इन द बाय्ने प्रेसोडेसी इंग्रिग द इयरस १८८४-८५, १८८५-८६ तथा १८८६-८७, बम्बई, १८९४) ने धनञ्जय नामक एक दिगम्बर जैन के काव्य की दो प्रतियों का उल्लेख किया है। उन्होंने लिखा है कि प्रथम भाग के अन्तिम पद्य में रचयिता को कवि कहा गया है। उन्होंने बाद के पद्य को भी उद्धृत किया है, जिसमें कहा गया है कि “अकलक की तर्कपद्धति, पूज्यपाद का ध्याकरण और द्विसन्धान के कवि का काव्य ये त्रिरत्न हैं।” उन्होंने यह कह कर निष्कर्ष निकाला है कि संस्कृत कोष का

रचयिता द्विसन्धान का भी रचयिता है। “काव्य का प्रत्येक पद्य द्व्यर्थक है, दो प्रकार की अर्थ-प्रस्तुति को द्विसन्धान कहा जाता है।” उनके समक्ष काव्य की दो प्रतियाँ (नम्बर ११४२ और ११४३) रहीं जिनमें दूसरी प्रति नेमिचन्द्र की टीका सहित है। उन्होंने भी लिखा है कि वर्धमान (संवत् ११७९-सन् ११४७) ने अपने गुणरत्न महोदधि (१०.५१, १८.२२, ४.६) में द्विसन्धान को उद्धृत किया है (एसलिंग सम्करण, पृष्ठ ९७, ४०९, ४३५)। काव्य का सही शीर्षक है—राघव पाण्डवीय : प्रत्येक पद्य में दो अर्थ हैं, प्रथम अर्थ महाभारत कथानक से सम्बद्ध है और दूसरा रामकथा को व्यक्त करता है। चूँकि जैनाचार्यों ने ब्राह्मण लोक-साहित्य (Profane literature) का अनुकरण किया है, और हम जैनों के मेघदूत से परिचित हैं, यह कल्पना निरर्थक नहीं होगी कि धनञ्जय ने राघव-पाण्डवीय की कथा कविराज नामक किसी ब्राह्मण कवि से ली है। कविराज का समय घारा-श्री मुज के बाद होना चाहिए, क्योंकि उन्होंने अपने सरक्षक जयन्तीपुरा के कामदेव की तुलना मुज (मृत्यु ९९६ में हुई) से की है। वर्धमान का काल ११४७ है। अतएव भण्डारकर कविराज और धनञ्जय को सन् ९९६ और ११४७ के बीच रखते हैं, यर्थात् अनुकरण की कल्पना को सत्य माना जाए तो कविराज को धनञ्जय से अवस्था में बड़े होना चाहिए। भण्डारकर ने पाठक के मत पर भी विचार किया। उन्होंने लिखा है : ऐसा कोई प्रमाण नहीं जिससे यह सुनिश्चित किया जा सके कि श्रुतकीर्ति और धनञ्जय एक हैं। परन्तु समकालीन पम्प के पुत्र के समय के आधार पर पूर्ण निर्णय समय सही बैठता है और निष्कर्ष दो व्यक्तित्वों और काव्यों को पृथक् स्वीकार करने के विपरीत नहीं पहुँचता।

भण्डारकर के मत की समीक्षा

आर. जी. भण्डारकर अपने मत की अभिव्यक्ति में अत्यन्त सावधान रहते हैं। उन्होंने धनञ्जय और श्रुतकीर्ति को एक मानने में पूर्ण स्वीकृति व्यक्त नहीं की। उनका यह दृष्टिकोण सामान्य कथन के रूप में स्वीकार किया जा सकता है कि जैनाचार्यों ने अपने कथा-साहित्य का अनु-

करण किया है, परन्तु धनंजय ने कविराज का अनुकरण किया है, यह तथ्य किसी विशेष प्रमाण पर आधारित होना चाहिए। यहाँ भी भण्डारकर आग्रह करते हुए दिखाई नहीं देते, क्योंकि वे कहते हैं, "यदि अनुकरण की कल्पना सही है।" यदि धनंजय ने किसी का अनुकरण किया है तो अब यह कहा जा सकता है कि उनके समक्ष दण्डी का द्विसन्धान रहा होगा जिनका उल्लेख एक नीचे के पद्य में किया गया है। भण्डारकर का यह निष्कर्ष सही है कि कविराज मुज (६६६ ई.) के उत्तरवर्ती और धनजय ११४७ ई. के पूर्ववर्ती रहे होंगे। नये तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि धनंजय भोज के पूर्ववर्ती होंगे और कविराज का समय बारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में नियोजित किया जा सकता है।

पाठक द्वारा स्वमत की पुनरुक्ति

प्रो. मेक्समूलर के उत्तर में के. बी. पाठक ने १९७० में "द जैन पोइम राघवपाण्डवीय ए रिप्लाय टू प्रो. मेक्समूलर" शीर्षक एक और शोधपत्र प्रकाशित किया ("द जर्नल ऑफ द बाम्बे ब्राच ऑफ द रायल एशियाटिक सोसाइटी जिल्द २१, पृष्ठ १, २, ३, बम्बई १९०४) उन्होंने अपनी पूर्व विचारधारा को आगे बढ़ाते हुए कहा कि तेरदाल शिलालेख के माघनन्दि सैद्धान्तिक श्रवणबेलगोल के शिलालेख नम्बर ४० में उल्लिखित किए गए हैं। उन्होंने यह बताया कि पम्प के पद्य श्रवणबेलगोल शिलालेख में भी पाये जाते हैं। श्रुतकीर्ति त्रैविद्य और देवकीर्ति (मृत्यु शक स. १०८५) साथी—समकालीन होना चाहिए। उन्होंने अधोलिखित गणना सम्बन्धी तथ्य हमारे समक्ष प्रस्तुत किए हैं—

१. तेरदाल शिलालेख शक स. १०४५ में श्रुतकीर्ति त्रैविद्य का उल्लेख करता है परन्तु राघवपाण्डवीय के रचयिता के सन्दर्भ में वह मौन है।

२. अभिनव पम्प शक स. १०२७ में श्रुतकीर्ति त्रैविद्य के काव्य का उल्लेख करता है।

३. श्रवणबेलगोल शिलालेख (नं. ४०, शक स. १०८५) अभिनव पम्प के पद्यों को श्रुतकीर्ति त्रैविद्य के पद्य रूप में उल्लेख करता है और श्रुतकीर्ति की पहचान

तेरदाल शिलालेख में उल्लिखित श्रुतकीर्ति से करता है।

इन कारणों से पाठक इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि श्रुतकीर्ति का ग्रन्थ शक स. १०४५ में लिखा नहीं गया जब कि शक स. १०६७ और १०८५ के बीच वह एक प्रसिद्ध काव्य माना जाता था। यह भी उल्लेखनीय है कि पम्प उसे विद्वत्ता का आश्चर्यकारी नमूना मानता है जिससे श्रुतकीर्ति ने सुप्रसिद्धि अर्जित की। इन कथनों से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि पम्प केवल एक जैन काव्य से परिचित थे और वह था सभी द्वारा प्रशंसित राघवपाण्डवीय। पाठक ने यह भी देखा कि वर्धमान (वि. सं. ११६७ अथवा शक सं. १०६२) किस प्रकार अपने गुणरत्नमहोदधि में धनंजय के राघवपाण्डवीय का अनेक बार उद्धरण देते हैं और किस प्रकार चालुक्य नृपति जगदेवमल्ल द्वितीय (शक सं. १०६-७२ (१) का समकालीन दुर्गासिंह यह कहता है कि धनंजय राघवपाण्डवीय की रचना से बृहस्पति हो गए। यह कथन श्रुतकीर्ति के ग्रन्थ के सन्दर्भ में होना चाहिए जिनका समय शक स. १०४५ सिद्ध है। ऐसी कल्पना निरर्थक सिद्ध होगी कि अल्प समय में शक सं. १०४५ और १०६२ के बीच समान शीर्षक वाले द्वयर्थक काव्य दिगम्बर जैन सम्प्रदाय के दो कवियों ने रचे होंगे। यदि ऐसा होता तो श्रुतकीर्ति का ग्रन्थ शक स. १०६० में विद्वत्ता की आश्चर्यकारी कृति के रूप में माना जाना समाप्त हो जाता। अतएव यह स्पष्ट है कि धनंजय श्रुतकीर्ति का द्वितीय नाम था और उनके ग्रन्थ का रचनाकाल शक स. १०४५ से १०६२ के बीच निर्धारित किया जा सकता है।

पाठक के मत की दुर्बलताएँ

यह स्वीकार कर लिया गया है, जैसा हमने अभी देखा, कि तेरदाल, कोल्हापुर और श्रवणबेलगोल शिलालेखों में उल्लिखित श्रुतकीर्ति वही हैं जिन्हें पम्प ने उद्धृत किया है। पम्प ने और तेरदाल शिलालेख (शक स. १०४५-११२३ ई.) ने उन्हें त्रती कहा है। परन्तु कोल्हापुर शिलालेख में उन्हें ११३५ ई. के आचार्य के रूप में उल्लिखित किया गया है। पम्प ने राघवपाण्डवीय को उनसे सम्बन्धित माना है। विद्वानों के बीच उसे आश्चर्य.

जनक इसलिए नहीं स्वीकार किया गया था कि वह द्व्यर्थक काव्य है बल्कि इसलिए कि वह गत-प्रत्यागत प्रकार का था। पाठक ने कुछ तथ्यहीन तर्क प्रस्तुत किये हैं, परन्तु उन्होंने 'धनञ्जय का दूसरा नाम श्रुतकीर्ति है' यह सिद्ध करने के लिए कोई प्रमाण नहीं दिया। अतएव वह स्वीकार्य नहीं। यह उक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि भोज धनञ्जय और उनके द्विसन्धान से परिचित था। वह और उनका ग्रन्थ स्पष्टतः श्रुतकीर्ति और उनके राघवपाण्डवीय से भिन्न है, परन्तु राघवपाण्डवीय प्रकाश में नहीं आया है। हाँ, कविराज कृत राघवपाण्डवीय अवश्य प्रसिद्ध है, पर इन दोनों से वह भिन्न है।

धनञ्जय पर राघवाचारियर के विचार

एस. ई. व्ही. वीर राघवाचारियर का निघण्टुक धनञ्जय का काल (The date of Nighantuka Dhana-njaya) शीर्षक एक लेख जर्नल आव द ग्रान्ध हिस्टोरिकल रिसर्च सोसायटी, भाग २, नंबर २, पृष्ठ १८१-८४, राजमुद्री, १९२७ में प्रकाशित हुआ था। उनका उद्देश्य द्विसन्धान महाकाव्य अथवा राघव पाण्डवीय और धनञ्जय निघट्ट अथवा नाममाला के रचयिता धनञ्जय का काल निर्णय करना था।

सुबन्धु और बाण में श्लेष काव्य रचने का एक विशेष गुण प्रसिद्ध है, परन्तु उनमें कोई भी द्व्यर्थी कवि नहीं अर्थात् किसी ने भी ऐसा काव्य नहीं रचा जो दो कथाओं अथवा सिद्धान्तों को लिए हुए समानान्तर रूप से समूचे काव्य में दो व्याख्याओं को उपस्थित कर सके। राघव-पाण्डवीय के रचयिता कविराज (६५०-७२५ ई.) द्व्यर्थी प्रबन्ध लिखने में पूर्ण दक्ष है। निघण्टुक धनञ्जय, जो द्विसन्धान काव्य के समकक्ष है, भी उनके इस गुण की पुष्टि करता है। दशरूपककार धनञ्जय से वे भिन्न हैं। निघण्टुक धनञ्जय राजशेखर (८८०-९२० ई.) से पूर्ववर्ती और जैन (श्रीदेवी और वामदेव के पुत्र, देखिए द्विसन्धान काव्य १८, १४६) है जब कि ब्राह्मण कुलीन (विष्णु के पुत्र और मुंज का दरबारी कवि) दशरूपककार धनञ्जय राजशेखर का उत्तरवर्ती है। 'प्रमाणमकलंकस्य' पद्य के अतिरिक्त दो अन्य अधोलिखित पद्य (निघण्टु २.४६-५०) भी उद्धृत

मिलते हैं (नाममाला के जानपीठ संस्करण में अनुपलब्ध)---

जाते जगति घाल्मीकौ शब्दः कविरति स्मृतः ।

कवी इति ततो व्यासे कवयश्चेति दण्डिनः ॥

कवयः कवयश्चेति बहुत्वं दूरमागतम् ।

विनिवृत्तं चिरादेतत्कलौ जाते धनञ्जये ॥

इन श्लोकों से वीर राघवाचारियर ने यह अनुमान लगाया है "कि दंडी (६०० ई. के बाद नहीं) और धनञ्जय के बीच पर्याप्त अन्तर रहा है।" यह अन्तर ६०० और ८०० ई. के मध्य रखा जा सकता है।

कविराज वामन (८वीं शती) की काव्यालंकार वृत्ति में उल्लिखित है। उनका समय सुबन्धु और बाणभट्ट (५६०-६५० ई.) के बाद ठहरता है जिनका उल्लेख कविराज ने वक्रोक्ति में दक्ष कवि के रूप में किया है। द्विसन्धान कलापूर्ण है और ऐसा होने पर यदि कविराज धनञ्जय अथवा उनके द्विसन्धान से परिचित होता तो निश्चय ही वे उन्हें भी यहाँ (राघवपाण्डवीय, १.४१) सम्मिलित कर लेते। धनञ्जय का द्विसन्धान काव्यत्व प्रदर्शन की भव्यता लिए हुए है। वह कविराज के राघव-पाण्डवीय से किसी भी प्रकार हीन नहीं, सम्भवतः (अथवा निश्चित ही) उच्च श्रेणी का ही बैठे। धनञ्जय ने पूर्ववर्ती कवियों का उल्लेख नहीं किया, अतएव कविराज का उल्लेख नहीं किया होगा, अथवा यह भी कहा जा सकता है कि धनञ्जय कविराज अथवा उनके काव्य से अपरिचित रहे हों। इसका कारण उपेक्षा अथवा समय का अन्तराल हो सकता है। अतएव कविराज का समय ६५०-७२५ और निघण्टुक धनञ्जय का समय ७५०-८०० ई. नियोजित किया जा सकता है।

राघवाचारियर के मत की समीक्षा

राघवाचारियर जब कभी निषेधात्मक प्रमाणों का उपयोग करते हैं। यह उल्लेखनीय है कि जल्हण (१२५७ ई.) ने राजशेखर (९०० ई.) के नाम पर धनञ्जय के पद्य को उद्धृत किया है। इसके बाद कविराज अपने राघव पाण्डवीय (१.१८) में स्पष्टतः घार (९७३-९५ ई.) के मुंज का उल्लेख करते हैं और अपने आश्रयदाता कदम्ब वंशीय कामराज (१.१३) के विषय में पर्याप्त कहते हैं।

यह समझ में नहीं आता कि वीर राघवाचारियर ने इन तथ्यों की उपेक्षा क्यों की। कविराज का कालनिर्णय करने के लिए उनका समय आधार रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

वेंकट सुव्विय का खण्डन और विचार

वेंकट सुव्विय 'दी आथर्स आव दी राघवपांडवीय एण्ड गद्यचिन्तामणि' नामक शोधपत्र (जर्नल आफ द बी. बी. एस. सीरीज न्यू सीरीज ३, व २, १९२७; पृ. १३४) में पाठक के निष्कर्ष का विरोध करते हैं : (१) तेरदाल शिलालेख के श्रुतकीर्ति राघवपांडवीय के कर्ता के रूप में पम्प-रामायण में उल्लिखित श्रुतकीर्ति से अभिन्न होना चाहिए। (२) श्रुतकीर्ति कवि का मूल नाम था और धनजय मात्र संक्षिप्त नाम था, और (३) वह तथ्य अभिनव पम्प जानते थे जिन्होंने उनका उल्लेख उनके वास्तविक नाम रामायण से किया है।

बी. सुव्विय के अनुसार अभिनव पम्प की रामायण का रचनाकाल ११०० ई. के बाद और १०४२ ई. के पूर्व नहीं हो सकता। अतएव श्रुतकीर्ति का राघवपांडवीय १०४३ ई. के पूर्व लिखा गया होगा। उन्होंने आर. नरसिंहाचार्य के मन का उल्लेख किया है कि "श्रुतकीर्ति की रचना का वर्णन जो पम्प की रामायण में किया गया है, गत-प्रत्यागत काव्य प्रकार का है, अर्थात् ऐसा काव्य जिसके एक ओर पढ़ने से रामकथा और दूसरी ओर पढ़ने से पांडुकथा निकलती है, यह धनजय के द्विसन्धान काव्य में लागू नहीं होता। यहाँ यद्यपि एक ही पद्य में राम और पांडु की कथा शब्द-चमत्कृति दिखाते हुए कही गयी है, फिर भी उसे गतप्रत्यागत काव्य नहीं कहा जा सकता; अतएव धनजय का राघवपांडवीय व श्रुतकीर्ति का राघवपांडवीय अभिन्न नहीं और इसलिए धनजय और श्रुतकीर्ति एक नहीं कहे जा सकते।

वादिराज द्वारा पार्श्वनाथ चरित (समाप्तिकाल बुधवार, २७ दिसम्बर १०२५ ई.) में उल्लिखित पूर्वकवि सुव्विय के अनुसार वादिराज के पूर्ववर्ती रहे होंगे। अतएव अधिक सम्भावित यही है कि राघवपांडवीय के रचयिता धनजय वादिराज के पूर्ववर्ती थे। श्रवणबेलगोल

शिलालेख नं. ५४ (६७) में प्राप्त आचार्य परम्परा में मतिसागर के पश्चात् हेमसेन (६८५ ई.) का नाम आता है। इन्हीं का दूसरा नाम विद्याधनजय भी था। "अतएव यह कहना अत्युक्ति नहीं होगी कि हेमसेन राघवपांडवीय अथवा द्विसन्धान काव्य के कर्ता है और यह काव्य ६६०-१००० ई. में लिखा गया है।"

श्रुतकीर्ति का काव्य प्रकाश में नहीं आया। वह निश्चित ही संस्कृत में लिखा गया होगा। तेरदाल और श्रवणबेलगोल शिलालेख के श्रुतकीर्ति ११२३ ई. में विद्यमान थे और उनका राघवपांडवीय १०६० ई. के पूर्व नहीं लिखा गया।

अभिनव पम्प द्वारा उल्लिखित श्रुतकीर्ति वही नहीं जिनका उल्लेख शिलालेख में आया हुआ है, क्योंकि वे भिन्न-भिन्न परम्पराओं से सम्बद्ध हैं। "इन दोनों श्रुतकीर्ति नामक आचार्यों ने राघवपांडवीय की रचनाएँ की और वे गतप्रत्यागत प्रकार के पद्यों में थीं, यह कल्पना तथ्यसंगत नहीं। अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उक्त दोनों श्रुतकीर्तियों में कोई एक श्रुतकीर्ति ग्रन्थ के रचयिता थे और इन श्रुतकीर्ति की प्रशंसा में भी पम्प रामायण में अथवा श्रवणबेलगोल शिलालेख में इन पद्यों का उपयोग किया है ताकि द्वितीय श्रुतकीर्ति भिन्न सिद्ध हो सके। और चूँकि अभिनव पम्प जैसे उच्चकोटि के कवि के सन्दर्भ में यह सोचना व्यर्थ है कि उन्होंने अन्य कवियों द्वारा निमित्त पद्यों को अपने ग्रन्थ में सम्मिलित किया होगा, अतः यह भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि गतप्रत्यागत प्रकार का राघवपांडवीय पम्प रामायण में उल्लिखित श्रुतकीर्ति द्वारा रचा गया था न कि उक्त शिलालेख में उल्लिखित श्रुतकीर्ति द्वारा।"

धनजय और श्रुतकीर्ति के राघवपांडवीय भिन्न-भिन्न ग्रन्थ हैं, और उसमें कोई एक पूर्ववर्ती होगा। परन्तु मुझे लगता है कि गतप्रत्यागत राघवपांडवीय द्विसन्धान की अपेक्षा अधिक कठिन है और इसलिए उत्तरवर्ती काव्य पहले लिखा गया और श्रुतकीर्ति ने अपना ग्रन्थ धनजय के अनुकरण पर बाद में लिखा। यदि यह विचार तथ्ययुक्त माना जाये तो श्रुतकीर्ति निश्चित रूप से धनजय के उत्तर,

वर्ती होंगी और उन्होंने अपना ग्रन्थ १००० १०२५ ई. में लिखा होगा।

पाठक के मन की विस्तृत समीक्षा करने के बाद वेंकट सुब्बिय कविराज और उनके राघवपाडवीय के सन्दर्भ में इन निष्कर्षों पर पहुँचे : कविराज का आश्रय-दाना कदम्बवशीय कामदेव द्वितीय है। कविराज धनञ्जय के उत्तरवर्ती है, और उनका राघवपाडवीय १२३६ और १३०७ ई. के बीच लिखा गया है न कि ११८२-१७ ई. के बीच जैसा कि पाठक ने सुझाया है।

वेंकट सुब्बिय के निष्कर्षों की समीक्षा

वेंकट सुब्बिय का यह विचार स्वीकार्य है कि श्रुत-कीर्ति और उनका राघवपाडवीय धनञ्जय और उनके राघवपाडवीय से भिन्न है। परन्तु उनका यह निष्कर्ष कि तेरदाल और श्रवणबेलगोल शिलालेख में उल्लिखित श्रुत-कीर्ति अभिनव पम्प द्वारा उल्लिखित श्रुतकीर्ति से भिन्न होगा, सदिग्ध सम्भावित और भ्रमित प्रमाणों पर आधारित है। उन्होंने जो कहा वह सही हो सकता है परन्तु जैन आचार्य इतने सकीर्ण विचारधारा के नहीं रहे कि उन्होंने सध, गण, गच्छ और बाल से बाह्य साहित्यकारों को सम्मान न दिया हो। वादिराज ने अपने काव्य में अपने पूर्ववर्ती लेखक और आचार्यों का उल्लेख किया है। वे आचार्य और लेखक वादिराज के पारम्परिक पूर्ववर्ती हो, यह आवश्यक नहीं। धनञ्जय वादिराज के पारम्परिक आचार्य थे और हेमसेन व धनञ्जय एक थे, यह स्वीकार नहीं किया जा सकता। यह एक अन्य पहचान वंसी ही आधारहीन और प्रमाण रहित है जैसी कि पाठक की कल्पना जिसकी वेंकट सुब्बिय ने कटु आलोचना की है। प्रथम, धनञ्जय गृहस्थ थे। उन्होंने मुनि अवस्था का कोई वर्णन नहीं किया और न आचार्य परम्परा का। अतः वे वादिराज के निकट पूर्ववर्ती होंगे, यह स्वीकार नहीं किया जा सकता। द्वितीय, धनञ्जय ने अपने किसी भी ग्रन्थ में अपना दूसरा नाम हेमसेन सूचित नहीं किया, और अन्तिम यदि विद्या-धनञ्जय नाम उपयुक्त माना जाये (क्योंकि उसे विद्याधनञ्जयपद विशद दधानों भी पढ़ा जा सकता है) तो 'विद्या' शब्द ही हेमसेन को किसी अन्य पूर्ववर्ती

धनञ्जय से पृथक् कर देता है। अथवा यदि धनञ्जय को अर्जुन रूप में स्वीकारा जाए तो हेमसेन विद्या धनञ्जय माने जा सकते हैं। अतएव उनकी यह पहचान और तिथि ६५०-१००० ई. स्वीकार नहीं की जा सकती।

धनञ्जय पर साहित्यिक इतिहासकार

पाठक, भंडारकर व अन्य विद्वानों के अध्ययन से यह पता चलता है कि साहित्यिक इतिहासकारों ने धनञ्जय और उनके द्विसन्धान के विषय में विस्तृत जानकारी प्रस्तुत की है। एम. विन्टरनिट्ज (भा. सा. इ., भाग ३; जर्मन संस्करण, पृ. ५, लिपजिग, १८२२, अंगरेजी अनुवाद पृ. ८२-३, वाराणसी १८६३) यह स्वीकार करते हैं कि धनञ्जय ने ११२३-११४० ई. के बीच अपनी उपाधि श्रुत-कीर्ति के नाम पर ग्रन्थ लिखा। उन्होंने कदम्बवशीय कामदेव (११८२-१७) के दरबारी कवि कविराज से उन्हें पूर्ववर्ती माना। वामन की काव्यालंकार वृत्ति (४. १.१०) में उल्लिखित कविराज से वे भिन्न हैं। ए. बी. कीथ (ए हिस्ट्री आफ सस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ १३७, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९४८) ने कहा है कि दिगम्बर जैन लेखक धनञ्जय, जिन्हें शायद श्रुतकीर्ति कहा जाना था, ने ११२३ और ११४० के बीच अपना ग्रन्थ लिखा। इसके बाद कविराज का नाम आता है जिनका वास्तविक नाम कदाचित् माधव भट्ट था और जिनके आश्रयदाता कदम्बवशीय राजा कामदेव (११८२-१७) थे। एम. कृष्णमाचारी (हिस्ट्री आफ क्लासिकल सस्कृत लिटरेचर, पृ. १६६, १८७, फु. मद्रास, १९३७) धनञ्जय को नवी-दसवीं शती में रखते हैं और कविराज को १२वीं शती के उत्तरार्ध में। अन्य प्रमाणों में नाममाला (वाराणसी, १९५०) की प्रस्तावना नाथूराम प्रेमी का जैन साहित्य और इतिहास पृष्ठ १०८, बम्बई १९५६, व. ह्वी. गैरोला का संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ. ३५०-५१, वाराणसी, १९६० भी देखा जा सकता है।

धनञ्जय का द्विसन्धान महाकाव्य संस्कृत साहित्य में उपलब्ध द्विसन्धान काव्यों में सर्वाधिक पुराना और महत्वपूर्ण काव्य है। वह रामायण और महाभारत की कथा को समानान्तर रूप से प्रस्तुत करता है। अर्थात् प्रत्येक

पद्य दो अर्थों को प्रस्तुत करता है, प्रथम अर्थ रामायण से सम्बद्ध है और द्वितीय अर्थ महाभारत से। वह संस्कृत भाषा के विविध अर्थशक्ति का सुन्दर निदर्शन है। उसकी संस्कृत व्याख्या सहित सम्पादित एक सुन्दर संस्करण की आवश्यकता थी। भारतीय ज्ञानपीठ ने प्रो. खुशालचन्द्र गोरावाला द्वारा सम्पादित द्विसन्धान महाकाव्य का प्रकाशन करके इस कमी को पूरा कर दिया है। इसके लिए सम्पादक और प्रकाशक दोनों धन्यवादार्ह हैं।

द्विसन्धान महाकाव्य में प्रयुक्त छन्द

वृत्तनाम सर्गाङ्कः (ध्रांग्लः) श्लोकाङ्कः (नागरी)

- १ अनुकूला ८.३०-३३;
- २ अनुष्टुप् ७. १-६४; ९.१-५१; १८.१-१४४;
- ३ अपरवक्त्र १३.३७; १५.३४-४४; १८.६५-६६;
- ४ इन्द्रवज्रा ८.२१,२३,४१,४२,४४; १०.३६; १७.८५-८६;
- ५ इन्द्रवशा १७.७६;
- ६ उद्गता १७.१-३६
- ७ उपजाति २.३१, ३३; ३.१-३८,४०; ५.१-६४; ६.४७-४८; ८.१८,२५,२८,२९, ३४-४०, ४३,४५-४७, ४९,५१,५४,५५,५७; १०. ३६,४०; ११.३२,३३,३५,३६; १२.४८; १३.३०,३२,३५; १४.२५,२७-२८,३३-३६; १६.१-८२; १७.४५,४६,५३.५५,५७,६०, ६२-६४,६८,७३,७७;
- ८ ओपच्छन्दसिक १०.४१-४२; १३.३१ (विषम चरण) १७.४६,५४,६१,७६;
- ९ जलघरमाला ८.७,११,१३,१५,१७;
- १० जलोद्धतगति ८.२४;
- ११ लोटक ८.४७, ५३;
- १२ द्रुतविलम्बित ५.६८; ६.५०; ८.१-५,२०;
- १३ पुष्पिताग्रा २.३४; ५.६७; १३.३८; १५.१-३३; १७.५८,८३;
- १४ पृथ्वी १३.४४;
- १५ प्रमिताक्षरा ८.५६; १२.१-४६, १७.४३,४४,७८,८४;-

- १६ प्रमुदितवदना १३.४०-४१;
- १७ प्रहर्षिणी ५.६५; ८.६,८,२६; ९.५२; १४.१-२४;
- १८ मत्तमयूर ३.३६; ८.१४,१६; १०.३७-३८; १३.१-२८,३६; १४.२६;
- १९ मन्दाक्रान्ता १३.४३; १४.३०;
- २० मालिनी ६.५१; १३.४२; १६.८३,८५; १७.८७;
- २१ रथोद्धृता ८.१२; १०.१,३,५,७,९,११,१३,१५,१७, १९,२०,२१,२३,२५,२७,२९,३१,३३,३५, ४४; १७.४८,५६;
- २२ वसन्ततिलका १.५२; २.३०; ४.५५; ६.५२; ८.९, २२,५२; १०.४६; ११.३४,३८,३९; १२.४७,५१,५२; १४.३८-३९; १५. ४६-४८,५०; १६.८६-८७; १७.८९, ९१;
- २३ वंशपत्रपतित ८.१६;
- २४ वशस्थ १.१-५१; ६.१-४६; १०.४३; ११.३१; १३. ३३,३६; १७.७१,७२,८२;
- २५ वियोगिनी ४.१-५४; ११.३६; १८.३१ (समचरण); १७.४१-४२;
- वैतालीय व वियोगिनी एकच.
- २६ वैश्वदेवी २.१-२६; ८.२७;
- २७ शार्दूलविक्रीडित ७.६५; १४.३६; १८.१४५-१४६;
- २८ शालिनी २.३२; ३.४१-४२; ६.४६; ८.१०,५०; ११.१-३०,४०; १२.४६; १४.३२; १७. ४७,७०,७४,७५,८०,८१,९०;
- २९ शिखरिणी ११.३७; १२.५०; १३.३४; १४.२६; १५.४६; १६.८४; १७.४०;
- ३० स्वागता ५.६६; १०.२,४,६,८,१०,१२,१४,१६,१८, २२,२४,२६,२८,३०,३२,३४; १४.३७; १७.५०,५२,५६,५९,६७,८८;
- ३१ हरिणी ३.४३; ५.६६; ८.५८; १०.४५; १३.२६; १५.४५; १७.६६;

धवला, न राजरामपुरी, कोल्हापुर (महाराष्ट्र)

भारतीय अनुमान को जैन तार्किकों को देन

डा० हरबारीलाल कोठिया

भारतीय अनुमान को जैन तार्किकों की क्या देन है, उन्होंने उसमें क्या अभिवृद्धि या सशोधन किया है, इस सम्बन्ध में यहाँ जैन तर्क शास्त्र में चिन्तित अनुमान एवं उसके परिकर का ऐतिहासिक तथा समीक्षात्मक विमर्श प्रस्तुत है।

अध्ययन से अवगत होता है कि उपनिषद् काल में अनुमान की आवश्यकता एवं प्रयोजन पर भार दिया जाने लगा था, उपनिषद् में "आत्मा वाऽरे बृष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः," आदि वाक्यों द्वारा आत्मा के दर्शन और श्रवण के माथ मनन पर भी बल दिया गया है, जो उपपत्तियों (मुक्तियों) के द्वारा किया जाता था।^१ इससे स्पष्ट है कि उस काल में अनुमान को भी श्रुति की तरह ज्ञान का एक साधन माना जाता था उसके बिना दर्शन अपूर्ण रहता था। यह सच है कि अनुमान का 'अनुमान' शब्द से व्यवहार होने की अपेक्षा 'वाक्यो-वाक्यम्' 'आश्चर्यक्षी', 'तर्कविद्या', 'हेतुविद्या' जैसे शब्दों द्वारा अधिक होता था।

प्राचीन जैन वाङ्मय में ज्ञानमीमासा (ज्ञानमार्गणा) के अन्तर्गत अनुमान का 'हेतुवाद' शब्द से निर्देश किया गया है और उसे श्रुति का एक पर्याय (नामान्तर) बतलाया गया है। तत्त्वार्थसूत्रकार ने "अभिनिबोध" नाम से उसका उल्लेख किया है। तात्पर्य यह कि जैनदर्शन में भी अनुमान अभिमत है तथा प्रत्यक्ष (साव्यवहारिक और पारमार्थिक ज्ञान) की तरह उसे भी प्रमाण एवं अर्थ-निश्चायक माना गया है। अन्तर केवल उसमें वैशद्य और अवैशद्य का है। प्रत्यक्ष विशद है और अनुमान अविशद (परोक्ष)।

अनुमान के लिए किन घटकों की आवश्यकता है, इसका आरम्भिक प्रतिपादन कणाद ने किया प्रतीत होता है। उन्होंने अनुमान का 'अनुमान' शब्द से निर्देश न कर 'लङ्घिक' शब्द से किया है, जिससे ज्ञात होता है कि अनुमान का मुख्य घटक लिङ्ग है। सम्भवतः इसी कारण उन्होंने मात्र लिङ्गों, लिङ्गरूपों और लिङ्गाभासों का निरूपण किया है। उसके और भी कोई घटक है, इसका कणाद ने कोई उल्लेख नहीं किया। उनके भाष्यकार प्रशस्तपाद ने अवश्य प्रतिज्ञादि पाँच अवयवों को उसका घटक प्रतिपादित किया है और उनका विवेचन किया है।

तर्कशास्त्र का निबद्धरूप में स्पष्ट विकास अक्षपाद के न्यायसूत्र में उपलब्ध होता है। अक्षपाद ने अनुमान को 'अनुमान' शब्द से ही उल्लेखित किया तथा उसकी कारण सामग्री, भेदो, अवयवों और हेत्वाभासों का स्पष्ट विवेचन किया है। साथ ही अनुमान परीक्षा, वाद, जल्प, वितण्डा, छल, जाति, निग्रहस्थान जैसे अनुमान-सहायक तत्त्वों का प्रतिपादन करके अनुमान को ज्ञास्त्रार्थोपयोगी और एक स्तर तक पहुँचा दिया है। वात्स्यायन, उद्योतकर, वाचस्पति, उदयन और गङ्गेश ने उसे विशेष परिष्कृत किया तथा व्याप्ति, पक्षधर्मता, परामर्श जैसे तदुपयोगी अभिनव तत्त्वों को विविक्त करके उनका विस्तृत एवं सूक्ष्म निरूपण किया है। वस्तुतः अक्षपाद और उनके अनुवर्ती तार्किकों ने अनुमान को इतना परिष्कृत किया कि उनका दर्शन 'न्याय (तर्क-अनुमान)-दर्शन' नाम से ही विश्रुत हो गया।

असंग, वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति प्रभृति बौद्ध तार्किकों ने न्यायदर्शन की समालोचनापूर्वक अपनी विशिष्ट और नयी मान्यताओं के आधार पर अनुमान का सूक्ष्म और प्रचुर चिन्तन प्रस्तुत किया है। इनके चिन्तन का

१. बृहदारण्यक २।४।५।

२. श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।

मत्वा च सततं ध्येय एते दर्शनहेतवः॥

अवश्यम्भावी परिणाम यह हुआ कि उत्तरकालीन समग्र भारतीय तर्कशास्त्र उससे प्रभावित हुआ और अनुमान की विचारधारा पर्याप्त आगे बढ़ने के साथ सूक्ष्म मे-सूक्ष्म एवं जटिल होती गयी। वास्तव में बौद्ध तार्किकों के चिन्तन ने तर्क में आयी कुण्ठा को हटाकर और सभी प्रकार के परिवेशों को दूर कर उन्मुक्त भाव से तत्त्वचिन्तन की क्षमता प्रदान की। फलतः सभी दर्शनो में स्वीकृत अनुमान पर अधिक विचार हुआ और उसे महत्त्व मिला।

ईश्वरकृष्ण, युक्तिदीपिकाकार, माठर, विज्ञानभिक्षु आदि सांख्यविद्वानों, प्रभाकर, कुमारिल, पार्थसारथि प्रभृति मीमांसक चिन्तकों ने भी अपने-अपने ढंग से अनुमान का चिन्तन किया है। हमारा विचार है कि इन चिन्तकों का चिन्तन-विषय, प्रकृति, पुरुष और क्रियाकाण्ड होते हुए भी वे अनुमान-चिन्तन से अछूने नहीं रहे। श्रुति के अलावा अनुमान को भी इन्हें स्वीकार करना पड़ा और उसका कम-बढ़ विवेचन किया है।

जैन विचारक आरम्भ से ही अनुमान को मानने आये हैं। भले ही उसे 'अनुमान' नाम न देकर 'हेतुवाद' या 'अभिनिबोध' सज्ञा से उन्होंने उसका व्यवहार किया हो। तत्त्वज्ञान, स्वतत्त्वमिद्धि, परपक्षदूषणोद्भावन के लिए उसे स्वीकार करके उन्होंने उमका पर्याप्त विवेचन किया है। उनके चिन्तन में जो विशेषताएँ उपलब्ध होती हैं उनमें कुछ का उल्लेख यहाँ किया जाना है—

अनुमान का परोक्ष प्रमाण में अन्तर्भाव—अनुमान प्रमाणवादी सभी भारतीय तार्किकों ने अनुमान को स्वतन्त्र प्रमाण स्वीकार किया है। पर जैन तार्किकों ने उसे स्वतन्त्र प्रमाण नहीं माना। प्रमाण के उन्होंने मूलतः दो भेद माने हैं—(१) प्रत्यक्ष और (२) परोक्ष। इनकी परिभाषाओं (वैशद्य और अवैशद्य) के अनुसार अनुमान परोक्ष प्रमाण में अन्तर्भूत है, क्योंकि वह अविशद ज्ञान है और उसके द्वारा अप्रत्यक्ष अर्थ की प्रतिपत्ति होती है। परोक्ष प्रमाण का क्षेत्र इतना व्यापक और विशाल है कि स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अर्थापत्ति, सम्भव, अभाव और शब्द जैसे अप्रत्यक्ष अर्थ के परिच्छेदक अविशद ज्ञानों का इसी में समावेश है। अतः वैशद्य एवं अवैशद्य के आधार पर

स्वीकृत प्रत्यक्ष और परोक्ष इन दो मूल प्रमाणों के अतिरिक्त अनुमान पृथक् प्रमाण मान्य नहीं है।

अर्थापत्ति अनुमान से पृथक् नहीं—प्राभाकर और भाट्ट मीमांसक अनुमान से पृथक् अर्थापत्ति नाम का स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं। उनका मन्तव्य है कि जहाँ अमुक अर्थ अमुक अर्थ के बिना न होता हुआ उसका परिकल्पक होता है वहाँ अर्थापत्ति प्रमाण माना जाता है। जैसे "पीनोऽयं देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते" इस वाक्य में उक्त 'पीनत्वं' अर्थ भोजन के बिना न होता हुआ 'रात्रि भोजन' की कल्पना करता है, क्योंकि दिवा भोजन का निषेध है। इस प्रकार के अर्थ का बाध अनुमान से न होकर अर्थापत्ति से होता है। किन्तु जैन विचारक उसे अनुमान से भिन्न स्वीकार नहीं करने। उनका कहना है कि अनुमान अन्यथानुपपन्न (अविनाभावी) हेतु से उत्पन्न होता है और अर्थापत्ति अन्यथानुपपन्न अर्थ से। अन्यथानुपपन्न हेतु और अन्यथानुपपन्न अर्थ दोनों एक है—उनमें कोई अन्तर नहीं है। अर्थात् दोनों ही व्याप्ति विशिष्ट होने से अभिन्न हैं। डा. देवराज भी यही बात प्रकट करते हुए कहते हैं कि 'एक वस्तु द्वारा दूसरी वस्तु का आक्षेप तभी हो सकता है जब दोनों में व्याप्यव्यापक भाव या व्याप्ति सम्बन्ध हो।' देवदत्त मोटा है और दिन में खाता नहीं है, यहाँ अर्थापत्ति द्वारा रात्रि भोजन की कल्पना की जाती है। पर वास्तव में मोटापन भोजन का अविनाभावी होने तथा दिन में भोजन का निषेध करने से वह देवदत्त के रात्रिभोजन का अनुमापक है। वह अनुमान इस प्रकार है—'देवदत्तः रात्रौ भुङ्क्ते, दिवाऽभोजित्वे सात पीनत्वा-न्यथानुपपत्तेः।' यहाँ अन्यथानुपपत्ति से अन्तर्व्याप्ति विवक्षित है, वहिव्याप्ति या सकलव्याप्ति नहीं, क्योंकि ये दोनों व्याप्तियाँ अव्यभिचरित नहीं हैं। अतः अर्थापत्ति और अनुमान दोनों व्याप्तिपूर्वक होने से एक ही हैं—पृथक्-पृथक् प्रमाण नहीं।

अनुमान का विशिष्ट स्वरूप—न्यायसूत्रकार अक्षपाद की 'तत्पूर्वकमनुमानम्,' प्रशस्तवाद की 'लिङ्गदर्शना-संज्ञायमानं लिङ्गकम्' और उद्योतकर की 'लिङ्गपरामर्शोऽ-

१. पूर्वी और पश्चिमी दर्शन, पृ० ७१।

नुमानम्' परिभाषाओं में केवल अनुमान के कारण का निर्देश है, उसके स्वरूप का नहीं। उद्योतकर की एक ग्रन्थ परिभाषा 'लैङ्गिकी प्रतिपत्तिरनुमानम्' में भी लिङ्ग-रूप कारण का उल्लेख है, स्वरूप का नहीं। दिङ्नागशिष्य शङ्करस्वामी की 'अनुमानं लिङ्गावर्णवर्णनम्' परिभाषा में यद्यपि कारण और स्वरूप—दोनों की अभिव्यक्ति है, पर उसमें कारण के रूप में लिङ्ग को सूचित किया है, लिङ्ग के ज्ञान को नहीं। तथ्य यह है कि अज्ञायमान धूमादि लिङ्ग अग्नि आदि के अनुमापक नहीं है। अन्यथा जो पुरुष सोया हुआ है, मूर्च्छित है, अगृहीतव्याप्तिक है उसे भी पर्वत में धूम के सद्भाव मात्र से अग्नि का अनुमान हो जाना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं है। अतः शङ्करस्वामी के उक्त अनुमान के लक्षण में 'लिङ्गात्' के स्थान में 'लिङ्गवर्णनात्' पद होने पर ही वह पूर्ण अनुमान लक्षण हो सकता है।

जैन ताकिक अकलङ्कदेव ने जो अनुमान का स्वरूप प्रस्तुत किया है वह उक्त न्यूनताओं से मुक्त है। उनका लक्षण है—

लिङ्गात्साध्याविनाभावाभिनिरुद्धलक्षणम् ।

लिङ्गधीरनुमानं तत्फलं हानाविबुद्धयः ॥'

इसमें अनुमान के साक्षात् कारण—लिङ्गज्ञान का भी प्रतिपादन है और उसका स्वरूप भी 'लिङ्गधीः' शब्द के द्वारा निर्दिष्ट है। अकलङ्क ने स्वरूप निर्देश में केवल 'धीः' या 'प्रतिपत्ति' नहीं कहा, किन्तु 'लिङ्गधीः' कहा है, जिसका अर्थ है साध्य का ज्ञान; और साध्य का ज्ञान होना ही अनुमान है। न्याय प्रवेशकार शङ्करस्वामी ने साध्य का स्थानापन्न 'अर्थ' का अवश्य निर्देश किया है। पर उन्होंने कारण का निर्देश अपूर्ण किया है, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। अकलङ्क के इस लक्षण की एक विशेषता और भी है। वह यह है कि उन्होंने 'तत्फलं हानाविबुद्धयः' शब्दों द्वारा अनुमान का फल भी निर्दिष्ट किया है। सम्भवतः इन सभी बातों से उत्तरवर्ती सभी जैन ताकिकों ने अकलङ्क की इस प्रतिष्ठित और पूर्ण अनुमान-परिभाषा को ही अपनाया। इस अनुमान लक्षण से स्पष्ट है कि वही साधन अथवा

१. लघीयस्त्रय का० १२।

लिङ्ग-लिङ्गि (साध्य-अनुमेय) का गमक हो सकता है जिसके अविनाभाव का निश्चय है। यदि उसमें अविनाभाव का निश्चय नहीं है तो वह साधन नहीं है, भले ही उसमें तीन या पाँच रूप भी विद्यमान हों। जैसे 'वज्र लोह लेख्य है,' 'क्योंकि पार्थिव है, काष्ठ की तरह' इत्यादि हेतु तीन रूपों और पाँच रूपों से सम्पन्न होने पर भी अविनाभाव के अभाव से सदेतु नहीं है, अपितु हेत्वाभास है और इसी से वे अपने साध्यों के अनुमापक नहीं माने जाते। इसी प्रकार 'एक मुहूर्त बाद शकट का उदय होगा, क्योंकि कृत्तिका का उदय हो रहा है,' 'समुद्र में वृद्धि होना चाहिए अथवा कुमुदों का विकास होना चाहिए, क्योंकि चन्द्र का उदय है' आदि हेतुओं में पक्षधर्मत्व न होने से न त्रिरूपता है और न पचरूपता। फिर भी अविनाभाव के होने से कृत्तिका का उदय शकटोदय का और चन्द्र का उदय समुद्रवृद्धि एवं कुमुद विकास का गमक है।

हेतु का एक लक्षण (अन्यथानुपपन्नत्व) स्वरूप—

हेतु के स्वरूप का प्रतिपादन अक्षपाद से आरम्भ होता है, ऐसा अनुसन्धान से प्रतीत होता है। उनका वह लक्षण साधर्म्य और वैधर्म्य—दोनों दृष्टान्तों पर आधारित है।^१ अतएव नैयायिक—चिन्तकों ने उसे द्विलक्षण, त्रिलक्षण, चतुर्लक्षण और पचलक्षण प्रतिपादित किया तथा उसकी व्याख्या की है। वैशेषिक, बौद्ध, सांख्य आदि विचारकों ने उसे मात्र त्रिलक्षण बतलाया है। कुछ ताकिकों ने षडलक्षण और सप्तलक्षण भी उसे कहा है, पर जैन लेखकों ने अविनाभाव को ही हेतु का प्रधान और एक लक्षण स्वीकार किया है तथा त्रैरूप्य, पंचरूप्य आदि को अव्याप्त और अतिव्याप्त बतलाया है, जैसा कि ऊपर अनुमान के स्वरूप में प्रदर्शित उदाहरणों से स्पष्ट है। इस अविनाभाव को ही अन्यथानुपपन्नत्व अथवा अन्यथानुपपत्ति या अन्तर्व्याप्ति कहा है। स्मरण रहे कि यह अविनाभाव या अन्यथानुपपन्नत्व जैन लेखकों को ही उपलब्धि है, जिसके उद्भासक आचार्य समन्तभद्र हैं।^१

२. उदाहरणसाधर्म्यात्साध्यसाधनं हेतुः। तथा वैधर्म्यात् ।

—न्या० स० १।१।३४, ३५।

३. विशेष के लिए देखें, जैन तर्कशास्त्र में अनुमान विचार, पृ० ३७-४१।

अनुमान का अङ्ग एकमात्र व्याप्ति—न्याय, वैशेषिक, सांख्य, मीमांसक और बौद्ध—सभी ने पक्षधर्मता और व्याप्ति दोनों को अनुमान का अङ्ग माना है। परन्तु जैन तार्किकों ने केवल व्याप्ति को उसका अङ्ग बतलाया है। उनका मत है कि अनुमान में पक्षधर्मता प्रनावश्यक है। 'उपरिबृष्टिरभूत् अथोपूराण्यथानुपत्तेः' आदि अनुमानों में हेतु पक्षधर्म नहीं है फिर भी व्याप्ति के बल से वह गमक है। 'सद्यामहसन्पुत्रत्वावितरतत्पुत्रवत्' इत्यादि असद् अनुमानों में हेतु पक्षधर्म है किन्तु अविनाभाव न होने से वे अनुमापक नहीं हैं। अतः जैन चिन्तक अनुमान का अङ्ग एकमात्र व्याप्ति (अविनाभाव) को ही स्वीकार करते हैं, पक्षधर्मता आदि को नहीं।

पूर्वचर, उत्तरचर और सहचर हेतुओं की परिकल्पना—अकलङ्कदेव ने कुछ ऐसे हेतुओं की परिकल्पना की है जो उनसे पूर्व नहीं माने गये थे। उनमें मुख्यतया पूर्वचर, उत्तरचर और सहचर—ये तीन हेतु हैं। इन्हें किसी अन्य तार्किक ने स्वीकार किया हो, यह ज्ञान नहीं। किन्तु अवलङ्क ने इनकी आवश्यकता एवं अनिवार्यता का स्पष्ट निर्देश करते हुए स्वरूप-प्रतिपादन किया है। अतः यह उनकी देन कही जा सकती है।

प्रतिपाद्यों की अपेक्षा अनुमान प्रयोग—अनुमान-प्रयोग के सम्बन्ध में जहाँ अन्य भारतीय दर्शनों में व्युत्पन्न और अव्युत्पन्न प्रतिपाद्यों की विश्वास किये बिना अवयवों का सामान्य कथन मिलता है। वहाँ जैन विचारकों ने उक्त दो प्रकार के प्रतिपाद्यों की अपेक्षा उनका विशेष प्रतिपादन किया है। व्युत्पन्नो के लिए उन्होंने पक्ष और हेतु—ये दो अवयव आवश्यक बतलाये हैं। उन्हें दृष्टान्त आवश्यक नहीं है। 'सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्' जैसे स्थलों में बौद्धों ने और 'सर्वं अभिधेयं प्रमेयत्वात्' जैसे केवलान्वयिहेतुक अनुमानों में नैयायिकों ने भी दृष्टान्त को स्वीकार नहीं किया। अव्युत्पन्नो के लिए उक्त दोनों अवयवों के साथ दृष्टान्त, उपनय और निगमन—इन तीन अवयवों की भी जैन चिन्तकों ने यथायोग्य आवश्यकता प्रतिपादित की है। इसे और स्पष्ट यो समझिए—

गुह्यपिच्छ, समन्तभद्र, पूज्यपाद और सिद्धसेन के प्रतिपादनों से अवगत होता है कि आरम्भ में प्रतिपाद्य-सामान्य की अपेक्षा से पक्ष, हेतु और दृष्टान्त—इन तीन अवयवों से अभिप्रतार्थ (साध्य) की सिद्धि की जाती थी। पर उत्तरकाल में अकलङ्क का सकेत पाकर कुमारानन्द और विद्यानन्द ने प्रतिपाद्यों को व्युत्पन्न और अव्युत्पन्न—दो वर्गों में विभक्त करके उनकी अपेक्षा से पृथक्-पृथक् अवयवों का कथन किया। उनके बाद माणिक्यनन्द, प्रभाचन्द्र, देवसूरि आदि परवर्ती जैन तर्क ग्रन्थकारों ने उनका समर्थन किया और स्पष्टतया व्युत्पन्नो के लिए पक्ष और हेतु—ये दो तथा अव्युत्पन्नो के बोधार्थ उक्त दो के अतिरिक्त दृष्टान्त, उपनय और निगमन—ये तीन सब मिलाकर पाँच अवयव निरूपित किये। भद्रबाहु ने प्रतिज्ञा, प्रतिज्ञाशुद्धि आदि दश अवयवों का भी उपदेश दिया, जिसका अनुसरण देवसूरि, हेमचन्द्र और यशोविजय ने किया है।

व्याप्ति का ग्राहक एकमात्र तर्क—अन्य भारतीय दर्शनों में भूयोदर्शन, सहचारदर्शन और व्यभिचाराग्रह को व्याप्तिग्राहक माना गया है। न्यायदर्शन में वाचस्पति और सांख्यदर्शन में विज्ञानभिक्षु—इन दो तार्किकों ने व्याप्तिग्रह की उपयुक्त सामग्री में तर्क को भी सम्मिलित कर लिया है। पर स्मरण रहे, जैन परम्परा में आरम्भ से तर्क को, जिसे चिन्ता, ऊहा आदि शब्दों से व्यवहृत किया गया है, अनुमान की एकमात्र सामग्री के रूप में प्रतिपादित किया गया है। अकलङ्क ऐसे जैन तार्किक हैं जिन्होंने वाचस्पति और विज्ञान भिक्षु से पूर्व सर्व प्रथम तर्क को व्याप्तिग्राहक समर्थित एवं सम्पुष्ट किया तथा सबलता से उसका प्रामाण्य स्थापित किया। उनके पश्चात् सभी ने उसे व्याप्तिग्राहक स्वीकार कर लिया।

तथोपपत्ति और अन्यथानुपत्ति—यद्यपि बहिर्व्याप्ति, सकलव्याप्ति और अन्तर्व्याप्ति के भेद से व्याप्ति के तीन भेदों, समव्याप्ति के तीन भेदों समव्याप्ति और विषम-व्याप्ति के भेद से उसके दो प्रकारों तथा अन्यव्यव्याप्ति और व्यतिरेक व्याप्ति—इन दो भेदों का वर्णन तर्कग्रन्थों में उपलब्ध होता है किन्तु तथोपपत्ति और अन्यथानुपत्ति इन दो व्याप्ति प्रकारों (व्याप्ति प्रयोगों) का कथन

केवल जैन तर्कग्रन्थों में पाया जाता है। इस पर सूक्ष्म ध्यान देने पर जो विशेषता ज्ञान होनी है वह यह है कि अनुमान एक ज्ञान है उसका उपादान कारण ज्ञान भी होना चाहिए। तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति—ये दोनों ज्ञानाभास हैं, जबकि उपयुक्त व्याप्तियां श्रेयात्मक (विषयात्मक) हैं। दूसरी बात यह है कि उक्त व्याप्तियों में एक अन्तर्व्याप्ति ही ऐसी व्याप्ति है, जो हेतु की गमकता में प्रयोजक है, अन्य व्याप्तियाँ अन्तर्व्याप्ति के बिना अव्याप्त और अतिव्याप्त हैं, अनर्थ वे साधक नहीं हैं। तथा यह अन्तर्व्याप्ति ही तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति-रूप है अथवा उनका विषय है। इन दोनों में से किसी एक का ही प्रयोग पर्याप्त है।

साध्याभास—अकलङ्क ने अनुमानाभासों के विवेचन में पक्षाभास या प्रतिज्ञाभास के स्थान में साध्याभास शब्द का प्रयोग किया है। अकलङ्क के इस परिवर्तन के कारण पर सूक्ष्म ध्यान देने पर अवगत होता है कि चूँकि साधन का विषय (गम्य) साध्य होता है और साधन का अविनाभाव (व्याप्ति सम्बन्ध) साध्य के ही साथ होता है, पक्ष या प्रतिज्ञा के साथ नहीं, अतः साधनाभाम (हेत्वाभास) का विषय साध्याभास होने में उसे ही साधनाभामों की तरह स्वीकार करना युक्त है। विद्यानन्द ने अकलङ्क की इस सूक्ष्म दृष्टि को परखा और उनका सयुक्तिक समर्थन किया। यथार्थ में अनुमान के मुख्य प्रयोजक साधन और साध्य होने से साधनाभाम की भाँति साध्याभास ही विवेचनीय है। अकलङ्क ने शक्य, अभिप्रेत और असिद्ध को साध्य तथा अशक्य, अनभिप्रेत और सिद्ध को साध्याभास प्रतिपादित किया है—(साध्य शक्यमभिप्रेतमसिद्ध ततोऽपरम्। साध्याभास विरुद्धादि साधनाविषयत्वं ॥)

अकिञ्चित्कर हेत्वाभास—हेत्वाभासों के विवेचन-सन्दर्भ में सिद्धसेन ने कणाद और न्यायप्रवेशकार की तरह तीन हेत्वाभासों का कथन किया है, अक्षपाद की भाँति उन्होंने पाँच हेत्वाभास स्वीकार नहीं किए। प्रश्न हो सकता है कि जैन तार्किक हेतु का एक (अविनाभाव—अन्यथानुपपन्नत्व) रूप मानते हैं, अतः उसके अभाव में उनका हेत्वाभास एक ही होना चाहिए। वैशेषिक, बौद्ध

और सांख्य तो हेतु को त्रिरूप्य तथा नैयायिक पंचारूप्य स्वीकार करते हैं, अतः उनके अभाव में उनके अनुसार तीन और पाँच हेत्वाभास तो युक्त हैं। पर सिद्धसेन का हेत्वाभास-त्रैविध्य प्रतिपादन कैसे युक्त है? इसका समाधान सिद्धसेन स्वयं करते हुए कहते हैं कि चूँकि अन्यथानुपपन्नत्व का अभाव तीन तरह से होता है—कहीं उसकी प्रतीति न होने, कहीं उसमें सन्देह होने और कहीं उसका विपर्याप्त होने में, प्रतीति न होने पर प्रसिद्ध, सन्देह होने पर अनैकान्तिक और विपर्याप्त होने पर विरुद्ध ये तीन हेत्वाभास सम्भव हैं।

अकलङ्क कहते हैं कि यथार्थ में हेत्वाभास एक ही है, और वह है अकिञ्चित्कर, जो अन्यथानुपपन्नत्व के अभाव में होता है। वास्तव में अनुमान का उत्थापक अविनाभावी हेतु ही है, अविनाभाव (अन्यथानुपपन्नत्व) के अभाव में हेत्वाभास की सृष्टि होती है। यतः हेतु एक अन्यथानुपपन्नरूप ही है, अतः उसके अभाव में मूलतः एक ही हेत्वाभास मान्य है और वह है अन्यथा उपपन्नत्व अर्थात् अकिञ्चित्कर। असिद्धादि उसी का विस्तार है। इस प्रकार अकलङ्क के द्वारा 'अकिञ्चित्कर' नाम के नये हेत्वाभास की परिकल्पना उनकी अन्यतम उपलब्धि है।

बालप्रयोगाभास—माणिक्यनन्दि ने आभासों का विचार करते हुए अनुमानाभास सन्दर्भ में एक 'बाल-प्रयोगाभाम' नाम के नये अनुमानाभास का चर्चा प्रस्तुत की है। इस प्रयोगाभास का तात्पर्य यह है कि जिस मन्द-प्रज्ञ को समझाने के लिए तीन अवयवों की आवश्यकता है उसके लिए दो ही अवयवों का प्रयोग करना, जिसे चार की आवश्यकता है उसे तीन और जिसे पाँच की जरूरत है उसे चार का ही प्रयोग करना अथवा विपरीत क्रम से अवयवों का कथन करना बालप्रयोगाभास है और इस तरह वे चार (द्वि-अवयवप्रयोगाभास, त्रि-अवयव-प्रयोगाभास, चतुर्अवयवप्रयोगाभास और विपरीतावयव-प्रयोगाभास) सम्भव हैं। माणिक्यनन्दि से पूर्व इनका कथन दृष्टिगोचर नहीं होता। अतः इसके पुरस्कर्ता माणिक्यनन्दि प्रतीत होते हैं।

[शेष पृष्ठ २२० पर]

अपभ्रंश शब्दों का अर्थ-विचार

डा० वेवेन्द्रकुमार शास्त्री

पहले अपभ्रंश को प्राकृत से भिन्न नहीं समझा जाता था। आज भी कई विद्वान् प्राकृत शब्दकोश से अपभ्रंश का शब्द-भण्डार भिन्न नहीं मानते। किन्तु वास्तविकता यह है कि जब तक अपभ्रंश का विशाल शब्द-भण्डार एक शब्दकोश के रूप में सकलित तथा निर्णीत होकर सामने नहीं आता तब तक अपभ्रंश का वास्तविक मूल्यांकन नहीं हो सकता। कतिपय ऐसे शब्दों का अर्थ-विचार संक्षेप में प्रस्तुत है जो प्राकृत ग्रन्थों के अर्थ से भिन्न है—
णाहल

इस शब्द का अर्थ 'पाइअसद्महणव' में इस प्रकार लिखा हुआ है—णाहल पृ० (लाहल) म्लेच्छ की एक जाति (पृ० ३८७)। सम्भवतः इसी अर्थ को ध्यान में रख कर वीर कवि विरचित 'जबूसामिचरिउ' की निम्नलिखित पंक्ति में 'नाहल' का अर्थ म्लेच्छ किया गया है।

कहि मि पडभरियखलखलियजलवाहला कसणतणुनाहला।

५. ८. २१

—कही खल-खल करके भरते हुए जल के छोटे-छोटे प्रवाह थे, और कही बाले शरीर वाले म्लेच्छ थे।

प्रसंगतः यह विन्ध्याटवी का वर्णन है। इस में बतलाया गया है कि कही गिरिमेखला पर गज व ऋद्ध सिंह गर्जन कर रहे थे। कही शस्त्रों से आहत बाघों की चिंघाड़ से अटवी गूँज रही थी और कही नील गाय विदीर्ण कर दी गयी थी। कही घुरघुराने हुए वनैले सुग्रहों की दाढ़ों से उखाड़े हुए कन्द सूख रहे थे। कही हुंकारा भरते हुए शक्तिशाली महिषों के सींगों से आहत हुए वृक्ष गिर गये थे। कही लम्बी चीत्कारें छोड़ते हुए बन्दर दौड़ रहे थे। कही घू-घू करते हुए सैकड़ों उल्लुओं की आवाज से रुष्ट हुए कौवे काँव काँव कर रहे थे। कही खन खन करते

हुए जलभरित भरने थे, और कहीं काले (चितकबरे) नाहल—चीने थे।

'महापुराण' में 'णाहल' शब्द का प्रयोग निम्नलिखित रूप में हुआ है—

**कथइ झरझरियइं णिअरहं कथइ जलभरियइं कंवरइं।
कथइ धीणियवेल्लीहलइं विट्ठइ मज्जंतइं णाहलइं।**

१५. १. ८-९

यह भी सिन्धसर के सघन वन के वर्णन के प्रसंग में वर्णित है। घनी अटवी का वर्णन इस प्रकार है—

कही पर भर-भर कर भरने बह रहे थे, और कही पर कन्दराओं में जल भर गया था। कही पर बिम्बीफल भूम रहे थे। भागते हुए णाहल—चीते दिखाई पड़ रहे थे। कही पर पर हिरन छलांगे भर रहे थे।.....

इस प्रकार उक्त दोनों स्थलों पर 'नाहल' तथा 'णाहल' शब्द का प्रयोग चीते अर्थ में हुआ है। किन्तु 'पाइअ-मद्द-महणव' में म्लेच्छ अर्थ—सम्भवतः प्राकृत साहित्य की किसी पहाड़ी जाति के लिए आगत जान पड़ता है। महापुराण के टिप्पण में श्री प्रभाचन्द्र ने 'शबर' अर्थ लिखा है। उक्त पंक्ति के टिप्पण में अंकित है—

णाहलइं शबराः (महापुराण १५. ११. ९)

किन्तु यह विचारणीय है कि वन-पशुओं के वर्णन के प्रसंग में शबर कहा से आ गया? उक्त दोनों ही उद्धरण इतने स्पष्ट एवं स्फीन है कि मरिता के तट पर सघन वन की जो स्वाभाविक सुषमा होती है उसे ही प्रकट करने वाले हैं। वन-पशुओं के प्रसंग में 'णाहल' का अर्थ व्याघ्र या चीता उपयुक्त प्रतीत होता है। पृष्पदन्त के महा-पुराण में एक अन्य स्थल पर भी इसका प्रयोग मिलता है—

१. जबूसामिचरिउ : सम्पा० अनु० डॉ० विमलप्रकाश जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी।

२. महापुराण : सम्पा० डॉ० पी० एल० बेंद्य, मार्णिक-चन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई।

उड़डाबियाई कोइलकुलई भयतसियई रसियइ एाहलई ।

१३. ११. ६

प्रसंग है—राजा भारत दिग्विजय के हेतु मालवा होते हुए दक्षिण के देशों पर भी अपना प्रभुत्व स्थापित करते हुए विजयाद्वय पर्वत के निकट पहुँच गये। वहाँ पर गुफा के द्वार से दूर डेरा डाला। राजा की पडंग सेना ने वहाँ आवास किया। वहाँ के सरोवर भँसों के भूण्डों से मदिल हो कीचड़ युक्त दिखलाई पड़ रहे थे। पके हुए फलों का स्वाद लिया जा रहा था, शादल (हरी-हरी घास) काटी जा रही थी। उड़ाया हुआ कोकिल वृन्द भय से त्रसित था। णाहल—चीते दहाड़ रहे थे। सैकड़ों भूण्डों में दसों दिशाओं में चिंघाड़ते हुए हाथी इधर-उधर घूमते फिर रहे थे।

इन प्रसंगों को ध्यान से देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि नाहल या णाहण का अर्थ शबर या म्लेच्छ न होकर बाघ या चीता है। पुष्पदन्त के प्रभाचन्द्र के टिप्पण के अतिरिक्त एक टीका और मिली है, जिसमें णाहल का अर्थ व्याघ्र किया गया है जो उचित है। शब्द के विकास का दृष्टि से भी देखें तो यह शब्द इस प्रकार है—

णाहल—णाहर—नाहर

आज भी नाहर शब्द एक विशेष प्रकार के बाघ के अर्थ में देश के कई भागों में प्रचलित है। अतएव मेरी दृष्टि में 'णाहल' का अर्थ चीता होना चाहिए। यद्यपि प्राकृत के सबसे बृहत् कोश 'अभिधान राजेन्द्र कोष' में णाहल का अर्थ म्लेच्छ विशेष है, किन्तु मूल में वह 'लाहल' शब्द है। कहा गया है—

णाहल—लाहल न० । लाहललाङ्गललाङ्गूले वा वेणः ८।१।२५६ इत्यादौलस्य वा णः । म्लेच्छविशेषे ।—(अभि० को० पृ० २०१६) णाहल शब्द 'णाह' से व्युत्पन्न हुआ है और उसका अर्थ वन का स्वामी नाहर तथा जम्बूस्वामीचरित के सन्दर्भ के अनुसार चीता है।

कल्होण

यह शब्द वीर कवि विरचित जंबूसामीचरित में मिलता है। इसका प्रयोग इस प्रकार हुआ है—

कल्होडवइल्ले जायरेल्लु संघाडुल्लालिड गयड तेल्लु ।

५. ७. २३

इसका का अर्थ किया गया है—दुष्ट बैल के द्वारा (तेलवाहक बैलों की) जोड़ी को लात मार देने से तेल नष्ट हो गया।

इस अर्थ में दुष्ट बैल के साथ जुड़ा हुआ दुष्ट विशेषण अर्थ की दृष्टि से ठीक नहीं है। क्योंकि 'कल्होड' का अर्थ दुष्ट नहीं है। डॉ० विमलप्रकाश जैन ने अनुवाद करते समय 'दुष्ट' अर्थ किया, पर शब्द-कोष के अन्तर्गत लिखा है—

कल्होड (वि०)—वत्सतर, बछड़ा (जबूसामि पृ० ३०४)

यह स्पष्ट है कि उक्त 'कल्होड' शब्द का प्रयोग विशेषण के रूप में हुआ है, किन्तु यहाँ उसका अर्थ दुष्ट या बछड़ा नहीं है। वत्सतर का अर्थ संस्कृतकोशों में क्षुद्र वत्स है परन्तु क्षुद्र वत्स का अर्थ दुष्ट नहीं होता। वाचस्पत्य कोश में इसका विवरण इस प्रकार है—

वत्सतर पुं. स्त्री क्षुद्र वत्स. अल्पवत्से तरप् । क्षुद्रवत्से । अप्राप्तवमनकाले गवादी अमरः स्त्रियां डीप् । वत्सतरी (पृ० ४८४४)

वस्तुतः 'कल्होड' शब्द देशी है। इसलिए प्राकृत के शब्दकोशों में नहीं मिलता। पाइग्रसद्दमहणव में देशी-नाममाला से संकलित किया गया है। उसमें इसका वत्स-तर अर्थ ही किया गया है—

कल्होडो वच्छयरे बगम्मि कंडूरकाउल्ला ।—देशी ४, ३२६

'वत्सतर' का अर्थ क्षुद्र वत्स न होकर जवान बछड़ा है। और इससे भी स्पष्ट अर्थ है—गाड़ी, हल आदि में जोतने योग्य बैल। अभिधानचिन्तामणि में यही अर्थ है—वत्सः शकृत्करिस्तर्णो वम्यवत्सतरी समी । ४, ३२६

अल्पावस्था वाले बछड़ा-बाँछियों को वत्स, शकृत्करि तथा तर्ण कहने हैं तथा जुतने योग्य बैल को वम्य और वत्सतर कहने हैं। अतएव यहाँ कल्होड का अर्थ जोतने योग्य बैल है; दुष्ट बैल नहीं। अधिक से अधिक हम उन्हें युवा बैल कह सकते हैं। इस अर्थ की पुष्टि गोस्वामी तुलसीदास की शब्दावली से भी होती है, कवितावली की पंक्तियाँ हैं—

सोहै सितासित को मिलिबो,
तुलसी हुलसै हिय हेरि हलारे ।

मानों हरे तून चार चरे,
बगरे सुरघेनु के धोल कलोरे ॥ १४४ ॥

उक्त कलोरे शब्द जवान बछड़े के लिए प्रयुक्त हुआ है। शब्द के विकास की दृष्टि से कलोग शब्द कल्होड का विकसित रूप है—

कल्होड—कल्लोड—कलोड—कलोर

पिल्लिक्खणि

यह शब्द करकण्डचरिउ^१ में मिलता है—

पिल्लिक्खणि फेंफरि उंबरी वि
जो वज्जइ इह पंचुंबरी वि । ६. २१. ५

‘पिल्लिक्खणि’ एक शब्द है; न कि दो। सम्पादक ने इसे दो शब्दों के रूप में विश्लेषित किया है, जिससे अर्थ में विसंगति आ गई है। इसका अर्थ उस प्रकार किया है—‘फिर जो कोई मद्य, मांस, मधु और पाच उदुम्बरो को छोड़ता है (वह श्रावक है)।’

यह गृहस्थ के आठ मूलगुणों का प्रसंग है। सामान्यतः मद्य, मांस, मधु और पाच उदुम्बरा (बड़, पीपर, पाकर, ऊमर और कठूमर) के त्याग को अष्ट मूलगुण कहा गया है—

मद्यमांसमधुत्यागः सहोदुम्बरपञ्चकैः ।

अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमः ॥

अतएव उक्त प्रसंग में णावणिथाइ तथा पिल्लिक्खणि का नवनीत और पिल्लो, खिरनी अर्थ उचित नहीं है। पिल्लिक्खणि एक शब्द है और इसका अर्थ पिल्लन है। पिल्लन पाकर के पेड़ को कहते हैं। संस्कृत में इसे प्लक्ष, पर्कटी और जटी भी कहते हैं। पिल्लन शब्द प्लक्षिन् का विकसित रूप जान पड़ता है। आज भी पिल्लन शब्द पाकर के लिए प्रचलित है। फिर, क्खणि का खिरनी अर्थ अपभ्रंश के किसी काव्य में नहीं मिलता। इसलिए पिल्लिक्खणि का पाकर अर्थ समुचित प्रतीत होता है। उदुम्बरी का अर्थ यहां गूलर है। और फेंफरी का अर्थ संभवतया जघनफल अर्थात् कठूमर।

कतिपय टिप्पणों के अर्थ पर विचार
अहिट्ठिय

पउमचरिउ^२ में इस शब्द का प्रयोग मिलता है—

जोइस भवणन्तरेहिं अहिट्ठिय । २. १. ४

इसके टिप्पण में ‘हृषित’ अर्थ किया गया है।

यह शब्द संस्कृत के अहिष्ठित से विकसित हुआ है। अधिपूर्वक स्था धातु से अधिष्ठान और अधिष्ठित निष्पन्न होते हैं। जंबूसामिचरिउ में कई स्थानों पर तथा महापुराण में कई स्थलों पर यह शब्द प्रयुक्त है। इसके विभिन्न अर्थगत प्रयोगों पर विचार कर लेना सगतिपूर्ण होगा। पुष्पदन्त के महापुराण में एक स्थल पर इसका अर्थ सहित किया गया है—

अहिट्ठियउ सहितम्. म० पु० १५. २१. ६ ।

जंबूसामिचरिउ में अधिष्ठित अर्थ में प्रयोग हुआ है—

जहिं देसि न दिट्ठउ ताउ अहिट्ठिउ तहिं उज्जलउ-
सुवण्णु जइ । ४. १३. १६

अन्य स्थलों पर भी इसी अर्थ में प्रयोग परिलक्षित होता है।

पाइअसद्महणव में भी यह अर्थ दिया हुआ है। अतएव अहिट्ठिय का अर्थ अधिष्ठित है; हृषित नहीं। यदि ‘अहिहट्ठिय’ शब्द होता तो अत्यन्त हर्ष अर्थ हो सकता था। क्योंकि संस्कृत के ‘हृष्ट’ के लिए ‘हट्ठ’ शब्द मिलता है। इसलिए या तो ‘हिट्ठिय’ प्रयोग हागा, अन्यथा अहिहट्ठिय।

अर्द्धमागधी काश में भी अहिट्ठिय शब्द का अर्थ अधिष्ठित है। इस प्रकार व्युत्पत्ति तथा शब्द-प्रयोग एव कोशगत अर्थ की दृष्टि से अधिष्ठित अर्थ ही मान्य होगा।
वडिडउ

टिप्पणगत अर्थों के सन्दर्भ में पउमचरिउ के एक प्रसंग का उल्लेख करना अनुचित न होगा। भोजन का वर्णन करते हुए महाकवि स्वयम्भू कहते हैं—

वडिडउ भोयणु भोयण-सेज्जए

अच्छए पच्छए लण्हए पेज्जए । ५०. ११. ४

१. करकण्डचरिउ : सम्पा०-अनु० डॉ० हीरालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी।

२. पउमचरिउ : सम्पा० डॉ० एच० सी० भायाणी, सिंधी जैन ग्रन्थमाला, बंबई।

इसका हिन्दी अनुवाद इस प्रकार किया गया है। उन्होंने भोजन की थाली में सुन्दर सूक्ष्म पेय के साथ भोजन परसा।^१

यहाँ पर सर्वप्रथम 'वड्डिउ' शब्द विचारणीय है। टिप्पण में इसका अर्थ 'परोसितः' तथा हिन्दी अनुवाद परसा किया गया है। सामान्य रूप से वड्डिउ का अर्थ वधित-बड़ा हुआ है।

अर्द्धमागधी कोश में वड्डि के तीन अर्थों का उल्लेख मिलता है—उपज; आवज और वृद्धि। पउमचरिउ में कई स्थलों पर इसका प्रयोग हुआ है और अधिकतर स्थानों पर इसका बढ़ा या बढ़ाया हुआ अर्थ लक्षित होता है। उदाहरण के लिए—

बेवासुर-बल सरिसई वड्डिउ हरिसई कंचुय-कवय-विसट्टइ।

४. ७. १०

अभिभट्टइ वड्डिउ कलयलाई, भरहेसर बाहुवली बलाई।

४. ८. १

एक अन्य स्थल पर 'वड्डिविय' का प्रयोग भी मिलता है।

अरे पुतहो णउ पडिरक्ख किय जं लालिय पालिय वड्डिविय।

६. १०. ६

किन्तु एक स्थान पर उक्त शब्द स्पष्ट रूप से बढ़िया या उत्तम अर्थ में प्रयुक्त हुआ है—

विहि मि राम-रामण-वलहुं एक्कु वि वड्डिमउ ण दोसइ।

४५. २. ६

यहाँ पर 'वड्डिमउ' शब्द का अर्थ वृद्धिमान् या बढ़िया है।

बड़ा हुआ—वड्डिउ—आगे चल कर बढ़िया हो गया। इसका सबसे स्पष्ट प्रयोग उपर्युक्त सदर्थ में हुआ है, जहाँ 'वड्डिउ' का अर्थ परोसा न होकर बढ़िया है, जो भोजन का विशेषण है। अतएव अर्थ होगा—भोजन के लिए बढ़िया भोजन सिद्ध किया गया (पकाया गया)। स्वच्छ पथ्य तथा चिकने पेय तैयार किए गए। 'लण्ह' का अर्थ सूक्ष्म न होकर चिकना है।

१. पउमचरिउ, भाग १ : सम्पा०-अनु० डॉ० देवेन्द्र-कुमार जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी।

धूमवत्ति

पउमचरिउ के उपर्युक्त सन्दर्भ में ही एक पंक्ति इस प्रकार है—

विजणेहि स-महिय-वहि-सीरेहि सिहरिणी-धूमवत्तिसीवीरहि।

५०. ११. १३

यहाँ टिप्पणों के आधार पर 'सिहरिणि' का अर्थ बघारा हुआ तथा 'धूमवत्ति' का अर्थ कांजी किया गया है, जो गलत है। धूमवत्ति का अर्थ हींग में बघारा हुआ है।^१ सीवीर

उपर्युक्त पंक्ति में आये सीवीर का अर्थ कांजी है। डॉ० हीगलाल जैन ने 'णायकुमारचरिउ' के शब्द-कोश में सउत्रीर-सीवीर (बटर-मिक्क, पाइअलच्छी० २६८) का अर्थ मट्ठ, तक्र किया है जो गलत है। (दे० पृ० १६७)। पाइअलच्छी का पाठ है—

सीवीरं आरनालं, नेहो पिम्मं रसोय अणुरागो।

आरनाल का तथा सीवीर का अर्थ सभी संस्कृत तथा प्राकृत कोशों में 'कांजी' है।

काज्जिकं काज्जिकं धान्याम्लारनाले तुषोदकम् ॥

महारसं सुषीराम्लं सीवीरं म्क्षणं पुनः ॥

—अभिधानचिन्तामणि, ३, ७६-८०

इसी प्रकार के अन्य टिप्पण भी हैं जिनके कारण कहीं-कहीं अर्थ का अनर्थ हो गया है।

उदाहरण के लिए पउमचरिउ के कतिपय टिप्पण इस प्रकार है—

मालूर

हे मालूर-पवर-पीवर-थणे कुबलय-वल-पफुल्लिय-लोअणे।

३१-१-६

मालूर का अर्थ टिप्पण में 'बिम्बफल इव' दिया हुआ है किन्तु यह अर्थ गलत है। स्तन की उपमा बिम्बफल से नहीं दी जाती। स्तन के लिए प्रायः बेल उपमान प्रयुक्त किया गया है। अतएव मालूर के कोशगत कथं तथा बेल

२. सम्भवतया यह टिप्पण की भूल संख्या क्रम बदल जाने से हुई है। ३ सिहरिणि की संख्या ३ धूमवत्ति की होनी चाहिए और ४ धूमवत्ति की संख्या ४ सीवीर की होनी चाहिए।

फल इन दो अर्थों में से बेल का फल ही ग्रहण करना चाहिए। और यहाँ स्पष्ट रूप से मालूर का अर्थ बेल का फल है। एक अन्य स्थल (४.३२.२) पर मालूर का अर्थ टिप्पण में भी बिल्वफलवत् लिखा हुआ मिलता है।^१

टालिउ

टिप्पणी में इसका अर्थ शतखण्ड लिखा हुआ मिलता है। परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है। पउमचरिउ की पक्ति है—

केण पण्डजणु वद्ध पडेण मेरु महागिरि टालिउ केण ।

३१.६.८

इस पंक्ति का अर्थ है—वस्त्र से प्रभजन (पवन) को कौन बांध सकता है और सुमेरु पर्वत को कौन हटा सकता है।

एक अन्य स्थल पर भी सुमेरु को हटाने के अर्थ में 'टालिउ' शब्द का प्रयोग मिलता है। देखिए—

मेरु वि टालिउ वद्धामरिसु तहो अण्णु णराहिउ तिणुसरिसु ।

पउमचरिउ के शब्दकोश में भी 'टाल' का अर्थ हटाना (गुजराती टालवु) है। अतएव हटाना या खिसकाना अर्थ उचित है।

रङ्गोलइ

पउमचरिउ की एक पंक्ति है—

जो डिण्डीर णियर अन्दोलइ णावइ सो जे हार रङ्गोलइ ।

१४.३.७

इसकी टिप्पणी में 'रङ्गोलइ' का अर्थ 'विलासति' किया गया है। किन्तु रङ्गोलइ शब्द दोलत् का समानार्थी है। अतः इसका अर्थ है—भूलना। प्राकृत के शब्दकोशों में यही अर्थ मिलता है। उक्त पंक्ति में तथा दो अन्य स्थलों पर प्रयुक्त शब्द का भी यही अर्थ है। स्वयं टिप्पणकार ने अन्यत्र यह अर्थ दिया है—

पवल्लय-माला-रङ्गोलिराई मरगय-रिङ्गोलि-पसोहिराई ।

यहाँ 'रङ्गोलिराई' शब्द के टिप्पण में लिखा है—अन्दोलिता (नि)। अतएव रङ्गोल का अर्थ भूलना उचित है। अपभ्रंश के प्रकाशित तथा अप्रकाशित लगभग दस ग्रन्थों में यह शब्द भूलने के अर्थ में मिलता है।

उक्त टिप्पणियों के अतिरिक्त अनेक ऐसे शब्द हैं जो

१. संभवतया पहले टिप्पण में मुद्रण की भूल है। 'ल' के स्थान पर 'र' हो गया है।

प्राकृत शब्दों से अर्थ में भिन्न हैं। यही नहीं, निम्नलिखित ऐसे शब्दों की सूची प्रस्तुत है जो प्राकृत कोशों में लक्षित नहीं होते—

पउमचरिउ

छिन्नर—चपटी (१, २, ११)

चुम्भल—शेखर (१७, १२, २)

जालोलि—ज्वालावली (२, २, ६)

णियासण—निवसन (६, १४, ४)

णियल—निगड (१, ५, ६)

णियच्छिय—निग्रच्छ दृश (१६, ६, ६)

दोर—पशु (२, ७, ३)

णाइसप्प—नैसर्प (४, ६, ६)

जिणाल—जिनालय (६, २, ५)

डोह—क्षोभ (२, १३, ४)

लजिया—दासी (२३, ४, २)

रसय (रसक)—मद्य-भाजन (२६, ७, ६)

सरुजा—वाद्य विशेष (४०, १७, ४)

सोयवत्ति—मिष्टान्न विशेष (५०, ११, ६)

मुसुमूर—चूर्ण, चरन (३८, ६, ५)

टिबिल—दुलकिया, छोटी ढोलक (२४, २, २)

आडोह—विलोडन (२३, ७, १)

खडवक—पर्वत (३१, ३, ६)

ढेक्कार—गर्जना, डकारना दलाकना (२४, १३, ३)

भज्जिय—भाजी, पत्ती वाली शाक (५०, ११, ११)

पत्तिय—पत्नी (४६, २०, ६)

तुणव—भेरी (२६, १४, ३)

जूरवणी—सन्तापदायिनी (४१, ४, ४)

आयल्लिय—पीड़ित (२७, ३, ७)

आहुट्ट—अर्द्ध चतुर्थ (४०, १८, १०)

गत्तल—गतं (४६, ७, ७)

अवलुय—खेद (२०, ११, ४)

घोट्टिउ—घोट डाला (४६, ४, ६)

गिल्ल—हीदा (४६, १३, ७)

वाउलि—पक्षी विशेष (२७, १५, ५)

पाणिय-हारि—पनिहारी (२४, १, ६)

वल—वृषभ, बेल (२७, १७, ३२)

लोणिय—नवनीत, लोनी (३७, १, ५)
 सूडिय—ऋटित, भजित (२४, ७, ५)
 हलुवारय—लघुकतर (३४, १३, १)
 हेवाइय—गवित (५६, १०, ६)
 चिककमइ—जाता है (५६, १४, ४)
 रह—रध्या, मार्ग, गली (५६, १४, ६)
 पारकक—शत्रु जन (५६, १०, ६)
 भंसी—वृक्ष विशेष (५, ८, ७)
जंबूसामिचरिउ
 विउलटल—गठरी (११, ६, ३)
 घार—चील (७, १, १२)
करकंडचरिउ
 णह—स्निग्ध (८, २, ६)
 टेवंत—तेज करना, देना (१०, १६, ८)
 तेइया—पेटिका (१, ७, २)
 फेफरि—फल विशेष (६, २१, ५)
 परिणडिअ—वचित (३, २१, ४)
 हउ—हो (ब्रज), मै (२, ५, ८)
 हिलहिलत—हीसना, हिनहिनाता (३, १३, ४)
 सूय—सून (सस्कृत), पारद (६, ६, ६)
 वल्लत—व्याकुल होना (५, ११, १४)
 लबेल्लि—ललक पूर्वक (८, ७, ८)
महापुराण
 वीसहु—बीभत्स (७, १२, ८)
 अलियल्लि—व्याघ्र (१५, १३, ३)
 डेक्क—दहाड (३, ५, १०)
 तंडउ—टोली, जत्था (१६, २२, ८)
 केया—वरत्रा, हाथी कसने का रस्सा (१२, ११, ५)
 विहुम—भय (१८, २३, १)
 विसभर—कोरी, जुलाहा (३१, १७, १२)
 सल—चिना, शवशयनस्थान (२३, ८, ६)
 सबलहण समालम्भन (विलेपन) (३, ४, ७)
 हेडि—शृङ्खला (७, १३, ८)
 हवाइड—कुपित (३२, २०, ४)
 सेहीर—सिंह (२५, ३, ५)
 भपड—सिंह (१२, १२, ५)

बिलिबिल—बीभत्स (२०, १०, ११,
 प० च० ५४, ११, १)
 खेउं—आलिगन (२६, १६, २)
 डावि—मुद्रिका, अंगुठी (३५, ५, ३)
 णिययणी—रस्सा २५, १८, १२)
 दवट्टि—शीघ्र (२६, ६, ३)
 णेहीर—कुकुम (२५, ६, १२)
 तक्कारि—सारथि (१२, १३, ६)
 तियाउस—भस्म (३७, २२, ६)
 तिडिक्क—स्फुलिंग (३७, २१, १०)
 तालवट्ट—पुच्छ (३४, १०, १५)
 सूय—श्री (३४, १, ६)
 वट्टप—अतिशय, अत्यन्त (३२, १६, १३)
 लूया—कोरी, जुलाहा (३१, १०, ६)
 तोतडिल्ल—मिश्रित (२८, १, ५)
 चंचेल—वक्त्र, डेढ़ा (२३, ४, १३)
 मउद मृदंग (२२, ८, ८)
 अउठाण—कायोत्सर्ग (२१, ७, १)
 दुवालि—अन्याय (२०, २४, १०)
 सोणरि—शृङ्गाल (२०, २१, १)
 णिहाउ—समूह (२०, २२, १२)
 कुयल—भूतल (२०, ३, ६)
 तुदाहि—गण्डूपद, केचुआ (७, १, २, ७)
 देट—वृन्त (४, ११, ११)
 पासुय—प्रासुक, शुद्ध (६, ७, ४)
 मेल—अति बृद्ध, बहुत बूढ़ा (२६, २५, १२)
 मल्लारअ—भल, उत्तम (७, १७, ११)
 चोवाण—यष्टि, लाठी (१, १६, १०)
 चेचइय—अलंकृत (३, २, ४)
 चदकव—मयूर, मोर (१३, ७, १०)
 डुंग—समूह (६, २, २७)
 थेम—बिन्दु (३, १४, २०)
 पेल्लावेल्लि—सम्भ्रम (६, १८, १६)
 पालिडय—भंडो (१२, ६, ४)
 दडत्ति—शीघ्र (घड़कन ?) (६, १३, २)
 लाणि—मर्यादा (४, ५, १४)

इस प्रकार के अनेक शब्द महाकवि पुष्पदन्त रचित 'महापुराण' में उपलब्ध है। सम्भव है कि इनमें से कई शब्द 'देशी नाममाला' या 'पाइयलच्छीनाममाला' में समान या भिन्न अर्थ में देखने को मिल जाये, किन्तु अधिकतर शब्द नये टकसाली या भिन्न भाषाओं से आगत हैं। कतिपय शब्द-संस्कृत की काव्य परम्परा से समागत हैं। ऐसे शब्दों की संख्या भी कम नहीं है जो आर्येतर भाषाओं के कहे जाते हैं। विशेष कर महापुराण में ऐसे शब्द प्रचुर हैं, जो द्रविड भाषाओं के हैं। उनमें से कुछ शब्द देशी नाममाला में भी मिलते हैं। प्राकृत बोलचाल की भाषा होने के कारण अनेक देशी प्रवाहों के शब्द सहज ही चिर काल से व्यवहृत होते आ रहे हैं।

महापुराण के अतिरिक्त कई अपभ्रंश के हस्तलिखित तथा अप्रकाशित प्रबन्ध काव्यों में ऐसे शब्द मिलते हैं जो अन्य काव्य-कृतियों में तथा कोशों में नहीं मिलते। ऐसे ही कुछ शब्दों की सूची यहाँ प्रस्तुत है—

सुबंसण चरित (अब प्रकाशित)

मंट (६, ११)	फरिय (५, २१)
गोल्ली (४, ६)	टरटर (८, १६)
खुट्ट (६, ११)	घवघव (३, ७)
ममण (३, ७)	थडा (२, १३)
भडा (२, १३)	रिट्टी कागुली (४, ५)
डेडा (३, ७)	छेरइ-छिनत्ति (६, ११)
घुघुर (३, ७)	सरलइ (४, ६)

जिनदत्तचरित-लाखू

णीउ-नीच (१, ८)	खणखवा-विद्युत् (५, ६)
हीर-अधीर (४, ५)	पायाल-शेष (४, ३)
मल्हाविय-भ्रमित (४, ३)	विच्छिड्ड-निरन्तर (३, ३३)
फर-खेडा, गाव (३, ३१)	सीयर-स्वीकार (३, ३०)
वालुव्वि-भयचकित (३, २७)	कंधर मेघ (३, २५)
वसउ विश्रुत, प्रसिद्ध (३, २५)	तिमिय-मत्स्य (३, २५)
अलयद्-सर्प (१, ११)	उक्कोविय-उद्धाटित (१, १६)
वणफणि-मयूर (२, १५)	भुसुरु ताम्बूल (२, १७)
णिहुवउ-मोन (३, १०)	बरु-श्रेष्ठ (३, १२)

सिद्धकथा-नरसेन

वरटियाल (१, १, १)	जणवाम-जनवासा (१, १२)
सूडर-सूदड़ (१, १०)	लगुण-लगुन (१, १२)
संट (१, १३)	जण-मत (१, १४)
किकाण (१, १५)	पहाड-पहाड (१, २३)
घाड-घाटी (१-२३)	टोपरी-टोपी (१, २६)
टाटर-शिरस्त्राण (१, २६)	वाखर (१, २६)
चाटी (१, ३२)	कचोल-कटोरा (१, ३५)
राणा-राजा (१, ३६)	बिल्लहई-बिललाती (१, ३७)
लूह-लोह, रक्त (१, ४४)	पाछे-पीछे (१, ४४)
णातियउ-नाती (१, ४६)	कबलि-कण्ठ का आभूषण (१, ५४)
कडय-कडा (२, १६)	दमाम-दमामा वाद्य (१, ५४)
छड-है (२-१६)	दडि-वाद्यविशेष (४२, १)

संतिणाहचरित-महिदु

सवील-पक्षिविधेय (१, ६)	दुगालि (१, ७)
विट्टिर-टिटहरी (१, ६)	डुगइव (१, ४)
सप्पर (१, ३)	डोहिय (१, ७)
वरकर (१, ८)	णिभमिउ (२, १६)
भट्टउ (१, १४)	छायाल-छियालीस (३, ११)
चडफड-छटपटाना (२, २०)	

रिट्टणेमिचरित-धवल

ललक (४१, ६)	दट्टर (२३, ६)
डिक्कर (१३, १०)	विट्टल (१३, १२)
पहिली-प्रथम, पहली (१४, १)	लड मनोज ? (१४, ५)
वियाई (१४, ६)	वहल-विमल (१४, १०)
मद्दि (१४, १४)	गागी (१४, १६)
मिम्मु-मृग (१४, १६)	चदोबा-चदोवा (१५, १)
भडारी (१५, ३)	ढोउ (१६, १०)
रडी-विधवा (१५, १०)	माढा (१५, १३)
अल-पशु विशेष, व्याघ्र ? (१३, ६)	
अणुवेक्ख अणुप्रेक्षा, अणुचिन्तन (१५, ४)	
पिछली-पिछली-पिछली (१४, १)	
णइगम-जाति विशेष के देव (१४, ३)	
मोट्टिया 'मोट्टियारण घडियउ वज्जे' (१४, १२)	

अपभ्रंश के कई प्रकाशित काव्यों में भी ऐसे शब्द मिलते हैं जिनके दर्शन प्राकृत-कोशों में नहीं होते। विशेष रूप से 'प्राकृत शब्द-महार्णव' में नहीं पाये जाने वाले शब्दों की तालिका इस प्रकार है :—

करकंडचरिउ

काणि-लज्जा (१, २, ६)
टेवंत-टेना, तेज करना (१०, १६, ८)
णण्ह-स्निग्ध (८, २, ६)
पेइया-पेटिका, पेटो (१, ७, २)
फेफेरि-फल विशेष (६, २१, ५)

जंबूसामिचरिउ

उसं-ओस (१० ७, ६) प्राकृत शब्द में उस्स है।
उच्चेडिय-उच्चाटित, उचटा हुआ (६ ४, ६)
उण्णाह-बाढ (६, १०, १)
उह्म-उपदेश (प्रशस्ति २०)
उह्म-रोमाचिन (१, ८, ३)
उप्पुछिय-ऊपर से पोंछी हुई (१०, १६, ६)
उप्फेरिय सवारी हुई (१०, १६, ६)
उल्लिच्चण-रहट (४, ११, ६)
ओडिय-उठाने वाला (१, ११, ६)
ओडिय-उठाने वाला (१, ११, ८)
ओहालिय-अवलिप्त (६, १०, १३)
कचाइणि-कात्यायनी (५, ८, ३५)
डोह-दोह, अवगाह (४, २१, ३)
तरिया तैराक (१०, ११, ७)
तोर-तुम्हारा (४, १८, १) छत्तीसगढी तोरा, तोला
यगदुग-वाद्य (५, ६, ११)
कच्छडय-कछोटो (५, ७, १३) प्राकृतशब्द. कच्छोटो
घडि-कुण्डल (१०, १६, ४)
नेसणय-वस्त्र (५, ६, ११)
पट्टोल-वस्त्र विशेष (४, ८, ६)
पडुल-पाटल पुष्प (८, १६, ४)
पडा-स्पर्द्धा (१, ११, १३)
पल्लीवण-चोरो के निवास योग्य सघन वन (५, ८, २४)
पारगह-युद्ध (६, १, १२)

पियलि-टीका, तिलक (८, १४, १४)
रसट्ट-रसाढ्य (४, ८, १४)
खुद-एक वाद्य (५, ६, १३)
सलसलिय-सलसलाया, कांसे का शब्द (५, ६, ८)
हूहुय-शंख का शब्द (१, १५, ६)

भविसयत्तकहा

गयारि-गवार (१४, ५, ७)
आभुरीय-दही बडा ? (१२, ३, ६)
खज्जा-खाजा, एक प्रकार का पक्वान्न (१२, ३, ४)
सुहाली-एक प्रकार का पक्वान्न (१२, ३, ४)
हुक्कड ? (२, २, ६)
ढोक्कर आगृध विशेष (२, २, ७)
णिरारिउ-अलग किया हुआ (२, १२, ३)
मंछुडु-शीघ्र (२, १४, ३)

यद्यपि महाकवि धनपाल कृत 'भविसयत्तकहा' के विशिष्ट शब्दों का संकलन 'पाड्य-सद्-महण्व' के द्वितीय संस्करण में किया गया है, फिर भी अनेक शब्द ऐसे हैं जो उसमें आकलित नहीं हो सके हैं। उन सबका उल्लेख करना इस छोटे से निबन्ध में सम्भव नहीं है। इसी प्रकार अपभ्रंश के अन्य अप्रकाशित तथा प्रकाशित काव्यों में अनेक शब्द ऐसे मिलते हैं जो प्राकृत के कोशों में परिलक्षित नहीं होते हैं।

उक्त तथ्यों को ध्यान में रखने पर स्पष्ट हो जाता है कि अपभ्रंश की शब्द-सूची प्राकृत से अभिन्न नहीं है। यद्यपि कहीं कहीं अपभ्रंश शब्दों की बनावट तथा अर्थ समझने के लिए प्राकृत शब्द समूह से बहुत कुछ सहायता मिलती है, किन्तु अपभ्रंश का भुकाव देशी भाषाओं के अधिक निकट होने के कारण इसमें देश्य शब्दों की प्रचुरता है। जो विद्वान् यह कहते हैं कि अपभ्रंश में ६५ प्रतिशत से अधिक शब्द वै ही हैं जो पाड्य-सद्-महण्वों तथा देशी नाममाला आदि में पाये जाते हैं, वे केवल अपभ्रंश के कुछ प्रकाशित तथा परिशिष्ट में सलग्न शब्द-कोशों के आधार पर निर्मित अपनी धारणा प्रकट करते हैं। और जिन विद्वानों का यह मत है कि अपभ्रंश कोश

प्राकृत कोश से भिन्न नहीं हो सकता वे अपभ्रंश के स्व-तन्त्र अस्तित्व को नकारते हुए प्रतीत होते हैं। किन्तु अब भाषा वैज्ञानिक अध्ययन से यह सिद्ध हो चुका है कि प्राकृत तथा अपभ्रंश भिन्न-भिन्न युगों की साहित्यिक भाषाएँ रही हैं। उनकी शब्द तथा पद-रचना में ही नहीं वाक्यों की बनावट तथा शब्द-सम्पदा में भी विशिष्ट अन्तर लक्षित होता है। केवल उच्चारण की भिन्नता से ही नहीं युग की मनोवृत्ति तथा सम्पर्क के कारण अपभ्रंश में जो बहुविध परिवर्तन हुए उसके कई रूप आज भी साहित्य में लक्षित होते हैं। अतएव यह कथन—अपभ्रंश-कोश प्राकृत से भिन्न नहीं हो सकता। क्योंकि अपभ्रंश के बहुत से शब्द प्राकृत में मिलते हैं। जो शब्द सरलता से प्राकृत कोशों में नहीं मिलते वे देश्य वर्ग में परिगणित किये जाते हैं। इस प्रकार एक और अपभ्रंश का शब्द-समूह देशज है और दूसरी ओर आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का—उचित प्रतीत नहीं होता। ऐसे ही विचारों के कारण आज तक किसी अपभ्रंश-कोश का निर्माण नहीं हो सका।

अपभ्रंश की शब्द-संपदा केवल देशज या आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं की नहीं है, उसमें संस्कृत-प्राकृत तथा द्रविड़ भाषाओं के शब्द उसी प्रकार समायें हुए हैं जैसे कि हिन्दी में विविध प्रान्तीय बोलियों के शब्द सहज ही समाविष्ट हैं। स्व० डॉ० वामुदेवशरण अग्रवाल ने सर्व-प्रथम 'अपभ्रंश-कोश' के सम्पादन का कार्य अपने हाथ में लेने का विचार किया था और सम्भवतः कुछ कार्य भी किया था। उन्हीं की प्रेरणा से मैंने सन् १९६४ में प्रथम बार यह प्रयत्न किया था कि ऐसे शब्दों का आकलन किया जाये जो प्राकृत कोशों में तथा संस्कृत के कोशों में नहीं मिलते हैं। ऐसे लगभग एक सहस्र शब्दों का सकलन किया जा चुका है।

विचारणीय यह है कि केवल उन्हीं शब्दों का आकलन किया जाये जो 'प्राकृत-शब्द-महार्णव' में नहीं मिलते या अपभ्रंश भाषा और साहित्य के अध्येता अनुसन्धित्सु का दृष्टि में रखकर एक परिपूर्ण अपभ्रंश कोश का निर्माण किया जाये।

—हिन्दी-विभाग, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, नोमच (मन्वसीर : म० ५८)

[पृष्ठ २११ का शेषांश]

अनुमान में अभिनिबोध मतिज्ञानाभास और श्रुत-रूपता—जैन वाङ्मय में अनुमान को अभिनिबोधमतिज्ञान और श्रुति—दोनों निरूपित किया है। तत्त्वार्थसूत्रकार ने उसे अभिनिबोध कहा है जो मतिज्ञान के पर्यायों में पड़ित है। षट्खण्डागमकार भूतबलि-पुष्पदन्त ने उसे 'हेतुवाद' नाम से उसे व्यवहृत किया है और श्रुत के पर्यायनामों में गिनाया है। यद्यपि इन दोनों कथनों में कुछ विरोध-सा प्रतीत होगा। पर विद्यानन्द ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि तत्त्वार्थसूत्रकार ने स्वार्थानुमान को अभि-

निबोध कहा है, जो वचनात्मक नहीं है और षट्खण्डा-गमकार तथा उनके व्याख्याकार वीरसेन ने परार्थानुमान को श्रुतरूप प्रतिपादित किया है, जो वचनात्मक होता है। विद्यानन्द का यह समन्वयात्मक सूक्ष्म चिन्तन जैन तर्कशास्त्र में एक नया विचार है जो विशेष उल्लेख्य है, इस उपलब्धि का सम्बन्ध विशेषतया जैन ज्ञान-मीमांसा के साथ है।

इस तरह जैन चिन्तकों का अनुमान-सम्बन्धी चिन्तन भारतीय तर्कशास्त्र के लिए कई नये तत्त्व देता है।

—संस्कृत महाविद्यालय, हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

कुवलयमालाकहा में उल्लिखित राजा अवन्ति

प्रो० प्रेम सुमन जैन

राजस्थान में रचित ग्रन्थों के ऐतिहासिक महत्त्व की परम्परा में उद्योतनसूरि द्वारा ७७६ ई० में जालोर में रचित कुवलयमालाकहा प्राकृत भाषा का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है, जो ऐतिहासिक दृष्टि से भी उपयोगी है। यद्यपि यह एक कथा ग्रन्थ है किन्तु प्रसंगवश उद्योतन ने कई ऐतिहासिक तथ्य उद्धाटित किये हैं, जिनसे राजस्थान एवं मालवा के इतिहास पर नवीन प्रकाश पड़ता है।

कुवलयमाला में हाल, देवगुप्त, प्रभजन, दृढवर्मन, जयवर्मन, महेन्द्र, भृगु, अवन्तिवर्धन, श्रीवत्स, विजयनराधिय, अवन्ति, चन्द्रगुप्त, वैरिगुप्त, हरिगुप्त, तोरमाण, श्रीवासराज रणहस्तिन आदि राजाओं के उल्लेख हैं, जिनमें अधिकांश ऐतिहासिक हैं। प्रस्तुत निबन्ध में अवन्ति राजा के सम्बन्ध में विचार किया गया है।

अवन्तिवर्धन अवन्ति

उद्योतन ने कुवलयमाला में विनीता के राजा दृढवर्मन और मालव नरेश (?) के बीच युद्ध होने का संकेत दिया है, जिसमें मालव नरेश का पाँचवर्षीय पुत्र महेन्द्र अपने पिता के हार जाने के कारण दृढवर्मन के समक्ष उपस्थित किया जाता है।^१ कुमार महेन्द्र के कथनानुसार मालव नरेश हरिपुरन्दर, विक्रम जैसा प्रतापी था।^२ उत्तम वंश और कुल वाला था।^३ इससे ज्ञात होता है कि उस समय मालव पर किसी प्रतापी राजा का शासन था। वह कौन था, इसकी पहचान विचारणीय है। आठवीं शदी में मालव (अवन्ति) की राजनैतिक स्थिरता अनिश्चित-सी बनी रही। अतः उद्योतन के समकालीन वहाँ किसका शासन था यह निश्चित करने में थोड़ी कठिनाई है। किन्तु उद्योतन के उल्लेखों के अनुसार ही इस

* राजस्थान इतिहास कांग्रेस के चतुर्थ अधिवेशन, बीकानेर में पठित निबन्ध।

१. देवस्स चैव आणाए तइया मालव णरिद विजयत्य गमो। — कुव०, ६-२३

२. तायस्स हरि पुरदर-विक्कमस्स... — वही, १०-२६

३. महावंश कुल-प्पसूया रायडत्ता — वही, ११-५

समस्या पर विचार किया जा सकता है।

कुवलयमाला में उद्योतन ने अवन्ति नरेश के सम्बन्ध में तीन प्रमुख संदर्भ दिये हैं। प्रथम संदर्भ में उज्जयिनी के राजा की सेना में कोई क्षत्रिय वंश उत्पन्न क्षेत्र भट-नाम का एक ठाकुर रहता था। बाद में उसके पुत्र वीर-भट एवं उसके पुत्र शक्तिभट ने उज्जयिनी के राजा की सेवा की, शक्तिभट क्रोधी स्वभाव का था। एक बार राज्य सभा में शक्तिभट आया। उसने राजा अवन्तिवर्धन को प्रणाम कर अपने स्थान की ओर देखा, जहाँ कोई भूल से पुलिंदराज पुत्र बैठ गया था। शक्तिभट ने उसे न केवल अपने आसन से उठा दिया अपितु इसमें अपना अपमान समझकर उसकी हत्या भी कर दी और वहाँ से भाग गया।^४

इस प्रसंग में 'राइणो अवन्तिवद्धणस्स कय-ईसि-णमो-क्कारो' का उल्लेख अधिक महत्वपूर्ण है। इसका अर्थ हुआ कि उज्जयिनी का राजा अवन्तिवर्धन था, जिसकी सभा में वंश परम्परा से सेवक ठाकुरों का अधिक सम्मान था तथा पुलिंद राजकुमार भी वहाँ उपस्थित रहते थे। यह अवन्तिवर्धन राजा कौन था, अवन्ति के राजनैतिक इतिहास की दृष्टि से यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है?

उद्योतन ने एक दूसरे संदर्भ में उज्जयिनी के राजा का नाम श्रीवत्स कहा है, जो पुरन्दर के समान सत्य और वीर्यशाली था। उसका पुत्र श्रीवर्धन था।^५ सम्भव है उपर्युक्त प्रसंग के अवन्तिवर्धन एवं इस श्रीवर्धन में कोई वशानुगत सम्बन्ध रहा है। उज्जयिनी अथवा मालवा के के साथ अवन्तिवर्धन राजा का सम्बन्ध तत्कालीन

४. तमो राइणो अवन्तिवद्धणस्स कय-ईसि-णमोक्कारो...

पहमो वच्छत्थलाभोए पुलिंदो इमिणा रायउत्तो।

— वही, ५०-३१

५. उज्जयणीपुरी रम्मा (१२४-२८)... तम्मि य पुरवरीए सिरिवच्छो णाम पुरन्दर सम-सत्त-वीरिय-विहवो। तस्स य पुत्तो सिरिवद्धणो णाम।

— वही, १२५-३

इतिहास में नहीं मिलता। किन्तु इससे यह सोचने के लिए आधार प्राप्त होता है कि उद्योतन के थोड़े समय बाद लगभग ८१० ई० में कश्मीर के उत्पलवंश में अवन्ति-वर्धन नाम का एक लोकप्रिय राजा हुआ है।^१ सम्भव है उसका मालवा से उद्योतन के समय में कोई सम्बन्ध रहा है। किन्तु इसकी प्रामाणिकता के लिए अभी अनेक साक्ष्यों की प्रतीक्षा करनी होगी।

अवन्ति नाम के नरेश के सम्बन्ध में उद्योतन द्वारा प्रस्तुत कुवलयमाला का तीसरा उल्लेख अधिक महत्वपूर्ण है। अरुणाभ नगर के राजा कामगजेन्द्र के समक्ष एक चित्रकार अपने चित्र की यथार्थता को प्रामाणिक करते हुए कहता है कि—राजन, उज्जयिनी में अवन्ति नाम का एक राजा है, उसकी पुत्री के सौंदर्य को देखकर ही मैंने यह तदरूप चित्र बनाया है :—

‘उज्जणीए राया अरिथि अवन्ति ति तस्स धूयाए।

वट्ठण इमं रुवं तइउ चिचच विलिहियं एण ॥’

(२३३.१९)

आगे भी अवन्ति की रानी—रणो अवन्तिस्स (३१) तथा ‘अवन्तिणा-दिष्णा तस्स’ (३२-३३) जैसे शब्दों के प्रयोग से यह स्पष्ट हो जाता है कि उज्जयिनी के राजा का नाम अवन्ति था।

कुवलयमाला के उपर्युक्त तीन उल्लेख कई महत्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित करने हैं, जिन पर इतिहासज्ञों को विचार करना आवश्यक है। यथा—

१. मालवा प्रदेश का पूर्ण नाम ‘अवन्ति जनपद’ प्रचलित होने का क्या आधार है? अवन्ति जनपद के अनुसार वहाँ जातियों के नाम यथा—अवन्तिब्रह्मा, स्त्रियो के नाम यथा—अवन्ति, भाषा का नाम यथा—अवन्तिजा तथा निवासियों का नाम यथा—अवन्तिक

१. राजतरंगणी—कल्हण।

२. दृष्टव्य पाणिनीकालीन भारतवर्ष—डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० १०१

३. प्राच्या विदूषकादीना योज्या भाषा अवन्तिजा—
नाट्यशास्त्र।

४. आभीरकावन्तिकोशलाश्च मत्स्याश्च सौराष्ट्र-
विन्ध्यपालाः।

—बरांगचरित, उपाध्ये, ६ अध्याय, १५ श्लोक ३३

आदि तो प्रचलित हुए हैं। किन्तु कहीं ऐसा तो नहीं है कि स्वयं उस जनपद का नाम किसी अवन्ति के राजा के कारण अवन्ति पड़ा हो?

२. मालवा में ६९६ ई० में विनयादित्य राष्ट्रकूट के बाद ७९४ ई० में गोविन्दधारावर्ष तृतीय के शासन के बीच कितने-कितने राजाओं का शासन अवन्ति पर रहा? उनमें से अवन्ति नाम के राजा की पहचान किससे की जा सकती है? जिसका उद्योतन सूरि ने संकेत दिया है?

३. ७८३ ई० में आचार्य जिनसेन द्वारा हरिवंश-पुराण में उल्लिखित ‘पूर्वा श्रीमदवन्तिभूभृति’ का इति-हामज्ञों ने अवतक जो अर्थ लगाया है उस पर उद्योतन के ‘अवन्ति राजा’ के उल्लेख से क्या प्रकाश पड़ता है?

४. तथा गुर्जर प्रतिहार राजा को अवन्ति जनपद का शासक मानने वाले विद्वानों के मत पर उपर्युक्त उल्लेखों का क्या प्रभाव पड़ता है तथा आठवीं सदी में मालवा और राजस्थान के क्या सम्बन्ध थे?

प्रथम प्रश्न के समाधान से सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि ‘अवन्ति जनपद’ का उल्लेख पाणिनी के समय भी होता था। उसके बाद यह नाम निरन्तर प्रयुक्त होता रहा। साहित्य में और यत्रतत्र कला अवशेषों में भी किन्तु इस जनपद विशेष का नाम अवन्ति कैसे पड़ा—इसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं है। पौराणिक विचारधारा है कि प्रत्येक कल्प में यह कुशस्थली देवता, तीर्थ, ओषधि, बीज एवं प्राणियों का अवन (रक्षण) करती है अतः प्राचीन समय से ही अवन्ति नाम से इसकी प्रसिद्धि है।^२ यह प्राचीन समय क्या है? कह पाना कठिन है। किन्तु जहाँ तक रक्षण का प्रसंग है वह किसी प्रतापी प्रजावत्सल राजा के साथ भी हो सकता है। जो राजा वहाँ के निवासियों आदि का भली भाँति रक्षण करता रहा हो बाद में उसी के नाम से इस प्रदेश विशेष का नाम अवन्ति पड़ गया हो। साहित्य में अवन्ति नाम के राजाओं की परम्परा प्राप्त होती है। कालिदास ने

५. पौराणिक अवन्तिका और उसका माहात्म्य—

रामप्रताप त्रिपाठी, —विक्रम स्मृति ग्रन्थ, पृ० ४४३

अवन्तिनाथ,^१ उद्योतन ने अवन्ति एवं अवन्तिवर्धन,^२ जिनसेन के अवन्तिभूभूत का उल्लेख किया हो है।^३ इतिहास में कश्मीर के ९वीं सदी के एक राजा का नाम अवन्तिवर्धन था। अतः किसी राजा का नाम अवन्ति होना आश्चर्य की बात नहीं है। १२वीं सदी में अनहिल के प्रसिद्ध राजा जयसिंह सिद्धराज ने अवन्ति पर विजय प्राप्त कर 'अवन्तिनाथ' उपाधि भी धारण की थी।^४

दूसरे राजा के नाम पर नगर का नाम रखे जाने की परम्परा भी भारत में खोजी जा सकती है। बीकानेर नगर का नाम महाराजा बीकाजी से जुड़ा हुआ है और नगर से पूरे स्टेट को भी बीकानेर स्टेट कहा जाता रहा है। अतः इस सम्भावना पर विचार किया जा सकता है कि किसी अवन्ति नाम के राजा ने उज्जयिनी के सीमावर्ती प्रदेश में विशेष प्रसिद्धि प्राप्त की हो और बाद में उसकी स्मृति में वह प्रदेश विशेष अवन्ति के नाम से जाना जाने लगा हो। पौराणिक मान्यता और साहित्य से इस सम्भावना को बल मिलता है, ऐतिहासिक तथ्य मिलने पर यह बात प्रमाणित भी हो सकती है।

उद्योतन द्वारा उल्लिखित उज्जयिनी के राजा अवन्ति का कोई समय नहीं दिया गया है। किन्तु यदि अवन्ति राजा को उनका समकालीन ही माना जाय तो यह देखना होगा कि इतिहास में किससे पहचान की जा सकती है। अवन्ति जनपद (मालवा) पर ६९६ ई० में विनयादित्य का शासन था, उसके बाद दन्तिदुर्ग राष्ट्रकूट राजा का वहाँ ७५३ ई० में शासन रहा। ७९४ ई० में गोविन्द-धारावर्ष ने नागभट्ट II से अवन्ति का शासन छीन लिया।^५ अतः ७५३ से ७९४ ई० के बीच के समय में नागभट्ट II का अवन्ति में कब शासन रहा यह विचारणीय है। तथा इसी समय क्या कोई अवन्ति नाम का शासन भी रहा ? यह एक खोज का विषय है। मेरे एक मित्र

१. अवन्तिनाथोऽयमुदग्रवाहुर्विशालवक्षास्तनुवृत्तमध्यः।

—रघुवश, ६-३२

२. कुवलयमाला, २३३-१९; १५०, ३१।

३. हरिवंशपुराण, सर्ग ६६, श्लोक ५२।

४. विक्रम स्मृति ग्रन्थ, पृ० ४२७।

—दृष्टव्य

५. बही, भास्कर प्रार.सी. मालेराव का लेख—दृष्टव्य।

श्री प्रकाश परिमल का सुभाव है कि सम्भवतः उद्योतन ने दन्तिदुर्ग को ही अवन्ति समझ लिया है। अथवा लिपिकार ने यह गड़बड़ी पैदा की है। किन्तु कुवलयमाला के स्पष्ट उल्लेखों के सम्दर्भ में यह सुभाव स्वीकार्य नहीं लगता। सम्भवतया मालवा से प्राप्त अवशेषों के अध्ययन से इस पर कुछ प्रकाश पड़ सके।

मालवा का (उज्जयिनी) राजा अवन्ति था, उद्योतन के इस कथन की पुष्टि उनके ठीक ५ वर्ष बाद के आचार्य जिनसेन द्वारा की जाती है। ७८३ ई० में जिनसेन ने हरिवंश पुराण की रचना की। उसमें उन्होंने लिखा है—सात सौ पाच शक सवत में, जबकि उत्तर दिशा का इन्द्रायुध, दक्षिण का कृष्णराज का पुत्र श्रावत्तलभ, पूर्ब दिशा का श्रीमान् अवन्तिराज और पश्चिम दिशा का वत्सराज तथा मौर्यों के अधिमण्डल सौराष्ट्र का वीर जयवराह पालन करता था...तब इस ग्रन्थ की रचना की गयी थी।^६ जिनसेन के इस श्लोक के तीसरे पद 'पूर्वा श्रीमदवन्तिभूभूति नृपेवत्सादिराजोऽपरा' का विद्वानो ने यह अनुमान लगाया कि वत्सराज अवन्ति का राजा था। किन्तु डॉ० दशरथ शर्मा ने अनेक साक्ष्यों के आधार पर इस ग्रंथ का खण्डन किया तथा यह स्थापना है कि वत्सराज पश्चिम प्रदेश का राजा था और पूर्वप्रदेश के राजा का नाम जिनसेन ने लिया नहीं, केवल अवन्तिराज कह दिया है।^७

किन्तु उद्योतन के उपर्युक्त उल्लेखों से यह स्पष्ट हो गया कि उस समय मालवा का राजा कोई अवन्ति नाम का राजा था। अतः जिनसेन ने भी पूर्वदिशा के राजा का नाम छिपाया नहीं अपितु 'अवन्तिभूभूति' उसका असली नाम ही दिया है। जिसका मालवा पर ७७९ ई० से ७८३ ई० तक तो शासन था ही, जिसका इन दोनों आचार्यों—उद्योतन-जिनसेन ने उल्लेख किया है। अतः सम्भवतः दन्तिदुर्ग के बाद मालवा का शासन अवन्तिभूभूति के हाथों

६. शाकेष्वब्दशतेषु सप्तसु दिशं पञ्चोत्तरेषूत्तरां

पानीन्द्रायुषनाम्नि कृष्णनृपजे श्रीवत्तलभे दक्षिणाम्।

पूर्वा श्रीमदवन्तिभूभूति नृपे वत्सादिराजोऽपरा,

सूर्याणामधिमण्डल जयजुते वीरे वराहेऽवन्ति॥ ६६.५२

७. राजस्थान भू व एजेज, पृ० १२९ इत्यादि।

मे रहा हो। उसके बाद नागभट्ट II शासक बना हो तथा उसे हटाकर गोविन्द धारावर्ष ने मालवा पर अपना अधि-कार किया हो।

उद्योतनसूरि द्वारा उल्लिखित उज्जयिनी के राजा अवन्ति की पहचान यशोवर्मन के उत्तराधिकारी अवन्ति-वर्मन से भी की जा सकती है। प्राचीन ग्वालियर राज्य से प्राप्त रनोड अभिलेख से ज्ञात होता है कि अवन्तिवर्मन नाम का एक राजा हुआ है, जो कि शैवधर्म का अनुयायी था^१ तथा मत्तमयूरनाथ (पुरन्दर) का समकालीन था।^२ डॉ० बुद्धप्रकाश ने विस्तृत एवं सूक्ष्म अध्ययन के आधार पर अवन्तिवर्मन का समय ७६२ ई० से ७९७ ई० के मध्य निश्चित किया है।^३ तथा यशोवर्मन के पुत्र ग्राम एवं अवन्तिवर्मन को एक माना है, जिसका ग्वालियर राज्य पर शासन था।^४ अवन्तिवर्मन का पुत्र पुण्डुक था, सम्भवतः जिसे उद्योतनसूरि ने दृढवर्मन कहा है।^५

इस अवन्तिवर्मन से उद्योतन द्वारा उल्लिखित अवन्ति राजा की पहचान करना अधिक उपयुक्त है। क्योंकि इसका समय भी उद्योतन के समय से मिलता-जुलता है

१. एपिग्राफिया इण्डिका, भाग १, पृ० ३५१

२. तत्त्वप्रभावमहनीयतमस्य तस्य शिष्योऽवभवज्जगति मत्तमयूरनाथः।

निःशेषकल्मषमषीमण्डित्य येन सकामितम्परमहो नृपतेरवन्तेः।

—कार्पेस्इन्सक्रिप्शनस् इण्डोकरुम, भाग ४, पृ० २१३, इलोक ४६

३. In any case, it is Patent that this saint lived in the latter half of the eight century and his contemporary Avantivarman flourished at that time.

—ग्रास्पेक्टस् आफ इंडियन कलचर एण्ड सिविलाइजेशन, पृष्ठ ११३-१५

४. It appears that this king (Ama) is the same as Avantivarman, the ruler of the Gwalior region, mentioned above. His real name was Avantivarman and sur-name Ama.

—वही, पृष्ठ ११६

५. वही, पृ० ११६

तथा उसका राज्य भी ग्वालियर स्टेट में था, जो सम्भव है उज्जयिनी तक फैला रहा हो।

उक्त प्रश्नों के इन समाधानों से चौथा प्रश्न कि वत्सराज प्रतिहार अवन्ति का शासक था—यह मान्यता स्वयमेव अर्थहीन हो जाती है! वत्सराज राजस्थान के विभिन्न स्थानों का शासक रहा तथा उसका अवन्ति-जनपद से कोई सम्बन्ध नहीं था—इस विषय में डॉ० दश-रथ शर्मा^६ एवं डॉ० हीरालाल जैन ने सतर्क प्रमाण प्रस्तुत किये हैं, जिनका डॉ० ए० एन० उपाध्ये ने निम्नलिखित शब्दों में अनुमोदन किया है।

I agree with Dr. Dasharatha Sharma and Dr. H. L. Jain that Vatsaraja need not be connected with Avanti the name of the ruler of which is not obviously mentioned by Jinasena."

इस मान्यता को कुवलयमाला के एक प्रसंग से और बल मिलता है। उद्योतन ने वत्सराज की राजधानी जालौर में रहकर कुवलयमालाकहा की रचना की है। वत्सराज उस समय वहाँ का प्रतापी राजा था। उद्योतन ने अनेक देशों के व्यापारियों के रूपरंग एवं स्वभाव का वर्णन करते हुए मालवा के व्यापारियों का वर्णन किया है कि शरीर से काले, ठिगने, क्रोधी, मानी एवं रौद्र स्वभाव वाले मालव 'भाउप भइणी तुम्हे' शादि शब्दों का उच्चारण कर रहे थे।^७ यदि उस समय का वत्सराज का मालवा पर शासन होता तो उसके राज्य में रहने वाला लेखक मालवों के सम्बन्ध में ऐसे शब्द लिखने का साहस न करता। इस वर्णन से तो यह स्पष्ट लगता है कि वत्सराज और मालव राज्य के बीच अच्छे सम्बन्ध नहीं थे, जो तात्कालिक राजनीतिक स्थिति को देखते हुए बहुत स्वाभाविक था।

—जैन कालेज, बीकानेर (राजस्थान)

६. वही, पृ० १२५-२८५।

७. इण्डोइकशन टू कुवलयमालाकहा, डॉ० ए० एन० उपाध्ये, पृ० १०७

८. तणु साम-मउह-देहे-कोवणए माण-जीविणो-रोहें।

'भाउय भइणी तुम्हे' भणिरे ग्रह मालवे दिहुं ॥

—कुव० १५३-६

जैन न्याय की एक अप्रकाशित कृति :

शान्तिवर्णीकृत प्रमेयकण्ठिका

डा० गोकुलचन्द्र जैन, प्राचार्य, एम. ए., पो-एच. डी.

प्रमेयकण्ठिका जैन न्याय की एक लघुकाय किन्तु महत्त्वपूर्ण कृति है। माणिक्यनन्दि कृत परीक्षामुख के प्रथम सूत्र, 'स्वापूर्वाथव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्' को आधार बनाकर इसकी रचना की गई है। लेखक ने ग्रन्थ के मगल श्लोक में कहा है कि परीक्षामुख के प्रथम सूत्र का विवेचन कर रहा हूँ। वास्तव में ग्रन्थ में मात्र इसी सूत्र का विवेचन नहीं है प्रत्युत प्रमाण शास्त्र के सभी प्रमुख विषयों—प्रमाण का लक्षण, प्रमाण का फल, प्रामाण्य, प्रमाण का विषय, सर्वज्ञत्व विचार आदि का संक्षेप में सुव्यवस्थित विवेचन किया गया है। जैन न्याय साहित्य में इस प्रकार का दूसरा उदाहरण न्यायदीपिका है। धर्मभूषण यति ने तत्त्वार्थसूत्र के "प्रमाण-नयैरधिगमः" नामक सूत्र को आधार बनाकर इस की रचना की है तथा संक्षेप में प्रमाण शास्त्र के सभी विषयों को समाहित करने का प्रयत्न किया है।

विषय-विभाग

प्रमेयकण्ठिका पाँच स्तवकों में विभाजित है। विषय वस्तु के साथ वे इस प्रकार हैं—

१. प्रथम स्तवक में प्रमाण का सामान्य लक्षण, प्रमाण और फल का परस्पर सम्बन्ध तथा कथञ्चित् उनके भेदाभेद का प्रतिपादन किया गया है।
२. द्वितीय स्तवक में क्रमशः नैयायिक, माख्य, प्रभाकर, भाट्ट तथा बौद्ध सम्मत प्रमाण लक्षणों का विवेचन और उनकी समीक्षा प्रस्तुत की गई है।
३. तृतीय स्तवक में प्रामाण्य की श्रुति तथा उत्पत्ति के विषय में दर्शनान्तर सम्मत विचारधाराओं की समीक्षा करके जैन दृष्टि का प्रतिपादन किया गया है।
४. चतुर्थ स्तवक में बताया गया है कि प्रमाण का

विषय सप्तभंगी रूप है। संक्षेप में इसका विवेचन किया गया है।

५. पाचवें स्तवक में विस्तार के साथ जगत्कर्तृत्ववाद की समीक्षा करके सर्वज्ञमिद्धि का प्रतिपादन किया गया है।

ग्रन्थकार ने प्रत्येक स्तवक तथा ग्रन्थ के अन्त में इसका नाम प्रमेयकण्ठिका दिया है। कठिका गले में पहनने का एक विशिष्ट आभूषण होता है। जिस प्रकार कठ की शोभा कठिका से और अधिक बढ़ जाती है, उसी प्रकार प्रमेयकण्ठिका से प्रमाणशास्त्र की श्रीवृद्धि होगी। प्रमेयकण्ठिका में जितना विषय है, उतना तो प्रमाण शास्त्र के अध्येता के गले में रखा रहना चाहिए—उसे कठाग्र रहना चाहिए। कठिका समृद्धि की प्रतीक है, प्रमेयकण्ठिका विद्वत्ता की।

प्रमेयकण्ठिका की भाषा सरल संस्कृत है। पूरे ग्रन्थ में मगलाचरण तथा अन्त के चार पद्यों के अतिरिक्त शेष भाग गद्य में है। शैली अन्य न्याय ग्रन्थों जैसी होते हुई भी सरस और प्रवाहमयी है। ग्रन्थकार ने न्याय जैसे दुरूह विषय को भी हृदयग्राही शैली में प्रस्तुत किया है।

प्रमेयकण्ठिका का मैंने सर्वप्रथम सम्पादन किया है। इसका प्रकाशन शीघ्र होगा।

यह संस्करण निम्नलिखित दो हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर तैयार किया गया है—

अ—यह प्रति श्री जैन सिद्धान्त भवन, आरा (बिहार) की है। इसमें सफेद कागज पर लिखे ८ $\frac{3}{4}$ " × ६ $\frac{1}{2}$ " आकार के ३८ पत्र हैं। प्रत्येक पत्र में दोनों

१. इसी प्रकार के कागज पर लिखे किसी अन्य न्याय ग्रन्थ के आठ पत्र भी इसी बस्ते में भूल से रख दिये गये लगते हैं, जिन्हें इसी ग्रन्थ का समझ लिया गया।

और मिलाकर २२ पंक्तियां तथा प्रति पंक्ति २१ अक्षर है। प्रतिलिपिकार ने प्रतिलिपि करने का विवरण इस प्रकार दिया है—

“कोधनसवत्सरे माघमासे कृष्णचतुर्दश्यां विजयचन्त्रेण जैनक्षत्रियेण श्रीशान्तिवर्णिबिरचिता प्रमेयकण्ठिका लिखित्वा समापता। भद्रं भूयात्। वर्षतां जिनशासनम् ॥”

यह प्रतिलिपि किस मूल प्रति से की गई है, इसकी जानकारी न तो इस प्रतिलिपि से प्राप्त होती है और न ही किसी अन्य स्रोत से पता लग सका। अक्षरों की बनावट साधारणतया स्पष्ट होती हुए भी ग्रन्थ बहुत अशुद्ध है। प्रस्तुत संस्करण में इस प्रति के पाठान्तर अ सकेत के साथ पाद टिप्पण में दिये गए हैं।

ब—यह प्रति श्री ऐलक पन्नालाल सरस्वतीभवन, व्यावर (राजस्थान) की है। इसमें ११ १/२" × ६ १/२" आकार के सफेद कागज पर लिखे १८ पत्र हैं। पहला पत्र एक और लिखा गया है। प्रत्येक पत्र में दोनों और मिलाकर २२ पंक्तियां तथा प्रत्येक पंक्ति में पचास के लगभग अक्षर हैं। प्रतिलिपि का विवरण इस प्रकार दिया है—

“मिति पौष सुदी १२ सवत् १६६१ ह० पं० ठाकुर-दास चौबे मुकाम चन्देरी।”

यह प्रतिलिपि किस मूल प्रति से की गयी है, इसका पता नहीं चलता। आरा की प्रति की अपेक्षा यह शुद्ध है, किन्तु पूर्णरूप से शुद्ध नहीं है। इस प्रति के पाठान्तर अ सकेत के साथ पाद टिप्पण में दिये गए हैं।

उपर्युक्त दोनों प्रतियों के आधार पर पाठ संशोधन किया गया है। यदि अधिक प्राचीन और शुद्ध प्रति उपलब्ध होती तो सम्पादन में विशेष उपयोगी होती। इन दोनों प्रतिलिपियों के तुलनात्मक अध्ययन से प्रतीत होता है कि प्रतिलिपियां अलग-अलग मूलप्रतियों से की गयी हैं। आरा की प्रति श्री नेमिचन्द्र जैन तथा व्यावर की प्रति प० हीरालाल सिद्धान्तशास्त्री के भोजन्य से प्राप्त हुई थी। इसके लिए दोनों का आभारी हूँ।

विषय वस्तु के अनुसार पांच स्तवकों की सामग्री को मैंने एक सौ छब्बीस पेरामाफों में विभाजित किया है।

विषय विवेचन

प्रमाण-लक्षण विचार

प्रमाण का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—प्रतीयते येन तत् प्रमाणम् अर्थात् जिसके द्वारा पदार्थों का ज्ञान हो, वह प्रमाण है। सभी भारतीय दार्शनिकों ने प्रमाण की यह सामान्य परिभाषा स्वीकार की है।

प्रमाण से वस्तु के वास्तविक स्वरूप का बोध होता है। तदनुसार हेय, उपादेय और उपेक्षणीय अर्थों में यथानुरूप प्रवृत्ति, निवृत्ति और उपेक्षा होती है। यही प्रमाण शास्त्र की महत्ता और उपयोगिता का प्रमुख कारण है।

भारतीय चिन्तन में प्रमाणशास्त्र के विकास की एक दीर्घकालीन परम्परा है। वेदों को स्वतः प्रमाण मानने वाले मीमांसक, ईश्वर का जगत का कर्ता मानने वाले नैयायिक, प्रकृति और पुरुष को सृष्टि का कारण और मूल तत्त्व मानने वाले सांख्य, सत्ता मात्र को क्षाणिक मानने वाले बौद्ध तथा अनेकान्तवाद के सिद्धान्त को मानने वाले जैनों की सुदीर्घ चिन्तन परम्परा, विचारों के पारस्परिक आदान-प्रदान एवं घात-प्रतिघात से प्रमाणशास्त्र का पर्याप्त विकास हुआ है और प्रत्येक चिन्तन पद्धति के अनेक विशिष्ट ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। उन्हीं के आलोचकों में यहाँ विचार किया जायगा।

न्याय-वशेषिक

कणाद का प्रमाण-लक्षण

तात्त्विक परम्परा के उपलब्ध इतिहास में कणाद का स्थान प्रथम है। उन्होंने प्रमाण सामान्य का लक्षण इस प्रकार दिया है—

“अनुष्ट विद्या।” ६.२.१२

अर्थात् निदुष्ट विद्या को प्रमाण कहते हैं। प्रमाण का यह लक्षण कारण शुद्धिमूलक है।

गौतम का प्रमाण-लक्षण

अक्षपाद गौतम का न्यायसूत्र प्रमाणशास्त्र का एक प्राचीन ग्रन्थ है। इसमें प्रमाण सामान्य का लक्षण नहीं है। न्याय भाष्यकार वात्स्यायन ने इस कमी को प्रमाण शब्द के निर्वाचन द्वारा इस प्रकार पूरा किया है—

‘उपलब्धिसाधनानि प्रमाणानि इति समाख्याननिर्वाचन—

सामर्थ्यात् बोद्धव्यं प्रमीयते अनेन इति करणार्थाभिधानो हि प्रमाणशब्दः ।” —न्यायभा० १.१.३

इस लक्षण में कणाद की तरह कारण शुद्धि पर ध्यान न रखकर मात्र उपलब्धि रूप फल की ओर दृष्टि रखी गयी है ।

वाचस्पति मिश्र

वाचस्पति ने वात्स्यायन के उपर्युक्त निर्वचन मूलक प्रमाण-लक्षण में आने वाले दोषों का परिहार करते हुए ‘अर्थ’ पद का सम्बन्ध जोड़ कर प्रमाण लक्षण को इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

“उपलब्धिमात्रस्य अर्थान्वयिभचारिणः स्मृतेरन्यस्य प्रमाणशब्देन अभिधानात् ।” —तात्पर्य०, पृ० २१ उदयनाचार्य

उदयनाचार्य ने उपर्युक्त लक्षण को ‘गौतमनयसम्मत’ कह कर इस रूप में प्रस्तुत किया है—

“अर्थार्थानुभवो मानमनपेक्षतयेष्यते ।

मितिः सम्यक् परिच्छितिः तद्वत्ता च प्रमातृता ।

तदयोग्यव्यवच्छेदः प्रामाण्यं गौतमे मते ।”

—न्यायकुसु० ४. १. ५

बाद के सभी न्याय-वैशेषिक ग्रन्थों में प्रमाण की यह परिभाषा समान रूप से मान्य है । इस परिभाषा के निष्कर्ष रूप में प्रमाण-सामान्य के लक्षण में मुख्यतया निम्नलिखित बातें ध्यान देने योग्य हैं—

१. कारणदोष के निवारण द्वारा कारणशुद्धि को सूचना ।

२. विषयबोधक अर्थपद का लक्षण में प्रवेश ।

मीमांसक

प्रभाकर और उनके मतानुयायी मीमांसक विद्वानों ने अनुभूति को प्रमाण माना है—

“अनुभूतिश्च नः प्रमाणम् ।” —बृहती १. १. ५

कुमारिल तथा उनकी परम्परा वाले अन्य मीमांसकों ने यह लक्षण माना है—

“अनुपत्तिकगिरा दोषः कारणस्य निवार्यते ।

अबाधो व्यतिरेकेण स्वतस्तेन प्रमाणता ॥

सर्वस्यानुपलब्धेऽर्थे प्रामाण्यं स्मृतिरन्यथा ॥”

—श्लोकवा० श्रौतप० श्लो० १०-११

मीमांसकों की इस परम्परा में न्याय-वैशेषिक तथा बौद्ध दोनों परम्पराओं का संग्रह हो जाता है । ‘अनुष्ठ-कारणारब्ध विशेषण से कणाद कथित कारणदोष का निवारण हो जाता है तथा ‘निर्बाधत्व’ एवं ‘अपूर्वार्थत्व’ विशेषण के द्वारा बौद्ध परम्परा का भी समावेश हो जाता है—

“एतच्चविशेषणत्रयमुपाददानेन सूत्रकारेण कारणदोष-बाधकज्ञानरहितम् अगूह्यतप्राहिज्ञानं प्रमाणमिति प्रमाणलक्षणं सूचितम् ॥”

—शास्त्रदीपि० पृ० १२३

कुमारिलकर्तृक माने गये निम्नलिखित श्लोक से यह और भी स्पष्ट हो जाता है—

“तत्रापूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं बाधवर्जितम् ।

अनुष्ठकारणारब्धं प्रमाणं लोकसम्मतम् ॥”

इस लक्षण में प्रमाणसामान्य लक्षण के ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से अनधिगत बोधक ‘अपूर्व’ पद का समावेश प्रमाणलक्षण में देखा जाता है ।

बौद्ध

दिङ्नाग ने प्रमाण का लक्षण इस प्रकार दिया है—

“स्वसंवित्तिः फलं चात्र तदरूपादर्थनिश्चयः ।

विषयाकार एवास्य प्रमाणं तेन मीयते ॥”

—प्रमाणस० ११०

इस लक्षण में ‘स्वसंवित्ति’ पद का फल के विशेषण रूप में निवेश किया गया है ।

धर्मकीर्ति ने प्रमाण लक्षण इस प्रकार दिया है—

“प्रमाणमविसंवादिज्ञानमर्थक्रियास्थितः ।

अविसंवादनं शाब्देऽप्यभिप्रायनिवेदनात् ॥”

—प्रमाणवा० २. १.

इस लक्षण में धर्मकीर्ति ने ‘अविसंवादित्व’ विशेषण का निवेश किया है । यह वात्स्यायन के ‘प्रवृत्तिमामर्ष्य’ तथा कुमारिल के ‘निर्बाधत्व’ विशेषण का पर्याय समझना चाहिए ।

न्यायबिन्दु (१.२०) में धर्मकीर्ति ने दिङ्नाग के अर्थ-सारूप्य का ही निर्देश किया है ।

शान्तरक्षित के लक्षण में दिङ्नाग तथा धर्मकीर्ति दोनों के आशय का संग्रह देखा जाता है ।

“विषयाधिगतिश्चात्र प्रमाणफलमिष्यते ।

स्ववित्तिर्वा प्रमाणं तु सारूप्यं योग्यतापि वा ॥”

—तत्त्वसं० का० १३४४

बौद्ध परम्परा के इस प्रमाण लक्षण में ‘स्वसंवेदन’ के विचार का प्रवेश हुआ तथा उसके द्वारा ज्ञान में ‘स्वपर-प्रकाशत्व’ को सूचित किया गया ।

असंग और वसुबन्धु ने विज्ञानवाद स्थापित किया पर दिङ्नाग ने उसका जोरों से समर्थन किया । इस स्थापना और समर्थन पद्धति में स्वसंवेदितत्व या स्वप्रकाशत्व का सिद्धान्त स्फुटतर हुआ, जिसका किसी न किसी रूप में अन्य दार्शनिकों पर भी प्रभाव पड़ा ।

जैन

जैन परम्परा में प्रमाण सामान्य के लक्षण का विकास निम्नलिखित रूप में देखा जाता है—

१. समन्तभद्र

“तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत्सर्वभासनम् ।”

—आप्तमी० १०१

“स्वपरावभासकं यथा प्रमाणं भुवि बुद्धिलक्षणम् ।”

—बृहत् स्व० ६३

१. सिद्धसेन

“प्रमाणं स्वपराभासिज्ञानं बाधाविवर्जितम् ॥”

—न्यायवा० १

३. अकलंक

“प्रमाणमविसर्वादिज्ञानम्, अनधिगतार्थाधिगमलक्षणत्वात् ॥”

—अष्टश० अष्टस० पृ० १७५

४. माणिक्यनन्दि

“स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञानं प्रमाणम् ।”

—परीक्षा० १.१

५. विद्यानन्द

“तत्स्वार्थव्यवसायात्मज्ञानं मानमितीयता ।

लक्षणेन गतार्थत्वात् व्यर्थमन्यद्विशेषणम् ॥”

—तत्त्वार्थश्लो० १.१०.७७; —प्रमाणपरी० पृ० ५३

६. अभयदेव

“प्रमाणं स्वार्थनिर्णीतिस्वभावं ज्ञानम् ।”

—सन्मतिटी० पृ० ५१८

७. बादी देवसूरि

“स्वपरव्यवसायिज्ञानं प्रमाणम् ।” —प्रमाणनय० १.२

८. हेमचन्द्र

“सम्यगर्थनिर्णयः प्रमाणम् ।” —प्रमाणमी० १.२

९. धर्मभूषण

“सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम् ।” —न्यायदी० पृ० १

जैन सम्मत प्रमाणलक्षण का विकास

प्रमाण के उपर्युक्त लक्षणों को देखने से ज्ञात होता है कि हेमचन्द्र ने सभी जैन-जैनेतर प्रमाण लक्षणों को ध्यान में रख कर अपना प्रमाण-लक्षण निश्चित किया है । इसमें पूर्वार्थों के स्व पद को सर्वथा अलग कर दिया गया है तथा ‘अवभास’, ‘व्यवसाय’ आदि पदों के स्थान पर निर्णय पद रखा है एवं उमास्वामि धर्मकीर्ति तथा भासवर्ज के सम्यक् पद को ग्रहण किया है ।

धर्मभूषण ने सम्यग्ज्ञान को ही प्रमाण कहा, क्योंकि वही सम्यक् अर्थ का निर्णायक है ।

इस प्रकार प्रमाण के लक्षण में शाब्दिक अन्तर रहते हुए भी अर्थरूप में विशेष अन्तर नहीं है, प्रत्युत लक्षणों का क्रमिक विकास विचार विकास का द्योतक है ।

भारतीय प्रमाण शास्त्र में प्रमाण

प्रमाण लक्षण के इस ऐतिहासिक विकास क्रम को देखने के उपरान्त वैचारिक दृष्टि से भी इसका पर्याय-लोचन अपेक्षित है ।

प्रमाण के उक्त लक्षणों में ज्ञान होता है कि भारतीय प्रमाणशास्त्र में मुख्य रूप से दो दृष्टियाँ रही हैं—

१. ज्ञान को प्रमाण मानने वाली ।

२. इन्द्रिय आदि को प्रमाण मानने वाली ।

जैन और बौद्ध परम्परा में ज्ञान को प्रमाण माना गया है । दोनों में अन्तर यह है कि जैन सविकल्पक ज्ञान को प्रमाण मानते हैं बौद्ध निविकल्पक ज्ञान को । इन मान्यताओं की पृष्ठभूमि में दोनों परम्पराओं का सैद्धान्तिक चिन्तन विद्यमान है । जैनो की मान्यता है कि निविकल्पक ज्ञान अर्थ का निश्चायक नहीं हो सकता । इसलिए उनके यहाँ सविकल्पक ज्ञान नहीं बनता ।

दूसरी परम्परा वैदिक दर्शनों की है । न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, मीमांसक सभी किसी न किसी रूप में इन्द्रियादि को प्रमाण मानते हैं । इसका भी कारण उनकी सैद्धान्तिक चिन्तन-परम्परा है । वैदिक दर्शनों में ब्रह्म ही

सत्य है, जगत् मिथ्या है। ऐसी स्थिति में इन्द्रियादिक की प्रमाणता अपेक्षित है।

चार्वाक आत्म तत्त्व को ही नहीं मानता। इस-लिए उसे इन्द्रिय ज्ञान को ही प्रमाण मानना अनिवार्य है।

चिन्तन की इन दो विरोधी दृष्टियों का प्रभाव प्रमाण की परिभाषा, उसके भेद तथा प्रामाण्य आदि के निर्धारण पर पड़ा है। उसी का परिणाम है कि प्रारम्भ से अन्त तक यह दृष्टि-भेद सर्वत्र उपलब्ध होता है।

नैयायिकों का सन्निकर्षवाद

नैयायिक इन्द्रिय सन्निकर्ष को प्रमाण मानते हैं। वात्स्यायन ने न्यायभाष्य में प्रत्यक्ष की व्याख्या इस प्रकार की है—

‘अक्षस्याक्षस्य प्रतिविषयं वृत्तिः प्रत्यक्षम्। वृत्तिस्तु सन्निकर्षो ज्ञान वा, यदा सन्निकर्षस्तथा ज्ञानं प्रमितिः, यदा ज्ञानं तदा हानोपादानोपेक्षाबुद्ध्यः फलम्।’

—न्यायभा० १. १. ३

उद्योतकर ने भी न्यायवातिक में वात्स्यायन के भाष्य का अनुगमन करके सन्निकर्ष और ज्ञान दोनों को प्रत्यक्ष प्रमाण मान कर इसका प्रबल समर्थन किया है।

(न्यायवा० १. १. ३.)

न्यायसूत्र की व्याख्या में वाचस्पति का भी वही तात्पर्य है—

‘इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यवस्थितमभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्।’

—न्याय० १. १. ४

न्यायभाष्य (पृष्ठ २५५) तथा न्यायमजरी (पृ० ७३, ४७६) में इसका विस्तृत विवेचन है।

सन्निकर्षवादी नैयायिकों का कहना है कि अर्थ का ज्ञान कराने में सबसे अधिक साधक सन्निकर्ष है। चक्षु का घट के साथ सन्निकर्ष होने पर घट का ज्ञान होता है। जिस अर्थ का इन्द्रिय के साथ सन्निकर्ष नहीं होता, उसका ज्ञान भी नहीं होता। यदि इन्द्रियों से असन्निकृष्ट अर्थ का भी ज्ञान माना जाएगा, तो सबको सब पदार्थों का ज्ञान होना चाहिए। किन्तु देखा जाता है कि जो पदार्थ दृष्टि से ओझल होते हैं, उनका ज्ञान नहीं होता।

दूसरी बात यह है कि इन्द्रिय कारक है, और कारण दूर रह कर अपना काम नहीं कर सकता। अतएव यह

मानना चाहिए कि इन्द्रिय जिस पदार्थ से सम्बन्ध नहीं करती, उसे नहीं जानती, क्योंकि वह कारक है, जैसे बढई का बसूला लकड़ी से दूर रह कर अपना काम नहीं करता। जिस प्रकार स्पर्शनेन्द्रिय पदार्थ को छू कर जानती है, उसी प्रकार अन्य इन्द्रियाँ भी पदार्थ सस्पृष्ट हो कर जानती हैं।

सन्निकर्ष की प्रवृत्ति-प्रक्रिया (न्यायमं० पृ० ७४)

प्रत्यक्षज्ञान चार, तीन अथवा दो के सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है। बाह्य रूप आदि का प्रत्यक्ष चार के सन्निकर्ष से होता है। आत्मा मन से सम्बन्ध करता है, मन इन्द्रिय से, इन्द्रिय अर्थ से। सुखादि का प्रत्यक्ष तीन के सन्निकर्ष से होता है। इसमें इन्द्रिय काम नहीं करती। योगियों को जो आत्मा का प्रत्यक्ष होता है। वह केवल आत्मा और मन के सन्निकर्ष से होता है।

सन्निकर्षवाद की समीक्षा

नैयायिकों के इस लक्षण का निरास जैन तार्किकों ने विस्तार के साथ किया है (न्यायकुसु० पृ० २५-३२, प्रमेयक० पृ० १४-१८)। संक्षेप में वह इस प्रकार है।

१. वस्तु का ज्ञान कराने में सन्निकर्ष साधकतम नहीं है, इसलिए वह प्रमाण नहीं है। जिसके होने पर ज्ञान हो तथा नहीं होने पर न हो, वह उसमें साधकतम माना जाता है। सन्निकर्ष में यह बात नहीं है। कहीं-कहीं सन्निकर्ष के होने पर भी ज्ञान नहीं होता। जैसे घट की तरह आकाश आदि के साथ भी चक्षु का सन्निकर्ष रहता है, फिर भी, आकाश का ज्ञान नहीं होता। अतएव सन्निकर्ष प्रमाण नहीं है।

२. सभी इन्द्रियाँ छू कर जानती हों, यह बात नहीं है। चक्षु छू कर नहीं जानती। यह छू कर जानती, तो आँख में लगे हुए अजन को देखना चाहिए, किन्तु नहीं देखती। इसी प्रकार यदि छू कर जानती तो ढकी हुई वस्तु को नहीं जानना चाहिए, पर ऐसा नहीं है। काँच आदि पारदर्शी द्रव्य से ढकी हुई वस्तु को वह जान लेती है। अतएव चक्षु प्राप्यकारी नहीं है। जैन दार्शनिकों ने चक्षु के प्राप्यकारित्व का विस्तार से खण्डन किया है (तत्त्वा० १।० वा० पृ० १८, न्यायकु० पृ० ७५-८२, प्रमेयक० पृ० २२०-२२६)।

३. सन्निकर्ष को प्रमाण मानने पर सर्वज्ञ सिद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि यदि सर्वज्ञ सन्निकर्ष द्वारा पदार्थों को जानेगा, तो उसका ज्ञान या तो मानसिक होगा या इन्द्रियजन्य। मन और इन्द्रियों की प्रवृत्ति अपने विषयों में क्रमशः होती है, तथा उनका विषय भी नियत है, जबकि त्रिकालवर्ती ज्ञेय पदार्थों का अन्त नहीं है। सूक्ष्म, अन्तर्गत तथा व्यवहित पदार्थों का इन्द्रियों के साथ सन्निकर्ष नहीं हो सकता, अतः उनका ज्ञान भी नहीं होगा। इस तरह सर्वज्ञ का अभाव हो जाएगा (मवार्थ० पृ० ५७, तत्त्वा० पृ० ३६ न्यायकु० पृ० ३२)।

उपर्युक्त दोषों के कारण इन्द्रियादि के सन्निकर्ष को प्रमाण नहीं माना जा सकता।

जरन्नेयायिकों का कारकसाकल्यवाद

जरन्नेयायिकों की मान्यता है कि अर्थ का ज्ञान किसी एक कारक से ही होना, प्रत्युत कारकों के समूह से होता है। एक दो कारकों के होने पर भी ज्ञान उत्पन्न नहीं होता और समग्र कारकों के रहने पर नियम से होता है। इसलिए कारकसाकल्य ही ज्ञान की उत्पत्ति में साधकतम कारण है। अतएव वही प्रमाण है। ज्ञान प्रमाण नहीं है, क्योंकि वह तो फल है। फल को प्रमाण मानना उचित नहीं है, क्योंकि प्रमाण और फल भिन्न-भिन्न होते हैं। न्यायमंजरीकार ने लिखा है—

“अव्यभिचारिणीमसिद्धाधमार्थोपलब्धिं विदधती बोधा-
वोषत्वभावा सामग्री प्रमाणम्।” —न्यायमंजरी पृ० १२ समीक्षा

कारकसाकल्य की उपयोगिता को स्वीकारते हुए भी जैन दार्शनिकों ने विशेष रूप से इसका खण्डन किया है (न्यायकु० पृ० ३५-३६, प्रमेयकमल० पृ० ७-१३)। उनका कहना है—

१. कारकसाकल्य ज्ञान की उत्पत्ति में कारण अवश्य है, पर अर्थोपलब्धि में तो ज्ञान ही कारण है। इसलिए कारकसाकल्य को अर्थोपलब्धि में साधकतम कारण नहीं माना जा सकता।

२. यदि परस्पर कारणों को अर्थोपलब्धि में साधकतम कारण माना जाएगा तो जिस आहार या गाय के दूध से इन्द्रियों को पुष्टि मिलती है, वह आहार तथा दूध देने

वाली गाय को भी साधकतम कारण मानना होगा। इस तरह कारणों का कोई प्रतिनियम ही नहीं रह जाएगा।

सांख्य का इन्द्रियवृत्तिवाद

सांख्यों की मान्यता है कि अर्थ की प्रमिति में इन्द्रिय-वृत्ति ही साधकतम है, अतः उसी को प्रमाण मानना चाहिए। इन्द्रियाँ जब विषय के आकार परिणमन करती हैं तभी वे अपने प्रतिनियत शब्द आदि का ज्ञान कराती हैं। इस प्रकार पदार्थ का सम्पर्क होने से पहले इन्द्रियों का विषयाकार होना इन्द्रियवृत्ति है। वही प्रमाण है। योगदर्शन व्यासभाष्य में लिखा है—

‘इन्द्रियप्रणालिकया बाह्यवस्तूपरागात् सामान्य-
विशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधानावृत्तिः प्रत्यक्षम्।’

—योगद० व्यासभा० पृ० २७

इन्द्रियवृत्ति की प्रक्रिया के विषय में सांख्यप्रवचन-भाष्यकार ने लिखा है—

“अत्रैवं प्रक्रिया इन्द्रियप्रणालिकया अर्थसन्निकर्षेण
लिंगज्ञानादिना वा आदौ बुद्धेः अर्थकारा वृत्तिः जायते।”

—सांख्यप्र० भा० पृ० ४७

इन्द्रियवृत्ति की समीक्षा

बौद्ध, जैन तथा नैयायिक तार्किकों ने सांख्यों का खण्डन किया है। बौद्ध तार्किक दिङ्नाग ने प्रमाणसमुच्चय (१. २७) में, नैयायिक उद्योतकर ने न्यायवार्तिक (पृ० ४३) में, जयन्तभट्ट ने न्यायमंजरी (पृ० १०६) में तथा जैन तार्किक अकलक ने न्यायविनिश्चय (१. १६५) में, विद्यानन्द ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृ० १८७) में, प्रभाचन्द्र ने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ४०-४१) और प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० १६) में, देवसूरि ने स्याद्वादरस्ताकर (पृ० ७२) में तथा हेमचन्द्र ने प्रमाणमीमांसा (पृ० २४) में इन्द्रिय-वृत्ति का विस्तार से निरास किया है। जिसका संक्षिप्त सार यह है—

१. इन्द्रियवृत्ति अचेतन है, इसलिए वह पदार्थ को जानने में साधकतम नहीं हो सकती।

२. इन्द्रियों का पदार्थ के आकार होना प्रतीति विरुद्ध है। जैसे दर्पण पदार्थ के आकार को अपने में धारण करता है, वैसे श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ पदार्थ के आकार को अपने में धारण करती नहीं देखी जातीं।

३. इन्द्रियवृत्ति यदि इन्द्रियों से भिन्न है तो उसका इन्द्रियों से सम्बन्ध नहीं बनता और यदि अभिन्न है तो सुप्तावस्था में भी इन्द्रिय व्यापार जारी रहना चाहिए।

इन कारणों से इन्द्रियवृत्ति प्रमाण नहीं है।

मीमांसकों का ज्ञातृव्यापार

मीमांसक ज्ञातृव्यापार को प्रमाण मानते हैं। उनका कहना है कि ज्ञातृव्यापार के बिना पदार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता। कारक तभी कारक कहा जाता है, जब उसमें क्रिया होनी है। आत्मा, इन्द्रिय, मन तथा पदार्थ का मेल होने पर ज्ञान का व्यापार होता है और वह व्यापार ही पदार्थ का ज्ञान कराने में कारण होता है। अतः ज्ञाता का व्यापार ही प्रमाण है (मीमांसा श्लो० पृ० १५१, शास्त्रदी० पृ० २०२)।

ज्ञातृव्यापारवाद की समीक्षा

मीमांसकों की इस मान्यता का खण्डन वैदिक, बौद्ध तथा जैन सभी तार्किकों ने किया है। वैदिक परम्परा में उद्योतकर ने न्यायवातिक (पृ० ४३) में, वाचस्पति ने तात्पर्यटीका (पृ० १५५) में तथा जयन्तभट्ट ने न्याय-मंजरी (पृ० १००) में विस्तार से खण्डन किया है। बौद्ध दार्शनिकों में सर्वप्रथम दिङ्नाग ने अपने प्रमाण समुच्चय (१. ३७) में इसका खण्डन किया है। शान्तरक्षित आदि ने इसी पद्धति का अनुसरण किया है।

जैन परम्परा में अकलंक, विद्यानन्द (तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८७, श्लो० ३७), प्रभाचन्द्र (न्यायकु० पृ० ४२-४५, प्रमेय० पृ० २०-२५), अभयदेव (सम्मति० पृ० ५३४, हेमचन्द्र (प्रमाणमी० पृ० २३) तथा देवसूरि (स्याद्वादरत्नाकर पृ० ३२१) ने ज्ञातृव्यापार का विस्तार से खण्डन किया है। जिसका निष्कर्ष इस प्रकार है—

१. ज्ञातृव्यापार किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता इसलिए वह प्रमाण नहीं है।

२. प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञातृव्यापार सिद्ध नहीं होता। क्योंकि न तो ज्ञातृव्यापार का सम्बन्ध है और न मीमांसक स्वसंवेदन को मानते हैं।

३. अनुमान प्रमाण से भी ज्ञातृव्यापार सिद्ध नहीं होता, क्योंकि उसमें साधन से साध्य का ज्ञान रूप अनुमान नहीं बनता।

४. अर्थापत्ति से भी ज्ञातृव्यापार सिद्ध नहीं होता क्योंकि अर्थापत्ति के उत्पापक अर्थ का साध्य के साथ सम्बन्ध नहीं बनता।

५. प्रमाणों से सिद्ध न होने पर भी ज्ञातृव्यापार का अस्तित्व मानना उपयुक्त नहीं है।

बौद्धसम्मत-लक्षण

बौद्ध न्यायशास्त्र में प्रत्यक्ष-लक्षण की दो परम्पराएँ देखी जाती हैं—पहली अभ्रान्त पद रहित और दूसरी अभ्रान्त पद सहित। पहली परम्परा के पुरस्कर्ता दिङ्नाग हैं तथा दूसरी के धर्मकीर्ति। प्रमाणसमुच्चय (१. ३) और न्यायप्रवेश (पृ० ७) में पहली परम्परा के अनुसार लक्षण और व्याख्या है। न्यायविन्दु (१. ४) और उसकी धर्मोत्तरीय आदि वृत्ति में दूसरी परम्परा के अनुसार लक्षण एवं व्याख्यान है। शान्तरक्षित ने तत्त्वसंग्रह (का० १२१४) में दूसरी परम्परा का ही समर्थन किया है। धर्मकीर्ति का लक्षण इस प्रकार है—

“प्रत्यक्ष कल्पनापोढमभ्रान्तम्।” —न्यायवि० १.४. निर्विकल्पक प्रत्यक्ष

अभ्रान्त पद का ग्रहण या अग्रहण करने वाली दोनों परम्पराओं में प्रत्यक्ष को निर्विकल्पक माना गया है। बौद्धों का कहना है कि प्रत्यक्ष में शब्द-संसृष्ट अर्थ का ग्रहण सम्भव नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण है और वह क्षणिक है। इसलिए प्रत्यक्ष ज्ञान निर्विकल्पक ही होता है।

क्षणभंगवाद

बौद्धों की इस मान्यता की पृष्ठभूमि में उनका दार्शनिक सिद्धान्त क्षणभगवाद है। ‘सर्व क्षणिकम्’—सब कुछ क्षणिक है—इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्यक्ष जिस स्वलक्षण को ग्रहण करता है उसमें कल्पना उत्पन्न हो, इसके पूर्व ही वह नष्ट हो जाता है। इसलिए वह निर्विकल्पक नहीं हो सकता।

इन्द्रियज्ञान में तदाकारता का अभाव

बौद्धों का कहना है कि अर्थ में शब्दों का रहना सम्भव नहीं है और और न अर्थ शब्द का तादात्म्य सम्बन्ध ही है। इसलिए अर्थ से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को उत्पन्न न करने वाले शब्द के आकार का संसर्ग नहीं रह सकता। क्योंकि जो जिसका जनक नहीं होता वह

उसके आकार को धारण नहीं कर सकता। जैसे रस से उत्पन्न होने वाला रसज्ञान अपने अजनकरूप आदि के आकार को धारण नहीं करता। इन्द्रियज्ञान केवल नील आदि अर्थ से उत्पन्न होता है, शब्द से उत्पन्न नहीं होता। इसलिए वह शब्द के आकार को धारण नहीं कर सकता। इस प्रकार शब्द के आकार को धारण न करने के कारण वह शब्दग्राही नहीं हो सकता। जो ज्ञान जिसके आकार नहीं होता वह उसका ग्राहक नहीं हो सकता। अतएव निर्विकल्पक ज्ञान ही प्रमाण है।

निर्विकल्पक ज्ञान और लोक-व्यवहार

निर्विकल्पक ज्ञान में सविकल्पक ज्ञान को उत्पन्न करने की शक्ति है। अतः वह उसके द्वारा समस्त व्यवहारों में कारण होता है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के विषय को लेकर ही पीछे के विकल्प उत्पन्न होते हैं। इसलिए निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ही प्रमाण है।

बौद्धों के लक्षण की समीक्षा

बौद्धों की इस मान्यता का बौद्धेतर तर्क ग्रन्थों में विस्तार से खण्डन किया गया है। भामह ने काव्यालंकार (५. ६. पृ० ३२) और उद्योतकर के न्यायवातिक (१. १. ४ पृ० ४१) में दिङ्नाग के प्रत्यक्ष लक्षण तथा वाचस्पति मिश्र की तात्पर्यटीका (पृ० १५४), जयन्तभट्ट की न्यायमजरी (पृ० ५२), श्रीधर की न्यायकन्दली (पृ० १६०) और शालिकर्णाय की प्रकरणपरीक्षा (पृ० ४५) में धर्मकीर्ति के प्रत्यक्ष-लक्षण की समीक्षा की गयी है।

जैन दार्शनिकों ने दिङ्नाग तथा धर्मकीर्ति दोनों के लक्षणों की समीक्षा की है। विद्यानन्द ने तत्त्वार्थश्लोक-वातिक (पृ० १८५), प्रभाचन्द्र ने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ४७) तथा प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० ४६) में एवं हेमचन्द्र ने प्रमाणमीमासा (पृ० २३) में निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का विस्तार से खण्डन किया है।

निर्विकल्पक ज्ञान अनिश्चयात्मक होने से अप्रमाण

निर्विकल्पक ज्ञान अनिश्चयात्मक होता है। अनिश्चयात्मक ज्ञान को प्रमाण नहीं माना जा सकता। क्योंकि प्रमाण वही कहलाता है जो निश्चयात्मक हो।

लोक-व्यवहार में साधक न होने से अप्रमाण

निर्विकल्पक ज्ञान अनिश्चयात्मक होने से व्यवहार में

अनुपयोगी है। जिस प्रकार मार्ग में चलते हुए तृणस्पर्श आदि का अनुपयोगी रूप ज्ञान अनिश्चयात्मक होने से लोक व्यवहार में उपयोगी नहीं है, उसी प्रकार निर्विकल्पक ज्ञान भी अनुपयोगी है। अतएव वह प्रमाण नहीं हो सकता।

प्रमाण का फल

जैन न्याय में ज्ञान को प्रमाण माना गया है। इसलिए अज्ञाननिवृत्ति को उसका फल माना है। आचार्य समन्तभद्र ने लिखा है—

“उपेक्षाफलमाद्यस्य शेषस्यावानहानधीः।

पूर्वा वाज्ञाननाशो वा सर्वस्यास्य स्वगोचरे ॥”

—आप्तमीमासा १०२।

केवलज्ञान का फल उपेक्षा बुद्धि है। शेष मति आदि ज्ञानों का फल हेय, उपादेय और उपेक्षा है। यह परम्परा फल है। साक्षात् फल अज्ञान निवृत्ति है। आचार्य पूज्य-पाद ने सर्वार्थसिद्धि (१।१०) में इसका विस्तार से विवेचन किया है। भट्ट अकलक ने लिखा है—

“प्रमाणस्य फलं साक्षात् सिद्धिः स्वार्थविनिश्चयः।”

—सिद्धिवि० १।३।

अर्थात् प्रमाण का साक्षात् फल अभीष्ट अर्थ के निश्चय की सिद्धि रूप अज्ञान की निवृत्ति है।

बाद के जैन दार्शनिकों ने भी इसी दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया है। शान्तिवर्णी ने प्रमाण के फल का विस्तार से विवेचन किया है।

जैनैतर न्याय में ज्ञान को प्रमाण का फल तथा ज्ञान के कारणों को प्रमाण माना गया है। वात्स्यायन और न्यायमजरीकार ने भी ज्ञान को प्रमाण मानने की स्थिति में हेय, उपादेय और उपेक्षाबुद्धि को उसका फल कहा है—

“यदा सन्निकर्षरतदा ज्ञानं प्रमितिः, यदा ज्ञानं तथा हानोपादेयोपेक्षाबुद्ध्यः फलम्।”—वात्स्यायन भा० पृ० १७

“प्रमाणतार्या सामग्र्यास्तज्ज्ञानं फलमिष्यते।

तस्य प्रमाणभावे तु फलं हानाद्विबुद्ध्यः ॥”

—न्यायम० पृ० ६२।

प्रमाण और फल का भेदाभेद

जैन न्याय में प्रमाण और फल का कथंचित् भेदाभेद माना गया है। जैन दर्शन में आत्मा को ज्ञान रूप माना है तथा ज्ञान रूप होने से प्रमाण और फल दोनों रूप में परिणमन करता है। अतएव एक प्रमाता की अपेक्षा

प्रमाण और फल में अभेद तथा कार्य और कारण रूप से पर्याय भेद होने के कारण दोनों में भेद है। शान्तिवर्णी ने यह भी लिखा है कि ज्ञान रूप से दोनों में अभेद है तथा प्रमाण और फल रूप से भेद है।

जैन और बौद्ध न्याय के अतिरिक्त अन्य सभी नैयायिकों ने ज्ञान को प्रमाण का फल तथा ज्ञान के कारणों को प्रमाण माना है। इस प्रकार वे प्रमाण और फल में सर्वथा भेद मानते हैं। विपरीत इसके बौद्ध प्रमाण और फल का सर्वथा अभेद मानते हैं।

सर्वज्ञसिद्धि

सर्वज्ञता की सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि

जैनदर्शन में आत्मा को ज्ञान गुण युक्त चेतन द्रव्य माना गया है। कर्मों के आवरण के कारण उसका यह ज्ञान गुण पूर्ण रूप से प्रकट नहीं होता। जैसे-जैसे कर्म का आवरण हटता जाता है, वैसे-वैसे ज्ञान का विकसित रूप प्रकट होता जाता है। इस प्रकार जब आवरण सर्वथा हट जाता है तो निरावरण केवलज्ञान प्रकट होता है। इसे क्षायिक ज्ञान भी कहते हैं। केवलज्ञानी त्रिकालवर्ती सभी रूपी-अरूपी द्रव्यों को समस्त पर्यायों को एक साथ जानता है। कुन्दकुन्द ने लिखा है—

“जं तत्कालियमिवरं जाणदि जुगध समतदो सव्वं ।

अत्थं विचित्तं त्रिसमं तं णाणं खाइयं भणिय ॥

जो ण विजाणदि जुगवं अत्थे तेकालिके तिहुवणत्थे ।

णावुं तस्स ण सबकं सपज्जय दग्गेक वा ।।

दग्गमणंतपज्जयसेकमणंताणि दग्गजावाणि ॥

ण विजाणदि जवि जुगवं कध सो सव्वाणि जाणादि ॥”

—प्रवचनसार १।४७-४८

सर्वज्ञसिद्धि का दार्शनिक आधार

सर्वज्ञ की उपयुक्त सैद्धान्तिक मान्यता को बाद के दार्शनिकों ने ताकिक आधार देकर सिद्ध किया है। मुख्य आधार अनुमान प्रमाण है। समन्तभद्र ने लिखा है—

“सूक्ष्मान्तरितदूरार्थः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्ध्यथा ।

अनुमेयत्वतोऽन्यादिरितिसर्वज्ञसंस्थितिः ॥”

—आप्तमीमांसा श्लो० ५

सूक्ष्म पदार्थ परमाणु आदि, अन्तरित राम, रावण आदि, दूरार्थ सुमेरु पर्वतादि अग्नि आदि की तरह अनुमेय

होने से किसी के प्रत्यक्ष अवश्य हैं। इस हेतु से सर्वज्ञ की सिद्धि होती है।

भट्ट भकलंक ने सर्वज्ञता का समर्थन करते हुए लिखा है कि आत्मा में समस्त पदार्थों के जानने की पूर्ण सामर्थ्य है। संसारी अवस्था में उसके ज्ञान का ज्ञानावरण से आवृत होने के कारण पूर्ण प्रकाश नहीं हो पाता, पर जब चैतन्य के प्रतिबन्धक कर्मों का, पूर्ण क्षय हो जाता है तब उस अप्राप्यकारी ज्ञान को समस्त अर्थों के जानने में क्या बाधा है (न्यायवि० श्लो० ४६५)। यदि अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान न हो सके तो सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतिर्ग्रहों की ग्रहण आदि भविष्यकालीन दशाओं का उपदेश कैसे हो सकेगा। ज्योतिर्ज्ञानोपदेश अक्सिवादी और यथार्थ देखा जाता है। अतः यह मानना अनिवार्य है कि उसका पथार्थ उपदेश अतीन्द्रियार्थ दर्शन के बिना नहीं हो सकता। जैसे सत्य स्वप्न दर्शन इन्द्रिय आदि की सहायता के बिना ही भावी राज्यलाभ आदि का यथार्थ स्पष्ट ज्ञान कराता है तथा विशद है, उसी तरह सर्वज्ञ का ज्ञान भी भावी पदार्थों में सवादक और स्पष्ट होता है। जैसे ईक्षानिकादि विद्या अतीन्द्रिय पदार्थों का स्पष्ट भान करा देती है, उसी तरह अतीन्द्रिय ज्ञान भी स्पष्ट प्रतिभासक होता है (सिद्धिवि० न्यायवि० आदि)।

आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा है—

“प्रज्ञातिशयविभ्रान्त्यादिसिद्धेस्तत्सिद्धिः ।”

—प्रमाणमी० १।१६

सर्वज्ञता की सिद्धि में बाधक प्रमाण का अभाव

भकलंक ने सर्वज्ञता की सिद्धि में एक और यह हेतु दिया है कि सर्वज्ञता की सिद्धि में कोई भी बाधक प्रमाण नहीं है। बाधक का अभाव सिद्धि का बलवान् साधक है। जैसे मैं सुखी हूँ यहाँ सुख का बाधक प्रमाण नहीं है। बूँक सर्वज्ञ की सत्ता में कोई बाधक प्रमाण नहीं है, इसलिए उसकी निबाध सत्ता सिद्ध है। भकलंक ने लिखा है—

अस्ति सर्वज्ञः सुनिश्चिततासम्बद्धबाधकप्रमाणत्वात् सुखादिवत् ।’

—(सिद्धिवि०)

इसी सरणि पर बाद के जैन दार्शनिकों ने सर्वज्ञसिद्धि का विस्तृत विवेचन किया है।

—L २२, नवीन शाहवरा दिल्ली-३२

आराधनासमुच्चय का रचना-स्थल

पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण

श्री० क्षु० सिद्धसागर जी महाराज के द्वारा सम्पादित श्रीर हिन्दी में अनुवादित एवं दिगम्बर जैन समाज मोजमाबाद (जयपुर) के द्वारा प्रकाशित श्री रविचन्द्र मुनीन्द्र विचरित आराधनासमुच्चय मेरे पास समालोचनार्थ आया है। प्रस्तुत कृति की प्रस्तावना डॉ० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल, एम० ए०, पी-एच०डी० (जयपुर) के द्वारा लिखी गई है—

प्रस्तावना मे डॉ० कासलीवाल ने आराधनासमुच्चय के रचयिता रविचन्द्र मुनीन्द्र के सम्बन्ध मे लिखते हुए यो लिखा है—

“श्रीरविचन्द्रमुनीन्द्रः पनसोगेग्रामवासिभिर्द्वयः ।

रचितोऽयमखिलशास्त्रप्रवीणविद्वन्मनोहारी ॥

इस पद्य से केवल उनके नाम का तथा पनसोगे ग्राम का जहाँ इस कृति की रचना समाप्त हुई थी, जानकारी मिलती है। पनसोगे ग्राम डा० ए० एन० उपाध्ये के अनुसार कर्नाटक प्रदेश मे स्थित है। इससे यह तो सभ वतः स्पष्ट है कि कवि दक्षिण भारत के निवासी थे और उनका कार्यक्षेत्र भी दक्षिण भारत ही रहा था। क्योंकि अब तक जितने रविचन्द्र नाम के विद्वानों के उल्लेख मिले हैं, वे सब दक्षिण भारत से सम्बन्धित हैं।”

आगे कस्तूरचन्द्र जी फिर लिखते हैं कि उक्त (डा० ए० एन० उपाध्ये द्वारा) सभी रविचन्द्र कर्नाटक प्रदेश में हुए और वही प्रदेश उनकी साहित्यिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों का केन्द्र रहा। इसलिए यही अधिक सम्भव है कि आराधनासमुच्चय के कर्ता भी कर्नाटक प्रदेश के रहे हों और दक्षिण भारत ही उनकी गतिविधियों का केन्द्र रहा हो।”

अब हनसोगे का परिचय लीजिए। मैसूर जिलान्तर्गत कृष्णराजनगर तालुके में सालेग्राम से लगभग ५ मील दूरी पर अवस्थित हनसोगे ही आराधनासमुच्चय का रचना-स्थल है। यहां पर इस समय एक त्रिकूट जिनालय मौजूद है। इस जिनालय मे आदिनाथ, पार्श्वनाथ और नेमिनाथ

की मूर्तियाँ विराजमान हैं। यह मन्दिर प्राचीन और कलापूर्ण है। अनुमानतः ११वीं शताब्दी का यह मन्दिर वीरराजेन्द्र नम्नि चगलवदेव द्वारा पुनः प्रतिष्ठापित होकर ‘राजेन्द्रचोल जिनालय के नाम से प्रसिद्ध है।

इस जिनालय के निकट कई शिलालेख हैं। इनसे सिद्ध होता है कि एक जमाने मे यह स्थान जैनो का एक प्रसिद्ध केन्द्र रहा। लेखों में कतिपय मुनियों की परम्परा भी दी गई है। कहा जाता है कि प्राचीन काल में यहाँ पर एक विशाल जैन मठ और आसपास बहुत से जैन मन्दिर विद्यमान थे। बल्कि आज भी इस स्थान पर इसके बहुत से चिन्ह दृष्टिगोचर होते हैं।

दक्षिण कन्नड जिला अन्तर्गत कारकल मे जैनो का जो प्रसिद्ध ‘जैन मठ’ है, वह इस हनसोगे मठ का ही शाखा मठ है। यह बात अनेक शिलालेख एवं प्राथिक प्रमाणो से सिद्ध हो चुकी है। कारकल के मठ के ठीक सामने ‘चतुर्मुख जिनालय’ के सामने जो विशाल, कलापूर्ण मन्दिर है, तत्सम्बन्धी शिलालेख में भी स्थानीय ललित कीर्ति भट्टारक को हनसोगे अथवा पनसोगे के देशीय-गणीय स्पष्ट उल्लेख किया है। कविचन्द्रमविरचित ‘गोम्मटेश्वरचरिते’ में, इन्होने भट्टारक ललितकीर्ति को पनसोगे पूर्वार्द्रि के अनुपम सूर्य बतलाया है।

इसी प्रकार ‘जिनयज्ञफलोदय’ के रचयिता मुनि कल्याणकीर्ति जी ने भी गुरु ललितकीर्ति जी को मूलसध, कुन्दकुन्दान्वय, देशीयगण, पुस्तक गच्छीय देवकीर्ति जी के शिष्य, पनसोगे वंश के रत्न चारित्रवान्, शीलवान् आदि बतलाया है। विशेष विवरण के लिए मेरे द्वारा सम्पादित और ‘जैन सिद्धान्तभवन’ आरा की ओर से प्रकाशित ‘प्रशस्ति संग्रह’ में कल्याणकीर्ति का ‘जिनयज्ञ फलोदय’ ग्रंथ का परिचय देखें।

इस प्रकार आराधनासमुच्चय का रचनास्थल का परिचय है। मुनि रविचन्द्रजी का विशेष परिचय मालूम होने पर उसे भी अवश्य प्रकाशित करूंगा।

—मूर्तिबन्नी (दक्षिण कनारा)

तिलकमञ्जरी : एक प्राचीन कथा

डा० वीरेन्द्रकुमार जैन

घनपाल (११वीं शती) कृत तिलकमञ्जरी प्राचीन संस्कृत गद्य साहित्य की एक महत्वपूर्ण कृति है। काव्य शास्त्र की दृष्टि से यह कृति जितने महत्व और उपयोग की है, उससे भी अधिक महत्व और उपयोग की इसलिए है, क्योंकि इसमें प्राचीन भारत के सांस्कृतिक इतिहास की प्रचुर सामग्री उपलब्ध होती है। पिछले वर्षों में तिलकमञ्जरी पर दो शोध-प्रबन्धों पर पी० एच० डी० मिली है तथा एक और तैयार हो रहा है—

१. तिलकमञ्जरी का आलोचनात्मक अध्ययन : डा० वीरेन्द्रकुमार जैन, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन, १९६६, स्वीकृत, अप्रकाशित।
२. घनपालकृत तिलकमञ्जरी का आलोचनात्मक अध्ययन : डा० जगन्नाथ पाठक, हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी, १९६६, स्वीकृत, अप्रकाशित।
३. ऐतिहासिक स्टडी आफ तिलकमञ्जरी आफ घनपाल : श्री एस० के० शर्मा, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय (तैयारी में)

इन प्रबन्धों के प्रकाशित होने पर तिलकमञ्जरी की महतीय सामग्री का उपयोग हो सकेगा। अभी तक तिलकमञ्जरी का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित नहीं हुआ इसलिए इसे व्यापक प्रसार नहीं मिला। यहाँ प्रस्तुत है तिलकमञ्जरी की संक्षिप्त कथा-वस्तु।

उत्तर कोशल देश में अवस्थित अयोध्या नगरी में सार्वभौम ऐश्वर्यकुवन्शी राजा मेघवाहन थे और उनकी रूप गुण युक्ता पट्टरानी मदिरावती थी। सर्वसुख उन्हें सुलभ थे किन्तु निःसन्तानता से वे दुःखी थे। एक बार विद्याधर मुनि आकाश मार्ग से उनके भवन के ऊपर से निकले। राजा रानी की भक्ति से प्रसन्न मुनि ने उन्हें राजलक्ष्मी-देवी की उपासना करने का उपदेश दिया। देवी की आराधना और अनन्य समर्पण से राजा को एक पुत्र प्राप्त हुआ जिसका नाम हरिवाहन रखा गया। हरिवाहन को योग्य शिक्षा-दीक्षा दी गई और राजा उसके योग्य मित्र को खोजने को उत्सुक रहने लगे।

एक बार जब वे राजसभा में बैठे थे तब ही दक्षिणा पथ के सेनापति वज्रायुध का प्रधान राजपुरुष विजयवेग आया और उसने बालारुण नामक अशुलीयक राजा को भेंट किया। राजा ने वज्रायुध की कुशलक्षेम पूछी— विजयवेग ने उसके उत्तर में सेनापति और राजकुमार समरकेतु के बीच हुए अद्भुत युद्ध का विवरण सुनाया।

उसने कहा कि आपसे भेंट करने हेतु वह नगर के बाह्योद्यान में आया हुआ है। राजा ने हरदाम नामक महाप्रतिहार को भेजकर समरकेतु को सादर बुलाया और उसका आदर सत्कार किया। राजा ने हरिवाहन और समरकेतु को अभिन्न मित्र बना दिया।

दोनों में सुखपूर्वक रहने लगे। एक बार ग्रीष्म में वे मत्तकोकिल उद्यान को गए। वहाँ पर उनकी गोष्ठी में मन्जीर नामक बन्दिपुत्र एक प्रेम पत्र ले आया। उसपर एक आर्या लिखी थी। उसके विचार-विनिमय से सभी प्रसन्न थे किन्तु राजकुमार समरकेतु को अपना प्रेमप्रसंग स्मरण आया और वह अत्यन्त खिन्न हुआ। हरिवाहन के द्वारा खिन्नता का कारण पूछने पर समरकेतु ने अपना कथन आरम्भ किया।

‘सिंहलद्वीप की रंगशाला नगरी में चन्द्रकेतु नाम का राजा है। मैं उनका अद्वितीय पुत्र हूँ। दृष्ट सामन्तो को दमन करने के लिए जल-सेना को लेकर पिता ने द्वीपांतरों को भेजा था। मेरी सहायता के लिए सकल कैवर्ततत्र का

नायक तारक मेरे साथ था। अपना राजकार्य पूर्ण करके जब एक बार मेरी सैन्य रत्नकूट नामक द्वीप पर विश्राम कर रही थी तब ही मुझे अद्भुत गीत-बादियों की ध्वनि सुन पड़ी। उसे सुनकर, उसके उद्भव का कारण जानने की मुझे जिज्ञासा हुई। तारक के साथ नाविकों सहित, रात्रि में ही, एक नौका द्वारा हम सबने उसी ध्वनि की दिशा की ओर प्रस्थान किया। जैसे ही नौका उस ध्वनि के निकट पहुँची वह ध्वनि समाप्त हो गई। मुझे अपने इस अविचारित कार्य पर पश्चात्ताप हुआ। तब ही एक प्रभाराशि युक्त खेचर नरेन्द्रवृन्द आकाश मार्ग से निकला। सम्मुख एक काँचन शिलामय दिव्य आयतन देखकर मुझे प्रसन्नता हुई।

मैंने निश्चय किया कि मन्दिर के भीतर अवश्य ही कोई होना चाहिए। कुछ ही काल पश्चात् कुछ सुन्दरी कन्यायें उस मन्दिर के ऊपरी छत पर दृष्टिगोचर हुई। उनके मध्य में सविशेष रूप से सुन्दरी एक षोडशवर्षीया कन्या थी। 'समरकेतु इतना कह ही रहा था कि प्रतिहारी एक दिव्य चित्रपट ले आई। उसने कहा कर्णामृत के पश्चात् ईक्ष्णामृत का स्वाद लीजिए और उसे हरिवाहन के आगे बढ़ा दिया। हरिवाहन ने गन्धर्वक से उस चित्र में अंकित राजकुमारी का परिचय प्राप्त किया। उनके मध्य चित्रकला के विषय में मधुरालाप हुए। चित्र में विजयार्थ की दक्षिण श्रेणी के चक्रवर्ती चन्द्रसेन की पुत्री तिलकमंजरी अंकित थी। गन्धर्वक ने अपने दूरगमन का प्रयोजन कहकर राजकुमार से विदा ली और पुन दूसरे दिन आने की कह कर चला गया। उसे चलते हुए राजकुमार समरकेतु ने काची नगरी में राजकुमार शेखर और गन्धर्वदत्ता की पुत्री मलयसुन्दरी का एकान्त में देने के लिए एक पत्र भेंट किया।

राजकुमार हरिवाहन ने दूसरे दिन गन्धर्वक के आगमन का पथ देखा, किन्तु वह न आया। इस प्रकार कई मास निकलते गये और हरिवाहन तिलकमंजरी के विरह से व्याकुल रहने लगा। अन्त में देशदर्शन की आज्ञा लेकर वह मित्रों सहित वर्षों के पश्चात् अयोध्या से बाहर निकल पड़ा। चलते-चलते वह कामरूप देश में जा पहुँचा और लोहित्य नदी के तट पर स्कन्धावार डाल दिया।

एक दिन अकस्मात् वैरियमदण्ड नामक प्रधान हस्ती गजशाला से निकल गया और उसे वश में करने के सभी उपाय निष्फल हो गए। करिसाधनाध्यक्ष के निवेदन पर हरिवाहन ने अपने अद्भुत वीणावादन से उसे वश में कर लिया और उस पर जा बैठा। ज्योंही उसने अंकुश मारा, हस्ती अत्यन्त वेग से बढ़ा और लाख प्रयत्नों के पश्चात् भी न रुक सका और राजकुमार को लिए हुए अदृश्य हो गया। समरकेतु आदि को अत्यधिक दुःख हुआ। अन्त में हरिवाहन के लिखे हुए एक पत्र से सभी को उसकी सुरक्षा के विषय में आश्वासन मिला।

समरकेतु अपने मित्र के बिना एकाकी नहीं रह सकता था और उसे अन्वेषण करने के लिए वह एकाकी ही निरन्तर छह मास तक जंगलो, नगरो, पर्वतो पर भटकता हुआ एकशृंग पर्वत के निकटस्थ अदृष्टपार सरोवर पर जा पहुँचा। उसके शीतल एवं सुगन्धित जल से आर्प्यायित होकर वह सो गया। उसे स्वप्न में पारिजात वृक्ष दिखाई दिया। उससे उसे मित्र के मिलने का शुभ संकेत प्रतीत हुआ। तत्पश्चात् अश्ववृन्द की हेमाध्वनि सुनाई दी। उसके उद्भव को जानने की कामना से वह उत्तर दिशा की ओर चल पड़ा। कुछ दूर चलने पर उसे एक मनोरम उद्यान, उसके भीतर कल्पतरु खण्ड और उसी के मध्य में चक्षराग शिलाओं से निर्मित एक आयतन दिखाई दिया। उसके भीतर चिन्तामणिमयी, महाप्रमाण, आदि तीर्थकर ऋषभदेव की प्रतिमा दृष्टिगोचर हुई। उसने बड़ी भक्ति से भगवान की स्तुति की।

अभी वह अपने आश्चर्य में ही डूबा था कि उसे 'हरिवाहन' नाम सुनाई दिया। बाहर निकला तो उसे एक मठ दिखाई दिया। तत्पश्चात् गन्धर्वक मिला। गन्धर्वक ने कहा अभी-अभी हरिवाहन को विद्याधरों का चक्रवर्तित्व मिला है। आप भी उनके दर्शन करें। मन्दिर के बाहर चारों ओर अजितादि तीर्थंकरों की चौबीसी की वन्दना करके, तिलकमंजरी सहित बैठे हुए हरिवाहन से समरकेतु ने भेंट की।

तत्पश्चात् उत्तर श्रेणी के विद्याधरों की राजधानी गगनबल्लभनगर में प्रवेश के लग्न की सूचना विराध नामक नरमंसचिव ने दी। उसे श्रवण कर अपने-अपने

घोड़ों पर बैठ कर वे वहाँ पहुँचे। भोजनादि के पश्चात् समरकेतु ने हरिवाहन से हाथी के द्वारा अपहरण से आगे की कथा पूछी। हरिवाहन ने अपना लम्बा वृत्तान्त कहना प्रारम्भ किया। उसने कहा—जैसे ही मैंने आकाशगामी उस मायावी हाथी को रोकने के लिए खड्गधेनुका स्पर्श की, उसने चिंघाड़ कर अपने सहित मुझे नीचे स्थित अदृष्टपार सरोवर में गिरा दिया। मैं तैर कर किनारे लगा और कर्मशक्ति की प्रचण्डता को सोचने लगा। निर्जन वन में किसी भी व्यक्ति से पथ पूछने हेतु एक दिशा की ओर चल पड़ा। चलते हुए मुझे मानुषपद श्रेणी दिखाई दी। उसके अनुसार चलकर एक एलालता-गृह में पहुँचा। उसमें एक दिव्य कन्या थी। मुझे देखकर वह डर गई। उसे आश्चर्य कर अपना परिचय देकर मैंने उससे स्थान आदि का परिचय जानना चाहा किन्तु वह बिना उत्तर दिए ही चली गई।

उसके चले जाने पर चित्र के अनुरूप उसका स्मरण कर मैं अधीर हो गया और उसे तिलकमंजरी होना निश्चय करके उसका अन्वेषण करने लगा। उसकी पदपंक्ति का अनुसरण करते हुए उसी मन्दिर में जा पहुँचा और आदि तीर्थंकर की स्तुति में ध्यानमग्न होकर एक तापस कन्या को देखा। पूजन के पश्चात् उसने मेरा हादिक आतिथ्य किया। मैंने अपना वहाँ तक पहुँचने का वृत्तान्त उसे सुनाया। उसके वृत्तान्त को श्रवण करने हेतु जब मैंने प्रश्न किया तो वह रोने लगी। आश्चर्य करने पर उसने कहना प्रारम्भ किया—

‘मैं दक्षिण में कांची के राजा कुसुमशेखर और गन्धर्व-दत्ता की पुत्री हूँ। मेरा नाम मलय सुन्दरी है। जन्म के समय ही ज्योतिषी बसुरात ने कहा कि मुझसे विवाह करने वाला विशाल विद्याधर राज्य सम्पदा का उत्तराधिकारी होगा। एक बार शयनशाला से मेरा रात्रि में अपहरण हो गया। अनेक राजकुमारियों से मैं घिरी थी। मुझे ज्ञात हुआ कि विचित्रवीर्य चक्रवर्ती, भगवान महावीर का निर्वाणोत्सव मनाने आया है और नृत्य हेतु इन राजकुमारियों का अपहरण कर लाया गया है। मेरी दिव्य नृत्य कला से विचित्रवीर्य को आश्चर्य हुआ। अनन्तर उसने मुझसे कहा कि मैंने यह नृत्य कला कैसे सीखी।

तब मैंने महाशय मुनि से सुनी अपनी माता गन्धर्व-दत्ता की कथा (अर्थात् उसके माता पिता, उनके नगर में विप्लव में हुआ उसका वियोग, उनसे पुनर्मिलन आदि की) सुनाई। विचित्रवीर्य और उनके मंत्री को इससे विश्वास हो गया कि यह गन्धर्वदत्ता उन्हीं की अपहृत पुत्री है। प्रातःकाल स्वस्थान को जाने के पूर्व विचित्रवीर्य ने एक विद्याधर को आदेश दिया कि वह राजकुमारियों को सुन्दर स्थानादि दिखाये और उन्हें अलक्षितरूपेण अपने अपने गृहों को भेज दे।

तत्पश्चात् मन्दिर की छत पर चढ़कर मैंने एक अठारह वर्षीय राजकुमार को समुद्र पर नाविकों सहित नाव में अवस्थित देखा। उसे देखकर मुझे उसके प्रति अनुराग हुआ। वह राजकुमार भी मुझे देखकर कामपीडित हुआ। उसके नाविक तारक और मेरी सखी वसन्त सेना के माध्यम से हम दोनों ने अपने को एक दूसरे को समर्पित कर दिया। इतने में उस विद्याधर ने आकर मुझे और सभी सखियों को हरिचन्दन के तिलक लगाये और दिव्य मालाएं पहनाई। तिलक लगते ही हम सब अद्भुत हो गईं और माला को मैंने ऊपर से ही नीचे अवस्थित राजकुमार के गले में वरमाला की भाँति डाल दी। राजकुमार अत्यधिक प्रसन्न था। इसी बीच तारक ने कहा कि तुम्हारी प्रेयसी का मायावियों ने अपहरण कर लिया है। मुझे वहाँ अवस्थित न देखकर राजकुमार ने शोकवश समुद्र में छलांग लगा दी। उसी के साथ सभी नाविक भी डूब गये। अपने प्रेमी की इस अप्रत्याशित घटना को देखकर शोकविह्वल हो समुद्र में कूद गईं।

जब मेरी निद्रा दूर हुई तो मैंने अपने को अपनी उसी शयनशाला में पाया। सखी बन्धुसुन्दरी के आश्चर्य का दूर करते हुए मैंने उसे समस्त घटना सुनाई। उसने मुझे आश्चर्य किया। एक युद्ध से त्रस्त मेरे पिता ने सन्धि के हेतु मुझे वज्रायुध को विवाहित करना चाहा। उस समाचार से खिन्न होकर मैंने कामदेवोद्यान में फाँसी लगाकर आत्म हत्या करनी चाही। बन्धुसुन्दरी के प्रयास से बची हुई मैंने, जब अपनी अर्खें खोलीं तब समरकेतु को देखा। बन्धुसुन्दरी ने मेरा उसे परिचय दिया। समरकेतु ने भी अपने समुद्र से बचने, कांची में कुसुमशेखर की सहायता

को भाने आदि का वृत्तान्त मुझे बतलाया : बन्धुसुन्दरी ने हमारा पुनः पार्श्वग्रहण कराया ।

तत्पश्चात् समरकेतु अपने शिविर में आया और मुझको लेकर बन्धु सुन्दरी अन्तःपुर में आई । फांसी लगाने की घटना से दुखी पिता ने मुझे वज्रायुध को न देने का निश्चय करके प्रशान्तबैराश्रम को रातोंरात भेज दिया । वहाँ पर एक दिन सायंकाल एक ब्राह्मण आया और उसने कुलपति को, वज्रायुध और समरकेतु के युद्ध तथा उसमें समरकेतु की दीर्घनिद्रा का समाचार सुनाया । उसको सुनकर मैंने पुनः समुद्र में मरण करने का निश्चय किया किन्तु तरंगलेखा को आती देखकर निकटस्थ किपाक नामक विष फल का भक्षण कर लिया । मूर्च्छा के पश्चात् जब मेरी निद्रा समाप्त हुई तो सरोवर में पड़े हुए एक दारुमय विमान में अपने को पड़े हुए पाया । मैंने पुनः जल में मरने की कामना से अपना गात्रिका-बन्धन दृढ़ करते हुए उसमें एक लेख बंधा पाया ।

तत्पश्चात् प्रियतम से मिलने की आशा से मरण-निश्चय, छोड़कर यहाँ पर ही एकाकिनी रहती हुई भगवत्-भक्ति में समयापन करती हूँ । यहीं पर चित्रलेखा से पूर्व परिचय के कारण देवी पत्रलेखा एवं उनकी पुत्री तिलकमंजरी से परिचय हुआ और यह ज्ञात हुआ कि वह दारुमय-विमान विचित्र-वीर्य चक्रवर्ती ने अपनी दूसरी पुत्री पत्रलेखा के लिए गन्धर्वक द्वारा भेजा था ।

मलयसुन्दरी की कथा को सुनकर मैंने उसे आश्चर्य किया और तुम्हारे जीवित होने का समाचार सुनाया । तत्पश्चात् हरिवाहन ने एक पत्र लिखा जिसे एक शुक लेकर उसके स्कन्धावार को ले गया । इसी बीच मलयसुन्दरी की दासी चतुरिका ने तिलकमंजरी की अस्वस्थता का समाचार दिया । (उसने तिलकमंजरी के पुष्पावचय, एक हाथी के सरोवर में गिरने, और सभी से तिलकमंजरी की अस्वस्थता का समाचार दिया) । मलयसुन्दरी ने उससे कहा कि मेरे यहाँ राजकुमार हरिवाहन अतिथि रूप से उपस्थित हैं अतएव उसे एकाकी छोड़कर नहीं आ रही हूँ ।

दूसरे दिन तिलकमंजरी स्वयं आई और मलयसुन्दरी को और मुझे अपने भवन को ले गयी । भोजन के पश्चात् जब मैं बैठा था, तभी वही शुक एक पत्र लाकर उपस्थित

हुआ । उसी समय देवी तिलकमंजरी ने, अदृश्य रूप से नगरदर्शन हेतु एक निशीथ नामक दिव्य पट भेजा था । उस शुक को जैसे ही मैंने उठाया कि दिव्य पट के प्रभाव से वह गन्धर्वक बन गया । इस आश्चर्य से चमत्कृत गन्धर्वक ने, अपनी कथा कही ।

अयोध्या में आपके प्रथमदर्शन के पश्चात् चक्रवर्ती विचित्रवीर्य से दिव्य दारुमय विमान लेकर, मैं कांची की ओर वेग से चला, मार्ग में मूर्च्छित मलयसुन्दरी को लेकर शीघ्र ही अपहृत करने हेतु, भगवान महावीर के जिनालय के ऊपर से दुर्भाग्यवश जा निकला । उसके रक्षक महोदर यक्ष से बाद-विवाद के कारण शापवश शुक बना दिया गया । महोदर ने ही बताया कि उसने समुद्रमरण से समरकेतु और उसके नाविकों तथा मलय-सुन्दरी की रक्षा की थी । उसी ने अपनी दिव्य-शक्ति से विमान सहित मलयसुन्दरी को अदृष्टपार सरोवर में उपस्थित कर दिया था । इसी महोदर ने वेताल बनकर राजा मेघवाहन की परीक्षा ली थी ।

पत्र को पढ़कर तुम्हें (समरकेतु को) देखने की इच्छा से, मलयसुन्दरी और तिलकमंजरी से अनुमत होकर चित्रमाय विद्याधर सहित, विमान में बैठकर अपने मण्डल की ओर चल पड़ा । शिविर में पहुँच कर जब मुझे ज्ञात हुआ कि तुम मेरे लिए जगलों में खोज रहे हो तब मैं भी चित्रमाय को लौटाने के लिए अपनी असमर्थता प्रदर्शित करके तुम्हें खोजने के लिए निकल पड़ा । एक बार मार्ग में गन्धर्वक मिला । उसने मेरे वियोग में सन्तप्त तिलकमंजरी की कष्टाभरी अवस्था का वर्णन किया—“जब चित्रमाय ने पहुँच कर मित्र को ढूँढ़ने के लिए आपके प्रयत्न को, तिलकमंजरी को सुनाया तब तिलकमंजरी की आशा से अनेक विद्याधर सैनिकों के द्वारा आपको ढूँढ़ता हुआ मैं यहाँ पहुँचा हूँ । आप चलिए और मठ में ठहरिए । आपके मित्र की खोज विद्याधर करेंगे ।” मैं तिलकमंजरी के आग्रह से मठ में जा पहुँचा ।

वहाँ रहते हुए एक बार पिता जी ने मेरे पास चन्द्रातप-दिव्यहार और बालारुण दिव्य अंगूठी भेजी । मैंने तिलकमंजरी देवी के लिए हार और मलयसुन्दरी के लिए बालारुण अंगुलीयक भेंट-स्वरूप भेज दिए । इसके

दूसरे दिन एक दासी ने आकर एक पत्र मुझे दिया जिसका आशय यह था कि इस हार के कारण अब तिलकमञ्जरी देवी का आपसे विवाह न हो सकेगा। इस अप्रत्याशित समाचार से मैं मरण के लिए चल पड़ा। चलते हुए मैंने मार्ग में एक मरणोत्सुक राजकुमार को देखा जिसे उसकी पत्नी न मरने के लिए मना रही थी। उसका प्रयोजन जानकर उसके निमित्त मैंने अनेक विद्याओं की आराधना की। जब विद्यायें सिद्ध हुईं तब ज्ञात हुआ कि वह केवल एक स्वाग था। उत्तर-श्रेणी के विद्याधर चक्रवर्ती विक्रम-बाहु संन्यास लेकर चले गए थे। सर्वज्ञ की वाणी से निश्चय करके, चक्रवर्ती के बुद्धि-सचिव ने, मुझे उसके योग्य बनाने हेतु वह सब प्रपञ्च रचा था। परिणामस्वरूप मैं उत्तर-श्रेणी के विद्याधर राज्य का चक्रवर्ती बना।

जिस समय राजधानी के पुरप्रदेश के लिए मैं तैयार था तभी गन्धर्वक आ पहुँचा। गन्धर्वक ने तिलकमञ्जरी की अवस्था को शोचनीय बताया। गन्धर्वक ने कहा—जब मैंने दिव्यहार चन्द्रातप के, राजकुमार के हाथों तक पहुँचने की कथा सुनाई तब वह मूर्छित हो गई। प्रभात-काल में सपरिजना देवी तिलकमञ्जरी ने एक त्रिकालज्ञ महर्षि के दर्शन करके उनसे अपने पूर्वज और अपने प्रेमी के पूर्व जन्म तथा इस जन्म में अवतार लेने का प्रश्न पूछा और तब उसे ज्ञात हुआ कि पूर्वभव का प्रेमी ज्वलनप्रभ ही इस जन्म में हरिवाहन हुआ। और उसी ने पूर्वभव में यह हार अपने पिता राजा मेघवाहन को भेंट किया था। इसी प्रकार मलयसुन्दरी के पूर्वभव तथा उसके पूर्वभव के प्रेमी सुमालीदेव और उसी को इस जन्म में राजकुमार समरकेतु जानकर उन दोनों को अपार दुःख हुआ। महर्षि ने इस जन्म में मिलने का स्थान आदि भी बतलाया। उसने यह भी बतलाया कि इन दोनों देवियों क्रमशः मलयसुन्दरी और तिलकमञ्जरी ने ही अपनी दिव्य शक्ति से पूर्व जन्म में अन्तिम समय में रत्नकूट पर

महावीर स्वामी का और एक शृंग पर आदिनाथ के मन्दिर बनवाये थे। महर्षि ने यह भी बतलाया कि हरिवाहन तद्भव मोक्षगामी है।

तभी से आपको निरन्तर ढूँढ़ने का प्रयत्न किया गया। एक बार ज्ञात हुआ कि आप सार्वकामिक प्रपात शिखर पर मरण हेतु जा चढ़े हैं। इसे सुनकर तिलकमञ्जरी ने जल-समाधि द्वारा आत्म-हत्या करनी चाही, किन्तु पिता के अनुरोध पर छह मास और खोजने के लिए अपना निश्चय स्थगित कर दिया। आज छठे मास का अन्तिम दिन है।

इतना सुनते ही घोड़े पर बैठ कर मैं मठ में पहुँचा। तभी तुम भी मुझे अन्वेषण करते हुए आ मिले। इस प्रकार हरिवाहन ने हाथी द्वारा अपहरण से यहाँ तक की कथा सुनाई। इससे सभी प्रसन्न हुए। समरकेतु को अपने पूर्वभव के और इस भव के कृत्यों पर बड़ा दुःख हुआ। हरिवाहन के समझाने पर वह भी निःश्लथ हुआ।

इसी बीच विचित्रवीर्य का पुत्र कल्याणक आया। हरिवाहन की सम्मति से समरकेतु उसके साथ विचित्र-वीर्य के नगर पहुँचा। वहाँ राजा कुसुमशेखर और गन्धर्वदत्ता एव अन्य सभी की साक्षी में मलयसुन्दरी के साथ उसका सानन्द विवाह हुआ। यहाँ गगनवल्लभनगर से हरिवाहन को लाकर राजा चन्द्रसेन और पत्रलेखादेवी ने अपनी पुत्री तिलकमञ्जरी का उससे विवाह किया।

तत्पश्चात् हरिवाहन ने अपने परममित्र समरकेतु को विजयार्घ की उत्तर-श्रेणी का राज्य समर्पित किया। राजा मेघवाहन ने अपने पुत्र को अपना राज्याधिकार समर्पित कर परलोक साधन का उद्यम किया। राजा चन्द्रकेतु ने समरकेतु को अपना राज्याधिकार समर्पित किया। इस प्रकार सम्पूर्ण राज्य में सुव्यवस्था करने हुए सभी सानन्द रहने लगे।

—गवर्नमेन्ट डिग्री कालेज, गुना, (भ० प्र०)

ज्ञात कवियों की कतिपय अज्ञात हिन्दी रचनाएं

डा० गंगाराम गर्ग

संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं की तरह हिन्दी भाषा में भी पर्याप्त जैन साहित्य लिखा गया है। हस्तलिखित ग्रन्थ-भण्डारों की खोज करने पर अनेक जैन कवि प्रकाश में आए हैं। फिर भी कुछ अच्छे कवि ऐसे हैं जिनकी समस्त रचनाएँ उपलब्ध नहीं हो पाई हैं। यहाँ कुछ प्रसिद्ध कवियों की अज्ञात रचनाओं का परिचय प्रस्तुत है—

हर्षकीर्ति :

डा० प्रेमसागर जैन ने इन्हें हर्षकीर्ति सूरि से पृथक् मानते हुए इनका निवास स्थान जयपुर क्षेत्र में होने की संभावना प्रगट की है। हर्षकीर्ति की रचनाएँ जयपुर के वधीचन्द, लूणकरण और ठोलियों के जैन मन्दिरों तथा टोक के पाँच मन्दिरों में मिलती हैं। दूसरे हर्षकीर्ति की रचनाओं पर ढूढ़ारी भाषा का पर्याप्त प्रभाव है। इन दो कारणों से हर्षकीर्ति ढूढ़ाड़ प्रदेश के प्रतीत होते हैं। हर्षकीर्ति की एक रचना बड़ोदा गाँव में लिखी गई, जो सवाई माधोपुर के पास स्थित है। इससे हर्षकीर्ति का मुख्य साधना-स्थल बड़ोदा गाँव प्रतीत होता है। डा० प्रेमसागर जैन ने हिन्दी जैन भक्ति-काव्य और कवि में हर्षकीर्ति की 'पंचगति बेलि', 'नेमिनाथ राजुल गीत', 'मोरड़ा' 'नेमोश्वर गीत', 'वीस तीर्थकर जखड़ी', 'चतुर्गति बेलि', 'कर्महिण्डोलना' 'छहलेश्या' 'कवित्त और भजन व पद संग्रह' आदि रचनाओं की चर्चा की है। उक्त रचनाओं के अतिरिक्त इनकी निम्नांकित रचनाएँ प्राप्त हुई हैं—

१. श्रेयस किया जयमाल :

इस ग्रंथ की रचना बड़ोदा गाँव में सवत् १८६४ में हुई। इसमें २६ छंदों में श्रावकों की ५३ क्रियाओं का वर्णन किया गया है।

२. सीमंघर का समोसरण :

इसमें ६ श्लोक छंदों में तीर्थंकर सीमंघर स्वामी के

समवसरण का उत्सव वर्णित हुआ है।

३. जिनराज की जयमाल :

इसमें १० छंदों में जिनेन्द्र के नाम स्मरण की महत्ता कही गई है।

४. बारहमास्यो :

इसमें २१ छंदों में राजुल की विरहावस्था का चित्रण है। राजुल के विरह को उद्दीप्त करने वाला प्राकृतिक चित्रण भी बड़ा मर्मस्पर्शी बन पड़ा है :—

हो स्वामी चंतज आवा मोरीया,

नर नारी मोहै,

भंवर गुजार करं घणा, अति ही गुण सोहै ॥१६॥

हे स्वामी बेसाखा वन मोरीया,

मोरी सब बेलि,

मोरी चम्पा केतकी मुझ बाँस सहो ॥१७॥

५. जिनजी की बधावो :

यह आदि तीर्थंकर के जन्मोत्सव का बधाई-गीत है।

६. परनारी-निवारण गीत :

इस गीत में परनारीगमन को स्वास्थ्य, सम्मान और आत्म-शान्ति का विनाशक कहा गया है—

जीव तपे जिम बीजली रे, मनड़ो रहै न ठाम ।

काया दाह मिटै नहीं, गीठ न रहै दाम ।

विनोदीलाल :

डा० प्रेमसागर जैन और पं० परमानन्द ने क्रमशः 'हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि' तथा अनेकान्त में प्रकाशित 'अग्रवालों का जैन संस्कृति में योगदान' निबन्ध में विनोदीलाल का परिचय देते हुए उनकी 'भक्तामर कथा' 'सम्यक्त कौमुदी' 'श्रीपाल विनोद' 'राजुल पच्चीसी' 'नेमिनाथ का व्याहला' 'फूलमाला पच्चीसी' और 'नेमिनाथ का बारहमासा' आदि सात रचनाओं की चर्चा की है। कवि विनोदीलाल के सर्वश्रेष्ठ की मर्मस्पर्शिता 'रसखान' की याद दिला देती है। तेरहपंथी

मन्दिर टोंक के गुटका न० ५० व में 'विनोदीलाल' के तीन गीत भी उपलब्ध हैं—

१. सुमति कुमति को भगड़ो :

यह राग सारंग में लिखा हुआ १२ चरण का गीत है। इस गीत में कृमति और सुमति दोनों ही 'चेतन' को अपने वश में करने का प्रयत्न कर रही है। चेतन के प्रति कुमति का व्यवहार कुनागी जैसा ही है—

कुमति कहै सुनि कंत बावरे, यह तोकूं फुसलाई ।
यह दूती चंचल सिवपुर की, कितेक फंद याहि आवे ।
हों सूधी आपनि घर बैठी, ताकों अंक लगावै ।
तो सौं कत पाय कर भोदू, क्यों नहि नाच नचावै ।

२. जिन गारी :

इस गीत की रचना फागुन शुक्ला १३ सवत् १८४३ में हुई। इस गीत में कवि ने कुमति के दुश्चरित्र की चर्चा करते हुए चेतन को 'सुमति' को व्याहने का प्रेरणा दी है—

गारी तो एक मुनी तुम चेतन, सुनत श्रवण सुखवाई ।
तुम्हरी तो कुमति बुरं ढंग लागी, समझत नहि समझाई ।
अति ही प्रचंड भई दारी डोल, जीवन की मतवारी ।
पंचन स्थों दारी रति मान, कान न करत तुम्हारी ।
.....

छांडो संग कुमति बनित को, घर तें देहु निकारी वे ।
व्याही सुमति बधू सो बनित उर न व्याहनहारी वे ।

३. चौबीस तीर्थङ्करो की स्तुति—

इस रचना में कवि ने चौबीसो तीर्थङ्करो के प्रति अपना भक्ति-भाव प्रदर्शित किया है—

श्री कुंथनाथ रिक्षा करो मेरी,
अरह जिनन्द सरनि हों तेरी ।

मलिनाथ बिन उमहा जोषा,
मुनिमुक्त जिन जगत समोषा ।
समोषि जगत उधार कीम्हो ।
नमि जिनैस मनाइए ।
श्री नेमिनाथ जिनन्द के गुन ।
मधुर सुर स्थों गाइए ।

विश्वभूषण :

आगरा जिले में स्थित हथिकान नगर के प्रसिद्ध भट्टारक विश्वभूषण की 'निर्वाण मंगल', 'अष्टाङ्गिका कथा', 'आरती', 'नेमि जी का मंगल', 'पार्श्वनाथ का चरित्र', 'पंचमेरु पूजा', 'जिनदत्त चरित्र', 'जिनमत खिचरी' और पदों का काव्यात्मक परिचय 'हिन्दी जैन भक्ति-काव्य और कवि' में प्राप्त है। विश्वभूषण की अन्य एक रचना तेरह-पथी मन्दिर टोंक के एक गुटके में मिली है।

मुनीश्वरा की बोनती :

ढूढाडी भाषा के इस गीत में ८ चरण हैं। इसमें मुनि के गुणों की प्रशंसा करने हुए उनके प्रति कवि ने अपनी भाव-भीनी श्रद्धा प्रकट की है—

बाईस परीस्था सहै दिन राति,
असुभ करम पर जालतां ।
भवि जीवानं समोधनहार,
आप तिरंजी भव तयारता ।
अंसां जो मुनिवर है कोई आजो,
ज्यानें नति उठि करस्थां वंदना ।
विसभूषण इहि कीयो छं वषाण,
जे र भणे जी भव सुख लहै ।

दक्षिण भारत से प्राप्त महावीर प्रतिमाएँ

श्री मारुतिनंदन प्रसाद तिवारी

‘मानसार’ के अनुसार ध्यान-निमग्न जिन मूर्तियों को मानवाकार, द्विभुज, दो नेत्रों, एक शरीर व श्रीवत्स चिह्न सहित निराभरण व वस्त्ररहित उत्कीर्ण किया जाना चाहिए—

निराभरणसर्वांग निर्वस्त्रांगमनोहरम् ।

सत्यवक्षस्थले हेमवर्णं श्रीवत्सलाञ्छनम् ॥

—मानसार, ८१-८२

आगे लिखा है कि तीर्थंकर को या तो समभंग मुद्रा में (कायोत्सर्ग) खड़ा या अभय मुद्रा का प्रदर्शन करते हुए होना चाहिए। पद्मासन मुद्रा में आसीन होने पर तीर्थंकर की वाम हथेली पर दाहिनी हथेली ऊपर की ओर स्थित होगी। सिंहासन व प्रभावली पर नारद, ऋषियों, विद्याधरों, देवगणों को खड़े या आसीन मुद्रा में मूर्तिगत किया जाना चाहिए, जो देवता की बन्दना करते और भेंट चढ़ाते हुए चित्रित होंगे। सिंहासन के नीचे दो तीर्थंकर आकृतियाँ उपासना मुद्रा में अंकित होंगी। साथ ही सिद्धों, प्रहंतों को भी उत्कीर्ण किया जाना चाहिए। मध्यस्थ जिन आकृति उत्तम-दशताल-माप के अनुसार निर्मित होंगी।

दक्षिण भारतीय तीर्थंकर प्रतिमाओं में उत्तर भारतीय तीर्थंकर प्रतिमाओं के विपरीत सामान्यतः उष्णीष का अभाव होता है और श्रीवत्स चिह्न तीर्थंकर के दाहिने वक्ष पर उत्कीर्ण किया गया है।

तीर्थंकर महावीर को दक्षिण भारतीय शिल्प में उपर्युक्त निर्देशों के आधार पर ही विभिन्न युगों में मूर्तिगत किया गया। कतिपय मूर्तियों का विवरण इस प्रकार है—

१. श्री हरिदास स्वालि के संग्रह में स्थित एक महावीर प्रतिमा को डॉ० यू०पी० शाह दक्षिण भारत की कृति

बतलाते हैं।^१ पृष्ठभाग में आलेख्युक्त मूर्ति (ऊँचाई ३४.३ से० मी०, चौड़ाई २२.१ सें० मी०) में महावीर को उल्टे कमल के आसन पर अर्द्धपद्मासन मुद्रा में आसीन प्रदर्शित किया गया है। इस चित्रण की विशेषता है पृष्ठ-भाग में उत्कीर्ण कान्तिमण्डल से संबद्ध रूप में दो मकर मुख वाले चौड़े दण्डों का अंकन, जिसे दो छोटे स्तम्भ दोनों पार्श्वों में सहायता दे रहे हैं। इन दोनों स्तम्भों के बाह्य भाग में दो क्रोधित सिंह आकृतियों को मकर प्रणाली युक्त घुमाओं को सहायता देने हुए उत्कीर्ण किया गया है। इन दण्डों से पुनः दोनों ओर एक खड़ी चामर-धारी आकृति को प्रकट होते दिखाया गया है। दोनों ही आकृतियाँ मुकुट आदि विभिन्न अलंकरणों से सुसज्जित हैं। मध्य का समस्त अंकन एक देवालय के रूप में प्रदर्शित चित्रण से वेष्टित है। संपूर्ण अंकन का संपुजन एक देवालय के रूप में कल्पित है। इस चित्रण के ऊर्ध्व भाग में दो मातृधारी आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं और अन्तिम वाम भाग में मस्तक पर सप्तफणों के घटाटोप से आच्छादित तीर्थंकर पार्श्वनाथ का चित्रण हुआ है। दूसरी ओर भी संभवतः एक तीर्थंकर प्रतिमा रही होगी, जो संप्रति नष्ट हो चुकी है। दूसरी प्रतिमा संभवतः आदिनाथ की रही होगी। पीठिका के मध्यभाग में उत्कीर्ण सिंह आकृति महावीर के लक्षण के लिए प्रयुक्त हुई है। इस अंकन के निचले भाग में दाहिने पार्श्व के निकले (projection) हुए भाग में एक द्विभुज और तुदिली यक्ष आकृति प्रदर्शित है, जिसकी वाम भुजा में एक शैला उत्कीर्ण है। इस अंकन के दूसरे पार्श्व में अबिका को चित्रित किया गया

१. Shah, Umakant P., Jaina-Bronzes in Hari-das Swali's collection, Bull. of Prince of Wales Museum of Western India, Bombay, No. 9, 1964-66, pp. 47-48.

है, जिसकी दाहिनी भुजा में एक बालक और बायीं में आम्रफल प्रदर्शित है। डॉ. यू. पी. शाह ने निमिती, मण्डन, अलंकरण तत्त्वों के आधार पर इस कांस्य प्रतिमा को ६वीं शती के अन्तिम चरण में तिथ्यांकित किया है। समूचे अंकन की देवालय के रूप में कल्पना के आधार पर उनका अनुमान है कि इस प्रतिमा का प्राप्ति-स्थल कहीं कर्नाटक में होना चाहिए।

२. पालघाट जिले के कावश्शेरी अश्वोम नामक स्थान के आलदूर नामक स्थल (केरल) से प्राप्त जैन मन्दिरों के ध्वंसावशेषों के साथ ही प्राप्त दो प्रतिमाओं में एक तीर्थंकर महावीर का चित्रण करती है।^१ महावीर प्रतिमा साधारण किन्तु भली भाँति निमित्त है और महावीर को पूर्ण भद्रासन पर पर्यङ्कासन मुद्रा में आसीन प्रदर्शित करती है। देवता की सम्पूर्ण निमिती भव्य और सानुपातिक है। मुखाकृति से ही महावीर की अन्तर्दृष्टि और आत्मानुभूति का भाव सुस्पष्ट है। महावीर की मुखाकृति का मण्डन वृत्ताकार है, और लम्बे कर्ण व सीधे व वर्गाकार स्कन्धों वाले देवता की भुजाओं व शरीर की निमिती भी प्रशंसनीय है। श्रीवत्स चिह्न अनुपलब्ध है, किन्तु देवता के मस्तक पर प्रदर्शित त्रिछत्र, नग्नता, लम्बी भुजाएँ, युवा शरीर और महावीर के लाक्षणिक, सिंह का चित्रण स्पष्ट है। प्रतिमा में गन्धर्व आकृतियों को मुख्य आकृति के दोनों ओर उत्कीर्ण किया गया है। गन्धर्वों के दाहिने हाथों में चोरी स्थित है, जब कि उनके बाएँ हाथ नितम्बों पर स्थित हैं। इस चित्रण में सिंहासन के सूचक दो सिंह आकृतियों का सुन्दर अंकन हुआ है। मूर्ति की कलागत विशेषताएँ इसके ६वीं-१०वीं शती में तिथ्यांकित किए जाने की पुष्टि करती हैं।

३. आन्ध्रप्रदेश के गुन्टूर जिले में स्थित बपतला नामक स्थल से कुछ वर्ष पूर्व जैन कांस्य प्रतिमाओं का एक सग्रह प्राप्त हुआ था, जो सप्रति हैदराबाद पुरातात्विक संग्रहालय

में संग्रहीत है।^२ इस निधि से उपलब्ध मूर्तियों को अन्य स्थलों से प्राप्त होने वाली कांस्य प्रतिमाओं की साम्यता के आधार पर ११वीं-१२वीं शती में तिथ्यांकित किया गया है। इस निधि से प्राप्त होने वाली एक प्रतिमा की पहचान महावीर अंकन से की गई है। किन्तु यह पहचान लाञ्छन के अभाव में निश्चित नहीं है। वक्षस्थल पर श्रीवत्स चिह्न का अभाव और दक्षिण भारत की सामान्य विशेषता के विपरीत उष्णीष का प्रदर्शन इस चित्रण की अपनी विशेषता है।

४. अकोला जिले के कारंजा नामक स्थल से प्राप्त होने वाली महावीर की एक अन्य कांस्य प्रतिमा (२३ इंच ऊँची) में पद्मासनस्थ महावीर को सत्वपर्यङ्क आसन में सिंहासन पर आसीन चित्रित किया गया है।^३ महावीर आकृति त्रिछत्र और एक मुख वाले सर्पफण के नीचे अवस्थित है। त्रिछत्र के चारों ओर शाल पत्तियाँ लिपटी हैं। पीठिका पर उत्कीर्ण सिंह आकृति के नीचे घर्मचक्र निमित्त है। साथ ही सिंहासन के निचले भाग पर अष्टग्रहों को मूर्तिगत किया गया है। सिंहासन का पृष्ठ-भाग अलंकरणरहित है, जिस पर गरजते हुई सिंह आकृतियों के ऊपर मकर-मुख निमित्त है। साथ ही देवता के दोनों पाश्वर्कों में यक्ष-यक्षिणी और चाँवरधारी आकृतियों का मनोहारी चित्रण हुआ है। तीर्थङ्कर आकृति के नीचे दो अलग पीठिकाओं पर दोनों पाश्वर्कों में उनके यक्ष-यक्षिणी, मार्तण्ड और सिद्धायिका का काफी विशद अंकन हुआ है। द्विभुज मार्तण्ड को घन का थैला व जबीरी नीबू (Citron) धारण किये हुए उत्कीर्ण किया गया है। चतुर्भुज सिद्धायिनी के हाथों में कुल्हाड़ी, कमल पुष्प, जबीरी नीबू और पुष्प^(४) स्थित है। यक्ष आकृतियों के ऊपर महावीर प्रतिमा के दोनों पाश्वर्कों में उत्कीर्ण दो रथिकाओं जैसे देवालयों में कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़े पाश्वर्नाथ (दाहिनी

2. Unnithan, N. G. Relics of Jainism Alatur, Tour. Indian History, Vol XLIV, Pt. I, Serial No 130, April 1966, p 540.

३. Ramesan, N., Jaina Bronzes from Bapat-tala, Lalit-Kala, No. 13, p. 29.

४. Barrett, Douglas, A Jain Bronze from the Deccan, Oriental Art, Vol. V, No 1 (N. S.) 1959, pp. 162-65.

और) और बाहुबलि की आकृतियाँ निमित हैं। पार्श्वनाथ के मस्तक पर पांच सर्पफणों का घटाटोप प्रदर्शित है। निमिती और शैली के आधार पर इस मूर्ति को ६वीं शती ई० में तिथ्यांकित किया गया है। महावीर की एक अन्य ध्यानमुद्रा में आसीन मूर्ति (४ इंच ऊँची) पुडुकोट्टी से प्राप्त होती है, जिसे डा० यू० पी० शाह ने राष्ट्रकूट काल का बताया है।^५

५. दक्षिण भारत के बेल्लरी जिला के हरपन हल्लित-लुक नामक स्थल के कोगली ग्राम में महावीर की तीन विशिष्ट कांस्य प्रतिमाएँ प्राप्त होती हैं।^६ ये सभी चित्रण संप्रति मद्रास गवर्नमेण्ट म्यूजियम, मद्रास में संगृहीत हैं। इनमें से पहली मूर्ति (३६.३ से० मी० ऊँची, १६.५ से० मी० चौड़ी) में पीठिका पर स्थित पद्मासन पर महावीर कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़े हैं। महावीर के दोनों पार्श्वों में उनके यक्ष व यक्षिणी का चित्रण हुआ है। सिर के पीछे उत्कीर्ण प्रभावली पर, जो काफी खण्डित है, अन्य पूर्ववर्ती २३ तीर्थङ्करों का एक वृत्त के रूप में अकन ध्यातव्य है। देवता की केश रचना छोटे-छोटे गुच्छकों के रूप में प्रदर्शित है। बालों के गुच्छकों का मस्तक के दोनों ओर से स्कन्धों तक लटकते हुए अकन इस प्रतिमा की अपनी विशेषता है। यह प्रतिमा निमिती की दृष्टि से उत्कृष्ट है। दूसरी मनोज्ञ प्रतिमा (१३.३ से० मी० ऊँची १७.४ से० मी० चौड़ी) में आसीन महावीर की पीठिका के मध्य में एक सिंह को दो घुटने टेके उपासक आकृतियों से घाटित प्रदर्शित किया गया है। पृष्ठभाग में उत्कीर्ण प्रभामण्डल में दो गन्धर्वों और महावीर से सम्बद्ध विद्या देवियों का चित्रित किया गया है। देवता के दोनों पार्श्वों में उनके यक्ष-यक्षिणी की आकृतियाँ स्थित हैं। २६ से० मी० ऊँची तीसरी प्रतिमा में मूलनायक को तीन सिंहों का चित्रण करने वाले पादपीठ पर कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़ा

प्रदर्शित किया गया है। पीठिका के मध्य में चित्रित सिंह देवता का लांछन है और पार्श्व-स्थित सिंह आकृतियाँ पीठिका के मिहासन होने के सूचक हैं। प्रतिमा के काफी भग्नावस्था में होने के उपरान्त भी पृष्ठभाग में प्रभामण्डल रहे होने का आभास स्पष्ट है। महावीर की पीठिका पर ध्यानमुद्रा में आसीन एक अन्य कांस्य प्रतिमा का प्राप्ति-स्थल अज्ञात है। पात्र शैली में निमित कांस्य प्रतिमा के पादपीठ के मध्य में महावीर का लांछन उत्कीर्ण है, जिसके दोनों ओर चित्रित सिंह आकृतियाँ मिहासन के सूचक हैं। यह प्रतिमा संप्रति मद्रास गवर्नमेण्ट म्यूजियम, मद्रास में स्थित है।

६. महावीर प्रतिमाओं के कई उदाहरण चित्तौड़ जिले में स्थित पल्लव युगीन वल्लिमलाई की जैन गुफाओं में उत्कीर्ण हैं।^७ पाम-पास ही में उत्कीर्ण दो महावीर मूर्तियों में मूलनायक की आकृति एक पीठिका पर ध्यान मुद्रा में आसीन है। तीन भागों में विभक्त पादपीठ के दो छोरों पर प्रदर्शित सिंह आकृतियाँ मिहासन के भाव का बोध कराते हैं, और मध्य में स्थित सिंह महावीर का लांछन है। महावीर के दोनों पार्श्वों में दो चारवर्धारा आकृतियाँ चित्रित हैं। इन दोनों महावीर प्रतिमाओं के दोनों पार्श्वों में एक स्त्री व पुरुष आकृति प्रदर्शित है, जो सम्भवतः सम्मिलित रूप से दोनों के यक्ष-यक्षिणी आकृति के लिए प्रयुक्त हुआ लगता है। इसी गुफा के बाह्य चट्टान पर भी महावीर की दो आसीन प्रातमाएँ देखी जा सकती हैं। पूर्व प्रतिमाओं की तुलना में ये कुछ दूर-दूर उत्कीर्ण हैं। दोनों ही मूर्तियों में चित्र के नीचे ध्यान-निमग्न महावीर चौकोर राशिका में उत्कीर्ण है। पृष्ठभाग में समकोण चतुर्भुज के आकार का अलकरणहीन कान्ति-मण्डल प्रदर्शित है। इसी स्थल पर उत्कीर्ण एक अन्य प्रतिमा में समकोण चतुर्भुज आकार के प्रभामण्डल से युक्त महावीर को एक पीठिका पर चित्र के नीचे आसीन चित्रित किया गया है। महावीर के दोनों पार्श्वों में अलग-

५. Sundaram T. S., Jaina Bronzes from Pudukottai, Lalit Kala Nos. 1-2, p. 79.

६. Ramachandran, T. N., Jaina Monuments and Places of First Class Importance, Calcutta, All India Sasana Conference, 1949, pp. 64-66.

७. Ramchandran, T. N. Ibid., descriptions of the images are mainly based on the plates of the Vallimalai figures given in the book.

अलग पीठिका पर उनके शासन देवताओं को उत्कीर्ण किया गया है। साथ ही स्कन्धों के समीप दोनों ओर दो चाँवरधारी आकृतियाँ प्रदर्शित हैं और ऊपर की ओर उड़ती हुई गन्धर्वों और अन्य कई मवाहन आकृतियों को मूर्तिगत किया गया है। बिल्कुल इन्हीं विवरणों से युक्त एक अन्य प्रतिमा भी इसी गुफा में उत्कीर्ण है।

७. महावीर की एक विशिष्ट ताम्र प्रतिमा दक्षिणी कन्नड क्षेत्र से प्राप्त हुई है जिसमें उत्कीर्ण सिंह आकृति ही केवल इसके महावीर अंकन होने की पुष्टि करता है। पद्मासनस्थ देवता के हाथ योगमुद्रा में प्रदर्शित है। मस्तक के चारों ओर सप्तफणों में निर्मित एक छत्र के साथ ही शासन देवताओं और आभरण व अलङ्कारों से युक्त सेवक-सेविकाओं की भी आकृतियों का भव्य संयोजन हुआ है। सहायक आकृतियों के अलङ्कन होने के बावजूद मुख्य आकृति तुलनात्मक दृष्टि से बिल्कुल सादी है। पीठिका पर उत्कीर्ण लेख इस प्रतिमा की १०वीं-११वीं सदी में प्रतिष्ठित बतलाता है। किन्तु इस प्रतिमा की पहचान महावीर अंकन से करना पी०सी० नाहर को तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता है।^१ उनकी धारणा है कि यह चित्रण पार्श्वनाथ का होता चाहिए क्योंकि सप्त सर्पफणों का घटाटोप २३वें तीर्थङ्कर की ही विशेषता है। स्वयं हड़वे ने महावीर के दोनों पार्श्व स्थित आकृतियों की पहचान धरणेन्द्र और पद्मावती से की है, जो पार्श्वनाथ के शासन देवता हैं। महावीर के शासन देवताओं का नाम मातंग और सिद्धायिका है। जहाँ तक पीठिका पर उत्कीर्ण सिंह आकृति के औचित्य का प्रश्न है वह महावीर के लाछन रूप में उत्कीर्ण न होकर सिंहासन का प्रतीक है। मैं भी मात्र सिंह के आधार पर इस प्रतिमा की महावीर अंकन से पहचान करना उचित नहीं समझता।

८. महावीर की कई प्रतिमाएँ हैदराबाद संग्रहालय में सकलित हैं।^२ इस संग्रहालय में स्थित एक विशिष्ट प्रतिमा में कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़ी महावीर की आकृति के चारों ओर अन्य २३ तीर्थङ्करों को मूर्तिगत किया गया है। नीचे की ओर दो चाँवरधारी आकृतियाँ चित्रित हैं। स्कन्धों के ऊपर दोनों पार्श्वों में दो गजारूढ़ और वाद्यवादन करती आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं। मूलनायक की केशावलि गुच्छको के रूप में प्रदर्शित है। एक अन्य मनोज्ञ प्रतिमा में कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़ी महावीर आकृति को २ खड़ी और २१ आसीन तीर्थङ्करों की आकृतियों से वेष्टित चित्रित किया गया है। देवता के पृष्ठ भाग में वृत्ताकार प्रभामण्डल और त्रिरेखात्मक किरिट, जिस पर कलश स्थित है, उत्कीर्ण है। वारगल से भी महावीर की दो आसीन प्रतिमाएँ प्राप्त होती हैं, जिनमें से एक में देवता को मृत्ताकार प्रभामण्डल और गुच्छको के रूप में प्रदर्शित केशावलि से युक्त चित्रित किया गया है। दूसरी प्रतिमा में ये दोनों ही विशेषताएँ अनुपलब्ध हैं। चालुक्यों के विशिष्ट कलाकेन्द्र बादामी (६५० ई०) से भी महावीर की एक मनोज्ञ प्रतिमा उपलब्ध होती है। महावीर की कुछ विशिष्ट मूर्तियाँ दक्षिण भारत के प्रसिद्ध कला-केन्द्र एल्लोरा में भी उत्कीर्ण हैं।^३ गुफा न० ३०, ३१, ३२ (इन्द्रमभा), ३३, ३४ में महावीर को अनेकशः अपने यक्ष-यक्षिणी, मानङ्ग और सिद्धायिका के साथ ध्यानमुद्रा में आसीन चित्रित किया गया है। इन चित्रणों में महावीर को लाछन (सिंह), त्रिछत्र, श्रीवत्स आदि से युक्त प्रदर्शित किया गया है। ये ममस्त मूर्तियाँ ६वीं शताब्दी से ११वीं शताब्दी के मध्य निर्मित हुई प्रतीत होती हैं।

—पार्श्वनाथ विद्याभूमि, वाराणसी-५

८. Hadaway, W. S., Notes on Two Jaina Metal Images, Rupam, No. 17, Jan. 1924, pp. 48-49.

९. Nahar, P. C., Note on Two Jain Images from South India, Indian Culture, Vol. 1., July 1934-April 1935 Nos. 1-4, pp. 127-18.

१०. Rao, S. Hanumantha, Jainism in the Deccan, Tour. Indian History, 69. XXVI, 1948, Pts. 1-3, pp. 45-49.

११. Gupte, Rames Shankar & Mahajan, B. D. Ajanta, Ellora and Aurangabad Caves, Bombay, 1962, pp. 129-223.

वत्स जनपद का राजनैतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास

डा० शशिकान्त एम. ए., डी. आर., पी-एच. डी.

वत्स जनपद भारतवर्ष के मध्यदेश में अवस्थित था और इसकी राजधानी यमुना नदी के उत्तरी तट पर स्थित कौशाम्बी नगरी थी जिसकी पहचान इलाहाबाद जिले के कोसम ग्राम से की जाती है। बौद्ध एवं जैन साहित्य तथा भास के नाटकों में प्राप्त ज्ञातव्य के अनुसार भारत के छठी शती ई० पू० के राजनैतिक मानचित्र के आधार पर यह प्रतीत होता है कि वत्स जनपद यमुना नदी के उभय तटों पर गंगा-यमुना दोआब के निचले भाग में स्थित था। दोआब में पश्चिम की ओर इसका प्रसार-पांडु-गंगा और सेगर-यमुना संगमों तक का तथा पूर्व की ओर गंगा-यमुना संगम तक था, और इसकी सीमाओं को उत्तर में गंगा, पूर्व में करमनासा, दक्षिण में सोन तथा पश्चिम में केन नदियां आवृत करती थीं। अक्षांश २४°४' व २६°२' उ० तथा देशान्तर ८०° व ८४° पू० के मध्य स्थित कानपुर, फतेहपुर, इलाहाबाद, वादा, मिर्जापुर, वाराणसी, गाजीपुर और रोवा के वर्तमान जिलों का अधिकांश भूभाग इसके अन्दर समाविष्ट था। कोसल, काशी, मगध, अंग, कलिंग, चेदि, अवन्ति, कुरु और पंचाल जनपद उसे प्रायः वृत्ताकार व्यूह में घेरे हुए थे और थल मार्गों एवं अन्तर्देशीय जल मार्गों द्वारा प्राचीन भारत के महत्त्वपूर्ण राजनैतिक एवं व्यापारिक केन्द्रों से इसका व्यवस्थित सम्पर्क था।

प्रायः गत सौ वर्षों में की गयी खोजों के फलस्वरूप इस प्रदेश में ऐतिहासिक महत्त्व के लगभग एक सौ स्थल प्रकाश में आ चुके हैं, और उन स्थलों से ऐसी काफ़ी सामग्री मिली है जिसकी सहायता से इस प्रदेश के प्राचीन इतिहास का पुनर्निर्माण किया जा सकता है। कौशाम्बी और भीटा में बड़े पैमाने पर पुरातात्विक खुदाई भी हुई है और वहां खुदाई द्वारा ऐतिहासिक दृष्टि से अति

मूल्यवान् विविध सामग्री प्राप्त हुई है।

अब तक प्रकाश में आये प्राचीन स्थल यह सूचित करते हैं कि यह प्रदेश मानव के प्राचीनतम आवास-स्थलों में से एक था और यहां भारत की पूर्व-पाषाण युगीन, मध्य-पाषाण युगीन, नव्य-पाषाण युगीन एवं ताम्र-पाषाण युगीन सभ्यताओं का क्रमिक विकास हुआ था। यहां के ताम्र-पाषाण युगीन लोगों का पश्चिम भारत में बसे अपने समवर्तियों से भी सहज सम्पर्क था। पौराणिक अनुश्रुतियों से ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में वत्स प्रदेश प्रायः काशी राज्य के अधीन रहा। कौशाम्बी में प्रकाश में आया पुरातात्विक साक्ष्य यह सूचित करता प्रतीत होता है कि वंशों की आरंभ जाति यहां महाभारत युद्ध (१५वीं शती ई० पू०) के सौ-दो सौ वर्ष पहले ही आकर बसी होगी।

हस्तिनापुर के विनाश के उपरान्त लगभग १३वीं-१२वीं शती ई० पू० में परीक्षित के छोटे वंशज कुरु राजा निचक्षु ने कौशाम्बी को अपनी राजधानी बनाया और तत्पश्चात् २३ अन्य कुरु राजाओं ने कौशाम्बी से ही राज्य किया जब तक कि उसका विलय मगध साम्राज्य में नहीं हो गया। उक्त राजाओं में से शताब्दीक द्वितीय और उसका पुत्र उदयन छठी शती ई० पू० में विद्यमान थे।

लौकिक संस्कृत साहित्य एवं जैन, बौद्ध तथा ब्राह्मणीय धार्मिक साहित्य में उदयन के व्यक्तित्व एवं कार्यकलापों से सम्बन्धित कितने ही प्रसंग मिलते हैं। अवन्ति के राजा प्रद्योत की पुत्री वासवदत्ता के साथ उसके प्रणय की कथा प्राचीन भारतीय साहित्य में विशेष रूप से लोकप्रिय थी। उदयन लगभग ५५५ ई० पू० में सिंहासनाारूढ़ हुआ प्रतीत होता है। तत्पश्चात् ही उस समय विद्यमान राज्यों का विघटन तेजी से प्रारम्भ हो गया और प्रायः एक दशक के भीतर ही वत्स के पूर्व में सर्वशक्ति-सम्पन्न

लखनऊ विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच. डी. की उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध का सार-संक्षेप।

मगध राज्य का उदय हुआ और पश्चिम की ओर उतने ही शक्तिशाली अवन्ति राज्य का। मगध राज दशक की बहन के साथ उसका विवाह यह सूचित करता है कि वह अजातशत्रु के राज्यकाल की समाप्ति के बाद भी विद्यमान था। कौशाम्बी में किये गये उत्खनन यह प्रकट करते हैं कि उसके राज्यकाल में नगर प्राचीर तथा राजप्रासाद का पुनर्निर्माण किया गया था।

लगभग ४६७ ई० पू० में मगधराज महानन्दिन ने वत्स के कुरु राजा को अपना करद राजा बना लिया प्रतीत होता है। ४२४ ई० पू० में उसके पुत्र महापद्म ने करद राजा की व्यवस्था भी समाप्त कर दी और वत्स प्रदेश को मगध साम्राज्य का प्रत्यक्ष अधीनस्थ एक प्रान्त ही बना लिया। मौर्यों के राज्यकाल में कौशाम्बी की नगर प्राचीर एवं प्रासाद प्राचीर का कौटिल्य द्वारा निर्णीत प्रणाली के अनुसार पुनर्निर्माण हुआ प्रतीत होता है। मौर्य सम्राट अशोक के शासनादेश यह भी सूचित करते हैं कि कौशाम्बी नगर के प्रशासक महामात्र पदवी के अधिकारी होते थे और उसकी द्वितीय रानी कालुवाकी ने इस नगर को अपना निवास-स्थान भी बना लिया था।

लगभग २३६ ई० पू० में अशोक की मृत्यु के तुरत बाद ही मौर्य साम्राज्य विच्छिन्न होने लगा। सम्प्रति के राज्यत्व में कुछ समय के लिए मौर्यवंश की पाटलिपुत्र और उज्जयिनी शाखाओं का एकीकरण हो गया प्रतीत होता है परन्तु उसकी मृत्यु के बाद पुनः वे अलग-अलग हो गईं जिससे साम्राज्य के कुछ सेवकों को यह अवसर मिल गया कि वे अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित कर ले यथा मथुरा, अहिच्छत्रा, कौशाम्बी और युगशैल में, अथवा अपना प्रभाव बढ़ा लें जैसा कि विदिशा में सेनापति और विदर्भ में सचिव ने किया। विभिन्न अनुश्रुतियों एवं मुद्रा-सम्बन्धी साक्ष्य के समन्वय से ऐसा सूचित होता है कि सुवर्णगिरि प्रान्त में सातवाहन और उज्जयिनी प्रान्त में शुंग मौर्यों के उत्तराधिकारी हुए तथा विदिशा प्रदेश में कण्व शुंगों के उत्तराधिकारी हुए, और यह भी कि मौर्य साम्राज्य के इन उत्तराधिकारियों का पाटलिपुत्र एवं कौशाम्बी से शायद ही कोई सम्बन्ध था। मथुरा,

अहिच्छत्रा, अयोध्या एवं कौशाम्बी से प्राप्त सिक्कों के मित्र-नामान्त वाले राजाओं का शुंगों से सम्बन्ध स्थिर करने योग्य सुनिश्चित साक्ष्य अभी उपलब्ध नहीं है।

सम्प्रति की मृत्यु के उपरान्त लगभग २१६ ई० पू० में सुदेव द्वारा कौशाम्बी के स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की गई प्रतीत होती है। सम्प्रति-पश्चात् और कनिष्क पूर्व-काल में, जैसा कि सिक्कों और अभिलेखों से विदित होता है, २८ राजाओं ने इस राज्य पर शासन किया प्रतीत होता है। उनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण बहसतिमित था। वह सम्भवतः मथुरा के नवोदित राजवंश का कुमार था और उसी ने अपने नाना अहिच्छत्रा के राजा के साथ मिलकर पाटलिपुत्र से मौर्य वंश का उच्छेद किया था तथा दूसरी शती ई० पू० के प्रारम्भ में ही सुदेव के उत्तराधिकारी से कौशाम्बी छीन ली थी। एक अन्य महत्वपूर्ण राजा राजमित्र था जो पहली शती ई० पू० में विद्यमान था, उसने सात सोम यज्ञ किये थे जिनमें कौशाम्बी के उत्खनन में प्रकाश में आये श्येनचित्त के अवशेषों से सम्बद्ध पुरुषमेध यज्ञ भी सम्भवतः सम्मिलित था।

७८ ई० में अपने राज्यारोहण के तुरत बाद ही कृपाण वंशी राजा कनिष्क प्रथम ने पूर्व दिशा में विजय अभियान किया प्रतीत होता है और उसने कुछ समय कौशाम्बी में भी बिताया प्रतीत होता है। परन्तु हविष्क के राज्य काल के प्रारम्भ में सवत् ४० (११८ ई०) के पहले ही कौशाम्बी-वाराणसी क्षेत्र में अश्वघोष ने अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित कर ली प्रतीत होती है। एक दशक अथवा उसके कुछ ही बाद बघेलखंड प्रान्त से भीमसेन ने आकर अश्वघोष को भी अपदस्थ कर दिया। कौशाम्बी तथा उसके निकटवर्ती प्रदेश पर भीमसेन के वंशजों, तथाकथित मगध राज्यों, का आधिपत्य तीसरी शती ई० के अन्त तक रहा। तत्पश्चात् कुछ समय के लिए पद्मावती के नाग राजा गणेश का आधिपत्य रहा प्रतीत होता है और अन्ततः लगभग ३३० ई० में समुद्रगुप्त द्वारा आर्यावर्त्त युद्धों में विजय प्राप्त करने के समय यह प्रदेश श्री रुद्र या स्वदेश के आधिपत्य में था।

समुद्रगुप्त द्वारा विजय किये जाने के पश्चात् तोरमाण

हूण द्वारा किये गये विनाश के अल्पकालीन अन्तराल को छोड़कर कौशाम्बी तथा निकटवर्ती प्रदेश गुप्त साम्राज्य के अन्तिम दिनों तक उसी का अंग बना रहा। यशोधर्मन् द्वारा गुप्त सत्ता की समाप्ति के पश्चात् इस प्रदेश का भाग्य कान्यकुब्ज (कन्नौज) के राजवंशों के इतिहास के साथ जुड़ गया और यहाँ एक-दूसरे के बाद क्रमशः भौखारियों, हर्ष, यशोधर्मन्, आयुधो, गुर्जर-प्रतीहारों तथा गाहड़वालों का आधिपत्य रहा। यशोधर्मन् के समय में कश्मीर के राजा मुक्तापीड का अभियान तथा प्रतीहारों एवं गाहड़वालों के मध्य अन्तराल में कलचुरियों और पालों के अभियान अल्प कालिक थे। १२वीं शती ई० के अन्त में तुर्कों द्वारा गाहड़वाल सत्ता के समाप्त कर दिये जाने के उपरान्त १२४८ ई० तक जब कि यह प्रदेश अन्ततः दिल्ली के तुर्की मुलतानों के अधिकार में चला गया, कडा और कौशाम्बी के निकट अपने गढ़ों से राणक सामन्तों ने स्वातन्त्र्य समर जारी रखा। १० वीं शती ई० के द्वितीय चतुर्थांश में कालिजर पर यशोधर्मन् द्वारा अधिकार कर लिये जाने के बाद कालिजर का निकटवर्ती प्रदेश चन्देल राज्य का ही अंग बना रहा।

समुचित साहित्यिक एवं पुरातात्विक सामग्री उपलब्ध है जो यह सूचित करती है कि भारत के प्रधान धर्मों के विकास में वत्स प्रदेश का विशिष्ट भाग रहा और वह यह भी संकेत करती है कि वहाँ अम्बा, यक्ष और नाग-पूजा का प्रचलन भी था। निचक्षु द्वारा कौशाम्बी को अपनी राजधानी बना लिये जाने के बाद वैदिक विद्या की कोई पीठ भी वहाँ स्थापित हो गई प्रतीत होती है और वैदिक गुरु प्रोति कौसुर-बिन्द आदिक संभवतः उसी पीठ के स्नातक थे। कौशाम्बी में याज्ञिक कर्मकाण्ड के प्रचलन के स्पष्ट प्रमाण के रूप में श्येनचित्त के अवशेष प्रकाश में आये हैं। ईस्वी सन् के प्रारम्भ के लगभग इस चित्त का प्रयोग पुरुषमेध यज्ञ करने के लिए किया गया था। कोटिया में प्राप्त मेगालिथ भी किसी याज्ञिक क्रिया से ही सम्बन्धित प्रतीत होते हैं। इस प्रदेश में वैदिक कर्मकाण्ड एवं शैवमत के पारस्परिक समन्वय तथा शैवमत के नागपूजा से सम्बन्धों के प्रमाण भी मिले हैं और प्राप्त प्राचीनतम शिवलिंगों में से एक लिंग भीटा से ही मिला

है। गढ़वा में प्राप्त वैष्णव अवशेष वैष्णव मत एवं शाक्तमत, राम-पूजा एवं कृष्ण-पूजा तथा वैष्णव मत एवं बौद्ध धर्म के बीच पारस्परिक समन्वय के संकेत सूचित करते हैं।

जैन पौराणिक अनुश्रुति में कौशाम्बी का बहुधा उल्लेख आता है, और महावीर के जीवन की कतिपय मुख्य घटनाओं के प्रसंग से भी इस नगर का उल्लेख आता है। महावीर के बाद के युग में भी यहाँ जैन गुरुओं का काफी आवागमन रहा, और ऐसा भी प्रतीत होता रहा है कि जैनो के प्रारम्भिक साहित्य प्रणयन से भी इसका सम्बन्ध रहा।

बुद्ध ने वत्स प्रदेश में तीन वर्षावास किये थे। और उनके कुछ महत्त्वपूर्ण प्रवचन भी यहीं हुए थे। विनय के कितने ही महत्त्वपूर्ण नियमों का हेतुक भी कौशाम्बी का भिक्षु संघ ही था। बुद्ध के बाद भी लगभग एक हजार वर्ष पर्यन्त कौशाम्बी में स्थित घांमितागम बौद्धधर्म का एक प्रमुख केन्द्र बना रहा। इस विहार के अवशेषों का उत्खनन १९५० ई० के दशक में किया गया है। कौशाम्बी के अतिरिक्त भीटा, देवरिया, मानकुजर, अहरोरा, भारहुत और बान्धोगढ़ इस प्रदेश में बौद्ध धर्म के अन्य महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे।

अब तक प्रकाश में आये पत्थर के विविध उपकरणों, मिट्टी के पात्रों और मिट्टी, पत्थर, धातु, अस्थि एवं शस्त्र-सीपी के बने भाँति-भाँति के व्यंजनों की सहायता से इस प्रदेश के मानव सभ्यता के विकास के क्रम को जाना जा सकता है और यह भी देखा जा सकता है कि वर्तमान काल में भी उस संस्कृति के कौन से अंश प्रतिभासित हो रहे हैं। कौशाम्बी और सहजाति (भीटा) यहाँ के प्रमुख व्यापारिक केन्द्र थे तथा व्यापारियों के विभिन्न वर्गों एवं कारीगरों व उत्पादकों की श्रेणियों के माध्यम से व्यापार की सुव्यवस्थित योजना थी। श्रेष्ठ सम्मानित थे। व्यावसायिक श्रेणियों तथा नगरों एवं ग्रामों के निगमों का संचालन पंचायती व्यवस्था के अनुसार होता था और उनके मामलों में राज्य के अधिकारियों का हस्तक्षेप यदा-कदा ही होता था। पुरुषों का परिधान सामान्यतः धोती, चादर (उत्तरीय) और पगड़ी (उष्णीष)

ये परन्तु थोड़ा लोग कसा बटनदार कोट और लम्बे जूते पहनते थे। स्त्रियाँ साड़ी पहनती थीं, अपने वक्ष पर अगिया घारण करती थीं और मिर पर पल्ला ढंकती थीं। अपने शरीर के विभिन्न अंगों को वे विविध आभूषणों से अलंकृत करती थी, शारीरिक सौष्ठव के प्रति सजग थी, शृंगार-प्रसाधनों की शौकीन थी और उनकी रुचि परिष्कृत थी। जन-जीवन सामान्यतः आमोद-प्रमोद मय था। नगर सुनियोजित थे और उनमें व्यापारिक माल, भोज्य पदार्थों एवं मनोरंजन के साधनों की प्रचुरता थी।

कौशाम्बी में नगर प्राचीन की खुदाई के परिणाम-स्वरूप लगभग दूसरे सहस्राब्द ई० पू० के मध्य में पहले सहस्राब्द ई० के मध्य के बीच हुए नगर की किलेबन्दी के क्रमिक विकास का अनुमान लगाया जा सकता है। कड़ा का किला और कालिंजर का पहाड़ी किला गुप्त-पश्चात् युग के दुर्ग स्थापत्य के विशिष्ट उदाहरण हैं। कौशाम्बी में हुए उत्खनन से प्राचीन भारत में प्रासाद-स्थापत्य के विकास पर भी प्रकाश पड़ना है। कोसम और भीटा में की गई खुदाई से निजी एवं सार्वजनिक भवनों तथा बाजार हाट के निर्माण की विधि पर भी प्रकाश पड़ा है। घोमिताराम के अवशेषों में प्रकाश में आये स्तूप तथा भारहुत का स्तूप बौद्ध स्तूप स्थापत्य के विशिष्ट उदाहरण हैं। कौशाम्बी में खुदाई के फलस्वरूप घोमिताराम का जो नक्का प्रकाश में आया है वह उक्त विहार के हजार वर्षों में हुए क्रमिक विकास को प्रकट करता है और यह बौद्ध विहारों का प्राचीनतम अत्यधिक पूर्ण एवं सर्वांगीण अधुनाज्ञात चित्र प्रस्तुत करता है। शैलकृत (चट्टान में काटकर बनाये गये) स्थापत्य के विशिष्ट उदाहरणों में लगभग दूसरी शती ई० पू० में निर्मित पञ्चोसा स्थित जैन निशिद्या, दूसरी शती ई० में बनी बान्धोगढ़ स्थित बौद्ध आवास-गुफाये और गुप्त काल में निर्मित परन्तु १०६० ई० में अन्तिम रूप प्राप्त कालिंजर स्थित नीलकण्ठ मन्दिर के नाम से विख्यात शिवालय को गिना जा सकता है। ईंट चूने से बने मन्दिरों के विशिष्ट उदाहरण गढ़वा का बंणव मन्दिर और बड़ा कोटरा में एवं मऊ के निकट स्थित शैव मन्दिर हैं जो सभी १२वीं-

१३वीं शती ई० में निर्मित हैं।

मूर्त कला के अवशेषों में चमकीली पालिश वाले अशोक के पाषाण स्तम्भ प्राचीनतम हैं। जैनों के आयाग-पट्ट, आसनपट्ट और मूर्तियाँ बौद्धों के आर्यपट्ट, बोधिसत्व एवं बुद्ध की मूर्तियाँ तथा भारहुत से प्राप्त प्रस्तराकृत, शिवलिंग और शिव-पार्वती की मूर्तियाँ, विष्णु और उसके अवतारों की मूर्तियाँ, त्रिदेवों की मूर्तियाँ और कृष्ण की लीलाओं का प्रस्तरांकन इस प्रदेश में प्राप्त मूर्तिकला के विविध उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

विशेष रूप से कोसम और भीटा से लगभग १००० ई० पूर्व में १००० ई० के बीच निर्मित बहुत सी मृण्मूर्तियाँ मिली हैं जिनमें कुछ तो स्वतः पूर्ण मूर्तियाँ हैं और कुछ साँचे द्वारा बनाये गये पट्ट हैं। जिस पर विविध आकृतियाँ अंकित हैं। यह मृण्मूर्तियाँ सामाजिक जीवन की सुन्दर भाँकी प्रस्तुत करती हैं। इनसे मिट्टी में मूर्ति ढालने की कला के क्रमिक विकास का भी परिचय मिलता है कि किस प्रकार प्रारम्भ में मूर्तियाँ हाथ से बनाई जाती थीं, फिर साँचे से बनाई जाने लगी और अन्ततः हस्त-कौशल द्वारा स्वाभाविक गठन प्रदान की जाने लगी।

अब तक प्राप्त वस्तुओं में ऐसा प्रतीत होता है कि आभूषण तांबे, कसि, सोने, शंख सीपी, हाथी दात, शीशे, मूल्यवान पाषाणों और रत्नों के बनाये जाते थे परन्तु चाँदी के नहीं बनाए जाते थे। विभिन्न प्रकार के आभूषणों का प्रयोग स्त्री-पुरुष दोनों ही करते थे। मनको (गुरियो) का कितनी ही प्रकार से प्रयोग किया जाता था और वे शंख सीपी, शीशे, मृगों कानैलियन, टोपाज, एग्रेट (मुलेमानी पत्थर), वेड्य (नीलम) और सोने के बनाए जाते थे तथा कभी-कभी रासायनिक प्रक्रिया द्वारा उन्हें चित्रित भी किया जाता था।

जो सिक्के इस प्रदेश में प्राप्त हुए हैं उनमें चादी व ताँबे के पाँच-मार्क सिक्के, बिना अभिलेख के ढले हुए सिक्के, नगर-निगम या श्रेणी के नाम से अंकित सिक्के तथा राजा के नाम से अंकित सिक्के सम्मिलित हैं। अशोक-पश्चात् व कनिष्क-पूर्व तथा कनिष्क-पश्चात् व समुद्रगुप्त-पूर्व युग के अधिकांश राजाओं का नाम मात्र इन्हीं सिक्कों के माध्यम से ज्ञात हुआ है।

मिट्टी, जवाहिरातों, धातु और हाथी दाँत की बनी बहुत सी मुद्राएँ भी मिली हैं जिन पर प्रायः मुद्रा के स्वामी का नाम उत्कीर्ण है और कुछ चिह्न भी अंकित हैं। ये मुद्राएँ लगभग तीसरी शती ई० पू० से १०वीं शती ई० तक की हैं और इनमें धार्मिक, नैगमिक, राजकीय एवं निजी, सभी प्रकार की मुद्राएँ सम्मिलित हैं जो राज-नैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालती हैं।

लगभग २६० ई० पूर्व से १२४८ ई० तक के एक मो से भी अधिक अभिलेख यहां मिले हैं जो वत्स के ही इतिहास की नहीं वरन् सम्पूर्ण भारतीय इतिहास की कितनी ही गुत्थियों को सुलझाने में सहायता प्रदान करते हैं। अशोक के ग्रहीरा से प्राप्त अभिलेख ने उसके प्रथम लघु शिलालेख का सही आशय स्पष्ट करने में सहायता दी है। उसके सघ भेद अभिलेख ने उसकी बौद्ध धर्म को संरक्षण प्रदान करने से सम्बन्धित साहित्यिक अनु-श्रुतियों की पुष्टि की है। आषाढ़ सेन के पभांसा की गुफा में उत्कीर्ण लेखों ने अशोक-पश्चात् उत्तरी भारत के इति-

हास पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला है। राजमित्र का धूप-अभिलेख कौशाम्बी में सम्पन्न पुरुषमेघ यज्ञ के होने की सूचना देता है। समुद्रगुप्त की इलाहाबाद-प्रशस्ति ही उसके कार्यकलापों का एकमात्र पूर्ण विवरण प्रस्तुत करती है। मुसलमान इतिहासकारों द्वारा उल्लिखित राजा इल्कि-वो-मलिक को चीन्हने के लिए उद्दल देवी का अभिलेख एक अत्यन्त वाछनीय सूत्र प्रस्तुत करता है। अन्त में लक्ष्मण का अभिलेख गाहड़वाल सवत के प्रयोग का एक अद्भुत उदाहरण प्रस्तुत करता है।

अपनी विविध प्रचुर सामग्री, भौगोलिक अवस्थिति से उद्भूत प्राचीन भारत के राजनैतिक इतिहास के निर्माण में अपनी आधुनिक स्थिति, भारतीय धर्मों के विकास में अपने योगदान, और सम्यता के प्रारम्भ से ही हमारे शोधाधीन समय के अन्तिम दिनों तक भारतीय जन-जीवन को समृद्ध करने के लिए अपने निरन्तर प्रयास के कारण समग्र दृष्टि से देखने पर भारतीय इतिहास में वत्स जनपद का अपना एक विशिष्ट एवं स्पृहणीय स्थान है।

— ज्योति निकुंज, चारबाग, लखनऊ

‘अनेकान्त’ के स्वामित्व तथा अन्य व्यौरों के विषय में

प्रकाशक का स्थान	वीर सेवा मन्दिर भवन, २१, दरियागंज, दिल्ली
प्रकाशन की अवधि	द्विमासिक
मुद्रक का नाम	प्रेमचन्द
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	२१, दरियागंज, दिल्ली
प्रकाशक का नाम	प्रेमचन्द, मन्त्री, वीर सेवा मन्दिर
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	२१, दरियागंज, दिल्ली
सम्पादकों का नाम	डा० आ० ने० उपाध्ये, कोल्हापुर, डा० प्रेमसागर, बडौत
	यशपाल जैन, दिल्ली, परमानन्द जैन शास्त्री, दिल्ली
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	मार्फत : वीर सेवा मन्दिर, २१, दरियागंज, दिल्ली
स्वामिनी संस्था	वीर सेवा मन्दिर, २१, दरियागंज, दिल्ली

मै प्रेमचन्द घोषित करता हूँ कि उपर्युक्त विवरण मेरी जानकारी और विश्वास के अनुसार सही है।

जैन दर्शन में आत्म-द्रव्य विचार

श्री मुक्ताप्रसाद जैनदर्शनाचार्य

मनुष्य की प्रवृत्ति प्रारम्भ से ही दुःख विनाश के प्रति उन्मुख रही है। इसलिए दृश्यमान् समस्त जगत् एवं तज्जन्य पर्यायों के प्राप्त सुख एवं दुःखों के आत्यन्तिक विनाश के उपरान्त परमश्रेय की प्राप्ति के उद्देश्य से विभिन्न ऋषियों ने अपने अपने दृष्टिकोणों से तत्तद्दर्शनों का निर्माण किया है। इन अनिश्चित सख्या वाले विभिन्न दर्शनों को प्रमुख दो आस्तिक एवं नास्तिक श्रेणियों में बाँटा जाता है। अभी तक के सिद्धांतों पर पर्यालोचन करने पर इसका अनौचित्य स्वतः सिद्ध हो जाता है। क्योंकि एक ओर तो उपनिषदों और गीता जैसे दार्शनिक ग्रन्थों को, जो कि वेदों के लौकिकत्व का प्रबल समर्थन करते हैं, तथा साख्य और वंशेषिक जैसे निरीश्वरवादियों को भी आस्तिक श्रेणी में रखा गया है, जबकि दूसरी ओर परमाध्यात्मिक जैन और बौद्ध दर्शनों को नास्तिक श्रेणी में रखा गया है। इस सन्दर्भ में प्रमुख सिद्धांतों का समालोचन प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में विस्तार से किया गया है। कतिपय भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वान् जैन दर्शन का प्रतिक्रियात्मक रूप में मानने चले आ रहे हैं जब कि अनेक भारतीयों एवं पाश्चात्य विद्वानों ने भी इस बात को स्वीकार कर लिया है कि महावीर भगवान् ने प्रतिक्रियात्मक रूप में जैन दर्शन की स्थापना नहीं की, अपितु उन्होंने उसी प्राचीन दर्शन (एवं धर्म) का प्रचार एवं प्रसार किया है, जो कि उनके पूर्ववर्ती तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ के द्वारा प्रचारित एवं प्रसारित किया गया था। इस प्रकार यह धर्म पार्श्वनाथ तीर्थङ्कर (तेईसवे तीर्थङ्कर) से भी पूर्ववर्ती कई तीर्थङ्करों द्वारा विकास को प्राप्त होता रहा था। वस्तुतः इस धर्म के तथा दर्शन के

संस्थापक के रूप में आदि तीर्थङ्कर ऋषभदेव का होना केवल जैन शास्त्रों से ही नहीं बल्कि जैन धर्मोत्तर ग्रन्थों के भी सन्दर्भों एवं विश्लेषणों द्वारा स्पष्टतः सिद्ध होता है। इस प्रकार की पर्याप्त सामग्री प्रबन्ध में दी गयी है।

जीव को अपना अभीष्ट (मोक्ष) प्राप्त करने के लिए यह परमावश्यक हो जाता है कि उसे इस संसार की सृष्टि के मूल कारणभूत द्रव्यों का वास्तविक ज्ञान हो। इसी उद्देश्य से जैन दर्शन ने वस्तु के जो अनन्त धर्म माने हैं, वस्तुतः इनके दर्शन (साक्षात्कार) के अभाव में इन द्रव्यों का स्वरूप सर्वथा अस्पष्ट रह जाता है। विज्ञान ने भौतिक जगत् के सम्बन्ध में जो कुछ भी जानकारीयाँ देना प्रारम्भ किया है, चाहे वह अभी अपूर्ण ही क्यों न हों, किन्तु उनसे इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि हम अभी तक जिस द्रव्य को 'एक रूप' मानते थे और यह सोचते थे कि इसका विभाजन असम्भव है, इसलिए इसके एकाधिक रूप नहीं हो सकते, यह धारणा एक ही द्रव्य के अन्य अनेक स्वरूपों एवं भेदों को प्रकट करके जैन दर्शन की उन मान्यताओं का प्रबल समर्थन कर दिया है जिनमें स्वीकार किया गया है कि प्रत्येक द्रव्य सामान्य विशेष स्वरूप वाला, सद्रूप एवं असद्रूप एकानेकात्मक, अनन्त-धर्मात्मक (भावाभावात्मक), नित्यानित्यात्मक तथा भेदा-भेदात्मक आदि अनेक स्वरूपों से प्रतिक्षण सम्बन्धित रहता है।

आधुनिक विज्ञान ने जैन दर्शन के द्रव्यों के निर्धारण के औचित्य को सिद्ध करने के लिए भी अपने आविष्कार 'ईथर' द्रव्य के द्वारा धर्मद्रव्य की सार्थकता का समर्थन कर दिया है। ईथर और धर्मद्रव्य सम्बन्धी आधुनिक वैज्ञानिक और जैन दार्शनिकों के निर्णयात्मक विश्लेषण के स्वरूप को देखने पर ऐसा लगता है कि यह वही 'ईथर' द्रव्य है जो कि सहस्रों वर्ष पूर्व जैन दार्शनिकों ने धर्मद्रव्य

* वाराणसी संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी की विद्यावारिधि (Ph. D.) उपाधि के लिए प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का संक्षिप्त सार।

माना था। आधुनिक विज्ञान ने जैन दर्शन द्वारा स्वीकृत शब्द की पौद्गलिकता (पार्थिवस्वरूप) को जिस हद तक अपने भौतिक यंत्रों द्वारा शब्द को संगृहीत करके पुष्ट किया है उसके लिए जैन दार्शनिकों को उपकृत समझना चाहिए। इस प्रकार गति के माध्यम के रूप में एक नवीन द्रव्य धर्म की कल्पना, जो कि अन्य दार्शनिकों के लिए अभी तक दुखबोध बनी हुई है तथा शब्द की पौद्गलिकता जिसे अन्य दार्शनिक स्वीकार करना नहीं चाहते। जैन दार्शनिक सिद्धांत, जो कि कालद्रव्य की वर्तना के बारे में जैन दार्शनिकों ने स्वीकृत करते समय निर्धारित किया था कि 'काल के विभाजन का व्यवहार मनुष्य क्षेत्र से बाहर के क्षेत्रों तथा अन्य लोकों में मनुष्य क्षेत्र के व्यवहार के आधार पर ही होता है' का प्रबल प्रमाण रूस और अमेरिका द्वारा प्रेषित 'लूना' तथा 'अपोलो' नामक चन्द्रयानों के कार्यक्रमों के काल-निर्धारण ने प्रतिपादित कर दिया है। द्रव्यो के विवेचन के इसी प्रसङ्ग में अन्य दार्शनिकों द्वारा परिकल्पित द्रव्यों का जैन दार्शनिक द्रव्यों में अन्तर्भाव का निरूपण करते हुए अव्यवायवियों, गुणपर्यायों के पृथक्-पृथक् मानने के सिद्धांतों का खण्डन तथा गुणों को भी स्वतन्त्र द्रव्य के रूप में मानने की युक्तियों का उल्लेख भी स्पष्टतः कर दिया है।

जैन दर्शन के प्राणभूत 'स्याद्वाद' का विश्लेषण द्रव्यों के ज्ञान का अत्यावश्यक अंग है। इसके समझे बिना, इसे स्वीकार किए बिना द्रव्यों की अनन्त घर्मात्मकता बुद्धि से परे ही रहती है। वास्तव में जिस सिद्धांत को हम अपने दैनिक व्यवहार में कभी भी असंगत नहीं मानते हैं, हमें इस बात पर कभी भी आपत्ति नहीं होती है कि एक व्यक्ति जिसे अपना पिता समझता ही नहीं बल्कि अपने जीवन भर के नमाम आचरणों से सिद्ध करना है कि यह मेरा पिता है, उसी व्यक्ति को दूसरे लोग भाई, चाचा, मामा, साला, बहनोई सिद्ध करने में अपना जीवन तक बाजी पर लगा देते हैं। इसी सिद्धांत को मानने के लिए जब किसी विद्वान् के सामने पदार्थों को माध्यम बनाया जाता है तो वे बयो हिचकिचाते हैं, समझ में नहीं आता। जहाँ तक इसकी वैज्ञानिकता का प्रश्न है, आज बीसवीं शताब्दी की विज्ञान को जो प्रमुख देन मानी जाती है वह

है 'अपेक्षावाद' का सिद्धांत। यह सिद्धांत भी एक तरह से 'स्याद्वाद' का ही विज्ञान के माध्यम में प्रस्तुत दूसरा रूप ही है और कुछ नहीं। इस सिद्धांत की सरलता एवं कठिनता के विश्लेषण के साथ इसके ज्ञान के द्वारों—सात नयों का भी विवेचन किया गया है जिसमें यह स्पष्ट किया गया है कि विभिन्न स्वभाव वाले ये सात नय यदि परस्पर निरपेक्ष हैं तो वे मिथ्या होने के कारण 'स्याद्वाद' के स्वरूप के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान कराने में सर्वथा असमर्थ रहते हैं। किन्तु जब यही परस्पर सापेक्ष रहते हैं तो सम्यक् स्वरूप प्राप्त करके वस्तु के अनन्त धर्मों के व्यवस्थापक स्याद्वाद के बोधक हो जाते हैं। इस प्रकार जैन दर्शन में आधुनिक विज्ञान के इस सिद्धांत की भी चरितार्थता प्राप्त हो जाती है कि—'दो ऋण' मिलकर 'धन' बन जाते हैं अर्थात् दो निगेटिवों के संयोग को ही पोजीटिव माना गया है'। इसी प्रकार इन पृथक्-पृथक् मिथ्या नयों का (निरपेक्षता का) संयोग सापेक्षता (सम्यक्त्व) का स्वरूप प्राप्त कर लेता है।

'आत्मा' का विवेचन शोध प्रबंध के तीसरे अध्याय से प्रारम्भ है, जो कि उपसंहार तक चलता है। इस विवेचन में जैन दर्शन सम्मत 'जीव' (ससारावस्था में स्थित) तथा 'आत्मा' (सामारिक बन्धनों से रहित, विशुद्ध चैतन्यशक्ति) की व्युत्पत्ति में आत्मा को ज्ञान शक्ति वाला (अतर्ति = गच्छति इति आत्मा) तथा जीव को दश प्राणों से युक्त जीवन क्रिया वाला (दशभिः प्राणै सह योऽजीवत, जीवति, जीविष्यति च य सः जीवः) माना गया है। यहाँ पर विशेष स्मरणीय यह है कि 'प्राण' जैन दार्शनिकों ने जीव के ही माने हैं, न कि आत्मा के। इन्हीं प्राणों से किसी जीव को रहित कर देना 'हिंसा' है। आत्मा को प्रायः सभी दार्शनिक अछेद्य, अभेद्य, अमर मानते हैं इसलिए आत्मा का मरण तो कथमपि सम्भव नहीं होता। इस जीव का लक्षण जैन दार्शनिकों ने 'देखने और जानने का स्वभाव' (उपयोग वाला) माना है। इसलिए जीव स्वभावतः जगत के प्रत्येक पदार्थ को देखते और जानते हुए जब उसमें रागात्मक प्रवृत्ति करने लगता है, तो उसका शुद्ध स्वरूप विकृत होने लगता है। और इसके साथ जब उसकी प्रवृत्ति में नैरन्तर्य आ जाता है, तो उसकी इसी परिणति को विभाव परिणति कहा जाता है।

इस प्रकार हम स्वभाव परिणति वाले शुद्ध आत्मा को जब विभावण रिणति करते हुए देखते हैं, तभी मूर्त्त पुद्गलो से संश्लिष्ट होने के कारण आत्मा को 'मूर्त्त' भी कहा जाता है। किन्तु वस्तुतः यह आत्मा अपने शुद्धरूप में इन्द्रियों के माध्यम से न तो किसी पदार्थ को स्वयं ग्रहण करता है (अतीन्द्रिय-स्वभावात्) और न ही दूसरे जीव इसे इन्द्रियों के माध्यम से ग्रहण कर सकते हैं इसलिए इसको 'अलिङ्ग ग्रहणम्' भी कहा गया है। सांसारिक प्रवृत्ति में सलग्न जीव अपने पुद्गल कर्मों का कर्त्ता होता है क्योंकि परिणाम और परिणामी में अभेद मानने से जीव की समस्त परिणाम रूप क्रियाओं को जीव की ही क्रिया के रूप में मानना पड़ता है किन्तु जब इसी परिणाम को शुद्ध दृष्टि से देखा जाता है तो जीव इन समस्त परिणामो-क्रियाओका कर्त्ता सिद्ध नहीं होता है जीवको इसी प्रकार भोक्तृत्व और अभोक्तृत्वरूप माना गया है। आत्मा के शरीर प्रमाण को अन्य दर्शनों से पृथक् रूप में मानते हुए, जैन दार्शनिकों ने स्पष्टतया प्रतिपादित कर दिया है कि आत्मा में एक ऐसी विशिष्ट शक्ति है जिससे वह अपने प्रदेशों के यथावसर सकोच एवं विस्तार में पूर्ण-तया समर्थ है। यही कारण है वह चीटी जैसे लघु शरीर से लेकर हाथी जैसे दीर्घ शरीर तक में प्रविष्ट होकर अपने को मुश्तित रखता है। जब हम इसी सिद्धान्त के आधार पर दूसरे (जैनतर) ग्रन्थों पर भी दृष्टिपात करते हैं तो पाने है कि महाभारत के श्री कृष्ण ने अपना विराट् स्वरूप जब अर्जुन को दिखलाया, तथा रामायण में सुरसा राक्षसी और रामभक्त हनुमान ने अपने अपने शरीरों के विस्तार किए हैं तो उनके उन विस्तृत अङ्गों में भी तो उसी तरह की चेतनशक्ति का विवरण दिया गया है जैसा कि उनके विस्तार से पूर्वके अङ्गों में थी। यदि आत्मा में उपसहार और प्रसर्पण की शक्ति न मानी जायें तो उन विस्तृत अङ्गोंका क्या स्वरूप होगा? विचारणीय है! किन्तु कुछ अवसरों (वेदना-कषाय-विक्रिया आदि) में आत्मा को देह प्रमाण नहीं माना गया है। क्योंकि इस अवस्था में आत्मा के प्रदेश शरीर से बाहर भी निकलकर जाते हैं। इसी आत्मा को संवित्ति समुत्पन्न-केवलावस्था में व्यवहार से (ज्ञान की अपेक्षा से) लोक व्यापक भी माना है। इसी तरह समाधिकाल में पञ्चेन्द्रिय और मन के विकल्प से रहित होने के कारण आत्मा को 'जड़' भी

माना गया है। यही आत्मा अपनी जगत्प्रवृत्तिमें उलझ जाने के कारण ससरण करता हुआ अनेक जन्म धारण करता हुआ एक देह से दूसरे देह में प्रविष्ट होता रहता है। इसी ससरण से युक्त आत्मा को 'संसारी' की संज्ञा दी गयी है। यह जब तक जगत् के प्रत्येक पदार्थ को 'अपना' समझता रहता है तब तक इसे जैन दार्शनिकों के अनुसार 'बहिरात्मा' कहा जाता है, जब यही आत्मा अपनी सासारिक दृष्टि को बदलकर 'सम्यग्दृष्टि' स्वरूप को प्राप्त करता है तब इसे 'अन्तरात्मा' कहा जाता है। तथा अपने इसी वैराग्य को प्रगतिशील रहते हुए जब समस्त घातिकर्मों का विनाश तथा जगत् के समस्त पदार्थों का सम्यक ज्ञान प्राप्त कर लेता है तब इसे 'परमात्मा' (सकल) कहते हैं और इसके बाद घाति तथा अघाति सभी कर्मों के विनाशोपरान्त शरीर रहित होकर सिद्धत्व को प्राप्त करता है, तब इसे 'परमात्मा' (विकल) कहते हैं इस अवस्था को प्राप्त होने पर ही जीव का 'ऊर्ध्वगति स्वभाव' सार्थक होता है।

जन्म-मरणादि अवस्थाओं में ससरण करता हुआ जीव, अनेक प्रकार के कर्मों के करने से विभिन्न प्रकार के जन्म मरणादि के आश्रयभूत शरीरों को प्राप्त करता हुआ अपने कर्मानुसार विभिन्न योनियों में जन्म ग्रहण करता है। इन्हीं योनियों के आधार पर सासारिक जीव को चार श्रेणियों—दव, मनुष्य, नारक एवं तिर्यञ्च—में विभाजित करके, जैन दार्शनिकों ने एक पुष्ट सिद्धान्त स्थापित कर दिया है कि सत्कर्मों (पुण्यों) से सम्प्राप्त देवयोनियों ही हमारा चरम लक्ष्य नहीं है जैसा कि कुछ वैदिक दर्शन मानते हैं। बल्कि वह भी सासारिक जीवों की एक उच्च या श्रेष्ठ (अपेक्षाकृत) श्रेणी ही है। इन चारों ही प्रमुख विभागों के विश्लेषण के प्रसङ्ग में प्रत्येक विश्लेषण की प्रमुख विशेषताओं का भी उल्लेख सूक्ष्मरूपेण किया गया है। जैसे देवों के विभाजन में उनकी उन समस्त श्रेणियों का मनुष्य क्षेत्र की श्रेणियों (राजा से लेकर सेवकों तक की श्रेणियों) की तरह स्पष्ट विवेचन, और उनमें अन्य मनुष्य आदि श्रेणियों की अपेक्षा श्रेष्ठता का कारण नारकियों में तद्वितर श्रेणियों की अपेक्षा गर्हता, नीचता एवं अशुभता के साथ इनके भी आवास आदि की श्रेणियों का प्रतिपादन, मनुष्यों के विवेचन में मनुष्य-क्षेत्र मनुष्यों की जातियों आदि क

तथा तिर्यञ्चों में भी इनके प्रमुख विशेषणों के स्पष्टीकरण द्वारा मनुष्य को (जीव को) संसार की उन तमाम दुःखद परिस्थितियों से परिचित कराना आवश्यक समझा जाता है, जिससे कि वह अपने को उनसे सुरक्षित रखता हुआ वास्तविक स्वरूप (परमात्मत्व) की प्राप्ति की ओर उन्मुख हो सके।

जैन दर्शन में अन्य धार्मिक ग्रन्थों की तरह ८४००००० लाख योनियों को प्रतिपादित किया गया है, किन्तु अन्तर यही है कि जैन दार्शनिकों ने इन योनियों में से प्रत्येक योनि में पैदा होने वाले जीवों का लेखा निश्चित करके रख दिया है, जो अपनी एक विशेषता रखता है। संसार की इन दुःखद अवस्थाओं में जीव को स्वेच्छा से नहीं, बल्कि उसके द्वारा अर्जित जगत की पराधीनता से ही भ्रमण करना पड़ता है। इस पारतन्त्र्य के मूल में जगत के प्रति जीव का राग, द्वेष, मिथ्यात्व, घात, रोद-ध्यान, सकाषयत्व (क्रोध, मान, माया, लोभ-युक्तता) ही कार्य करता है। जिसके कारण एक जन्म से जन्मान्तर प्राप्ति के समय सम्मूच्छन-गर्भ और उपपाद जैसे कष्ट-दायक जन्मों को ग्रहण करना है। इस भवान्तर प्राप्ति के समय (जन्म से जन्मान्तर प्राप्ति के पूर्व तक के समय) के मध्य जीव किन-किन श्रेणियों से होकर गुजरता है, किस जन्म में पहुँचने के लिए जीव को बीच में किन-तीन बार 'आहार' ग्रहण करना पड़ता है, किन जन्मों की प्राप्ति के लिए जीव को 'अनाहारक' रहना पड़ता है, इसका भी विवेचन जैन दार्शनिकों के द्वारा अन्य दर्शनों से विशिष्ट रूप में सूक्ष्म रीति में किया है।

जिस प्रकार मदिरा आदि मादक द्रव्यों के सेवन करने वाले की मादकता (मत्तवालेपन) का कारण मदिरा आदि मादक द्रव्य होते हैं उसी तरह रागद्वेषादि कषायों द्वारा जीव को भी परिणमनशील होना पड़ता है। चूँकि जीव में रागद्वेषादि से युक्त होने के कारण प्रतिक्षण परिस्पन्द-रूपा क्रिया होती रहती है, इसलिए वह इस क्रिया के परिणाम के रूप में अनेक प्रकार के कर्मों को अपने में आश्रित करता रहता है। जिससे यह कर्मबन्धन के नैरन्तर्य में जकड़ता जाता है। इस प्रकार जीव जब-जब रागद्वेषादि से उत्पन्न हो कर हलन-चलन क्रियाओं से युक्त

होता है, तब-तब अपने पास की पुद्गलकार्माणवर्गणाओं को उसी तरह अपनी ओर आकृष्ट करता है, जिस तरह अग्नि से उत्पन्न लौह-गोलक पानी में पड़ने पर अपने समीपस्थ जलाणुओं को ग्रहण करता है। इन गृहीत कर्मों में से कुछ का उपभोग तो अपने परिणमन काल में ही करता रहता है, शेष कर्म जो कि आत्मा के चतुर्दिक् अपना जाल-सा बना लेते हैं, संश्लिष्ट हो जाते हैं, और उन कुछ कर्मों के उपभोग के समय पुनः जीव अपने परिणमन द्वारा नूतन कर्मों को पूर्ववत् ग्रहण करता रहता है। जिससे यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि यह कर्म परम्परा किसी निर्धारित समय से न तो प्रारम्भ हुई है, और न ही भविष्य में कोई ऐसा समय आ सकता है जबकि जगत् की कार्माणवर्गणाओं का गृहीता कोई भी जीव अवशिष्ट न रहे।

इससे दो बातें स्पष्ट होती हैं—एक तो यह कि यह संसार अनादि है, क्योंकि इससे प्रतिक्षण अनन्तानन्त जीव अपना बन्ध प्राप्त करते रहते हैं, जिनका क्रम कभी भी समाप्त होना असम्भव है। दूसरी यह कि प्रत्येक जीव अपने संसार का निर्माण स्वयं करता है, जैसे वह कर्म करता है तदनुकूल ही परिणाम उसको मिलेगा। किन्तु फिर भी यदि जीव चाहे तो वह अपने इस ससरण से स्वयं को बचा सकता है। चूँकि आत्मा स्वभावतः ज्ञान-दर्शन शक्ति युक्त है। और उसे जब अपनी इस शक्ति का आश्रय थोड़ी सी भी मात्रा में मिलना प्रारम्भ हो जाता है, तब उसे यह आभास होने लगता है कि 'मैं' पृथक् हूँ, और मेरे से बंधे हुए यह 'कर्म' पृथक् है। इसी लिए मैं इनसे मुक्त हो सकता हूँ। जब जीव अपनी मुक्ति के लिए प्रयत्न प्रारम्भ करता है, तभी जैन दर्शन के इस सिद्धान्त की सार्थकता समझ में आती है कि यह जीव (आत्मा) यद्यपि अनादि काल से ही अशुद्ध रूप वाला है, किन्तु प्रयोगों द्वारा यह शुद्ध भी हो सकता है। इन प्रयोगों द्वारा ही जीव की ज्ञान-दर्शन शक्तियों पर पड़े हुए आवरण धीरे-धीरे हटने लगते हैं, और यह पुनः अपनी उन शक्तियों को प्राप्त करने लगता है।

यद्यपि जीव और पुद्गल क्रमशः 'चेतन' और 'अचेतन' रूप परस्पर विरुद्ध पदार्थ हैं, फिर भी स्वभावतः उन

दोनों का पारस्परिक बन्ध होता है, इसी से यह जगत स्थित है। और इस जगत का कोई भी प्रदेश ऐसा नहीं है जहाँ पर कि बद्ध जीव न हो, इससे यह भी निश्चित तौर पर मानना पड़ता है कि जीव और पुद्गल चूक सत्त्वभाव वाले हैं इसी लिए इन दोनों की बन्ध प्रक्रिया भी सद्रूप है। इस 'बन्ध' का लक्षण जैनदर्शनाचार्यों ने एक-सा नहीं माना है। उत्तराध्ययन सूत्र की नेमिचन्द्रीय टीका में 'जीव और कर्मों का सल्लेष बन्ध है' माना है, जब कि स्थानाङ्गसूत्र की टीका में 'जीव के द्वारा स्वभावतः कर्मयोग्य पुद्गलो के ग्रहण' को बन्ध कहा गया है। भगवदेवसूरि ने स्थानाङ्ग की ही टीका में 'ह्यकडी' आदि के बन्धन को 'द्रव्यबन्ध' और कर्मों के बन्धन को 'भावबन्ध' कहते हुए एक नया वैशिष्ट्य प्रस्तुत किया है। तथा पूज्यपाद ने अपनी सर्वार्थसिद्धि टीका में कर्मों की और आत्मा का एक-दूसरे के प्रदेशों में प्रदेश, अवगाहन को 'द्रव्यबन्ध' के रूप में स्वीकार किया है।

कुछ भी हो इन स्वीकृतियों से इतना ही निश्चित हो पाता है कि यह बन्ध अपने प्रवाह की अपेक्षा से अनादि है क्योंकि अभी तक यह निर्णय नहीं हो सका है कि जीव पहले उत्पन्न हुआ, या कर्म। जिस तरह बन्ध का लक्षण कई रूपों में मिलता है उसी तरह बन्ध के हेतुभूत कारणों का भी वैभिन्य जैनदार्शनिकों का दृष्टिपथ में अनायास ही आ जाता है। स्थानाङ्गसूत्र में केवल राग और द्वेष को ही बन्ध हेतुरूप माना है। किन्तु टीकाकार ने यहाँ पर राग से माया और लोभ का तथा द्वेष से क्रोध और मान का ग्रहण किया है। इसी टीका में आगे 'प्रकृतिबन्ध' और 'प्रदेशबन्ध' के हेतुरूप में 'योग' को, तथा 'स्थिति' और 'अनुभाग' बन्ध के हेतुरूप में 'कषाय' को प्रतिपादित किया है। जिससे 'योग' और 'कषाय' ही बन्ध-हेतु ठहराते हैं। यहीं पर आगे मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग को बन्धहेतुत्व का निर्देश मिलता है। यहाँ पर 'प्रमाद' का ग्रहण नहीं किया है जबकि अन्य आगमग्रन्थों (भगवतीसूत्र) में तथा उमास्वामि(ति) ने भी अपने तत्त्वार्थसूत्र में इसका ग्रहण किया है। इस प्रकार बन्धहेतु के रूप में कुछ जैन दार्शनिक केवल एक (सल्लेष-जीव और कर्मों का), या दो (राग और द्वेष,

या कषाय और योग) कुछ दार्शनिक चार (मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग) तथा कुछ दार्शनिक इन्हीं चारों को प्रमाद के साथ बन्ध के पाँच हेतुओं के रूप में मानते हैं। किन्तु यहाँ पर इतना अवश्य स्मरणीय है कि जिन्होंने बन्ध के केवल चार ही हेतुओं को (प्रमाद को छोड़कर) माना है, उन्होंने प्रमाद और कषाय को अभेदरूप माना है, इसलिए कर्मप्रकृति आदि ग्रन्थों में भी केवल चार ही बन्धहेतुओं का निर्देश मिलता है। इनमें-जो पदार्थ जिस वास्तविक रूप में स्थित है उसको उसी रूप में न स्वीकारना ही 'मिथ्यात्व' है। हिंसा अनृत, अस्तेय, अन्नह्य और परिग्रह रूप पाँच पापों से विरत न होना 'अविरति' है। 'प्रमाद' के बारे में पूज्यपाद ने केवल 'कुशलेशनादाः प्रमादः' कह कर इति कर दी, जब कि भट्टकलङ्क ने 'सयम' और धर्मों के प्रति अनुत्साह या अनादर को, तथा उमास्वामि (ति) ने स्मृत्यनवस्थान, योगदुष्प्रणिधान तथा कुशलों में अनादर को 'प्रमाद' माना है। जीव के बोधादिरूप परिणामों को 'कषाय' रूप माना गया है। 'योग' का आत्मप्रदेशों के परिस्पन्दन के रूप में, तथा काय, वाङ् और मन की प्रवृत्ति के रूप में भी माना है। इनके अन्तर भेदों का विश्लेषण, तथा विवेचन प्रसङ्गवशात् कर दिया गया है। इन हेतुओं की विभिन्नता के कारण बन्ध का भी विभिन्नरूपों में होना स्वाभाविक है। इसलिए इनके द्वारा होने वाले बन्धों को भी जैनार्थों ने प्रमुख चार बन्धों—प्रकृति, स्थिति, अनुभाग (अनुभाव), और प्रदेश, के रूप में बाँटा है। इनमें जीवों से अपने स्वाभावानुसार कर्मों का जो बन्ध होता है वह 'प्रकृतिबन्ध' है, किन्तु प्रत्येक प्रकृतिबन्ध द्वारा बंधे हुए कर्म एक निश्चित अवधि तक ही जीव से बंध रहते हैं, इसी लिए तात्कालिकबन्ध को आचार्यों ने 'स्थितिबन्ध' की संज्ञा दी है। प्रकृतिबन्ध के समय जब कर्म जीव में बंधते हैं तभी 'वे अपने उदयकाल में कितना तीव्र या मन्द परिणाम देंगे', निर्धारित हो जाता है, उस समय का यह अनुभव ही 'अनुभावबन्ध' नाम से स्वीकृत किया है। आत्मा के असंख्य प्रदेशों में से प्रत्येक प्रदेश में अनन्तानन्त कर्म वर्गणाओं का सग्रह अर्थात् जीव और कर्मपुद्गलों का एक-दूसरे के प्रदेशों में अवगाहन पूर्वक स्थित हो जाना 'स्थितबन्ध' है। इन

सभी के विशेष ज्ञान के लिए अवान्तर भेदों (कर्मप्रकृतियों) का विवरण भी दे दिया गया है।

उपर्युक्त बन्धहेतुभूत कर्मों का आस्रव जब तक आत्म-प्रदेशों में होता रहता है तब तक यह कर्म निरन्तर बंधते रहते हैं। किन्तु आत्मा स्वभाव में अतिविशुद्ध और निर्मल है इसलिए जब वह अपने इस स्वरूप को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होता है तो वह इन बन्धहेतुओं के विनाशकहेतुओं का आश्रय ग्रहण करने लगता है। और जब उसे यह ज्ञान होता है कि इन-इन कर्मों से बन्धन का आस्रव तब होता है वह उनके निरोध के उपाय अपनाने लगता है इन्हीं उपायों को जैनाचार्यों ने 'सवर' की सजा दी है। बन्धहेतुओं के आस्रव को जिस प्रकार 'द्रव्य' और 'भाव' भेद में दो प्रकार का माना है। उसी प्रकार उन-उन मिथ्यादर्शनादि आस्रवों के निरोधों को भी उपर्युक्त दो भेद रूप माना है। जिसमें भवान्तरप्राप्ति रूप ससार का निरोध 'भावसवर' तथा इस निरोध से आने वाले कर्मों का निरोध 'द्रव्यसवर' कहा गया है। इस प्रकार निरोध (सवर) के माध्यम से क्रमपूर्वक जब जीव अपने समस्त आगत कर्मों को भी विनष्ट कर चुकता है तभी वह अपने शुद्ध वास्तविक स्वरूप को प्राप्त करके 'सिद्ध' कहलाने में समर्थ होता है। इस बन्धविनाश के पूरे समय को कुछ विशिष्ट श्रेणियों में विभाजित किया गया है, जिनके नाम से ही उस श्रेणी में ही स्थित जीव के कितने कर्मों का किस अवधि (सीमा) तक विनाश हो गया है। इसका ज्ञान हो जाता है।

सासारिक जीव की जब से कर्मों के विनाश की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है, तब से सिद्धत्व प्राप्ति तक कुल १४ श्रेणियाँ निर्धारित की गई हैं। वे हैं—१. मिथ्यादृष्टि-गुणस्थानम्, २. सासादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थानम्, ३. सम्यङ्-मिथ्यादृष्टिगुणस्थानम्, ४. असयतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानम्, ५. सयतासयतगुणस्थानम्, ६. प्रमत्तसयतगुणस्थानम्, ७. अप्रमत्तसयतगुणस्थानम्, ८. अपूर्वकरण (उपशमकषपक) गुणस्थानम्, ९. अनिवृत्तिकरण (बादरोपशमकषपक) गुणस्थानम्, १०. सूक्ष्मसाप्पराय (उपशमकषपक) गुणस्थानम्, ११. उपशान्तकषाय (वीतरागछद्मस्थ) गुणस्था-

नम्, १२. क्षीणकषाय (वीतरागछद्मस्थ) गुणस्थानम्, १३. सयोगकेवलिगुणस्थानम्, १४. अयोगकेवलिगुणस्थानम्।

इन गुणस्थानों में सम्यक्त्व से युक्त (चतुर्थगुणस्थानिक) 'श्रावक', पञ्चमगुणस्थानिक 'देशावरत', षष्ठम और सप्तम स्थानिक 'विरत', तथा अष्टम से एकादश तक के स्थानिक जीव 'उपशमकक्षयक', द्वादशतमस्थानिक 'क्षयक', त्रयोदशतमस्थानिक जिन' (सयोगकेवलि), एवं चतुर्दशतमस्थानिक भी 'जिन' (किन्तु आयोगकेवलि) सजाओं से अभिहित होते हैं। इस प्रकार कर्मों के क्रमशः उपशम एवं क्षय से अन्त में केवलित्व को प्राप्त कर लेने पर जीव ससार में तब तक ठहरता है जब तक कि उसको 'निर्वाण' (सासारिक शरीर की निवृत्ति) नहीं प्राप्त होता है। तभी वह 'मोक्ष' प्राप्त करके लोक के अग्र भाग में स्थित होकर 'जीव' की चरमोत्कर्षता का प्रमाण बनता है।

'मोक्ष' क्या है? इसकी व्याख्या करते हुए जैन दार्शनिकों ने कहा है कि—'जीव का समस्त कर्मों से छुटकारा प्राप्त करना (कृत्स्नकर्मविप्रयोग) ही 'मोक्ष' है। चूँकि आत्मा अनादि काल से ही बन्ध को प्राप्त करते हुए पार-तन्त्र्य को अनुभव करता रहता है इसलिए 'मोक्ष' के प्रति उसकी प्रवृत्ति, और 'मोक्ष' की प्राप्ति ही 'मोक्ष' की सत्ता (सद्भाव) को सिद्ध कर देती है। जैनोक्त दार्शनिकों ने 'मोक्ष प्राप्ति' का कारण 'तत्तत् पदार्थों के ज्ञान' को ही माना है, किन्तु जैनाचार्यों ने इस ज्ञान की परिपक्वता के लिए इसमें पूर्व उन-उन पदार्थों के प्रति 'सच्चि श्रद्धा' (सम्यग्दर्शन) तथा दर्शनपूर्वक होने वाले ज्ञान की चरितार्थता के लिए ज्ञानपूर्वक आचरण' (सम्यक्चारित्र्य) को भी मोक्षप्राप्ति के लिए परमावश्यक माना है। इस प्रकार इन तीनों की चरमपरिणति का संयुक्तरूप ही मोक्षमार्ग के रूप में मानकर अन्य दार्शनिकों के ज्ञान मात्र को मोक्षमार्ग मानने की अपूर्ण पद्धति को पूर्णता प्रदान करने का श्रेय हमी दर्शन को है। 'मोक्षमार्ग' के प्रमुख तीन क्रम २६ जैनागमों में पाए जाते हैं जिनका विशेष विवरण यथा-प्रसङ्ग प्रबन्ध में प्रस्तुत किया गया है। इसके साथ ही जब मोक्ष के स्वरूप का विवेचन जैनाचार्यों द्वारा प्रतिपादित किया गया तो उन्होंने इन बातों का स्पष्टतः खण्डन किया है कि मोक्ष में दीपक के निर्वाण की तरह आत्मा का भी

निर्वाण (समाप्ति) हो जाता है', या 'ज्ञानादि गुणों का सर्वथा उच्छेद हो जाता है।' बल्कि उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि मोक्ष में न तो 'आत्मा' (जीव) का ही विनाश होता है और न ही कर्म पुद्गलों का विनाश होता है, क्योंकि ये दोनों ही द्रव्य-दृष्टि से नित्य हैं। इसलिए इनका सर्वथा विनाश नहीं हो सकता। मोक्ष में जो आत्मा के चतुर्दिक कर्मपुद्गल बंधे हुए (सश्लिष्ट) थे, उनकी स्थिति आत्मा के समीप से सर्वथा समाप्त हो जाती है। इसीलिए आत्मा पुनः अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार मोक्ष का सरल अर्थ है—आत्मा और कर्मपुद्गलों का जो सम्मिलित रूप (जीव) था उसमें से कर्मपुद्गल पृथक् हो गए और आत्मा पृथक् हो गया। यही आत्मा की स्वतन्त्रता है, यही कृत्स्नकर्मों का विप्रयोग है जो कि मोक्ष के लक्षण रूप में माना गया है। इस प्रकार यह जीव पदार्थों के यथावस्थित स्वरूप के प्रति श्रद्धालु एवं जिज्ञासु होता हुआ उनके ज्ञानानुरूप अपना आचरण करके ही मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। किसी भी एक के अभाव में यह सम्भव नहीं होता। दूसरे शब्दों में हम इस बन्ध व मोक्ष को (कृत्स्नकर्म विप्रयोग को) 'आत्मा के अपने गुणों के साक्षात्कार' रूप में मान सकते हैं। ऐसी आत्माओं की भी जैनाचार्यों ने पांच स्वरूपों में माना है। इन पांचों रूपों (साधु, उपाध्याय, आचार्य, सिद्ध एवं अर्हन्तो) में चित्त का नैर्मल्य, शान्तत्व, शिवत्व और निरञ्जनत्व स्वभावतः रहता है। यही परमात्मा के गुण प्रायः सभी दार्शनिक मानते हैं।

जैन दर्शन के आत्म-सम्बन्धी विचारों की जब हम अन्य दर्शनों से तुलना करते हैं तो ज्ञात होता है कि—चार्वाक केवल भौतिक पदार्थों तक ही सीमित रहकर पुत्र, धन, देह, इन्द्रियादि रूपों में ही आत्मा को खोजता हुआ भटकता रहता है और बौद्धों की बुद्धि में यही निश्चित न हो सका कि वे आत्मा को मानें या न मानें। इसीलिए गौतम बुद्ध भी आत्मा के बारे में कोई निश्चित मत स्थापित नहीं कर सके। वेदों में वर्णित आत्मा का स्वरूप कभी एकेश्वरवाद में, तो कभी बहुदेववाद में निश्चित किया जाता रहा है। किन्तु कुछ स्थलों पर आत्मा का वैसे ही चित्र (स्वरूप) प्रगट किया हुआ मिलता है जैसा कि अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म का प्राप्त होता

है। उपनिषदों में आत्मा के विभिन्न रूपों के सूक्ष्म विश्लेषण के माध्यम से आत्मा और जगत् दोनों के ज्ञान को आवश्यक बतला कर अनेकता में एकता के समन्वय का (जीवन की विभिन्न धाराओं के मोक्ष में विलय का) सुन्दर प्रतिपादन किया गया है।

नैयायिकों ने आत्मा को मोक्ष में भी मन के साथ 'स्वरूप योग्यता' से युक्त माना है जिससे यदि वहाँ पर भी किसी तरह के आवश्यक साधन आत्मा को प्राप्त हो जाएँ जो जीवात्मा ससार में प्राप्त करता रहता है, तो इन दोनों में कोई भी अन्तर न रह जाय। इसी प्रकार सांख्य का पुरुष भी विवेक बुद्धि (भेद-बुद्धि) को प्राप्त करके कैवल्य को प्राप्त करता है। यही अशेष दुखों की आत्यन्तिक निवृत्ति है। किन्तु कैवल्य प्राप्ति के बाद भी उसको प्रकृति का द्रष्टा मानने पर यह भी मानना पड़ेगा कि उसको सत्वगुण से वहाँ पर भी पृथक्त्व प्राप्त नहीं हुआ। अन्यथा वह प्रकृति का द्रष्टा नहीं हो सकेगा। मीमांसक का आत्मा एक तो जड़रूप है, उस पर भी इनके यहाँ स्वर्ग से भिन्न मोक्ष नहीं है। इससे मीमांसकों का विवेचन पारलौकिक न होकर ऐहलौकिक ही रह जाता है और अद्वैत वेदान्त में तो माया, जगत् के संश्लेष से कोई फर्क ही नहीं पड़ता, क्योंकि सभी ब्रह्ममय हैं। यदि ऐसा वास्तव में हो तो फिर यह कैसे समझ में आ सकता है कि—ब्रह्मरूप जीवात्मा से ब्रह्मरूप माया एवं जगत् का अभाव (विनाश) हो सकता है? क्योंकि इस अभाव से तो स्वयं ब्रह्म के स्वरूप के ही अभाव का प्रसङ्ग उपस्थित हो जाता है। इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि ये दर्शन आत्मा एवं मोक्ष के स्वरूप के आंशिक विवेचक ही हैं, इनमें पूर्णता किसी में भी दिखलाई नहीं पड़ती। जबकि जैन दर्शन जीव की प्रारम्भिक अवस्था (सांसारिक अवस्था) से मुक्ति पर्यन्त तक के प्रत्येक पहलू का सूक्ष्मतम एवं विशद तथा व्यवस्थित विवेचन करके यह दिखलाता है कि एक संसारी जीव (चाहे वह किसी भी श्रेणी में स्थित हो) किस तरह परमात्मत्व (अपने वास्तविक स्वरूप) को प्राप्त कर सकता है। इसी बात को हम दूसरे शब्दों में इस तरह कह सकते हैं कि—'जैनदर्शन आत्मा के द्वारा परमात्मत्व को प्राप्त करने तक की यात्रा का विवेचक है।' —संस्कृत विद्यापीठ, दिल्ली

जैनलॉजिकल रिसर्च सोसाइटी के तत्त्वावधान में आयोजित—

राजस्थान सेमिनार

संयोजक—प्रो० प्रेम सुमन जैन; प्रकाश परिवल, बीकानेर

२६, ३० नवम्बर '७० को बीकानेर में राजस्थान इतिहास कांग्रेस के चतुर्थ अधिवेशन के अवसर पर जैनलॉजिकल रिसर्च सोसायटी के तत्त्वावधान में स्थानीय सदस्यों द्वारा १ दिसम्बर १९७० को एकदिवसीय राजस्थान सेमिनार का आयोजन किया गया। लगभग ४० प्रतिनिधियों ने सेमिनार में भाग लिया। उनमें प्रमुख थे— डॉ० दशरथ शर्मा जोधपुर, डॉ० गोपीनाथ शर्मा जयपुर, श्री बलवन्त सिंह मेहता उदयपुर, डॉ० जगतनारायण आसोपा जयपुर, डॉ० रामचन्द्र राय, डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल, डॉ० गोपीचन्द वर्मा, श्री रामवल्लभ सोमानी, डॉ० वशिष्ठ, कु. फूलकुवर जैन, कु. सुनीता जोहरी, सत्यनारायण पारीख, कु. पद्मजा, डॉ० मनोहर शर्मा, श्री अग्रचन्द नाहटा, श्री ज्ञान भारिल्ल, श्री देवकुमार जैन, प्रो० विजयकुमार जैन, श्री प्रीतमचन्द जैन, डॉ० त्रिलोकचन्द जैन, श्रीमती डॉ० किरण जैन, श्री प्रकाश परिमल, श्री रमेश जैन, श्री ज्ञानचन्द सुराना, श्री नरेन्द्रसिंह कोठारी, श्री सुमेरचन्द जैन, श्री शान्तिलाल जैन, डॉ० महावीर राज गेलड़ा, श्री सत्यनारायण स्वामी, श्री रामप्रसाद जैन, डॉ० बी० के० जैन, श्री जी० एस० जैन तथा श्री महेन्द्रकुमार जैन आदि।

उद्घाटन समारोह :

सेमिनार का उद्घाटन समारोह, १ दिसम्बर १९७० को प्रातः १० $\frac{1}{2}$ बजे श्री मगनमल कोचर द्वारा णमोकार मन्त्र एवं सरस्वती वन्दना से प्रारम्भ हुआ। स्थानीय जैन समाज के प्रमुख व्यापारी एवं जैनकला प्रेमी श्री मोतीचन्द्र खजाची ने सेमिनार में सम्मिलित सभी प्रतिनिधियों का स्वागत करते हुए कहा कि सरकार को जैन कला अवशेषों की सुरक्षा में रुचि लेना चाहिए। क्यों कि जैन कला और दर्शन ने भारतीय कला और दर्शन को जीवित रखा है। सेमिनार का उद्घाटन डॉ० गोकुलचन्द्र जैन, भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली के द्वारा होना निश्चित था। किन्तु उनके न आ पाने से मेवाड़ इतिहास के मर्मज्ञ विद्वान् एवं राजस्थान सरकार के भूतपूर्व मंत्री

श्री बलवन्तसिंह मेहता ने उद्घाटन किया। आपने कहा कि राजस्थान में जैन विद्याओं की सामग्री पग-पग पर बिखरी पड़ी है। उसकी पूरी सुरक्षा होनी चाहिए। क्योंकि यदि राजस्थान के इतिहास में से जैन संस्कृति के सहयोग को निकाल दिया जाय तो वह फीका पड़ जाएगा। जैन विद्याओं के, अध्ययन-अनुसन्धान को यदि पर्याप्त गति यहाँ मिली तो अनेक संघर्ष स्वयमेव समाप्त हो सकते हैं। जैन समाज के कार्यकर्ताओं को अधिक सजग रहने की आवश्यकता है कि उनके शास्त्रों एवं मूर्तियों का व्यापार न हो पाये।

सेमिनार के संयोजक प्रो० प्रेम सुमन जैन ने जैनलॉजिकल रिसर्च सोसायटी का प्रगति विवरण प्रस्तुत करते हुए बतलाया कि सोसायटी की स्थापना जैन विद्याओं के उच्चस्तरीय अध्ययन-अनुसन्धान को सही दिशा प्रदान करने एवं विद्वानों में सहयोग-सम्पर्क बनाये रखने के लिए हुई है। सोसायटी शीघ्र ही एक पत्रिका प्रकाशित कर रही है, जिसमें जैन विद्याओं के अध्ययन अनुसन्धान का अपडेट विवरण प्रस्तुत किया जायगा। मई १९७१ में दिल्ली में समर इन्स्टीट्यूट ऑफ जैनलॉजिकल स्टडीज का आयोजन करने का विचार किया जा रहा है।

उद्घाटन समारोह के अध्यक्ष डॉ० गोपीनाथ शर्मा, इतिहास विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर ने सेमिनार के आयोजन का स्वागत करते हुए कहा— राजस्थान के प्रामाणिक इतिहास निर्माण के लिए यह एक शुभ प्रयास है। राजस्थान की संस्कृति को जैन-आचार्यों ने अपने साहित्य में सुरक्षित रखा है। उन्होंने प्रेस के अभाव को अपनी कार्य क्षमता के कारण अनुभव नहीं होने दिया। उनके साहित्य में केवल जैनधर्म के सिद्धांत ही वर्णित नहीं हैं, अपितु जिन बातों से जन कल्याण हो सकता था उन सबको उन्होंने अपने साहित्य में स्थान दिया है। जैनाचार्यों की भारतीय इतिहास एवं संस्कृति को यह अमूल्य देन है। राजस्थान में जैन विद्याओं

के अध्ययन की गति मिले इसमें मेरा पूरा सहयोग रहेगा। मैं चाहता हूँ कि प्रति वर्ष राजस्थान इतिहास कांग्रेस के साथ यह सेमिनार आयोजित हो ताकि विद्वान् इतिहास अध्ययन में जैन शास्त्रों का उपयोग करने के लिए प्रेरित हों।

प्रथम बैठक :

सेमिनार की प्रथम बैठक के विद्वान् वक्ताओं ने "राजस्थान में जैन विद्याओं का अध्ययन : एक सर्वेक्षण" विषय पर अपने विचार व्यक्त किए। प्रो० तरोत्तम स्वामी ने कहा कि राजस्थान शोध-कर्ताओं के लिए काम-धेनु है। बहुमूल्य ग्रन्थों की सुरक्षा में जैनों का विशेष योगदान है। इसका मूल्यांकन होना चाहिए। डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल, जयपुर ने सेमिनार की उपयोगिता पर प्रकाश डालते हुए राजस्थान के ग्रन्थ भण्डारों को सामग्री के अध्ययन की आवश्यकता पर जोर दिया डा० रामचन्द्र राय जयपुर ने जैन शिलालेखों एवं मूर्तियों के अध्ययन के दौरान घटित अपने संस्मरण सुनाए तथा यह अपील की कि जैन विद्याओं के अध्ययन-अनुसंधान को गति देने के लिए जैन समाज को अपना दृष्टिकोण विशाल करना होगा जैन शिलालेखों के अध्ययन से राजस्थान की जनभाषा एवं लोक संस्कृति का अच्छा अध्ययन हो सकता है।

राजस्थान विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग के प्राध्यापक डा० जगतनारायण आसोपा ये राजस्थान में जैनविद्याओं के अनुसंधान को प्रगति के लिए यह आवश्यक बतलाया कि विश्वविद्यालयों में प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषा के जानकार विद्वान् रखे जाने चाहिए। इससे शोधार्थियों एवं रुचिशील प्राध्यापकों को जैन साहित्य में कार्य करने की प्रेरणा मिलेगी। सहयोग भी। टीमवर्क भी प्रारम्भ किया जा सकता है।

प्रथम बैठक के कार्यकारी अध्यक्ष श्री अग्रचन्द नाहटा ने विद्वान् वक्ताओं द्वारा उठाई गई समस्याओं पर अपने विचार व्यक्त किए। आपने अपने अनुभव के आधार पर खेद व्यक्त करते हुए कहा कि जिन जैन स्रोतों का मैंने ३० वर्ष पूर्व देखा था, आज वे नष्ट हो रहे हैं। यह स्थिति जैन विद्याओं के अध्ययन के लिए शुभ नहीं है। सुरक्षा के लिए व्यक्तिगत एवं सामूहिक दोनों तरह के प्रयत्न होना चाहिए। दूसरी बात यह कि राजस्थान के इतिहास लेखन में स्रोतों का उपयोग बहुत कम हुआ है। अतः पुनः जैन

स्रोतों के आधार पर राजस्थान का सांस्कृतिक इतिहास लिखा जाना चाहिए। राजस्थान सेमिनार के आयोजन से मुझे कई आशाएँ हैं। तदनन्तर सयोजक द्वारा धन्यवाद ज्ञापन के बाद प्रथम बैठक समाप्त हुई।

द्वितीय बैठक :

दोपहर के भोजन के बाद सेमिनार की द्वितीय बैठक ३ बजे प्रारम्भ हुई। अध्यक्ष थे डा० दशरथ शर्मा, जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर। इस बैठक में विचार-विमर्श का प्राधान्य रहा। सर्वप्रथम श्री अग्रचन्द नाहटा ने जैन कथा कोश के निर्माण की बात कही। आपने जैन कथा साहित्य के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए उसमें लोकतांत्रिक अध्ययन की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया। डा० गोपीचन्द्र वर्मा जयपुर ने कहा कि भारतीय संस्कृति का अध्ययन जैन विद्याओं के बिना एकांगी है। विद्वानों को इसमें स्वयं रुचि और लगन से कार्य करना चाहिए। क्योंकि जैन विद्या का अध्ययन करना किसी समाज विशेष पर अहसान करना नहीं है। यदि कार्य ठीक होगा तो सुविधा स्वयं मिलेगी। आपने जैनोंलौकिकल रिसर्च सोसायटी को व्यापक होने की कामना की एवं इसका नाम हिन्दी में रखे जाने का सुझाव दिया। श्री रामबल्लभ सोमानी जयपुर ने जैन स्तम्भ लेखों का उपयोग इतिहास निर्माण के लिए अपरिहार्य है, इस पर बल दिया। श्री दीनदयाल ओझा, बीकानेर ने जैसलमेर जैसे उपेक्षित जैन विद्या के क्षेत्र की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया एवं वहाँ एक शोध-संस्थान स्थापित करने का सुझाव दिया। डा० महावीरराज गेलड़ा, बीकानेर ने कहा कि जैन विद्याओं पर कार्य करने वालों को सामाजिक सुरक्षा भी प्राप्त होनी चाहिए। तथा जैन-शोध का समाज के लिए भी उपयोग हो तभी प्रचुरता से कार्य हो सकेगा। आपने प्रचार के लिए अंग्रेजी माध्यम को अपनाने का सुझाव दिया।

डा० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल जयपुर ने अपभ्रंश साहित्य के भाषा वैज्ञानिक अध्ययन किए जाने पर जोर दिया तथा कहा कि हिन्दी और प्राकृत के बीच की कड़ी स्पष्ट होनी चाहिए। तभी लोग जैन विद्याओं के महत्त्व को समझेंगे। विचारकों के अन्त में प्रो० विद्याधर जी शास्त्री ने कहा कि इस प्रकार के आयोजन बीकानेर में और पहले

प्रारम्भ हो जाना चाहिए थे। जैन विद्याओं के अध्ययन-अनुसंधान के लिए संस्कृत भाषा का ज्ञान प्रत्येक शोधार्थी को आवश्यक है। जैनदर्शन की महानता ही लोगों से शोध करवा लेगी। चिन्तित होने की जरूरत नहीं है।

अध्यक्षीय भाषण देते हुए डा० दशरथ शर्मा ने जैन कथाग्रन्थों के उद्धरण देते हुए कहा कि जैन साहित्य में वह जन-जीवन चित्रित है जो वास्तव में इतिहास कहलाने योग्य है। इस दृष्टि से जैन विद्याओं का अध्ययन-अनुसंधान आज के युग के लिए अनिवार्य हो गया है। न केवल इतिहास और संस्कृति के ज्ञान के लिए अपितु जीवन में सामञ्जस्य और शान्ति के लिए भी जैन धर्म दर्शन के सिद्धांत अधिक व्यावहारिक हैं। मानव का चारित्रिक विकास जैनधर्म के अनुकरण से अधिक सुलभ है। किन्तु जैन समाज में जो जैनत्व नजर नहीं आ रहा उसके लिए विद्वानों को भी अपना दायित्व समझना होगा। विद्वान् विचारकों ने अभी अपने-अपने विभिन्न सुझाव प्रस्तुत किए हैं। उनमें से किसी को भी तुरन्त लिया जा सकता है। जैन कथा कोश तैयार करने के साथ-साथ जैनकथाओं के विकास-क्रम का भी अध्ययन होना चाहिए। राजस्थान-सेमिनार के आयोजन से आपने जैन धर्म के संबंध में लोगों को इतना सब सुनने समझने का अवसर दिया। मैं चाहता हूँ कि युवक कार्यकर्त्ता आगे आकर कुछ ठोस कार्य हाथ में लें और इन्हे पूरा करें।

निष्कर्ष-ज्ञापन :

द्वितीय बैठक के अन्त में जे. आर. एस. के स्थानीय सदस्य श्री प्रकाश परिमल, उप-निदेशक सादूल राजस्थानी रिकर्स इन्स्टीट्यूट, ने सेमिनार में रखे गए विभिन्न सुझावों को संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया—

१. जैनविद्या के ग्रन्थों की वर्णनात्मक सूचियों का निर्माण किया जाय।
२. प्रत्येक युगके जैन साहित्यका इतिहास लिखा जाय।
३. पुरातत्त्व एवं अभिलेखीय सामग्री की सुरक्षा की व्यवस्था हो।
४. विश्वविद्यालयों में प्राकृत एवं अपभ्रंश का अध्यापन प्रारम्भ हो।
५. अपेक्षित शोध-कार्यकी विषय सूचियां प्रकाशित हों।

६. जैनकथाओंका विकास-क्रमसे अध्ययन किया जाय।

७. राजस्थान की जैन विद्याओं से सम्बन्धित सामग्री का किसी एक संस्थान में संग्रह किया जाय, जहाँ विद्वान् आकर कार्य कर सकें।

८. जैन विद्या पर शोध निबंध पढ़ने वाले विद्वानों को पर्याप्त सुविधाएं जुटाई जायें।

९. जैन स्रोतों के आधार पर राजस्थान का सांस्कृतिक इतिहास लिखा जाय।

१०. प्रति वर्ष राजस्थान इतिहास कांग्रेस के अवसर पर यह राजस्थान-सेमिनार आयोजित किया जाय।

समापन :

अन्त में सेमिनार के संयोजक प्रो० प्रेम सुमन जैन ने दोनों बैठकों के अध्यक्षों, मुख्य प्रतिधि तथा प्रतिनिधियों का आभार मानते हुए तथा समाज की सहयोगी संस्थाओं एवं सहकर्मियों के प्रति धन्यवाद ज्ञापन करते हुए सेमिनार का समापन किया।

स्वागत सहयोग :

बीकानेर में राजस्थान सेमिनार के संयोजन में स्थानीय श्री आत्मानन्द जैन सभा, श्री ६०० तेरापथी महासभा, श्री जैन साधुमार्गी सघ तथा श्री दिगम्बर जैन समाज का पूर्ण सहयोग प्राप्त रहा। व्यक्तिगत रूप से श्री मोतीचन्द खजांची, श्री रामप्रसाद जैन, श्री ए. के. जैन, आदि का आर्थिक सहयोग भी रहा। जे. आर. एस. के स्थानीय सदस्यों ने तो, दिन-रात एक करके इस सेमिनार को सफल बनाया। सोसायटी इन सब महानुभावों के प्रति अपना आभार व्यक्त करती है।

जैन विद्याओं के उच्चस्तरीय अध्ययन-अनुसन्धान को गति देने की दिशा में जैनालोजिकल रिसर्च सोसाइटी के तत्वावधान में आयोजित इस सेमिनार से यह प्रेरणा मिलती है कि सम्पूर्ण भारतवर्ष तथा विदेशों में जैन विद्याओं के अध्ययन-अनुसन्धान के जो प्रयत्न चल रहे हैं, उनमें परस्पर सामञ्जस्य स्थापित करने, अनुसंधान कार्य को सही दिशा देने तथा अनुसन्धाताओं की विभिन्न प्रकार से सहयोग देने की दृष्टि से इस प्रकार के आयोजन सभी क्षेत्रों में अपेक्षित हैं।



साहित्य-समीक्षा

[समीक्षार्थ प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियां प्राप्त होना आवश्यक है।]

भरत और भारत—ले० डा० प्रेमसागर जैन, प्रकाशक—दि० जैन कालेज प्रबन्ध समिति, बडौत (मेरठ) आकार डिमाई, पृष्ठ संख्या ४८।

भारत यह नाम ऋषभ के ज्येष्ठ पुत्र भरत सम्राट के नाम से प्रसिद्ध हुआ है या दुष्यन्त पुत्र भरत के नाम से, यह विवाद कुछ समय से चल रहा है। विद्वान् लेखक ने अग्निपुराण, मार्कण्डेयपुराण, ब्रह्माण्डपुराण, नारद पुराण, स्कन्दपुराण, श्रीमद्भागवत और महापुराण के उद्धरणों को देकर यह सिद्ध किया है कि यह क्षेत्र ऋषभ के पुत्र भरत के नाम पर भारतवर्ष प्रसिद्ध हुआ है। उक्त सभी ग्रन्थों में इसका उल्लेख स्पष्ट रूप से किया गया है। लिंगपुराण (४७।१६-२३) में तो यहाँ तक कहा गया है कि “नाभि ने मरुदेवी पत्नी से अतिशय बुद्धिमान् ऋषभ नामक उस पुत्र को उत्पन्न किया जो सब क्षत्रियों में श्रेष्ठ था। ऋषभ के सौ पुत्र हुए, जिनमें भरत ज्येष्ठ था। ऋषभ ने भरत का राज्याभिषेक किया और स्वयं वैराग्य को प्राप्त होते हुए इन्द्रिय-सर्पों को जीतकर और परमात्मा को अन्तःकरण में स्थापित कर वस्त्र का परित्याग करत हुए नग्नता को स्वीकार किया। इस प्रकार वे शैव पद (मुक्ति) को प्राप्त हुए। उन्होंने हिमाद्रि—हिमालय—के दक्षिण दिशागत क्षेत्र को भरत के लिए दिया था। उसी भरत के नाम से विद्वान् इसे भारतवर्ष कहते हैं।” इनके अतिरिक्त एकनाथी भागवत, सूरसागर, शिवपुराण, मत्स्यपुराण, पुरुदेव चम्पू और वसुदेव हिण्डी आदि के ग्रन्थ भी कितने ही प्रमाण दिये गये हैं।

‘वीरभोग्या बसुन्धरा’ शीर्षक में क्षत्रिय धर्म पर भी अच्छा प्रकाश डाला गया है। अन्त में अभिषान राजेन्द्र कोश के आधार से ऋषभ के १०० पुत्रों के नामों का भी निर्देश किया गया है। ऋषभ के १६ पुत्रों के नाम श्रीमद्भागवत के अनुसार भी दिए गए हैं। ऐसी उपयोगी पुस्तक के प्रस्तुत करने में लेखक का परिश्रम पूर्णतया

सफल हुआ। कागज व छपाई आदि सभी अच्छी हैं।

सुसंगीत जैन पत्रिका—सम्पादक डा० जयकिशन प्रसाद खडेलवाल, आगरा। प्रकाशक श्रमण जैन भजन प्रचारक संघ, देहली-मेरठ। पृष्ठ संख्या १००। साईज २२×३६=८। मूल्य २ रुपये।

जैन साहित्य में संगीत अधिक प्रतिष्ठित रहा है, इसकी पोषक प्रस्तुत पत्रिका है। इसके प्रारम्भ में डा० प्रेमसागर का एक लेख है—‘संगीत की निष्पत्ति हर शिव से।’ इसमें संगीतोपनिषद् सारोद्धार के एक प्लोक (२।४) के आशय से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि संगीत की उत्पत्ति तीर्थङ्कर ऋषभदेव से हुई है। उक्त प्लोक में प्रयुक्त हर (शंकर) शब्द वृषभनाथ का वाचक है। उनके १००८ नामों में शिव, शंकर व हर आदि हैं। लेख पठनीय है। ‘जैन परिप्रेक्ष्य’ में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र शीर्षक में जो भारतेन्दु जी की कविता दी गई है, वह परम अहिंसा धर्म का आचरण करने वालों को ‘नास्तिक’ कहने एवं ‘हस्तिना ताड्यमानो-पि न गच्छेज्जिनमन्दिरम्’ जैसी उक्ति गढ़ने वालों की विवेकहीनता की परिचायक है। श्री मुनि विद्यानन्द जी का ‘भाषा एवं शब्द’ शीर्षक लेख में महत्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत की गई है। ग्रन्थ सभी लेख उपयोगी हैं। अन्त में सुप्रभात स्तोत्र, दृष्टाष्टक स्तोत्र, महावीराष्टक, भावाष्टक (मराठी) और कुछ आध्यात्मिक भजन प्रस्तुत किए गए हैं। मुखपृष्ठ पर जो सरस्वती का चित्र दिया गया है वह अतिशय मनोहर है। पत्रिका की साज-सज्जा व छपाई आदि सभी उत्तम हैं। इसमें जिन-जिन महानुभावों का सहकार रहा है उनके लिए धन्यवाद देना चाहिए।

विरली जैन डायरेक्टरी—सम्पादक श्री सतीशकुमार जैन आदि। प्रकाशक जैन सभा, नई दिल्ली। पृष्ठ संख्या ३२८। आकार २०×३०=८। मूल्य १२ रुपये।

प्रस्तुत डायरेक्टरी का यह संस्करण विशेष महत्वपूर्ण है। इसमें जैन मन्दिर, जैन स्थानक, धर्मशाला, पाठशाला, भौषधालय, पुस्तकालय आदि अनेक संस्थाओं का परिचय कराया गया है। साथ ही केन्द्रीय सरकार के कार्यालयों, दिल्ली प्रज्ञासन, नगर निगम एवं बैंक आदि में काम करने वाले जैनों का अलग अलग नाम निर्देश भी किया गया है। इसके अतिरिक्त जैनों द्वारा संचालित अनेक प्रकार के उद्योगों एवं व्यापारिक प्रतिष्ठानों के परिचय के साथ ही प्रमुख वैज्ञानिक, साहित्यकार,

विद्वान् और समाजसेवियों का भी परिचय कराया गया है। इसके प्रारम्भ में दिया गया 'दिल्ली और जैन समाज : ऐतिहासिक अवलोकन' लेख खोजपूर्ण है। इस प्रकार से इसमें सभी महत्वपूर्ण विषय समाविष्ट हैं। यह गुरुतर कार्य सम्पादक के कठिन परिश्रम का सूचक है। इस सर्वोपयोगी प्रकाशन के लिए सम्पादक मण्डल व जैन सभा दिल्ली के अधिकारी आदि प्रतिशय धन्यवाद के पात्र हैं। पुस्तक की छपाई आदि भी आकर्षक है।

—बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

लक्षणावली के प्रथम भाग का प्रकाशन

वीर सेवा मंदिर को स्थापना के कुछ ही समय बाद लक्षणावली के निर्माण और प्रकाशन की योजना बनी थी और उसके बाद अनेक विद्वान इसकी तैयारी में लगे रहे। जैन वाङ्मय के तीन सौ से अधिक विशिष्ट ग्रन्थों से जैन पारिभाषिक शब्दों के लक्षणों का मूल संस्कृत, प्राकृत में संकलन, सम्पादन, संयोजन और हिन्दी अनुवाद का श्रम और समय साध्य कार्य अनेक व्यवधानों के बाद भी चलता रहा।

अब तक जो सामग्री संकलित हुई है उसके आधार से बड़े आकार के ३१२ पृष्ठों में स्वर भाग छप चुका है। पुस्तक रूप में इसका शीघ्र प्रकाशन होगा। अपनी प्रति के लिए लिखें—

व्यवस्थापक : वीर सेवा मन्दिर, २१, बरियामंज, दिल्ली-६

वीर शासन संघ के महत्वपूर्ण प्रकाशन

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४० सजिल्द	५-००
कसायपाठ्य पुस्त : मूलग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री बतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण त्रुणिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द।	२०-००
Reality : भा० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद बड़े आकार के ३०० पृ. पक्की जिल्द	६-००
जैन निबन्ध रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा रतनलाल कटारिया	५-००

प्राप्ति स्थान : वीर सेवा मन्दिर, २१, बरियामंज, दिल्ली-६

अनेकान्त के तेईसवें वर्ष की पूर्ण विषय-सूची

अगरखन्द नाहटा

मध्यप्रदेश का जैन पुरातत्व २३।२।८६

जैन विद्वानों द्वारा रचित संस्कृत के शब्दकोश २३।३।११५

खम्भात के श्वे० भण्डार में प्राप्त तीन दि० ताड़पत्रीय
प्रतियाँ २३।४।१४६

आ० ने० उपाध्ये (डा०)

भारत में वर्णनात्मक कथा-साहित्य २३।१।३

२३।२।५०

२३।३।६८

विलासवई कहा : एक परिचयात्मक अध्ययन २३।४।१५३

धनंजयकृत द्विसन्धान महाकाव्य २३।५-६।१६५

कस्तूरचन्द कासलीवाल (डा०)

जाम्भोजी विष्णोई सम्प्रदाय और उनका साहित्य
२३।३।१३६

जयपुर के प्रमुख दि० जैन मन्दिर २३।४।१६६

कन्हैयालाल मुनि

कथनी और करनी २३।२।७१

कस्तूरचन्द जैन

भीमपुर का जैन अभिलेख २३।१।१५

के० भुजबली शास्त्री

आराधना समुच्चय का रचना स्थल २३।५-६।२३४

गंगाराम गंग (डा०)

ढूढाड़ी भाषा की जैन रचनाएँ २३।१।२२

ढूढाड़ी कवि ब्रह्मनाथ की रचनाएँ २३।३।११६

ज्ञात कवियों की कतिपय हिन्दी रचनाएँ २३।५-६।२४०

गोकुलचन्द्र जैन (डा०)

शान्तिवर्णिकृत प्रमेयकण्ठिका २३।५-६।२२५

गोपीलाल 'अमर'

देवगढ़ की जैन कला का सांस्कृतिक अध्ययन २३।२।६१

चम्पालाल सिघई

जैनों में सती प्रथा २३।२।७०

बरबारीलाल कोठिया (डा०)

भारतीय अनुमान को जैन ताकियों की देन २३।५-६।२०७

बलसुख मालवणिया

बह्मदर्शन समुच्चय का नया संस्करण २३।४।१८२

देवेन्द्रकुमार शास्त्री (डा०)

अपभ्रंश शब्दों का अर्थ-विचार २३।५-६।२१२

परमानन्द शास्त्री

सत्य से आदर्श की ओर २३।१।३१

साहित्य के प्रति उपेक्षा क्यों? २३।१।४०

सर्वोपधि दान २३।१।४६

साहित्य समीक्षा—जैन साहित्य का बृहत् इतिहास

२३।१।४८

तिजारा : एक ऐतिहासिक परिचय २३।२।६५

माली रासो २३।२।६८

गोमटसार की पंजिका टीका २३।२।७२

दिल्ली पट्ट के मूल सघीय भट्टारक प्रभावन्द २३।३।१२६

मथुरा के सेठ मनीराम २३।३।१३१

१३वीं शताब्दी के विद्वान हरिभद्र । एक अध्ययन

२३।३।१३७

वीर शासन जयन्ती २३।२।८३

साहित्य समीक्षा—१. जैन शोध और समीक्षा

२. आराधना समुच्चय

३. जिन सहस्रनाम प्रदीप

४. महावीर जयन्ती स्मारिका

५. अणुव्रत (साधना विशेषांक)

२३।२।६६

ब्रह्म यशोधर २३।३।१४१

पन्नालाल अग्रवाल

हिन्दी भाषा के कुछ अप्रकाशित ग्रन्थ २३।२।८२

पद्मनन्द मुनि

जिनतरस्तवनम् २३।३।६७

प्रेमचन्द्र जैन

वीर शासन जयन्ती २३।२।६२

प्रेमचन्द्र चन्द्रसा जैन

चित्तोड़ का जैन कीर्ति स्तम्भ २३।१।२०

२६४, वर्ष २३, कि० ५-६

अनेकान्त

प्रेम सुमन जैन (प्रो०)

कुवलयमाला मे उल्लिखित राजा अवन्ति २३।५-६।२२१

बालचन्द्र एम० ए०

आत्म समर्पण २३।२।७६

बालचन्द्र सिद्धांतशास्त्री

साहित्य समीक्षा

भारत और भारत २३।५-६।

सुसज्जीत जैन पत्रिका २३।५-६

दिल्ली जैन डायरेक्टरी २३।५-६।

भागचन्द्र जैन 'भास्कर' (डा०)

ब्रह्म साधारण की पहली कृति कोइल पचमी कहा

२३।१।२५

धर्म की कहानी : अपनी जबानी २३।१।३६

भागचन्द्र जैन 'भाग्येन्दु' (डा०)

इतिहास के परिप्रेक्ष्य मे पवाजी २३।१।११

मंगलराम चिलकानावासी

उद्बोधक पद २३।३।१२१

महेन्द्रकुमार मुनि

पावा कहाँ ? गंगा के दक्षिण में या उत्तर में २३।३।६८

श्री साधुतिनन्दन तिवारी

दक्षिण भारत से प्राप्त महावीर की प्रतिमाएँ २३।५-६।२४२

मुक्ताप्रसाद जैनदर्शनाचार्य

जैन दर्शन मे आत्मद्रव्य विचार २३।५-६।२५१

मोहलाल बाठियां

चतुर्मास मध्य विहार : आचार्य श्री तुलसी २३।३।१४३

रतनलाल कटारिया

नलपुर का जैन शिलालेख २३।२।११०

नलपुर का जैन शिलालेख २३।४।१७४

रमेश जैन

राजस्थानी लोक-कथाओं में अभिप्राय और कथानक
रूढ़ियों की सीमा रेखाएँ २३।३।१३३

रामवल्लभ सोमानी

जंबूसामिचरिउ मे वर्णित गुज्जरता प्रदेश २३।१।२

ऊपर गाँव का अप्रकाशित जैन लेख २३।२।८६

जैन कीर्तिस्तम्भ का निर्माता शाह जीजा २३।४।१५१

रायप्पा धरणप्पा टीकणवर

प्रमाणप्रमेयकलिका के रचयिता नरेन्द्रसेन २३।१ ४१

रूपचन्द्र कवि

एक पद २३।१।३५

वर्णाजी

अत्म-विश्वास २३।१।४५

विद्याधर जोहरापुरकर

गुणकीर्तिकृत विवेक विलास २३।२।६४

बी० के० आर० बी० राव (डा०)

तमिल व कन्नड़ साहित्य के निर्माण मे जैन-आचार्यों का
विशेष योगदान २३।१।३६

बीरेन्द्रकुमार जैन (डा०)

तिलक मजरी : एक प्राचीन कथा २३।५-६।२३५

शशिकान्त डा०

वत्स जनपद का राजनैतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास

२३।५-६।२४६

समन्तभद्र आचार्य

श्रीवर्धमान जिनस्तुति २३।१।१

नमिजिनस्तुति २३।२।४६

आदिजिनस्तवनम् २३।४।१४५

श्रीअरिष्टनेमिजिनस्तवनम् २३।५-६।१६३

सुबोधकुमार जैन

वैदेही सीता २३।१।२५

शृगाल से सिद्ध २३।२।७६

सम्राट का अधूरा सपना २६।३।१२२

संकटाप्रसाद शुक्ल (डा०)

मृण्मूर्तिकला में नैगमेष २३।४।१७२

संस्थान समाचार

अनेकान्त की ओर से आप के लिए :

प्रस्तुत अर्द्ध के साथ अनेकान्त अपने २३ वर्ष पूर्ण कर रहा है । इस अवसर पर अनेकान्त की ओर से इसके पाठको, अनुसंसको, लेखको और आर्थिक सहयोग प्रदान करने वाले महानुभावों के प्रति हम अपनी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करते हैं और आशा करते हैं कि आगामी वर्षों के लिए भी सभी की शुभ-कामनाएँ और सहयोग पूर्ववत् प्राप्त होगा ।

अनेकान्त की ओर अधिक व्यापक तथा उपयोगी बनाने के उद्देश्य से विशेष दृष्टि सम्पन्न और अनुभवी विद्वानों का सक्रिय सहयोग प्राप्त करने के प्रयत्न किए जा रहे हैं और आशा है कि २४वें वर्ष के आरम्भ से ही अनेकान्त को विशेष स्वरूप दिया जा सकेगा ।

पर हम सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है आपका सहयोग । अनेकान्त की ग्राहक संख्या अत्यल्प है । इसलिए संचालक समिति में कई बार यह प्रश्न आता है कि इसे चलाया जाये या बन्द कर दिया जाये । यदि किन्हीं परिस्थितियों में अनेकान्त को बन्द करने का निर्णय लिया गया तो निश्चय ही जैन विद्याओं के विविध क्षेत्रों में अनुसन्धान करने वालों के लिए एक अपूरणीय क्षति होगी ।

अतएव आपमें अनुरोध है कि आप अपना ग्राहक शुल्क तो तत्काल भेजे ही, अपने मित्रों तथा सम्बद्ध संस्थाओं को भी इसका ग्राहक बनने को प्रेरित करें । और यदि आप अनेकान्त के लिए विशेष आर्थिक सहयोग दे सकें या अपने मित्रों से दिला सकें तो हम आपके अत्यन्त कृतज्ञ होंगे । आपसे यह भी अनुरोध है कि आप अपना बहुमूल्य अभिमत भी अवश्य भेजें कि अनेकान्त की ओर अधिक व्यापक, उपयोगी तथा स्वावलम्बी बनाने के लिए क्या प्रयत्न किए जायें ।

वीर सेवा मन्दिर की केन्द्रीय शोध-संस्थान बनाने का संकल्प :

हमारी हार्दिक इच्छा है कि वीर सेवा मन्दिर का जैन विद्याओं के उच्चस्तरीय अध्ययन अनुसन्धान के लिए केन्द्रीय शोध संस्थान के रूप में विकसित किया जाये तथा इसके द्वारा संचालित होने वाले शोध कार्यों की ओर अधिक व्यापकता देने के लिए इसे विश्वविद्यालय में सम्बद्ध किया जाये ।

वीर सेवा मन्दिर के संस्थापक स्व० आचार्य जुगलकिशोर जी मुख्तार साहब तथा बहुत समय तक संस्था के कार्य का संचालन करने वाले अध्यक्ष स्व० बाबू छोटेलाल जी ने प्राचीन जैन साहित्य, संस्कृति, पुरातत्त्व के अन्वेषण के जो महत्त्वपूर्ण कार्य आरम्भ किए थे उनको आगे बढ़ाने तथा कार्य की नयी योजनाएँ बनाने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि संस्था को एक ओर जैन-दर्शन, साहित्य, संस्कृति और पुरातत्त्व के विशिष्ट विद्वानों का सहयोग प्राप्त हो, दूसरी ओर ऐसे श्रीमानों का सहयोग उपलब्ध हो जो इन योजनाओं को आगे बढ़ाने तथा पूरा कराने में आर्थिक सहयोग करें ।

वीर सेवा मन्दिर की वर्तमान कार्य-प्रवृत्तियों को किस प्रकार गति दी जाए तथा केन्द्रीय शोध संस्थान के रूप में विकसित करने के लिए क्या प्रयत्न किए जाएँ, इस सम्बन्ध में विचार करने और रिपोर्ट देने के लिए कार्य-समिति की पिछली बैठक में एक उपसमिति बनायी गयी थी, जिसके चार सदस्य थे—डा० आ० ने० उपाध्ये, डा० गोकुलचन्द्र जैन, श्री यशपाल जैन, श्री बंशीधर शास्त्री । उपसमिति की रिपोर्ट प्राप्त हो गई है तथा उसे क्रियान्वित करने के सम्बन्ध में अपेक्षित कार्रवाई की जा रही है ।

समाज के विद्वानों और श्रीमानों से विनम्र अनुरोध है कि राजधानी में जैन विद्याओं के अध्ययन-अनुसन्धान के लिए वीर सेवा मन्दिर को केन्द्रीय शोध संस्थान का स्वरूप देने में अपना सक्रिय सहयोग प्रदान करें ।

—व्यवस्थापक

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

- पुरातन जैनवाक्य-सूची** : प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादि ग्रन्थों में उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। संपादक मूर्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्व की ७० पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए., डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये एम. ए., डी. लिट् की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोज के विद्वानों के लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द। १५-००
- प्राप्तपरीक्षा** : श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति, आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर, विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य पदबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद में युक्त, सजिल्द। ८-००
- स्वयम्भूतोत्तर** : समन्तभद्रभारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुस्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद, तथा महत्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशीलित। ... २-००
- स्तुतिविद्या** : स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापों के जीतने की कला, सटीक, मानुवाद और श्री जुगल किशोर मुस्तार की महत्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत सुन्दर जिल्द-सहित। १-५०
- अध्यात्मकमलमार्तण्ड** : पचाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित १-५०
- युक्त्यनुशासन** : तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण, समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुस्तारश्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। ... १-२५
- श्रीपुरपाद्वर्णनाथस्तोत्र** : आचार्य विद्यानन्द रचित, महत्व की स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित। ७५
- शासनचतुस्त्रिंशिका** : (तीर्थपरिचय) मुनि मदनकीर्ति की १३वीं शताब्दी की रचना, हिन्दी-अनुवाद सहित ७५
- समीचीन धर्मशास्त्र** : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुस्तार श्री जुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना में युक्त, सजिल्द। ... ३-००
- जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० १** : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह. उपयोगी ११ परिशिष्टों और, पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना में अलंकृत, सजिल्द। ... ४-००
- समाधितन्त्र और इष्टोपदेश** : अध्यात्मकृति परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ४-००
- अनित्यभावना** : आ० पद्मनन्दीकी महत्वकी रचना, मुस्तार श्री के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित २५
- तत्त्वार्थसूत्र** : (प्रभाचन्द्रीय) — मुस्तार श्री के हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या से युक्त। ... २५
- श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ** : ... १-२५
- महावीर का सर्वोदय तीर्थ, समन्तभद्र विचार-दीपिका, महावीर पूजा प्रत्येक** १६
- अध्यात्म रहस्य** : पं० आशाधर की सुन्दर कृति मुस्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित। १-००
- जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० २** : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। स. पं० परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १२-००
- न्याय-दीपिका** : आ. अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० दग्गारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा सं० अनु०। ७-००

प्रकाशक—प्रेमचन्द जैन, वीरसेवा मन्दिर के लिए, रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, दरियागज, दिल्ली से मुद्रित।

